योगीन्द्रग्रन्थमालायाः श्रीरामानन्दवेदान्तचिन्तकं
पञ्चमं [illegible]

॥ सर्वेश्वराय श्रीसाकेतविहारिणे नमः ॥

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।

विद्वच्छिरोमणिमहामहोपाध्यायश्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितः ॥

खण्डनोद्धारः

लघु च दीपिकाख्यव्याख्यया समलङ्कृतः



दीपिकाकारः—
आशेषमठ (दीगडा) श्रीरामानन्दपीठाधीश
जगद्गुरु त्रिदण्डी श्री रामप्रपन्नाचार्यजी योगिराज

[illegible]त्र श्री..

....

आचार्य श्री,

त्रिदण्डी महाराज [illegible] पीठ श्री शेष मठेन।

[illegible] कृतमिदम्

दि.................. १९ ई



योगीन्द्रग्रन्थमालायाः श्रीरामानन्दवेदान्तविषयकं
पञ्चमं पुष्पम्

सर्वेश्वराय श्रीसाकेतविहारिणे नमः ।

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामनन्दाचार्याय नमः ।

विद्वच्छिरोमणिमहामहोपाध्यायश्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितः

खण्डनोद्धारः

स च दीपिकाख्यव्याख्यया समलङ्कृतः



दीपिकाकारः—

शेषमठ (शींगड़ा) श्रीरामानन्दपीठाधीश

जगद्गुरु त्रिदण्डी श्रीरामाप्रपन्नाचार्य योगिराज

प्रकाशकः—

स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य सा, र. व्या. रामानन्दवेदान्ताचार्य

श्रीरामानन्दपीठ (शेषमठ)

विश्रामद्वारका—शींगड़ा

पोरबन्दर (सौराष्ट्र)

मूल्य—{ राजसंस्करण १५।०० साधारणसंकरण १३।००

प्रति—१०००

सन्—१९७३ ई.

खण्डनोद्धारदीपिका का मुद्रणस्थल :—

मातृभूमि प्रिंटिंगप्रेस—जयपुर

सामयिकनिवेदनादि का मुद्रणस्थल :—

श्रीरामानन्द प्रिन्टिग प्रेस कांकरियारोड अहमदावाद—२२

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमः

सामयिकनिवेदन

सुरभारतीरसरसिक महानुभाव ! आज मैं अत्यन्त आनन्दानुभव कर रहा हूँ कि दार्शनिकगणाग्रगण्य महनीयकीर्ति श्रीवाचस्पति मिश्र जी महामहोपाध्याय से प्रसादित भारतीयदर्शनभण्डार के अमूल्य रत्न 'खण्डनोद्धार' को आप सब के समक्ष प्रस्तुत करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। यद्यपि प्राचीन अनेक सद्ग्रन्थकार मनीषियों की भाँति श्री मिश्रजी के विषयमें प्रयत्न करने पर भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी फिर भी साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार इतना निश्चित है कि आप मैथिल ब्राह्मण कुल के थे तथा विक्रम संवत् की १६ वीं शताब्दी में आप इस धराधाम में देदीप्यमान थे। क्यों कि श्रीसम्प्रदायाचार्य आचार्यचूड़ामणि प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के संवत् १५३२ में श्रीसाकेतधाम पधारने के उपलक्ष में काशीस्थ विशिष्ट विद्वानों तथा जनता की विशाल सभा की शास्त्रचर्चा में आपकी उपस्थिति उल्लेखनीय थी। दार्शनिक चर्चामें समस्त प्रतिपक्षिगणों को स्वनिर्मित खण्डनोद्धार के आधार से पराजित करने की सफलता से प्रसन्न होकर उस सभा के सभापति पद पर आसीन जगद्गुरु श्री अनन्तानन्दाचार्यजीने श्री मिश्रजी को विजयी घोषित कर दिया था। साथ में विशिष्टाद्वैतीय

समन्वयवाद की युक्तियों से अन्यथाख्याति की विवेचना सुनकर मिश्रजीने आचार्यचरण की शरणागति स्वीकार करके आचार्याज्ञा शिरोधार्य कर धर्मप्रचारार्थ पूर्वदिशा में प्रस्थित हुए थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ सन् १९०९ ई. में काशीस्थ मेडिकलहाल प्रेसमें मुद्रित हुआ था, इसकी अन्य प्रति हमें प्राप्त न हो सकी। आदर्शपुस्तक श्रीरामानन्दसम्प्रदाय के तात्त्विक विद्वान् तीन सौ से अधिक साम्प्रदायिक दिव्य प्रबन्धों के रचयिता अभिनववाचस्पति पण्डितसम्राट् स्वामी श्रीवैष्णवाचार्य जी वेदान्तपीठाधीशके पुस्तकालय में थी। वहाँ से ले कर पढ़ा किन्तु सामान्य जनों के लिए दुर्बोध होने से यत्र तत्र समझने में कठिनाई प्रतीत हुई। अतः महर्षिकल्प वीतराग प्रातःस्मरणीय जगद्गुरु श्रीयोगिराज जी से सर्वजनोपयोगी टीका से अनुगृहीत करने की प्रार्थना की। अनेक सत्प्रवृत्तिओ में लगे रहने के कारण समयाभाव होने पर भी मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर आपश्रीने अनतिविस्तृत विवेचनापूर्ण सर्वजनसुलभ राष्ट्रभाषा से अलंकृत कर देने की कृपा की। इसी महाप्रसाद को यथाबुद्धिवैभव सम्पादित कर आप सब के समक्ष हम रख रहे हैं। इस प्रसंग में श्री आचार्यपदासीन मठ के विषय में कुछ कहा जाय उसे अप्रासंगिक न समझकर अति संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं—

श्रीरामानन्दसम्प्रदाय

सम्प्रदानं सम्प्रदायः सम्–प्र पूर्वक दा धातु से भावे ३।३।१८ से घञ् प्रत्यय तथा आतोयुक् चिण्कृतोः ७।३।३३ से

युगागम करने पर सम्प्रदाय शब्दको सिद्धि होती है। जिसको गुरु परम्परागत परम्पराप्राप्त 'सिद्धान्त' या 'ज्ञान' परम्पराप्राप्त शिक्षा आदि अनेक अर्थ होते हैं।

जो कि एक वैदिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करनेवाला व्यापक शब्द है पर क्षुद्र स्वार्थ के दास बने, कितने हो इस व्यापक अर्थ को न समझने वाले व्यक्तियों के द्वारा पारस्पारिक द्वेष कलह वैमनस्यको उभारने के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। जो धर्मप्राण भारतीयों के लिये प्राणघातक सिद्ध हो सकता है।

अस्तु यहाँ पर उस प्राचोन वैदिक व ऋषिपरम्परा के सदुपदेश अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। जिसके सन्दर्भमें अटक से कटक तक सेतु से शोताचल पर्वत तक अक्षुण्ण रूप से प्रतिष्ठापूर्वक "गेहे गेहे जने जने" फैले हुए श्री रामानन्दसम्प्रदाय का अतिसंक्षिप्त विवरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस सम्प्रदाय की परम्परा श्री मैथिलीमहोपनिषद में इस प्रकार है—

"इदमेव मनुं पूर्वं साकेतपतिर्मामवोचद्। अहं हनुमते मम प्रियाय प्रियतराय। स पराशराय, स व्यासाय स शुकाय।"

इस सम्प्रदायकी परम्परा साकेताधिपति मर्यादापुरुषोत्तम सर्वेश्वर श्री रामचन्द्रजी से प्रारम्भ होती है। भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने षडक्षर तारक महामंत्रराज को स्वानन्यस्वरूप श्री सोताजो को प्रदान किया। परम करुणाशील श्री भूमिजा ने अपने अत्यन्त

प्रिय सेवक श्री हनुमान्‌जी को प्रदान किया । महाबली श्रीहनुमानजी ने ब्रह्माजी को प्रदान किया । इस प्रकार भूमण्डल तक अद्यावधि प्रचलित रहा है जिसका वर्णन अगस्त्य, वाल्मीकि और वसिष्ठादि संहिताओं में प्राप्त होता है ।

उक्त संहितोक्त परम्परा को आनन्दभाष्यकार जगद्‌गुरु श्री रामानन्दाचार्यजीने गीता के स्वानन्दभाष्य में इस प्रकार स्मरण किया है-

श्रीरामं जनकात्मजामनिलजं वेधोवसिष्ठावृपी
योगीशं च पराशरं श्रुतिविदं व्यासं जिताक्षं शुकम् ।
श्रीमन्तं पुरुषोत्तमं गुणनिधिं गंगाधराद्यान् यतीन्
श्रीमद्राघवदेशिकं च वरदं स्वाचार्यवर्यं श्रये ॥

इससे यह विदित हुआ कि-रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले । इस वैश्वानरसंहितावचन के प्रामाण्य से यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । (गीता) "जब जब होइ धर्मकी हानी । बाढइं विविध असुर अभिमानी । तब तब धरि प्रभु विविध शरीरा" इत्यादि स्वप्रतिज्ञानुस्मरण कर परम कारूणीक भगवान् साकेतनिलय जगदाचार्य श्रीरामानन्दाचार्यजीके स्वरूपमें, तीर्थराज, प्रयागमें १३५६, वि. सं. में अवतरित हुए । जो कि भारतीय संस्कृति के लिये धर्म की कसौटीका आपत्तिग्रस्त काल था । उस समय मुसलमान शासकों का बोलबाला था हिन्दुओंका भविष्य गाढ़ अंधकारमय था । सितारे हिन्द राजाजी शिवप्रसादजी के शब्दों में कहें तो

"छोटे छोटे हिन्दु बच्चे दो दो चार चार पैसेमें वेचे गये थे, और लड़किया व स्त्रियां लौण्डियाँ बनायी जाती थीं ।" अर्थात् धर्म परिवर्तन का अस्वीकार करनेवालों को निर्दयतापूर्वक कतल कर देना एक सामान्य बात हो गयी थी । इसी विषम अवस्थामें आचार्यश्रीने हिन्दु-मात्र का क्या मनुष्य मात्र का हृदय परिवर्तन कर अपने अभूतपूर्व तपोवल योगशक्ति की अनेक चमत्कारिक घटनाओं द्वारा सन्मार्गमें अग्रेसर किया है ।

वह समय मुसलमान प्रशासक तुगलकका अन्तिमप्राय था, तलवारके बलपर धर्मपरिवर्तन कराकर मुसलमान बनाये गये व्यक्तिको आध्यात्मिक शक्तिका जादू फेंक कर बातों बातोंमें धर्मपरिवर्तित सारे भारत वासियो को स्वधर्ममें दीक्षित करना, समर्थ जगदाचार्य श्रीरामा-नन्दाचार्यजीका ही काम था । उनका आध्यात्मिक शंखनाद भारत-वर्षके कोने कोने तक गूँज उठा । और उनके द्वारा प्रवाहित भक्ति भागीरथी के शीतल कणोंने जनान्तःकरेण को निर्मल कर प्रभुपदपथिक बना दिया । इसी समन्वित कार्यमें आचा-र्यचरणने "अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।" "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्" ॥ इत्यादि दिव्यवाणी द्वारा दुन्दुभिनाद करनेवाले भगवत्पादीय सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर काम लिया । इसीका परिणाम था कि रैदास कबीर आदि अनेक सिद्ध उनके चरण के अनन्य सेवक बनके जनसेवामें तल्लीन रहे । जो एक सूत्रमें आबद्ध होकर भारत स्वातन्त्र्य का बीजवपन करनेमें समर्थ हुये । इसी संगठनशक्ति का परिणाम था कि "श्रीरघुपति राघव

राजाराम पतित पावन सीताराम" के दुन्दुभि घोष के साथ एक मात्र श्रीरामनाममहा-अस्त्र के बल से महात्मागांधी जी भारत को स्वतन्त्र करानेमें सक्षम हुये। यानी जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने समाज से उपेक्षित रैदास-कबीर-धना आदि विभिन्न वर्गों के लोगो को संगठित कर जो एक रूपताका आदर्श स्थिर किया था उसी आदर्श को श्रीगांधीजीने भी अपना आदर्श बनाया। परिणाम स्वरूप समस्त भारतीय जनसमुदाय एक सूत्रमें बंध गया जिसका फल स्वातन्त्र्य के रूपमें आगे आया।

आचार्यचरणने भक्तिमार्गको जो सर्वजनसुलभ बना दिया था वह मात्र उनके मस्तिष्ककी उपज नहीं है। उन्होंने महर्षि बोधायन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजीके

'रामो ब्रह्म परात्परं श्रुतिमतं भक्त्यैव निःश्रेयसम्।'

इत्यादि श्री सदानन्दाचार्यजी आदि अनेक पूर्वाचार्यों के प्रबन्धों से प्रतिपादित भक्तिमार्गका ही विशद प्रचार किया हैं। जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्य जीके द्वारा इन्हीं पूर्वाचार्यों से प्रवर्तित श्री सम्प्रदाय ही विशदरूप प्राप्त करने के कारण से श्रीरामानन्दसम्प्रदायके नामसे व्यवहृत होने लगा अर्थात् आपने किसी नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया किन्तु ब्रह्मसूत्रवृत्तिकार भगवान् श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी बोधायन तथा उनके पश्चात्वर्त्ती अन्याचार्योंने जो सनातनमार्ग दर्शाया था उसीका विशद प्रचार भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य जी ने किया है।

इन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तोंके स्थायित्व प्रदान करने के लिये आचार्य श्रीने प्रस्थानत्रय पर आनन्दभाष्य किये हैं। उन भाष्योंका

मत विशिष्टाद्वैत है। आचार्यपादने विशिष्टाद्वैत मत को ही ब्रह्म-मीमांसा-अभिमत रूपसे स्वीकारा है क्योंकि यह मत ही श्रुतिस्मृति इतिहास पुराणादि सम्मत तथा युक्तियुक्त सिद्धान्त है। इसोलिये तो आचार्यश्रोने अथातो ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र के व्याख्यानमें "एवं चाखिल श्रुतिस्मृतोतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममोमांसाशास्त्रस्य विषयो न तु केवलाद्वैतम्'। (ब्रह्मसूत्रआनन्दभाष्य १।१।१) कहा हैं।

विशिष्टाद्वैत शब्दकी व्युत्पत्ति द्वयोर्भावो द्विता द्वितैवेति द्वैतम् न द्वैतमित्यद्वैतम्, विशिष्टञ्च विशिष्टञ्च विशिष्टे विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् इस प्रकारकी जाती है। प्रथम विशिष्टशब्दसे कारण-ब्रह्म तथा द्वितोय विशिष्ट शब्दसे कार्यब्रह्म का ग्रहण होता है अतः विशिष्टाद्वैतशब्द का अर्थ हुआ कार्य और कारण ब्रह्म की एकता।

आचार्यपादके मतसे ब्रह्मशब्दवाच्य अनन्त कारुणीक सर्वेश्वर भगवान् श्री रामचन्द्रजी हैं। इस विषयमें आपने इन शब्दों से अपना मत व्यक्त किया है। "ब्रह्म शब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्तनिखिलदोषनिरवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तम् श्रीराममाह। सामान्यवाचकानां पदानां विशेषे पर्यवसानात्' ब्रह्मसूत्र का आनन्दभाष्य १।१।१ "एवञ्च सर्वेशसर्वशक्तिमज्जगत्कारणनिर्गुणसगुणादिपदवाच्यं श्रोरामतत्त्वं तदेव जगत्कारणं ब्रह्मेत्युच्यते, अनेन सूत्रेण (आं. भा. १।१।२)

आचार्य के मत में सकल ब्रह्मविद्याशास्त्रका पर्यवसान सगुण ब्रह्ममें होता है निर्गुणमें नहीं। श्रुतियों में आये हुए निर्गुण शब्दकी व्याख्या 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इत्यादि श्रुति तथा "सत्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेयसत्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते॥" (वि. पु.) आदि वाक्यों को लक्ष्यमें रखकर निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम् (श्री. भा. १।१।२) कहा है।

श्रीसम्प्रदाय की खास विशेषताओंमें सद्योमुक्त्यभाव अन्यतम है। इस सिद्धान्तमें ज्ञानी जनोंको सद्योमुक्ति नहीं होती है प्रत्युत क्रममुक्ति ही होती है। इस विषय को भाष्यकारने ब्रह्मसन् ब्रह्माप्येति आदि श्रुतियों का ब्रह्मसदृशः सन् ऐसा विवेचन करते हुए ४।२। ६ सूत्रके व्याख्यानमे विशदरूपसे प्रतिपादित किया है विस्तार भयसे दिङ्मात्र निदर्शन किया है।

सर्वजनोंके लिये मुक्ति के साधनरूपसे "न जाति भेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रिया न देशकालौ नावस्थां न योगो ह्ययमेपक्षते। (भार. सं.) रामदीनोऽनुकूलोऽहं विश्वस्तोऽप्रातिकूल्यवान् त्वयि न्यस्यामि चात्मानं पाहि मां पुरुषोत्तम॥ (पु. प्र.) आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः। (अ. बु. सं.) इत्यादि शास्त्रप्रमाणों से भक्ति तथा भगवच्छरणागति ही मानी गई हैं।

शरणागति प्रार्थना को ही आचार्य प्रवरने प्रपत्ति माना है। सेयमुपायत्वप्रार्थनैव प्रपत्तिः (गी. भा. भा. १८–६६) दोनों

(भक्ति–प्रपत्ति) ही जीवात्माओं को भगवत्सान्निध्य प्राप्त कराने में समान रूप से स्वीकृत हैं, फिर भी इन दोनों योगोंमें अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ इस भगवदुक्ति से भक्तियोग में अन्तिम काल तक स्मृति की अपेक्षा रहती है पर

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते
अभयं सार्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम । (वा. रा.)

इस श्री भगवत्पादीय वचनप्रमाण से एक वार भगवच्छरणापन्न होनेसे 'साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी ।' इस वचन प्रमाण से प्रारब्ध कर्मों का भो प्रपत्तियोग द्वारा नाश होना सिद्ध है।

तथा स्थिरे मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः ।
धातुसाम्ये स्थिरे स्मर्त्ता विश्वरूपञ्च मामजम् ॥
ततस्ते म्रियमाणन्तु काष्ठपाषाणसन्निभम् ।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

इस भगवदुक्ति से अन्तिम स्मृति की अपेक्षा प्रपन्नजीवात्माओं को नहीं रहतो है । स्वतः भगवान् हो उस भक्त का स्मरण कर स्वधाम ले जाते हैं । यहो भक्ति योग की अपेक्षा प्रपत्ति योग की विशेषता है । जिसको विशद रूप से गोता १८–६६ के भाष्य में वर्णन किया गया है। यहां लेखकायवृद्धिभय से निदर्शन मात्र किया गया है ।

इस संप्रदायके आचार्य प्रवरोंने कर्म को भक्ति योग का अंग माना है। तथा जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण ब्रह्म को ही

माना है। जोवोंका परस्पर में एकत्व मानने में गुरु शिष्य, पिता पुत्र जन्म मृत्यु आदि व्यवहारों में बाध तथा श्रुति स्मृति विरोध होता है अतः परस्पर में जीवों का भेद तथा नानात्व स्वीकार किया हैं।

अत एव "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च" आदि श्रुति–प्रामाण्य से जोवों के स्वरूपतः अणुत्व, कर्तृत्व भोक्तृत्व ज्ञातृत्व तथा नित्यत्वादि धर्म स्वीकार किए गए हैं।

संक्षेपतः श्री रामानन्दसम्प्रदाय का यहो विवरण है। विशेष जिज्ञासुओं को आचार्य प्रणीत भाष्यग्रन्थावलोकन करना चाहिये।

विश्रामद्वारका:–

श्रो शेषमठ–तथा श्रो कोसलेन्द्र मठ का संक्षिप्त परिचय।

मध्ये मार्गपरिश्रान्तो विश्रामं प्राप्य श्रृङ्गिणः।
आश्रमे परमारामे कृष्णो वचनमब्रवीत् ॥१॥
त्वया संस्थापितां मूर्त्तिं विश्रामद्वारकापते!।
अदृष्ट्वा द्वारका–यात्रा नराणां निष्फला भवेत् ॥२॥
यथा व्यासमनालोक्य काशीयात्रा हि निष्फला
तथैव द्वारकायात्रा कृतेऽत्राऽऽगमनाद् भवेत् ॥३॥

इन पौराणिक श्लोकों के द्वारा वर्णित विश्राम–द्वारका जो कि वर्तमान में 'श्री शेषमठ' नाम से प्रसिद्ध है, लोला पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी के बालमित्र प्रसिद्ध संत श्री सुदामाजी को

पुरी से (पोरबन्दर आधुनिक नाम) लगभग ३२ किलोमीटर उत्तर द्वारका धाम जाते समय प्रधान रास्ते पर ही कमण्डलु तथा वर्तु नदी के किनारे पर स्थित है ।

जो कि प्राचीन समय में श्रृङ्गि ऋषी की आवास स्थली होने से श्रृङ्गपुर नाम (अपभ्रंश आधुनिक शींगडा नाम) से परिचित हैं। उक्त श्लोकों के अनुसंधान में यों माल्रुम होता है कि लोक-सर्जक भगवान् श्री कृष्ण जब द्वारका पुरी में विराजमान थे, तब उनके दर्शनार्थ श्रृङ्गीऋषि द्वारका पधार रहे थे । उसी समय इसी स्थल पर विश्राम किया और भगवान् शंकरजी की उन्होंने स्थापना की जो 'श्रृङ्गेश्वर महादेव' के नाम से इस समय भी मौजूद हैं। इसी अवसर पर ऋषीश्वर की आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् यह वरदान देते गये कि जिस प्रकार व्यासेश्वर के दर्शन बिना काशी श्री विश्वनाथजी का दर्शन निष्फल हो जाता है उसी प्रकार आपके द्वारा समाराधित मेरी सौम्य मूर्ति के दर्शन किये बिना द्वारका यात्रा निष्फल हो जायेगी। इसी भगवद्वरदान को ध्यान में रखकर श्रृंगी ऋषी जी ने जिस भगवत् श्रीविग्रह की स्थापना की वह आज भी विद्यमान हैं ।

शीशोदिया वंशजरत्न-राणा
दूदाराख्यडोसात्मजबन्धुवर्गैः ।
श्रीनन्दरामाख्यगुरुं महान्तं
मत्वाऽर्पितो ग्राम सुशींगडाख्यः ॥

किञ्च: —

श्रीमन्मेहरवंशशेखरमणिर्दूधाख्यडोसात्मजः
सप्तग्रामजनाः सुपञ्चपरिषन्मुख्या मिलित्वा समे
श्रीगोपालकलाल–पूजनकृते श्री नन्दरामाभिधं
बाबाऽऽख्यं परिपूज्य संवसथकं श्रीशींगड़ाख्यं ददुः ॥

आगे चलकर उस प्रान्त में रहने वाले मेहर जाति के लोगों ने उस स्थान के परितः स्थित जमीन भगवान की अराधना के लिये समर्पित कर दी। जो आधुनिक शब्दों में "शींगड़ा स्टेट' कहलाने लगा। वर्तमान मन्दिर एक सुभव्य राजमहल के सदृश पक्के पत्थरों से बना हुआ विरामदुर्ग की याद दिलाता है। जो प्राचीन भारतीय संस्कृति को अपने गहन गह्वरों में लेकर प्राणी मात्र को शान्ति और समृद्धि का संदेश दे रहा है।

अघटित घटना पटीयस भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी का काल-चक्र ने करवट लिया उनके परम भक्त ऋषीश्वर के द्वारा संस्थापित इस आश्रम की हलचल कुछ दिन के लिये गुप्त हो गयी। जो कि एक समय में सारे विश्वको "संगच्छद्ध्वम् संवदध्वम् सम्वो मनांसि जानताम्" मधुव्वा वा ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधुमत्पार्थिवं रजः। सर्वे हि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। इत्यादि सन्देश द्वारा सचेत करता था।

इस मठ की शुभ्र कीर्तिपताका पुनः तब फहराने लगीं जब दिः २६–४–१९३१ ई० को श्री सम्प्रदायोद्धारक जगद्विजयी महा-

महोपाध्याय स्वामी श्री रघुवराचार्य वेदान्त केशरी इस ऋषि-आश्रम के पूर्वाआचार्यपीठमें पीठाधिपति हुए।

श्रीवेदान्तकेशरीजी दि. २६–४–१९३१ को श्री रघुवर-संस्कृतमहाविद्यालय के समुद्घाटन के साथ लगभग २० बीस वर्ष तक विविध प्रदेशों से अनेक शास्त्र अभ्यासार्थ समागत अनेक छात्रों को समुचित व्यवस्था के साथ नाना शास्त्राभ्यास कराते हुए विरा-जमान रहे ।

आपने अनेक ग्रन्थों के संशोधनकार्यातिरिक्त अनेक पारि-ष्कारिक दार्शनिकग्रन्थों का प्रणयन भी किया जो महर्षि श्री पुरुषोत्तमाचार्यबोधायनप्रवर्तित जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्यजी द्वारा स्वीकृत विशिष्टाद्वैत मत के परम पोषक हैं । जिनमें से प्रधान ये हैं:–

(१) ब्रह्मसूत्रीय वेदान्तवृत्ति (२) वेदार्थरक्षा (३) श्रीमद् भगवद्गीतार्थचन्द्रिका (४) मन्त्रराजमीमांसा (५) वैष्णवमता-ब्जभास्करभाष्य । आपके हिन्दी तथा गुजराती–भाषा में भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं । सारे भारतवर्ष में सदाचार्यों द्वारा प्रवर्तित अनादि वैदिक विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुमोदित सद्धर्म का उपदेश करते हुए आप ऐहिक लीला को वसन्त पंचमी (वि. सं. २००७) को समाप्त कर साकेत धाम पधारे। आप अपने समयके अद्वितीय दार्शनिक विद्वान् सदुपदेशक असाधारण वक्ता व शास्त्रार्थी विद्वान् थे। जो उनके परिष्कारित अनेक ग्रन्थों से स्पष्ट ज्ञात होता है।

साकेतनिवासी महामहोपाध्यायजी के द्वारा सुशोभित आचार्य-पीठ पर तर्क वेदान्त योगादि शास्त्रों में पारंगत योगिराज जगद्गुरु स्वामी श्री रामप्रपन्नाचार्यजी दर्शनकेशरी दि, २०–११–१९५२ ई. को आसीन हुए ।

परम वीतराग श्री योगिराज का जन्म त्रिभुवन पावनी गङ्गा तथा भूतभावन भगवान् श्री शंकरजी द्वारा समुपसेवित पुण्यनगरी वाराणसी में वि. सं. १९४९ चैत्र शुक्ल श्री रामनवमी को हुआ था । वे बाल्यकाल से ही भगवान श्री साकेतविहारीजी के परमोपासक थे अतः माता पिता दोनों के ही भगवद्धाम प्राप्त करने के बाद स्वमार्ग प्रशस्त हो जाने से एहिक बन्धन रूप बन्धनों को छोड़ कर अनेक तीर्थाटन करते हुए महामहोपाध्याय स्वामी श्री रघुवराचार्य वेदान्तकेशरीजी की शरण में आये और आचार्यप्रवरका अनुग्रह प्राप्त कर भगवत्प्रपन्न हुए ।

आचार्य प्रवर तथा अन्यान्य विद्वानों के सान्निध्य में रहकर आपने अनेक शास्त्रों में पारंगतता प्राप्त की । ऐहिक भोगसाधनों को भगवच्छरणापन्नता में बाधक अनुभव कर लौकिक लज्जा तथा शरीररक्षा के साधन "कौपीनं युगलं वासं कन्था शीतनिवारिणी" के आदर्श को चरितार्थ करते हुए टाटाम्बर (टाट) तथा शरीररक्षण-साधन कन्द मूल फल गोदुग्ध मात्र का सेवन करते हुए राजयोग मार्ग से परमपथ के पथिक बनने लगे ।

स्वाधीत सुरभारती का विशद प्रचार हो इस दृष्टिसे आचार्य-चरण द्वारा संस्थापित श्रीरघुवरसंस्कृतमहाविद्यालय की उत्तरोत्तर वृद्धि तथा सुदामापुरीस्थ 'श्रीजानकीमठ' का सपादलक्ष रुपये व्यय कर जीर्णोद्धार तथा सुभव्यशिखरदार मन्दिर बनवाकर श्री अवधविहारीजी (श्री सीतारामजी) की प्राणप्रतिष्ठा २५।३।१९६०ई० श्री रामनवमी के दिन बड़े समारोह के साथ करवाई। जहाँ द्वारका यात्रा के लिये संत महात्मा विद्वान् व दर्शनार्थियों के लिये निवासादि की समुचित व्यवस्था है।

श्री योगीराजजीने भौतिक वातावरण की प्रबलता से दलितमानवमात्र के स्वान्तःदुःखको धर्म–प्रचार सदुपदेशादि कार्यद्वारा उपशान्ति के लिये गुजरात–प्रदेश के पाटनगर अहमदाबाद के पश्चिम भागमें श्री मरीचि महर्षिके तपसे पूत पुण्यभूमि साभ्रमती (साबरमती) के किनारे पर विविध उद्देश्यों से प्रेरित 'श्रीकोसलेन्द्र-मठ' नामक संस्था की सन् १९६१ ई० में स्थापना की।

मठ की मुख्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१. प्रवचन–नित्यप्रति सायंकालमें विविध शास्त्रनिष्णात आचार्यों धर्मोपदेशकों द्वारा वेद उपनिषद् गीता रामायण भागवतादि के प्रवचनों द्वारा सनातन धर्म का प्रचार।

२. सुरभारती (संस्कृतवाङ्मय) के प्रचारार्थ मठ द्वारा संचालित श्रीरघुवररामानन्दवेदान्तमहाविद्यालयमें वेद उपनिषद न्याय व्याकरण वेदान्त साहित्यादि के अध्ययन–अध्यापनकी समुचित

व्यवस्था है। जहाँ उच्च कोटि के विद्वानों के द्वारा प्रदत्त सुरभारती-
शिक्षाको गुजरात विहार आसाम उत्तरप्रदेश उड़ीसादि विविध प्रान्त
व नेपालादि देशोंके छात्र नाना विषयों में प्राप्त कर रहे हैं। संस्कृत-
अध्ययन करने वाले समस्त छात्रों की भोजनाच्छादन निवास पुस्तक–
शुल्क वृत्यादि की व्यवस्था मठ द्वारा की जाती है। संस्कृत मैट्रिक–
आई. ए. बी. ए. एम. ए. व रिसर्चवाले अन्य छात्र भी इस महा-
विद्यालय से लाभ उठाते रहते हैं।

१ किसी सेठ साहुकार व्यक्ति से किसी प्रकार की सहायता
लिए विना ही निजी व्यय से लगभग दो लाख रुपये लगाकर–

श्री योगिराज जी द्वारा संचलित उभयस्थानों (श्री शेषमठ
तथा श्रीकोसलेन्द्रमठ) की अध्ययन अध्यापन संचालनादि प्रणाली
को देखकर सहजमें ही प्राचीन गुरुकुलपरम्परा याद आ
जाती है।

३. अष्टांग योग–साधना द्वारा ऐहिक (स्वास्थ्य) तथा
आमुष्मिक लक्ष्य की प्राप्ति।

४. गौशाला–गौसंवर्धन–संरक्षणादि के द्वारा भारतीय संस्कृति
के साथ जनस्वास्थ्य की रक्षा।

५. देशी औषधोपचार द्वारा जन स्वास्थ्य लाभादि

संक्षेप में इन मठों का यही इतिवृत्त है।

उपर्युक्त सारी प्रवृत्तियों में रात्रिदिन लगे रहते हुए भी पूज्य
श्री योगिराज जी योगमार्ग द्वारा श्रीसाकेतविहारीजी के चरण-

कमलों से निस्यन्दित मकरन्दानुपान करते रहते हैं। इतना ही नहीं, दि. २८–३–६९ से दि. १२–४–६९ तक के दीर्घकाल पर्यन्त समाधिस्थ भी रह चुके है। इन प्रवृत्तियों के साथ साथ आप विविध दार्शनिक ग्रन्थों में अनेक टीका ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा भारतीय सेवामें संलग्न रहते हैं।

जिनमें से प्रधान ग्रन्थ ये हैं :—

१. नव्यन्याय जागदीशी व्याधिकरण के ऊपर विशद विवेचना पूर्वक सारगर्भित दीपिका टीका संस्कृत में। २. श्री वैष्णवमताब्ज-भाष्यकरभाष्य की टीका संस्कृत में। ३. सिद्धान्तदीपक विवरण संस्कृत में। ४. ब्रह्मसूत्रानन्दभाष्य की टीका (अप्रकाशित) ५. उपनिषदानन्दभाष्यका भाष्यपरिष्कार (अप्रकाशित) योगसूत्रविवरण (अप्रकाशित) तत्वत्रयसिद्धि आदि तथा खण्डनोद्धारदीपिका टीका हिन्दी। आप जिन मठों का संचालन कर रहे हैं वे श्रीरामानन्द–सम्प्रदाय के ३७ द्वारों में अन्यतम जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यजी के द्वारे के मठ हैं। जिनकी परम्परा इस प्रकार है :–

आचार्य-परम्परा

१ सर्वावतारी सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम जी।

२ सर्वेश्वरी भगवती श्रीसीता जी।

३ श्री हनुमान्‌जी। ४ श्री ब्रह्माजी। ५ श्री वसिष्ठजी।

६ श्री पराशरजी। ७ श्री व्यासजी ८ श्री शुकदेवजी।

९ श्री पुरुषोत्तमाचार्यजो (बोधायन) १० श्री गंगाधराचार्यजी
११ श्री सदानन्दाचार्यजी। १२ श्री रामेश्वरानन्दाचार्यजी।
१३ श्री द्वारानन्दाचार्यजी। १४ श्री देवानन्दाचार्यजी।
१५ श्री श्यामानन्दाचार्यजी। १६ श्री श्रुतानन्दाचार्यजी।
१७ श्री चिदानन्दाचार्यजी। १८ श्री पूर्णानन्दाचार्यजी।
१९ श्री श्रियानन्दाचार्यजी। २० श्री हर्यानन्दाचार्यजी।
२१ आचार्यसार्वभौम श्री राघवानन्दाचार्य जी।
२२ प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्यजी।
२३ ,, श्री भावानन्दाचार्यजी।
२४ ,, श्री अनुभवानन्दाचार्यजी।
२५ ,, श्री विरजानन्दाचार्यजी।
२६ ,, श्री आशारामाचार्यजी।
(श्री हाथीरामजी)
२७ ,, श्री रामभद्राचार्यजी।
२८ ,, श्री रघुनाथाचार्यजी।
२९ ,, श्री विश्वम्भराचार्यजी।
३० ,, श्री राघवेन्द्राचार्यजी।
३१ ,, श्री वैदेहीवल्लभाचार्यजी।
३२ ,, श्री कोसलेन्द्राचार्यजी।
३३ ,, श्री रामकिशोराचार्यजी।
३४ ,, श्री जानकीनिवासाचार्यजी।

३५ ,, श्री साकेतनिवासाचार्यजी ।
३६ ,, श्री जानकीजीवनाचार्यजी ।
३७ ,, श्री भरताग्रजाचार्यजी ।
३८ ,, श्री हनुमदाचार्यजी ।
३९ महामहोपाध्याय ,, श्री रघुवराचार्यजी वेदान्तकेशरी
४० वर्तमानाचार्य योगिराज ,, श्री रामप्रपन्नाचार्यजी दर्शनकेशरी

अन्त में—"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥"

इस नीति का अनुसरण कर कृपापूर्वक स्खलन को सूचित कर दें ताकि पुनरावृत्ति शुद्ध की जा सके ।

विद्वज्जनविधेय :—

विश्रामद्वारका स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य
श्रीरामानन्दपीठ चैत्र शुक्ल श्री रामनवमी
श्रीशेषमठ संवत् २०२९
पोरबन्दर (सौराष्ट्र) ता.—११ । ४ । १९७३

युक्तिदीपिकाकारविद्वद्रत्न—

श्रीयुक्तिधरविरचितम्

आत्मगुणाष्टकम्

रामं ब्रह्म नमस्कृत्य श्रुतानन्दं गुरुं तथा ।
आत्मगुणाष्टकं वच्मि वैष्णवानामपेक्षितम् ॥१॥
कश्चिद् धर्मो न यत्तुल्यो वैष्णवत्वप्रयोजकः ।
सर्वभूतहितेच्छा सा दयाख्यश्चात्मनो गुणः ॥२॥
शक्तस्य क्लेशितस्यापि वैष्णवत्वप्रयोजकः ।
क्रोधाभावो बुधः प्रोक्तः क्षमाख्यश्चात्मनो गुणः ॥३॥
गुणेष्वदोषदर्शित्वं वैष्णवत्वप्रयोजकम् ।
अनसूयाऽभिधस्तच्च भाषितश्चात्मनो गुणः ॥४॥
बाह्याभ्यन्तरसंशुद्धिर्वैष्णवत्वप्रयोजिका ।
कुसङ्गरहिता सा च शौचाख्यश्चात्मनो गुणः ॥५॥
सतामकष्टदं कर्म वैष्णवत्वप्रयोजकम् ।
अनायासाभिधस्तद्धि धर्म्यं एवात्मनो गुणः ॥६॥
वर्जनमप्रशस्तानां वैष्णवत्वप्रयोजकम् ।
प्रशस्ताचरणं चाथ मङ्गलं चात्मनो गुणः ॥७॥
पात्रेऽदीनतया दानं वैष्णवत्वप्रयोजकम् ।
अदैन्याख्यो बुधैः प्रोक्तः प्रशस्यश्चात्मनो गुणः ।८॥
न्यायार्जितेन सन्तोषो वैष्णवत्वप्रयोजकः ।
स्पृहाभावो बुधैः प्रोक्त उत्तमश्चात्मनो गुणः ॥९॥
श्रीयुक्तिदीपिकाकारयुक्तिधरेण निर्मितम् ।
आत्मगुणाष्टकं भूयाद् वैष्णवानां सुखप्रदम् ॥१०॥

—*—

बोधायनवृत्तिकारभगवच्छ्रीपुरुषोत्ताचार्यप्रणीता

पुरुषोत्तमप्रपत्तिः (प्रपत्तिषट्कम्)

रामिति बीजवान् नाथ ! मन्त्रराजो हि तारकः ।
तं जपामि तव प्रीत्यै पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥१॥

राम ! दीनोऽनुकूलोऽहं विश्वस्तोऽप्रातिकूल्यवान् ।
त्वयि न्यस्यामि चात्मानं पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥२॥

मामनाथं स्वशेषं च न्यासितं स्वार्थमेव हि ।
निर्भरं स्वभरत्वेन पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥३॥

यस्मिन् देहेऽहमानीतः कर्मणा स्वेन राघव ! ।
तदन्ते देहि सायुज्यं पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥४॥

न गतिर्जानकीनाथ ! त्वां विना परमेश्वर ! ।
परां गतिं प्रपन्नं त्वां पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥५॥

मोहितो मायया तेऽहं दैव्या गुणविशिष्टया ।
शरण्यं त्वां प्रपन्नोऽस्मि पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥६॥

बोधायनमहर्षिश्रीपुरुषोत्तमनिर्मितम् ।
प्रपत्तिषट्कमेतच्छ्रीभुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥७॥

———o———

महामहोपाध्याय जगद्विजयि स्वामिश्रीरघुवराचार्य-
वेदान्तकेसरिप्रणीतं

स्तोत्रामृतम्

जगल्लीलाबीजं निरवधिककल्याणगुणकं
महेशाद्यैर्वन्द्यं कलुषितगुणास्पृष्टवपुषम् ।
शरण्यं लोकानां श्रुतिनुतपदं भक्तसुखदं
श्रयेऽहं श्रीरामं द्विभुजकमनीयं प्रतिदिनम् ॥१॥

जगन्नाथोऽनाथावनदृढमतिस्सर्वगतिकः
स्वतन्त्रस्सर्वज्ञो निरवधिककल्याणगुणकः ।
विरिञ्चेशानाद्यैरमरपतिभिः स्वर्चितपदः
परेशः श्रीरामो विहरतु हृदब्जे मम चिरम् ॥२॥

परैर्वेदान्तार्थं कलुषितपथं प्रापयति यो
विशिष्टाद्वैताख्यं प्रथितमतमेनत्प्रकटयन् ।
परप्रत्यग्भेदं श्रुतिशिरसि सिद्धं विशदयन्
यती रामानन्दः स हि सुगुणसिन्धुर्विजयते ॥ ३ ॥

यस्यादेशवशादवेदिषमहं मोहाम्बुधेर्वाडवं
वेदान्तस्य विशिष्टतत्त्वगमकं सिद्धान्तमादन्दनम् ।
मिथ्यावादविमर्दनेतिचतुरा यद्भारती राजते
स्वाचार्यं श्रुतिवित्तमं तमनिशं वन्दे दयावारिधिम् ॥४॥

महामहोपाध्याय जगद्विजयी स्वामी श्री रघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी



आविर्भाव :— विक्रम संवत १९४३ अश्विन शुक्ल विजयादशमी
तिरोभाव :— विक्रम संवत २००७ माघ शुक्ल वसन्तपंचमी



जगद्गुरुश्रीत्रिदण्डिग्रन्थमालायाः श्रीरामानन्द-
वेदान्तविषयकं प्रथमं पुष्पम् ।

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याय नमः

श्रीरामानन्दपीठनामकश्रीअनुभवानन्दद्वारपीठसंस्थापकाचार्य-
जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीतः

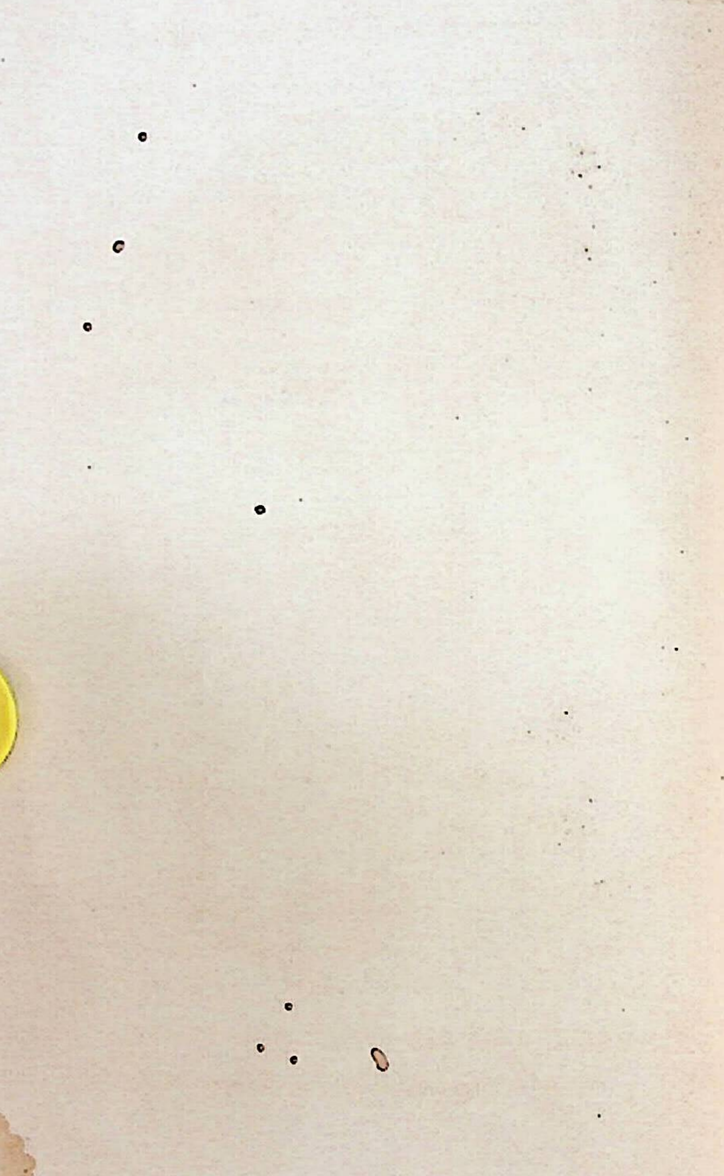
श्रौतार्थसंग्रहः



संशोधकः—

महामहोपाध्याय स्वामी श्री रघुवराचार्य वेदान्तकेसरी

श्रीरामानन्दपीठ (शेषमठ शींगडा)



जगद्गुरुश्रीत्रिदण्डिग्रन्थमालायाः श्रीरामानन्द-
वेदान्तविषयकं प्रथमं पुष्पम् ।

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याय नमः

श्रीरामानन्दपीठनामकश्रीअनुभवानन्दद्वारपीठसंस्थापकाचार्य-
जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीतः

श्रौतार्थसंग्रहः



संशोधकः—

महामहोपाध्याय स्वामी श्री रघुवराचार्य वेदान्तकेसरी

श्रीरामानन्दपीठ (शेषमठ शींगडा)

जगद्गुरुश्रीमदनुभवानन्दाचार्याष्टकम्

रक्षकं वैष्णवानां च धर्मवारिधिवर्धकम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥१॥

रामानन्दकृतानन्दभाष्याब्जस्य प्रभाकरम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥२॥

भक्तिगङ्गाप्रवाहेण मुक्तिदं लोकपावनम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥३॥

विशिष्टाद्वैतवादेन वादिवादापसारकम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥४॥

सर्वसिद्धिप्रदातारं सिद्धेन्द्रं सिद्धसेवितम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥५॥

मुद्रोर्ध्वपुंड्रमालादे रक्षकं परमं वुधम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥६॥

श्रीगीतार्थसुधाकारं सदाचारोपदेशकम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥७॥

त्रयाणां च रहस्यानां भव्यव्याख्याविधायिनम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥८॥

वैष्णवभाष्यकारश्रीवैष्णवाचार्यनिर्मितम् ।
अष्टकं भवतादेतत् सर्वकल्याणकारकम् ॥९॥

———०———

श्रीसीतारामाभ्यां नमः ।
आनन्दभाष्यकारश्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।
श्रीअनुभवानन्दद्वारपीठसंस्थापकजगद्गुरु
श्रीअनुभवनन्दाचार्यप्रणीतः

श्रौतार्थसंग्रहः

वन्दे सीतापतिं सीतां मारुतिं च महामतिम् ।
आनन्दभाष्यकृद्रामानन्दाचार्यं यतीश्वरम् ॥१॥
नत्वाऽहं स्वगुरुं भावानन्दाचार्यं जगद्गुरुम् ।
श्रौततत्त्वावबोधाय कुर्वे श्रौतार्थसंग्रहम् ॥२॥

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति "रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् परब्रह्मपदाभिधेयः सर्वेश्वरः श्रीराम एव मुख्यं श्रौतं तत्त्वम् । मोक्षावाप्त्यर्थं तज्ज्ञानमेव मुमुक्षुभिः सम्पादनीयं "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् । स च भगवांश्छ्रीरामः सर्वदा चिदचिद्विशिष्ट एवावतिष्ठते । तथा चाहुराचार्यसार्वभौमाः श्रीराघवानन्दाचार्याः श्रीराघवेन्द्रमङ्गलमालायाम्—

'चिदचिद्भ्यां विशिष्टाय शिष्टपक्षसुरक्षिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय राघवेन्द्राय मङ्गलम् ॥१॥ इति

वेदान्तरहस्यमार्त्तण्डभाष्येप्युक्तम्—

"बोधायनवृत्तिकारभगवत्पुरुषोत्तमाचार्यबोधायनप्रशिष्यैराचार्यचक्रचूडामणिभिः श्रीसदानन्दाचार्यैरप्युक्तं, वेदान्तसारस्तवे—

"चिताऽचिता विशिष्टाय सूक्ष्मयाऽसूक्ष्मयाथ च ।
कारणकार्यरूपाय श्रीरामाय नमो नमः ॥" इति ॥"

चिदचितोः श्रीरामस्य विशेषणत्वं तु "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यादिश्रुतिनिचयप्रतिपादिततच्छरीरत्वादेव । निगदितं चैतदुपेयोपायदर्पणे जगद्गुरुभिः श्रीश्रुतानन्दाचार्यैः—"ईशस्य देहरूपत्वात् प्रकारौ कथितावुभौ । उभाभ्यां च विशिष्टो हि सर्वेशो रघुनायकः ॥" इति । सिद्धान्तविजयिभिः श्रीश्रियानन्दाचार्यैरप्युदितं—"प्रमिताक्षरासारे—तनुत्वेन श्रुतो जीवो ब्रह्मणो हि विशेषणम्" (प्र. सा. २।३।२२) "तनुत्वात् तत् प्रकारत्वेनाचितो ब्रह्मणोंऽशता" (प्र. ३।२।९) इति । भगवद्रामानन्दाचार्य आचार्यसार्वभौमोऽप्याह—"चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्वशब्दाभिधेयम् ।" (आनन्दभाष्य २।१।१४)

शरीरं तु चेतनं प्रत्याधेयं विधेयं शेषभूतं चापृथक्सिद्धं द्रव्यम् । तथा हि—भाष्यम्—"प्राणशरीरः"—सर्वेषां प्राणानां धारकः "यस्य प्राणः शरीरम्" इति श्रुत्या प्राणस्य शरीरत्वनिर्देशादाधेयत्वविधेयत्वाङ्गत्वादयस्तस्मिन् फलन्ति । लोकेऽपि शरीरपदेनाधेयत्वादय एव गृह्यन्त इति तान्येव शरीरपदबोध्यानीति ।" (आनन्दभाष्य १।२।२) इति ।

एतेन चिदचिदीश्वरश्चेति त्रय एव श्रौताः पदार्था इत्युक्तं भवति । तथा हि श्रुतिः—"क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" इति । उक्तं च सदाचार्यधुरेन्द्रैः श्रीराघवानन्दाचार्यैः श्रौततत्त्वसमुच्चये—'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्त्वे" त्यादिश्रुतिप्रामाण्याच्चिदचिदीश्वरश्चेति त्रीण्येव श्रौतानि तत्त्वानीति ।" इति ।

१—अथ चिद्रूपार्थनिरूपणम्

तत्र चित्पदवाच्यो जीवः । स चाणुचेतनो विशेषणानुक्तावीश्वरे विशेष्यानुक्तौ प्रकृतिकार्येऽतिव्याप्तिरत उभयोपादानम् । चेतनो नाम ज्ञानाश्रयो जानामीतिप्रतीते 'बोद्धा कर्त्ते' तिश्रुतेश्च ।

"एष द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" (प्रश्न० ५।९) इतिश्रुतिप्रण्याज्ज्ञानाश्रयोऽपि जीवः । सिद्धान्ते ज्ञानरूपतयाऽङ्गीकृतोऽत एव स ईश्वरवत् प्रत्यक्पदवाच्यः । यः स्वस्मै स्वयमेव प्रकाशते स प्रत्यक् । एवकारेण नित्यविभूतिधर्मभूतज्ञानयोर्व्यावृत्तिः । जीवस्य स्वरूपभूतं ज्ञानं धर्मिभूतज्ञानत्वेन तदाश्रितं तद्गुणभूतं च ज्ञानं धर्मभूतज्ञानत्वेनाभिधीयते "सुखमहमस्वाप्समि" तिप्रतीत्या. जीवः स्वयम्प्रकाशो ज्ञानत्वाद् धर्मभूतज्ञानवदित्यनुमानाच्च जीवे स्वप्रकाशत्वसिद्धिः ।

जीवात्मनो नित्यत्वम् ।

स च जीवो नित्यः "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामि" त्यादिश्रुतेः । जीवस्य जन्ममरणावस्थाऽवाप्तिशङ्का तु देहसंयोगवियोगावादाय समाधेया । जीवस्यानित्यत्वे तु कृतविप्रणाशाकृताभ्युपगमौ दोषौ भवेतामिति नित्यत्वमेवाभ्युपगन्तव्यं तस्य ।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि''ति श्रुतिविरोधस्तु न शङ्कनीयः, सिद्धान्ते सृष्टेः प्राङ् नामरूपविभागानर्हचिदचिद्विशिष्टस्यैकस्य ब्रह्मणः स्वीकारात्। अत उक्तमेतच्छ्रुतेरानन्दभाष्ये भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैः—"यद्यप्ययं सच्छब्दो विशेष्यलक्षणपरमात्मबोधकस्तथापि कारणविषयत्वसामर्थ्यात् कारणताप्रयोजकगुणविशिष्टप्रकृतिपुरुषकालशरीरकं परमात्मानमेव समुपस्थापयति।" (छादोग्यानन्दभाष्य ६।२।१) इति। इदं प्रत्यक्षादिप्रमाणेन परिदृश्यमानं जगद् विभक्तनामरूपं बहुत्वावस्थं सृष्टेः पूर्वं निमितान्तररहितमविभक्तनामरूपतया एकं सच्छब्दशब्दितं ब्रह्मलक्षणमेवाभवदिति।" (छान्दोग्यानन्दभाष्य ६।२।१) इति च।

जीवात्मनोऽणुत्वम्

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥" आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यादणुपरिमाणोऽयं जीवात्मा।

स्थूलदेहमपहाय सूक्ष्मदेहोपादानकाले सकलस्यावकाशाभावात् स्वरूपशैथिल्यप्रसङ्गाद्धेय एव सर्वथा जीवमध्यमपरिमाणवादः। ननु सङ्कोचविकाशावङ्गीकृत्य स्थूलसूक्ष्मजीवानां क्रमात् सूक्ष्मस्थूलदेहप्रवेशस्योपपन्नत्वेन समीचीन एव जीवमध्यमपरिणामवाद इति चेन्न, तथात्वे जीवानां सावयवत्वेनानित्यत्वापत्तेः।

ननु शरीरव्यापिसुखदुःखाद्युपलब्धये सुदूरदेशेऽपि जीवादृष्टप्रयुक्तजीवभोग्यपदार्थोत्पत्तये जीवविभुत्वमेवाङ्गीकर्त्तव्यमिति चेन्न, तथात्वे

जीवोत्क्रान्त्यादिप्रतिपादकश्रुतिव्याकोपप्रसङ्गात् । तथा चाहुर्ब्रह्मसूत्रकारा भगवन्तो बादरायणाः–'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' (ब्र०सू०२।३।२१) व्याख्यातञ्चैतत् पारमार्षं सूत्रञ्चैवमेवानन्दभाष्यकारैर्भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैः श्रीसम्प्रदायप्रधानाचार्यैः स्वभाष्ये । तथा हि– "आत्मनः सर्वगतत्वं निराकरोति" उत्क्रान्तीत्यादिना । ताभ्य इत्यनुवर्त्तते । नायमात्मा सर्वगतः किन्त्वणुरेव । उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । आत्मोत्क्रान्तितद्गतितया गतिश्रुतिभ्य इत्यर्थः । "तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" (बृ.६।४।२) "ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौषीतकी १।२) "तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" (बृ.६।४।२) इत्यादिगत्यागत्युत्क्रान्तिश्रुतिभ्य आत्मनः सर्वगतत्वं नोपपद्यते किन्त्वणुत्वमेव । सर्वगतस्य विभोर्गतिश्चागतिश्च नोपपद्यते । तस्मादात्मनोऽणुत्वमेव ।" (आनन्दभाष्य २।३।२१)इति ।

घटोपाधिकाकाशवच्छ्रुत्यननुमतस्यान्तःकरणोपाधिकचैतन्यात्मकजीवस्य गत्यादिस्वीकारे तु "अथैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादि श्रुतिविरोधोऽनिवार्य एव । तस्मादणुपरिमाण एव जीवः ।

गृहकोणस्थितस्यापि दीपस्य स्वप्रभया गृहस्य सर्वप्रदेशे व्याप्तिरिवाणुपरिमाणकस्यापि जीवस्य स्वधर्मभूतज्ञानद्वारा देहस्य सर्वप्रदेशे व्याप्तिरस्त्यतो न काचिदनुपपत्तिः शरीरव्यापिसुखाद्युपलब्धौ । एवं जीवादृष्टमपि सर्वव्यापीश्वरेच्छाऽनर्थान्तरमेव । अत एवोक्तमाचार्य-

सार्वभौमैः श्रीद्वारानन्दाचार्यैः—'दैवाभिधास्ति जीवानां पूर्वकर्मफल-प्रदा । यस्येच्छा सदसद्रूपा रामचद्रं नमामि तम् ॥" (श्रीराम-चन्द्रदशकम्) इति । अतो दूरदेशेऽपि अदृष्टप्रयुक्ततत्तज्जीवभोग्यपदार्थोत्पत्तिरप्यनुपपत्तिशून्यैवेति ध्येयम् ।

कर्त्तृत्वम्

"एष द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" (प्रश्नोपनिषद् ५।६) इति श्रुत्या बोद्धेत्येवंरूपेण ज्ञानाश्रयत्ववत् कर्त्तेत्येवंरूपेण कर्त्तृत्वाश्रयत्वमपि प्रतिपादितं जीवात्मनोऽतस्तस्याकर्तृत्वापादनं श्रुतिविरुद्धमेव । अत एवोक्तं जगद्-गुरुभिः श्रीचिदानन्दाचार्यैश्चिदात्मप्रबोधे—'अकर्त्ता विभुर्नाथवा मध्यमानो न वा ज्ञानशून्यो जड़ो दुःखरूपः । अणुर्ब्रह्मणोंऽशः शरीरं च शेषः परं रामचन्द्रस्य दासश्चिदात्मा ।'। इति ।

सूत्रितं च ब्रह्मसूत्रकारैर्भगवद्भिर्बादरायणैः—'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्र.सू.२।३।३४) इति । व्याख्यातं चैतत् प्रमिताक्षरावृत्त्याख्ये श्रीबोधायनवृत्तिसारे जगद्गुरुभिः श्रीदेवानन्दाचार्यैः । तथा हि —"आत्मा कर्त्ता" । न तु प्रकृतिः । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्राणामप्रवृत्तस्य पुरुषस्य प्रवर्त्तकबोधोत्पादनद्वारा प्रवृत्त्युत्पादनेनार्थवत्त्वात् । अन्तःकरणस्य प्रवर्त्यत्वस्वीकारे तु तस्याचेतनत्वेन प्रवर्त्तकबोधोत्पादनासम्भवाच्छास्त्रवैफल्यमनिवार्यमेव ।" (बोधायनवृत्तिसारः) इति ।

जीवकर्तृत्वं च न जीवायत्तं किन्तु परमात्माऽऽयत्तमेव । ऊचुश्च 'परात्तु तच्छ्रुते' रित्येतत्सूत्रभाष्य आनन्दभाष्यकारा आचार्य-

सार्वभौमा भगवन्तः श्रीरामानन्दाचार्याः—"तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थः। तज्जीवस्य कर्त्तृत्वं पराग्जीवान्तर्यामिणः परमात्मन एव भवति। कुतः? तच्छ्रुतेः। 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" (तै०-आ० ३।११।१०) 'य आत्मानमन्तरो यमयति" (वृ० ३।७।२२) "एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते" (कौषी० ३।९) इति तस्य जीवकर्त्तृत्वस्य परमायत्तत्वश्रुतेः। तस्माज्जीवकर्त्तृत्वं परमपुरुषायत्तमेव। (आनन्दभाष्य २।३।४१) इति।

कर्त्तृत्वप्रतिपादनाद् भोक्तृत्वमपि प्रतिपादितं भवति जीवानाम्।

देहादिभ्यो वैलक्षण्यम्

जीवश्च न देहेन्द्रियप्राणवुद्धिस्वरूपः 'मम देहः' 'मम चक्षुरादीनीन्द्रियाणि' 'मम प्राणाः' 'मम वुद्धि' श्चेत्यादिप्रतीतेः। ऊचुश्च श्रौततत्त्वसमुच्चये भगवन्तः श्रीराघवानन्दाचार्याः—"स च 'यस्यात्मा शरीरम्' तिश्रुतिप्रामाण्यादीश्वरशरीररूपोऽपि न पाञ्चभौतिकस्वशरीररूपोऽहमित्युपलभ्यमानत्वात्, "मम पाञ्चभौतिकं शरीरम्' इति शरीरात् पृथक्त्वेनोपलभ्यमानत्वात् "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इत्यादिश्रुतिभिर्नित्यत्वेन प्रतिपादितत्वाच्च। इन्द्रियप्राणवुद्धिवैलक्षण्यमप्यनयैव रीत्या बोध्यम्। अत एवोक्तं जगद्गुरुश्रीश्रुतानन्दाचार्यैः—

"सुखाज्ञाणुचिजज्ञातृरूपोऽस्ति जीवः
परब्रह्मणोंशस्तनुर्नित्यशेषः।

न देहेन्द्रियंप्राणवुद्धिस्वरूपो
विकारी जडो ब्रह्मरूपोऽपि नैव" ॥इति॥

उक्तञ्च बोधायनमतादर्शाख्यायां सहस्रश्लोक्यां जगद्गुरु-श्रीश्रुतानन्दाचार्यप्रशिष्यैर्जगद्गुरुश्रीपूर्णानन्दाचार्यैः सिद्धान्त-सार्वभौमैः—

"स्थूलश्चाहं हि गच्छामि" प्रत्ययाच्चेतनस्तनुः ।
मृते देहे तु चैतन्यं प्राणनिर्गमनान्न हि ॥ ८७७ ॥
इति चेन्न वरं चैतद्, विकल्पासहता यतः ।
देहस्यावयवे तच्चैकस्मिन् सर्वेषु वाऽस्ति हि ॥ ८७८ ॥
नाद्यः प्रतीयते यस्माच्चैतन्यमितरत्र च ।
वहुचेतनवत्त्वं स्यादन्त्ये चैकतनावथ ॥ ८७९ ॥
उच्छेदो व्यवहारस्य वैमत्ये तु मिथो भवेत् ।
हस्ताद्यन्यतमोच्छेदे स्मृतेश्चानुपपन्नता ॥ ८८० ॥
संघातरूपवत्त्वान्न त्वात्मा तनुर्यथा घटः ।
देहस्यानात्मता सिद्धा चेत्येवमनुमानतः ॥ ८८१ ॥
"मम देहः" प्रतीतेश्च नात्मता मन्यते तनोः ।
अनित्यत्वाज्जडत्वाच्च शरीरस्यात्मता न हि ॥ ८८२ ॥
इन्द्रियस्य न चात्मत्वं "ममेन्द्रियं" प्रतीतितः ।
जीवत्वं न च नेत्रादेस्तच्छून्ये जीव्यते यतः ॥ ८८३ ॥
"मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः ।"
भोगोपकरणं चैवं तस्मादात्मा मनो न हि ॥ ८८४ ॥

"मम प्राणः" प्रतितेश्च प्राणस्य चात्मता न हि ।
"प्राणोऽस्मी"तिश्रुतौ चोक्तः प्राणदेही परेश्वरः ॥ ८८५ ॥
"अहं जानामि" चेत्यत्राहमर्थस्यात्मता खलु ।
तस्य धर्मतया ज्ञाने ज्ञाते सा न कथञ्चन ॥ ८८६ ॥ इति ।

जीवाश्च "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति भगवद्वचनप्रामाण्याद् विशिष्टस्य विशेषणवद् ब्रह्मणोंशभूताः ।

जीवानां मिथो भेदः

अनन्ताः परस्परभिन्नाश्च जीवाः । अन्यथा 'नित्यो नित्यानाम्' 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः । न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।' इत्यादिश्रुतिस्मृतिव्याकोपः प्रसज्येत । जीवाना-मैक्य एकः सुखपरो दुःखी केचिद् बद्धा केचिच्च मुक्ता इत्यादिव्यव-स्था च न स्याद् अत एवोक्तमानन्दभाष्यकारैर्भगवद्भिः श्रीरामानन्दा-चार्ययतिसार्वभौमैर्गीताभाष्ये—

"किञ्चात्मनां भेदाभावे गुरुशिष्यव्यवस्थाभङ्गोऽपि स्यात् । एवं शिष्यतया कञ्चन शिक्षणीयमुपलभ्यानुपलभ्यतया वोपदिशत्याचार्यः ? आद्ये स्वस्माद् भिन्नमभिन्नं वा ? प्रथमे सत्यमसत्यं वा ? नाद्योऽपसि-द्धान्तात् । अन्त्ये तु तस्य मिथ्यात्वेनोपलम्भे तस्मा उपदेशासम्भवः । सत्यत्वेनोपलम्भे तु भ्रान्तत्वेनाचार्यत्वहानिराचार्यस्य । अभिन्नत्वपक्षे कथमुपदेशः । अनुपलभ्येति पक्षे तु कस्मा उपदिशति ?

एवमात्मभेदानभ्युपगमे बद्धमुक्तव्यवस्थाभङ्गश्च भवेत् ।" (गीताया आनन्दभाष्यम् २।१२)इति ।

श्रौत प्रमेयचन्द्रिकायां श्री श्रियानन्दाचार्यैरप्युक्तम्—
एककाले सुखी चैको दुःखी चान्योऽवलोक्यते ।
विज्ञैः परस्परं भेदश्चात्मनां मन्यते ततः ॥ २१ ॥

सुखीदुःखीतिभेदो नन्वन्तःकरणभेदतः ।
मैवं कुतो यतश्चैवं सौभर्यादौ कथं न हि ॥ २२ ॥
मुक्तामुक्तत्वभावश्च बोध्यबोकता तथा ।
मृतामृतव्यवस्था च ह्यात्मैक्ये सम्भवेन्न हि ॥ २३ ॥
नन्वात्मनामभेदोऽस्ति 'भोक्ता भोग्यमि'तिश्रुतेः ।
मैवं यतः प्रकारैक्याज्जीवानां च तथा श्रुतिः ॥ २४ ॥

आहुश्च नवरत्नीकाराः श्रीश्यामानन्दाचार्याः—अहं देहेन्द्रियादिभ्यः प्राणेभ्यो ज्ञानतोऽपि च । अन्यात्मभ्यश्च रामाद्धि भिन्नो रामतनुस्तथा ॥" इति ।

अतश्चैकजीववादः श्रुतिविरूद्धो युक्तिविरुद्धश्चास्तीति बोध्यम् ।

बद्धजीवाः

जीवास्त्रिविधा बद्धमुक्तनित्यभेदात् । उक्तञ्चेत्थमेव भाष्ये—

"एतेन जीवानां बद्धमुक्तनित्यभेदेन त्रैविध्यमपि दर्शितं भवतीत्यन्यत्र विस्तरः । (श्रीरामानन्दभाष्यम् १।१।१४) इति । तत्रानादिकालीनस्वनियामकपुण्यपापात्मककर्मानुगुणजनिनिधनत्वादिधर्ममापन्ना आब्रह्मकीटादयो जीवा बद्धाः । भगवान् श्रीरामोऽपि जीवस्य प्राक्तनं कर्मानुसृत्यैव फलप्रदोऽतो न तत्र स्वातन्त्र्यप्रयुक्तवैषम्यनैर्घृण्यदोषोऽत एवोक्तमाचार्यशिरोमणिश्रीश्रुतानन्दाचार्यैः—

"विकारञ्च रामो दयाब्धिस्तथात्वे
दयाशून्यतां पक्षपातञ्च नैति ।
प्रकारे विकारस्तथा चित्रसृष्टौ
च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्यकर्म ॥" इति ।

(श्रौतसिद्धान्तबिन्दुः)

मुक्तजीवाः

अनन्तजन्मोपार्जितपुण्योदयेन सत्त्वोद्रेकात् सद्गुरुमुपसद्य ततोऽनन्तब्रह्माण्डनायकनिखिलदोषप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणसागरं परं ब्रह्म भगवन्तं श्रीराममवबुध्य तद्भक्तिप्रपत्तिभ्यां बन्धकारणभूतानि कर्माणि विनाश्य कर्मोपार्जितदेहं परित्यज्य दिव्ये श्रीसाकेतधामनि भगवत्सायुज्यमवाप्ता जीवा मुक्ताः ।

भक्तिः

भक्तिश्च ध्रुवा स्मृतिः । उक्तञ्च महर्षिश्रीपुरुषोत्तमाचार्यबोधायनोक्तसाधनसप्तकस्य पद्यात्मिकायां साधनदीपिकाख्यायां व्याख्यायां श्रीबोधायनचरणचञ्चरीकैराचार्यसुरेन्द्रैः श्रीगङ्गाधराचार्यैः—

रामस्य ब्रह्मणोऽनन्यभक्त्यैव मुक्तिराप्यते ।
भक्तिर्ध्रुवा स्मृतिः सा च विवेकादिकसप्तकात् ॥ इति ॥

भक्तिमधिकृत्याभिहितं चापरबोधायनाचार्यजगद्गुरुश्रीदेवानन्दाचार्यवेदान्तविद्यानिधिभिः प्रमिताक्षराकारैर्योगपञ्चके—

"श्रीरामस्यानवच्छिन्नं स्मरणं प्रीतिपूर्वकम् ।
श्रीमद्वैष्णवाचार्यैर्भक्तियोगतया मतम् ॥२२॥
अङ्गमष्टाङ्गयोगोऽङ्गी भक्तियोगः प्रकीर्त्तितः ।
लभ्यते भगवान् रामो भक्तियोगेन नान्यथा ॥२३॥
भक्तिर्बोधायनप्रोक्तैर्विवेकादिकसाधनैः ।
ध्यानध्रुवस्मृतीत्यादिशब्दवाच्या प्रजायते ॥२४॥
संसारिता मताऽभक्त्या भक्त्या मुक्तिरुदीरिता ।
आमृत्युसमयं भक्तेरावृत्तिश्च मता श्रुतौ ॥२५॥
प्रारब्धान्ते मता भक्तिर्मुक्तिदा चर्चिरादिना ।
अङ्गिनी च मता भक्तिरङ्गे तु ज्ञानकर्मणी ॥२६॥

"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चन वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्" ॥३७॥

एवं महापुराणे श्रीभागवते हि मुक्तिदाः।
भक्तेश्च नवधा भेदाः प्रह्लादेन प्रकीर्त्तिताः॥३८॥

एभिराराधितो रामो भक्ते परं प्रसीदति।
योगक्षेमं वहँल्लोके चान्ते मुक्तिं प्रयच्छति ॥३९॥

घृतं जलात् तथा तैलं सिकतातश्च निःसरेत्।
तथाऽपि भगवद्भक्तिं विना मुक्तेर्न सम्भवः ॥४०॥

पूर्वाघनाशिनी चाथ पराघश्लेषवर्जिनी।
भक्तिरेव ततः सैव पुंसां संसारनाशिनी" ॥४१॥ इति।

आनन्दभाष्यकारैराचार्यसार्वभौमैर्भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैरप्यभिहितमेवमेव श्रीवैष्णवमताब्जभास्करे—

"सा तैलधारासमनित्यसंस्मृतेः सन्तानरूपेशि परानुरक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गाः ॥ इति।

श्रीरामानन्दभाष्येऽपि—"सा च भक्तिः परमप्रेयो भगवदितरवैतृष्ण्यपूर्वकपरमपुरुषानुरागरूपो ज्ञानविशेष एव"

(आ० भा० १।१।१) इति।

प्रपत्तिः

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" (गी० १८।६६) इत्येतस्य श्लोकस्यानन्दभाष्ये भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैः प्रपत्तेः स्वरूपमपि निरूपितम्। तथाहि—'सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वात्सल्यजलधेः स्वभाव एवैष यत्

स प्रार्थित एव सर्वं करोतीत्युपायत्वप्रार्थनाऽवश्यं कर्त्तव्येत्यपि ध्येयम्। सेयमुपायत्वप्रार्थनैव प्रपत्तिः।..................................

प्रार्थनांशेन शरणागतिपदवाच्य आत्मनिक्षेपांशेन न्यासपदवाच्यश्च प्रपत्तियोग एव। आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनं रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं कार्पण्यञ्चेतोमानि प्रपत्तियोगस्य पचांगानि। तथा हि शास्त्रं "आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिंष्य-सीतीति वश्विासो गोतृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।" (अहिर्बुध्निसंहिता ३७।२८) इति। पञ्चापीमानि प्रपत्यङ्गानि बोधायनवृत्तिकृता भगवता श्रीपुरुषोत्तमाचार्यबोधायनेन श्रीपुरुषोत्तमप्रपत्तिषट्के विहितानि। तथा हि—

"राम दीनोऽनुकूलोऽहं विश्वस्तोऽप्रातिकूल्यवान्।
त्वयि न्यस्यामि चात्मानं पाहि मां पुरुषोत्तम!॥"

(गीताया आनन्दभाष्यम् १८।६६)

प्रपत्तिं समधिकृत्य व्याहृतं चापरबोधायनाचार्यैर्जगद्गुरुभिः श्रीदेवानन्दाचार्यैर्वेदान्तविद्यानिधिभिः प्रमिताक्षराकारैर्योगपञ्चके-

"श्रीरामाय ससीताय स्वात्मस्वीयानुबन्धिनाम्।
रक्षाभरार्पणं पुंसो न्यासयोगः प्रकीर्त्तितः॥४२॥
आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
विश्वासोऽकिञ्चनत्वं च गोप्तृत्ववरणं तथा॥४३॥
आचार्यैरुक्तमेतद्धि न्यासयोगाङ्गपञ्चकम्।
अङ्गपुष्टौ प्रजातायामङ्गिपुष्टिर्मता ध्रुवा॥४४॥
श्रीमद्रामानुकूलोऽहं भविष्याम्यद्यतः खलु।
इत्यानुकूल्यसङ्कल्पो न्यासंयोगाङ्गमादिमम्॥४५॥

श्रीरामप्रतिकूलोऽहं भविष्याम्यद्यतो न हि।
एतन्न्यासद्वितोयाङ्गं प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ॥४६॥
अवश्यं जानकोनाथो मम रक्षां विधास्यति।
विश्वासनामकं चैतन्न्यासाङ्ग हि तृतीयकम् ॥४७॥
त्वामेव हि प्रपन्नं त्वं रक्ष राम शरण्य माम्।
एतन्न्यासचतुर्थाङ्गं गोप्तृत्ववरणं मतम् ॥४८॥
प्रपन्नं साधनैर्हीनं मां पाहि रघुनन्दन।
न्यासस्य पञ्चमं चाङ्गमाकिञ्चन्यमिति स्मृतम् ॥४९॥
मानसादिविभेदेन न्यासोऽयं त्रिविधो मतः।
न्यासस्यैवापरे नाम्नी प्रपत्तिशरणागती ॥५०॥
प्रतिज्ञातं च रामेण प्रपत्त्यां सर्वतोऽभयम्।
राम एव प्रपद्यो यद् रामो द्विर्नाभिभाषते ॥५१॥
अयं प्रपत्तियोगो हि प्रारब्धस्यापि नाशकः।
अस्य प्रपत्तियोगस्याधिकारः सर्वदेहिनाम्" ॥५२॥ इति।

मुक्तावस्थायां "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति श्रुतिप्रतिपादितपरमसाम्यापन्नोऽपि मुक्तजीवः सर्वेश्वरो न भवति साम्यस्य भेदघटितत्वादत एव सूत्रितं ब्रह्ममीमांसायां भगवता बादरायणेन— "जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" (ब्र.सू.४।४।१७) इति। अभिहितञ्चैतस्य सूत्रस्यानन्दभाष्य आचार्यसार्वभौमैर्भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैः—"पूर्वं संकल्पमात्रेण मुक्तस्य सवकामावाप्तिरभिहिताऽनन्याधिपतित्वञ्चोक्तम्। तथा सतीदानीं विचार्यते। किं मुक्तस्य संकल्पमात्रेण परमपुरुषस्येव सर्वेश्वरत्वमपि प्राप्यते आहोस्वित् सर्वकामप्राप्तिरूपमैश्वर्यमेवेति संशये सर्वजगतामीश्वरत्वमपि। कुतः? मुक्तत्वादनन्याधिपतित्वेनार्थात् सर्वाधिपतित्वोपपत्त्या परमेश्वरस्येव

सर्वनियन्तृत्वोपपत्तेः। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति परमपुरुष-साम्यापत्तिश्रवणाज्जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वमपि मुक्तस्य सम्भवतीति प्राप्ते-ऽभिधीयते—जगद्व्यापारवर्ज्जमिति। जगद्व्यापारो जगदुत्पत्त्यादिकर्तृत्वं तच्चाशेषचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनं तद्वर्ज्जमविद्या-तिरोधानराहित्यपूर्वकपरब्रह्माऽनुभवरूपम् "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति श्रुत्यभिहितसङ्कल्पमात्रेण सर्वकामावाप्तिरूपं मुक्तस्यैश्वर्यमस्ति न तु जगदीश्वरत्वमपि, तत्तु परमपुरुषस्यासाधारणम्। कुतः? प्रकरणात्। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।" (तै.३।१) इति परमात्मानमेव प्रकृत्याम्नातं न तु मुक्तात्मानम्। एवं "तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३) इत्यादिप्रकरणान्तरेष्वपि ज्ञेयम्। असन्निहितत्वाच्चापि मुक्तस्य। न हि जगन्नियमनादिषु मुक्तस्य सान्निध्यमप्यस्ति येन तस्याप्ययं व्यापारः स्यात्।" (आनन्दभाष्य ४।४।१७) इति।

तस्मान्मुक्तो जीवो ब्रह्मभिन्न एव न तु ब्रह्मस्वरूप इति बोध्यम्।

नित्यमुक्तजीवाः

"यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिता हनुमदादयो नित्यमुक्तास्तु भगवत्प्रतिकूलाचरणाभावात् कदाचिदपि संसारं नाप्नुवन्ति। नित्यमुक्तानामवतारास्तु भगवदिच्छया स्वेच्छया वा भवन्ति। भगवन्नित्येच्छया सनातनत्वेन व्यवस्थापितास्तेषामधिकारविशेषा इति ध्येयम्।

उक्तं च जीवतत्त्वमधिकृत्याचार्यसार्वभौमैरानन्दभाष्यकारैर्भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैर्वेदान्तसारे—

"नित्योऽज्ञश्चेतनोऽजः सततपरवशः सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मो
भिन्नो बद्धादिभेदैः प्रतिकुणपमसौ नैकधा सूरिवर्यैः ।
श्रीशाक्रान्तालयस्थो निजकृतिफलभुक् तत्सहायोऽभिमानी
जीवः सम्प्रोच्यते श्रीहरिपदसुमते तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः ॥" इति ।

इत्यनुभवानन्दद्वारपीठनामकश्रीरामानन्दपीठसंस्थापकैर्जगद्गुरु-
श्रीमदनुभवानन्दाचार्यैर्विरचिते श्रौतार्थसंग्रहे
जीवनिरूपणात्मकः प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

—*—

२—अथाचिदर्थनिरूपणम्

अथ क्रमप्राप्तमचित्तत्त्वमभिधीयते—

अचिन्नाम ज्ञानविरहितं तत्त्वम् । तच्चावस्थान्तरापत्तिरूपविकाराश्रयरूपमत एव द्रव्यम् । तद् द्विविधं जडाजडभेदात् । तत्र परप्रकाश्यं जडम् । तद्भिन्नमजडम् । अजडं द्विविधं पराक्प्रत्यग्भेदात् । तत्र स्वयंप्रकाशमानत्वे सति परस्मा एव भासमानत्वं पराक्त्वम् । परागपि द्विविधं शुद्धसत्त्वज्ञानभेदात् ।

शुद्धसत्त्वम्

शुद्धसत्त्वं नाम त्रिगुणभिन्नं शुद्धसत्त्वगुणाधिकरणमचिद्द्रव्यम् । तन्नित्यमजडमधःप्रदेशे परिच्छिन्नमूर्ध्वप्रदेशे चान्तरहितम् । "आदित्यवर्णं

तमसः परस्तात्" (श्वेता० ३।८) "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" (वृ०पु० ५।१०) इत्यादिश्रुतयस्तत्र प्रमाणभूताः। तदीश्वरसंकल्पान्नित्यमुक्तेश्वराणां भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपं भवति। नित्यविभूतिनित्यधामपरमधामपरमव्योमाक्षरधामसाकेतादिशब्दाः शुद्धसत्त्वपर्यायाः।

ज्ञानम्

अर्थप्रकाशो ज्ञानम्। तच्च प्रभावद् द्रव्यगुणात्मकमजडं विभुद्रव्यम्। तच्चेश्वरस्य नित्यानां च सदैव विभु, मुक्तानां बद्धावस्थायां तिरोहितं मुक्तौ विभु बद्धानां तु तिरोहितमेव।

ज्ञानं हि नित्यं द्रव्यम् "न विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० ४।३।३०) इतिश्रुतेः। 'ज्ञानमुत्पन्नम्' 'ज्ञानं नष्टम्' इत्यादिव्यवहारस्तु ज्ञानसम्बन्धिसंकोचविकासावस्थाहेतुक एवेति ध्येयम्। ज्ञानं, मतिः, प्रज्ञा, संवित्, धिषणा, धीः, मनीषा, शेमुषी, बुद्धिरित्यादयः शब्दा ज्ञानपर्यायाः।

परप्रकाश्यं जडमित्युक्तं प्राक्। जडं द्विविधं प्रकृतिकालभेदात्। तथा चोक्तं श्रौतसिद्धान्तबिन्दुकारश्रीश्रुतानन्दाचार्यचरणैः—

अचिन्नाम तत्त्वं द्विधा ज्ञानशून्यं
जडञ्चाजडं नैव मिथ्या कदाचित्।
जडं मिश्रसत्त्वं तथा कालतत्त्वं
मनीषाऽजडं शुद्धरूपं च सत्वम्॥इति॥

अत्र मिश्रसत्त्वपदेनाविद्यामायाद्यपरपर्याया प्रकृतिरुक्ता।

प्रकृतिः

प्रकृतिर्नाम सत्त्वरजस्तमोरूपगुणात्रयाश्रयरूपं द्रव्यम् । तत्र सत्त्वं नाम ज्ञानसुखतदुभयसङ्गोत्पादको गुणः । रजोनाम रागतृष्णाकर्मसङ्गोत्पादको गुणः । तमोनाम विपरीतज्ञानानवधानालस्यनिद्रोत्पादको गुणः । उक्तं च श्रौततत्वसमुच्चयकारैराचार्यसार्वभौमैर्भगवद्भिः श्रीराघवानन्दाचार्यैः—"तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।" (गीता) इति भगवद्वचनप्रामाण्यात् सत्वं नाम ज्ञानस्य सुखस्य तदुभयसङ्गस्य च जनको गुणः । रजोनाम रागतृष्णाकर्मणां सङ्गानां जनको गुणः । तमोनाम विपरीतज्ञानानवधानालस्यनिद्राणां जनको गुणः । " (श्रौततत्त्वसमुच्चयः) इति ।

प्रलये प्रकृतेस्त्रयोऽपि गुणाः साम्यमापन्ना एव भवन्ति । 'तदैक्षत बहुस्याम्' इतीश्वरसङ्कल्पवशात् प्रकृतिर्गुणवैषम्यप्रयुक्तां कार्योन्मुखावस्थामवाप्याव्यक्तपदवाच्या भवति ।

महत्तत्त्वम

अव्यक्तपदवाच्यायाः प्रकृतेर्यः प्रथमो विकारः स महान् । स च त्रिविधः । सात्विकराजसतामसभेदात् ।

अहङ्कारः

महतः प्रथमो विकारोऽहङ्कारः । सोऽपि सात्विकादिभेदात् त्रिविधः । एते सात्विकराजसतामसाख्या अहङ्काराः क्रमाद् वैकारिकतैजसभूतशब्दैरप्यभिधीयन्ते ।

एकादशेन्द्रियाणि

राजसाहङ्कारसहकृतात् सात्विकाहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि जायन्ते। तानि द्विविधानि। ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च।

ज्ञानप्रसरणे शक्तानीन्द्रियाणि। ज्ञानेन्द्रियाणि। तानि षड्विधानि। मनः श्रोत्रं त्वक् चक्षू रसनं घ्राणञ्चेति।

तत्र स्मृत्यादिकरणमिन्द्रियं मनः। हृदयदेशवृत्तिः।

शब्दमात्रग्रहणसमर्थमिन्द्रियं श्रोत्रम्। कर्णशष्कुलीवृत्ति। सर्पाणां तु नेत्रगोलकवृत्ति।

स्पर्शमात्रग्रहणसमर्थमिन्द्रियं त्वक्। सर्वशरीरवृत्ति।

रूपमात्रग्रहणसमर्थमिन्द्रिय चक्षुः। नेत्रवृत्ति।

रसमात्रग्रहणसमर्थमिन्द्रियं रसनम्। जिह्वाग्रवृत्ति।

गन्धमात्रग्रहणसमर्थमिन्द्रियं घ्राणम्। नासाग्रवृत्ति।

उच्चारणाद्यन्यतमकर्मसमर्थानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि। तानि पञ्चविधानि वाक्पाणिपादपायूपस्थभेदात्।

तत्रोच्चारणकरणमिन्द्रियं वाक्। हृदयादिस्थानाष्टकवृत्तिः।

शिल्पादिकरणमिन्द्रियं पाणिः। अंगुल्यादिवृत्तिः।

सञ्चारकरणमिन्द्रियं पादः। चरणादिवृत्तिः।

मलोत्सर्जनकरणमिन्द्रियं पायुः। गुदादिवृत्तिः।

मैथुनकरणमिन्द्रियमुपस्थः। मेहनादिवृत्तिः।

तन्मात्रपञ्चकं भूतपञ्चकं च

राजसाहङ्कारसहकृतात् तामसाहङ्काराच्छब्दतन्मात्रमुत्पद्यते। तन्मात्रं नाम भूतोपादानं द्रव्यम्। तत् पञ्चविधं शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-

भेदात्। विशिष्टशब्दादिगुणाश्रयो भूतम्। तदपि पञ्चविधमाकाशवायुतेजोऽप्पृथिवीभेदात्।

तत्र तामसाहङ्काराव्यवहितोत्तरावस्थाविशिष्टं द्रव्यं शब्दतन्मात्रम्। तस्मादाकाशमुत्पद्यते। रूपरहितं विशिष्टशब्दाधिकरणं द्रव्यमाकाशम्। तच्च शब्दगुणकम्।

आकाशाव्यवहितोत्तरावस्थाविशिष्टं द्रव्यं स्पर्शतन्मात्रम्। तस्माद् वायुरुत्पद्यते। रूपरहितं विशिष्टस्पर्शवद् द्रव्यं वायुः। स च शब्दस्पर्शगुणकः। वायोः स्पर्शोऽनुष्णाशीतोऽस्तीति बोध्यम्। देहधारको वायुविशेषः प्राणः। स पञ्चविधः। प्राणापानव्यानोदानसमानभेदात्। तत्र प्राणो हृदयवृत्तिरपानो गुदवृत्तिर्व्यानः सर्वशरीरवृत्तिरुदानः कण्ठवृत्तिः समानश्च नाभिवृत्तिरिति बोध्यम्।

वाय्वव्यवहितोत्तरावस्थाविशिष्टं द्रव्यं रूपतन्मात्रम्। तस्मात्तेज उत्पद्यते। उष्णस्पर्शवद्द्रव्यं तेजः। तच्च शब्दस्पर्शरूपगुणकम्। तेजसो रूपं भास्वरं शुक्लमिति बोध्यम्।

तेजोऽव्यविहितोत्तरावस्थाविशिष्टं द्रव्यं रसतन्मात्रम्। तस्मादाप उत्पद्यन्ते। शीतस्पर्शवत्य आपः। शब्दस्पर्शरूपरसा अपां गुणाः अपां रूपमभास्वरं शुक्लं रसश्च मधुर इति बोध्यम्।

अबव्यवहितोत्तरावस्थाविशिष्टं द्रव्यं गन्धतन्मात्रम्। तस्मात् पृथिव्युत्पद्यते। विशिष्टगन्धवद् द्रव्यं पृथिवी। सा च शब्दादिगुणपञ्चकशालिनी। पृथिव्यां स्पर्शोऽनुष्णाशीतो रूपं शुक्लरक्तकृष्णपीतेति चतुर्विधं रसो मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधो गन्धो सुरभ्य

सुरभीति द्विविधः । तत्र रूपमभास्वरशुक्लमिति बोध्यम् । पृथिव्या रूपरसगन्धस्पर्शाः पाकनिमित्तकाः ।

पञ्चीकरणम्

सर्वेश्वरो भगवान् श्रीरामो भूतसृष्टिं विधायैकैकस्य भूतस्य समानभागद्वयं कृत्वैकं विहायापरस्य समभागचतुष्टयं विधायकैकं तद्-व्यतिरिक्तेषु भूतार्धेषु संयोजयति । एतदेव भूतानां पञ्चीकरणम् । अत एवाकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु शब्दादीनां सर्वेषां गुणानामुपलब्धिः । इत्थं सर्वभूतेषु सर्वभूतानां विद्यमानत्वेऽपि पृथिव्यादिव्यपदेशः स्वभागस्य भूयस्त्वादपरभागस्य चाल्पीयस्त्वादेवेति बोध्यम् । वेदे त्रिवृतकरणोपदेशः पञ्चीकरणसप्तीकरणयोरप्युपलक्षणम् ।

कालः

भूतादिव्यवहारजनको गुणत्रयशून्यो जडद्रव्यविशेषः कालः । अखण्डकालो नित्यो विभुपरिमाणश्च । निमेषादिरूपस्त्वनित्यः ।

उक्तं चाचित्तत्त्वमधिकृत्यापरबोधायनाचार्यजगद्गुरुश्रीदेवानन्दाचार्य-वेदान्तविद्यानिधिभिः प्रमिताक्षराकारैर्योगपञ्चके—

“चिदात्माभिहितो द्रव्यं चतुर्धाऽचिदचेतनम् ।
जीवेशयोर्गुणो ज्ञानमर्थाभासोऽजडं विभु ॥ १९ ॥
संकोच्यः कर्मणा नित्योऽन्तरङ्गं भक्तिसाधनम् ।
शुद्धसत्वगुणा नित्यविभूतिरजडा मता ॥२०॥
कालावश्या तथा विभ्वीभोग्यभोगस्थलादिका ।
सत्वादिरहितः कालो विभुर्जडो हरेस्तनुः ॥२१॥

कालभिन्ना जडा नित्या प्रकृतिस्त्रिगुणाश्रयः ।
तद्विकारो महानाद्यस्तद्भेदाः सात्त्विकादयः ॥२२॥
सत्वादिगुणभेदेनाहङ्कारस्त्रिविधस्ततः ।
इन्द्रियाणि दशैकं च सात्त्विकाहंकृतेरथ ॥२३॥
तामसाहंकृतेश्चाथ राजससहंकारतः ।
जायते शब्दतन्मात्रं स्पर्शहेतुस्ततो नभः ॥२४॥
स्पर्शाद् वायुस्ततो रूपं रूपात् तेजस्ततो रसः ।
रसादापस्तथा चाद्भ्यो गन्धो जाता क्षितिस्ततः ॥२५॥
तन्मात्रं द्रव्यरूपं चाद्रव्यं शब्दादयो गुणाः ।
शब्दादयो गुणा भिन्नाः शब्दादिकतन्मात्रतः ॥२६॥
पञ्चीकृत्य च भूतेभ्यो रामो जगत करोति हि ।
स एव रक्षति तद्वत् प्रलयं विदधात्यपि ॥२७॥
पञ्चीकरणतः पूर्वा सृष्टिः समष्टिरुच्यते ।
उत्तरा व्यष्टिसृष्टिस्तु क्रियते ब्रह्मदेहिना "॥२८॥ इति ।

उक्तं च प्रकृतितत्त्वमधिकृत्याचार्यसार्वभौमैरानन्दभाष्यकारैर्भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैर्वेदान्तसारे–

"पृष्टानामेकमाद्यं त्रिकमपि शृणु तद्भेदतो नामभेदै-
र्नित्याऽज्ञाऽचेतना सा प्रकृतिरविकृतिर्विश्वयोनिः शुभैका ।
नाना वर्णात्मकाजा त्रिगुणसुनिलयाऽव्यक्तशब्दाभिधेया
निर्व्यापारा परार्था महदहमितिसूरुच्यते तत्त्वविद्भिः ॥" इति ।

इत्यनुभवानन्दद्वारपीठनामकश्रीरामानन्दपीठसंस्थापकैर्जगद्गुरु–
श्रीमदनुभवानन्दाचार्यैर्विरचिते श्रौतार्थसंग्रहेऽचिदर्थ-
निरूपणात्मको द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

३—अथेश्वरार्थनिरूपणम्

ईश्वरस्तु विभुचेतनः। विशेषणानुपादाने जीवे विशेष्यानुपादाने कालेऽतिप्रसङ्गवारणायोभयोपादानम्। तत्र चेतनत्वं नाम ज्ञानाधिकरणत्वम्। विभुत्वं तु स्वरूपतो ज्ञानतः शरीरतश्च व्यापकत्वम्।

स ईश्वरः 'सत्वादयो न सन्तीशे यत्र तु प्राकृता गुणाः' इति वचनप्रमाण्याद्धेयप्राकृतगुणरहितः, 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यान्निरुपाधिकानन्तकल्याणगुणविशिष्टः, 'आनन्दं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः सच्चिदानन्दरूपः, देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यात्मकानन्तत्वविशिष्टत्वादनन्तः, ब्रह्मशब्दवाच्यः, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'यतो वा इमानि भूतानि जातानि....' इत्यादिश्रुतेरस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपो भक्तिमुक्तिप्रदश्चास्ति।

ईश्वरस्य जगदुपादानत्वस्वीकारे निर्विकारत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधस्तु न शङ्कनीयस्तत्र सद्वारकोपादानताया एव स्वीकारात्। उक्तं च जगद्गुरुभिः श्रीश्रुतानन्दाचार्यैः—विकारञ्च रामो दयाब्धिस्तथात्वे दयाशून्यतां पक्षापातञ्च नैति। प्रकारे विकारस्तथा चित्रसृष्टौ च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्यकर्म ॥" इति।

"रमन्ते योगिनो यस्मिन् सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥" (रामतापनीय) इतिश्रुतिप्रमाण्याद् ब्रह्मपदाभिधेयः स चेश्वरः श्रीराम एव।

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयर्गुणादिभिः ॥" "तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः । शब्दोऽयं नोपचारेण अन्यत्र ह्युपचारतः ॥" इत्यादिवचनप्रामाण्याद् भगशब्द-वाच्यज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोरूपषड्विधैश्वर्यशालित्वात् स हि भगव-च्छब्दवाच्यश्च । उक्तं च बोधायनवृत्तिकारस्य श्रीपुरुषोत्तमाचार्यस्य शिष्यवर्यैः श्रीगङ्गधराचार्यैः—"ज्ञानशक्तिबलस्वयवीर्यतेजांसि षड्गुणाः । भगत्वेनेरिताः सन्ति श्रीरामे भगवान् स तत् ॥ श्रीरामे भगवच्छब्दो मुख्यवृत्त्या प्रवर्त्तते । गौण एव स चान्यत्र षड्विधैश्वर्यलेशतः ॥" (श्रीरामभगवत्त्वम्) इति ।

'नित्यो नित्यानाम्' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् स चेश्वरो नित्यः "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" (मु० ३।१।३) इत्यादिश्रुतेर्दिव्यमङ्गलविग्रहश्चास्ति । अत एवोक्तं भगवद्भिरान-न्दभाष्यकारैः श्रीरामानन्दाचार्यैराचार्यसार्वभौमैः—"अतएव श्रुत्युपबृं-हणीभूतेतिहासपुराणादिषु बहुशस्तत्र तत्र भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रह-स्योपवर्णनं सङ्गच्छते ।" (आनन्दभाष्य १।१।२१) इति ।

स च सर्वेश्वरो भगवान् श्रीरामः परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चावता-ररूपेण पञ्चधा स्थित । तथा चागमः—

"मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः ।
परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥
अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः ।

इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जना ॥" इति
(विष्वक्सेनसंहिता)

समुदीरितञ्चैतदीश्वरतत्त्वमधिकृत्य प्रमेयोद्देश-
भास्करे सिद्धान्तवाचस्पतिजगद्गुरुश्रीचिदानन्दाचार्यैः—
"रामश्च ब्रह्मकर्त्ता हि विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ।
परव्यूहादिरूपेण सीतानाथश्च पञ्चधा ॥७४॥
परश्च परलोके हि साकेते सोऽधिराजते ।
दिव्यदेहगुणो नित्यो दिव्यशस्त्रास्त्रभूषणः ॥७५॥
अनन्तकरुणावत्या सीतया जगदम्बया ।
सिंहासने समासीनो दिव्ये दिव्यपुरे परे ॥७६॥
सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च भगवान् करुणाम्बुधिः ।
नित्यमुक्तैः स्तुतश्चाथ वेदेवेद्यः परात्परः ॥७७॥
व्यूहतां याति रामश्च सृष्ट्याद्यर्थमुपासितुम् ।
चतुर्धा च मतो व्यूहो वासुदेवादिभेदतः ॥७८॥
वासुदेवात् त्रिधा व्यूहा भवन्ति केशवादयः ।
सङ्कर्षणाच्च गोविन्दादयस्त्रिधा भवन्ति हि ॥७९॥
प्रद्युम्नाच्च त्रिधा व्यूहा हृषीकेशादयो मताः ।
भवन्त्यथानिरुद्धाच्च त्रयः श्रीवामनादयः ॥८०॥
रामः सर्वावताराणामवतारी समीरितः ।
परित्राणं च साधूनामवतारप्रयोजनम् ॥८१॥
सर्वेभ्यश्चाभयं दत्ते रामः सकृत् प्रपत्तितः ।
स्वाश्रितस्यापराधांश्च रामः स्मरति नैव हि ॥८२॥

साक्षाद गौणस्तथाऽऽवेश इत्येवं विभवास्त्रयः ।
मुख्यमुख्यतरत्वादिभेदात् साक्षात् त्रिधा मतः ॥८३॥
नृसिंहवामनभेदाद् द्विधा मुख्यः प्रकीर्त्तितः ।
मुख्यतरश्च श्रीकृष्णो रामो मुख्यतमस्तथा ॥८४॥
मत्स्यकूर्मादिभेदैश्च मतो गौणस्त्वनेकधा ।
कलास्वरूपशक्तीनामावेशात् त्रिविधोऽन्तिमः ॥८५॥
विभवाश्च कलावेशात् पृथुधन्वन्तरादयः ।
शुद्धावेशस्तथाऽशुद्धावेशो द्विधा च मध्यमः ॥८६॥
शुद्धावेशाश्च विज्ञेयाः श्रीव्यासकपिलादयः ।
मता परशुरामादावशुद्धावेशिता बुधैः ॥८७॥
शक्त्यावेशो द्विधा शुद्धाशुद्धत्वभेदतो मतः ।
आदिमोऽपि द्विधा मुख्यगौणभेदात् प्रकीर्त्तितः ॥८८॥
हंसादयो मता मुख्या गौणा बुद्धादयो मताः ।
अन्तिमोऽपि द्विधा मुख्यगौणभेदादुदीरितः ॥८९॥
तत्रऽब्रह्मादयो मुख्या गौणा मन्वादयो मताः ।
अन्तर्यामी द्विधा मूर्त्तामूर्त्तभेदात् प्रभाषितः ॥९०॥
स्थापितो वैष्णवैर्मन्त्रैश्चतुर्धाऽर्चावतारकः ।
स्वयं व्यक्तश्च दैवश्च सैद्धश्च मानुषः खलु ॥९१॥ इति ।

तत्र परो नाम नित्यधाम्नि श्रीसाकेते जगज्जनन्या श्रीसीताम्बया सह दिव्यसिंहासनोपरि विराजमानो दिव्यायुधालंकारविशिष्टविग्रहशाली नित्यं नित्यमुक्तपरिसेवमानः । सर्वावतारी परिपूर्णब्रह्म भगवान् श्रीरामः ।

जगत् स्रष्टुमुपासितुं च वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेण चतुर्धाऽवस्थितो भगवान् श्रीरामो व्यूहः । तत्र वासुदेवे ज्ञानशक्त्यादिगुणषट्कं सङ्कर्षणे ज्ञानबलद्वयं प्रद्युम्ने वीर्यैश्वर्यद्वयमनिरुद्धे च तेजः-शक्तिद्वयं वर्त्तते ।

मत्स्यादितत्तत्सजातीयरूपेण स्वेच्छयाविर्भूतो भगवान् श्रीरामो विभवः ।

योगदृष्ट्याऽनुभूयमानः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा च जीवस्य परम-सुहृद्रूपेण हृदयस्थितो भगवान् श्रीरामोऽन्तर्यामी ।

देशकालादिनियमविहीनस्तत्तत्स्थले भक्ताभिमतहिरण्यादिशरीरे-ऽप्राकृतशरीरविशिष्टरूपेण वर्त्तमानः स्नानभोजनादिष्वर्चकायत्ततां गतो मूर्तिविशेषरूपो भगवान् श्रीरामोऽर्चावतारः ।

उक्तं चेश्वरतत्त्वमधिकृत्याचार्यसार्वभौमैरानन्दभाष्यकारै र्भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैर्वेदान्तसारे --

"विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीनमप्यस्ति यस्मिन्
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः ।
यद्भीत्या वाति वातोऽग्निरपि सुतलं याति नैवेश्वरो ज्ञः
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्त्ता ॥३॥
श्रीमानर्च्यः शरण्यो बहुविधविबुधैर्योगिगम्यांघ्रिपद्मो
ऽस्पृश्यः क्लेशादिभिः सत्समुदितसुयशाः सूरिमान्यो वदान्यः ।
शश्वच्छ्रीरामचन्द्रः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै—
र्निर्मृत्युः सर्वशक्तिर्विकलुषविजरो गीर्मनोभ्यामगम्यः" ॥४॥

इति ।

इत्यनुभवानन्दद्वारपीठनामकश्रीरामानन्दपीठसंस्थापकैर्जगद्-
गुरुश्रीमदनुभवानन्दाचार्यैर्विरचिते श्रौतार्थसंग्रह
ईश्वरार्थनिरूपणात्मकस्तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।



जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यविरचिता
श्रीरामचन्द्रविंशतिः

रामं ब्रह्म तथानन्दभाष्यकारं जगद्गुरुम् ।
नत्वा करोमि भावार्थं श्रीरामचन्द्रविंशतिम् ॥

सोदरहृतराज्यश्रीः सुग्रीवः सह मन्त्रिभिः ।
यस्य चाश्रितवान् पादं रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१॥

रावणन्यक्कृतो दान्तो विभीषणो भियाकुलः ।
स्वजनैर्यत्पदं चागाद् रामचन्द्रं नमामि तम् ॥२॥

रक्षोधिनाथसंक्षुब्धा सीता स्मृतवती च यम् ।
स्वभक्तवन्दितं नित्यं रामचन्द्रं नमामि तम् ॥३॥

चन्द्रांशुशोभिते रम्ये पुरा सरोवरोत्तमे ।
सस्मार यं गजो मुक्त्यै रामचन्द्रं नमामि तम् ॥४॥

पतिव्रता शिरोरत्नं गौतमधर्मचारिणी ।
अस्मरच्छापमुक्त्यै यं रामचन्द्रं नमामि तम् ॥५॥

कालिन्दीपुलिने रम्ये ध्रुवः सस्मार यं मुदा ।
लोकोत्तरपदप्राप्त्यै रामचन्द्रं नमामि तम् ॥६॥

दोनाऽप्राप्तसहाया च कृष्णा सस्मार यं प्रभुम् ।
दयालुं कृष्णरूपं श्रीरामचन्द्रं नमामि तम् ॥७॥

जनकजनितक्लेशात् कयाधूनन्दनश्च यम् ।
दीनानाथेति सस्मार रामचन्द्रं नमामि तम् ॥८॥

यस्त्राता वेदशास्त्राणां दण्डकवनपाव ।
स्वभक्तवन्दितं शान्तं रामचन्द्रं नमामि तम् ॥९॥

नक्तञ्चरसमूहाश्च वेदमार्गविदूषकाः ।
मुक्ताश्च दर्शनाद् यस्य रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१०।

रावणभग्नपक्षश्च जटायुर्मांसभोजनः ।
यं दृष्ट्वा सद्गतिं लेभे रामचन्द्रं नमामि तम् ॥११॥

स्वधर्मत्यागतो भ्रष्टोऽजामिलः पुत्रव्याजतः ।
यन्नामस्मरणान्मुक्तो रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१२॥

वाली वालरविप्रख्यं यत्पदं च पुरःस्थितम् ।
ध्यायन् मोक्षपदं लेभे रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१३॥

त्यक्त्वा सर्वाणि कृत्यानि शरभंगस्तपोधनः ।
नत्वा यं च गतो मुक्तिं रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१४॥

यच्चरणाम्बुजोद्भूता गंगा दुर्गतिनाशिनी ।
तापत्रयविनाशित्री रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१५॥

सुगतिं शवरी लेभे निगमकर्मगर्हिता ।
आतिथ्यकरणाद यस्य रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१६॥

ध्यायंन् यस्य पदाम्भोजं भरतः साश्रुलोचनः ।
अवसत् त्यक्तराज्यश्री रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१७॥

गुहराजोऽप्यहन् पापं यच्चरणाम्बुपानतः ।
भवदारिद्र्यहन्तारं रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१८॥

उपादानं निमित्तंच जगतोऽस्य प्रभुः परः ।
ध्येयोऽमोघश्च वन्द्यो यो रामचन्द्रं नमामि तम् ॥१९॥

मुच्यते स्मरणाद्यस्य सद्यो भवभिया नरः ।
ब्रह्मेशाद्यमरैर्वन्द्यं रामचन्द्रं नमामि तम् ॥२०॥

रामानन्दप्रशिष्येणानुभवार्येण निर्मिता ।
पठतां ध्वान्तहृद् भूयाच्छ्रीरामचन्द्रविंशतिः ॥

—०—

श्रीजानकीशो विजयतेतराम् ।

आनन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।

श्रीअनुभवानन्दद्वारपीठसंस्थापक—

जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

उत्पत्त्यादिविधायकं च जगतो हेतुं परं चेश्वं
जीवाजीवशरीरिणं सुशरणं भक्त्यैव सायुज्यदम् ॥
निर्दोषं सुगुणाकरं निखिलविद्वेदान्तगम्यं विभुं
गीतोक्तं वरदं नतोऽस्मि करुणाम्भोधिं प्रभुं राघवम् ॥१॥

नत्वा गुरुं तथाऽऽनन्दभाष्यकारं जगद्गुरुम् ।
करोम्यनुभवानन्दः सुधां मृत्युविनाशिनीम् ॥२॥

कर्मज्ञानप्रसाध्या भगवति परमा भक्तिरेकोऽभ्युपायः
श्रेष्ठो मोक्षस्य वाच्यो मतमितिविदितं ज्ञापयिष्यन्मुकुन्दः ।
धर्माधर्मप्रसंगाद् विकलितमनसं पार्थमुद्दिश्य गीता–
माहोपोद्घातरूपः सुदृढमभिहितस्तत्र चाद्यः प्रपाठः ॥३॥

प्रोक्तौ देहात्मबुद्धया स्वजनममतया बालिशे मोहशोकौ
क्षीयेते तौ च बोधात् फलमतिरहितात् कर्मणः सोऽपि सिध्येत् ।
तस्माद् भक्तिः परेशे नियमितमनसा प्राप्यते सत्त्ववृद्धया
तस्याः शान्तिर्ध्रुवात्मा फलमिदमशिषत् कृष्णचन्द्रो द्वितीये ॥४॥

ज्ञानं कर्मेति निष्ठाद्वयमिह जगति प्राहुराम्नायविज्ञाः
कर्मारम्भं विहाय क्षणमपि भजते नैव कश्चित् प्रशान्तिम् ।
तस्मात् कर्मानुवृत्तिर्भगवति मनसा न्यस्य कर्माणि सम्यक्
कर्त्तव्या पुण्यपुंसा गलितफलतृषा प्रोक्तमेतत् तृतीये ॥५॥

प्रोक्ता कर्मप्रसंगान्निजविभवकथा नित्यकर्माणि पश्चात्
कर्माकर्मस्वरूपं मतिसृतिमशिषत् कर्मभिः सम्प्रवृत्ताम् ।
यज्ञानां द्वादशानामनुकथनमितो ज्ञानयज्ञस्य मौख्यं
ज्ञानाग्निर्नाशयत्येव वृजिननिचयं तूर्य इत्यभ्यधत्त ॥६॥

ज्ञानाकारं विधत्ते श्रुतिविदितफलं कर्म सम्पद्यमानं
सन्यासस्तस्य नेष्टः सममतिरुदिता ह्यात्मलब्धेरुपायः ।

भोगानां दुःखदत्वाद्विरतिरतितरां पण्डितैस्तेभ्य इष्टा
स्वर्थानेतानवादीत् प्रणतसुरतरुः पञ्चमे वासुदेवः ॥७॥

योगाभ्यासस्य रीतिर्विरतिरतिशया संसृतेर्मोहजाला-
च्चातुर्विध्यं प्रतीतं सममतिरधिको योगिनां तत्र चोक्तः ।
योगस्योत्कृष्टसिद्धिः परगतिफलका श्रद्धया यः स युक्तो
योगिवेष्वेषु चेडच भजति हरिमिति प्राह षष्ठे पदार्थान् ॥८॥

याथार्थ्यं स्वस्य चोक्तं जगति जनचयो मायया मोहमाप्त-
स्तामेतां तर्तुकामैः खररिपुचरणे सुप्रपत्तिर्विधेया ।
सेवा देवान्तराणां परिमितफलदा नैव कार्या प्रपन्नै-
र्ज्ञानी श्रेष्ठः समेषामितिमतमवदत् सप्तमे श्रीमुकुन्दः ॥९॥

प्रश्नाः पार्थस्य सप्त प्रतिवचनमथो वर्णनं चान्तिमस्य
ब्रह्माऽनुध्यानतोऽद्धा ह्यसुगतिसमये ब्रह्मभावं सदैति ।
क्षेत्रज्ञस्याप्युपास्तौ प्रकृतिविरहिणः सद्गतिः सैव शुक्ला
हेतुर्नैवागतेः सा सृतिरितिभगवानष्टमे स्पष्टमाख्यत् ॥१०॥

माहात्म्यं स्वस्य दिव्यं जगति भगवतो व्याप्तिरन्तः समस्मिन्
भक्त्याराध्यः परेशः सुमहितमनसां लक्षणं कार्यमेषाम् ।
आवृत्तिश्चात्र भूयो विलयमुपगते कर्मिणां स्वर्गलोके
ब्रह्मोपास्तेः स्वरूपं ततमिति नवमे प्रादिशद् देवदेवः ॥११॥

व्याप्तं विश्वं समस्तं किल चरमचरं येन सर्वाधिपेना-
त्रासीमैश्वर्यशाली विमलगुणनिधिर्यः स्वतन्त्रः परात्मा ।

यत्स्वायत्तस्वरूपस्थितिगतिरुदिता यद्विभूतिस्त्वनन्ता
सर्वात्मा सोऽयमेकः प्रभुरितिदशमे निश्चिकायादिदेवः ॥१२॥

पार्थश्चेशं दिदृक्षुर्हि वपुरतिततं चर्मचक्षुर्न योग्यं
तस्मै दत्त्वा तु दिव्यं स्मयभयजनकं दर्शयामास कृष्णः ।
मेघान् विद्युन्महोघ्रान् क्षितिजलधियुतान् सूर्यचन्द्रादिदेवान्
दृष्ट्वा देवस्य देहे शरणमुपगतोऽत्रोचदेकादशेऽर्थान् ॥१३॥

श्रेष्ठोपायस्तु मुक्तेर्भगवति सुदृढा प्रीतिरेकैव शुद्धा
तत्राशक्तस्य कर्मण्यभिरुचिरुचिता ह्यात्मनिष्ठस्य पुंसः ।
आत्मोपास्तेः प्रकारा अतिरतिमदिशत् स्वस्य भक्ते परेशः
स्वार्थानेतानवादीच्छ्रितजनरतिकृद् द्वादशे च प्रपाठे ॥१४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपं प्रकृतिपुरुषयोर्भेद आत्मस्वरूप–
ज्ञानोपायास्तथाऽत्र त्रिगुणपुरुषयोर्योगतो विश्वसृष्टिः ।
कर्तृत्वे हेतुरेका प्रकृतिरथ पुमान् भोक्तृभावे च हेतु–
र्बन्धोच्छेदो विवेकात् त्रिसहितदशमे शौरिणोक्ता इमेऽर्थाः ॥१५॥

सूते विश्वं समस्तं प्रकृतिरनुपमा ब्रह्मस्वायत्तमूर्तिः
सत्वादीनां त्रयाणां प्रकृतिगुणतया देहिनो बन्धकृत्वम् ।
लिङ्गं कार्यञ्च तेषां खलु मतिकृतिभिर्दर्शितं तत्कृतोऽयं
बन्धो भक्त्या प्रहेयो द्विगुणित उदिताः सप्तकेऽर्था मुदैते ॥१६॥

संसारोऽश्वत्थवृक्षः श्रुतिविदितपदोऽव्यक्तमूलश्च तं वै
छित्वाऽसङ्गाख्यहेत्या प्रपदनमनिशं राघवेशे विधेयम् ।

बद्धान्मुक्तात् परश्चोत्तमपुरुष इति ख्यात ईशः स्वतन्त्रो
भर्त्ता चास्येक एवावददिति दशमे पञ्चयुक्तेऽर्थजातम् ॥१७॥

दैवी सम्पज्जनानां भवति सुकृतिनां मुक्तये कर्मबन्धा-
न्नित्यं बन्धाय लोके कुटिलमतिजुषामासुरी सा दुरन्ता ।
कार्याकार्यव्यवस्थां दिशति हिततमं शास्त्रमेतस्य त्याग-
श्चासुर्या मूलमुक्तं निरयफलमिमे षोडशे वर्णितार्थाः ॥१८॥

वैधं शास्त्रीयकर्म त्रिगुणपरवशं यज्ञदाने तपश्च
त्रैविध्यं तस्य वैधं सुकृतियुतनरैः सात्विकैः सात्विकं वै ।
ग्राह्यं नैवासुरं तत् खलु फलरहितं लक्षणं तस्य सम्यक्
श्रीमत्कृष्णेन चोक्तं वरमिह दशमे सप्तयुक्ते प्रपाठे ॥१९॥

सन्यासः त्यागरूपो जगति मनुजैः सत्वमालम्बनीयं
सीतानाथः परेशोऽमलगुणजलधिर्दिव्यदेहोऽवतारी ।
सर्वज्ञः सर्वशक्तिः कृतिचयफलदः कर्मणां संविधाता
सायुज्यं तत्प्रपत्त्या भवति तनुभृतां प्रोक्तमन्त्येऽत्र चैतत् ॥२०॥

श्रीगीतार्थसुधा चैषाऽनुभावानन्दनिर्मिता ।
जन्ममृत्युविनाशाय भूयान्मननशालिनाम् ॥२१॥

(स्वशताब्दीमहोत्सवे जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्योपदिष्टः प्रबन्धः)

—o—

श्रीसीतारामाभ्यां नमः।

प्रतिपक्षिभयङ्करजगद्गुरुश्रीहर्यानन्दाचार्य-

सिद्धशिरोमणिप्रणीता

प्रमाणदीपिका

(स्वशताब्दीमहोत्सवे श्रीहर्यानन्दाचार्योपदिष्टः प्रबन्धः)

रामं सीतां तथाचार्यं श्रियानन्दं प्रणम्य च।
प्रमाणानां प्रकाशाय कुर्वे प्रमाणदीपिकाम् ॥१॥

अथ प्रत्यक्षप्रमाणमयूखः.

चिदचिदीशतत्त्वानां ज्ञानं प्रामाणिकं च यत्।
मोक्षस्य साधनं तद्धि 'भोक्ता भोग्यमि'तिश्रुतेः ॥२॥

प्रमायाः करणं तत्र प्रमाणं सम्मतं बुधैः।
अबाधव्यवहारस्यानुगुणा तु मतिः प्रमा ॥३॥

करणं चावगन्तव्यं व्यापारशालि कारणम्।
त्रिधा प्रमाणमध्यक्षानुमानशब्दभेदतः ॥४॥

सम्भवस्योपमानस्य चार्थापत्तेस्तथैव हि।
अन्तर्भावोनुऽमाने तु तत्त्वज्ञैरुररीकृतः ॥५॥

ऐतिह्यमाप्तमूलं यच्छब्दे चान्तर्भवत्यदः।
अनुमानाङ्गतर्कस्य मन्यते स्वाङ्गिरूपता ॥६॥

भावान्तरेण चभावप्रतीतिरुपपद्यते।
अभावाख्यः पदार्थश्चातिरिक्तो मन्यते न तत् ॥७॥

अतिरिक्तं प्रमाणं तन्नानुपलब्धिनामकम् ।
अभावसाधकत्वेन प्रमाणज्ञैर्हि मन्यते ॥८॥

अनुमाध्यक्षशाब्दीतिभेदात् त्रिधा मता प्रमा ।
ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षत्वेन सम्मतम् ॥९॥

प्रत्यक्षं द्विविधं चाथ तत्राद्यं निर्विकल्पकम् ।
अनेकवृत्तिजात्याद्यविषया शेमुषी च तत् ॥१०॥

प्रत्यक्षं चापरं प्रोक्तं विद्वद्भिः सविकल्पकम् ।
अनेकवृत्तिजात्यादिविषया शेमुषी च तत् ॥११॥

प्रत्यक्षं द्विविधं चैतद् द्वैविध्यं च गतं पुनः ।
अर्वाचीनमथानर्वाचीनञ्चेतिविभेदतः ॥१२॥

एकमिन्द्रियसापेक्षमपरं तद्विलक्षणम् ।
स्वयंसिद्धं च दिव्यं च द्विविधमादिमं तथा ॥१३॥

योगजन्यं च तत्राद्यं परञ्चेशप्रसादजम् ।
प्रत्यक्षानुभवे तत्र करणमिन्द्रियं मतम् ॥१४॥

व्यापारस्तत्र संयोगः संयुक्ताश्रयणं तथा ।
अर्वाचीनेतरद् बोध्यं प्रत्यक्षमीशमुक्तयोः ॥१५॥

पूर्वानुभवतश्चात्र संस्कृतिरुपजायते ।
सदृशादृष्टचिन्ताद्यैरुद्बुद्धा संस्कृतिर्भवेत् ॥१६॥

उद्बुद्धसंस्कृतेर्जाता स्मृतिः प्रत्यक्षमेव हि ।
प्रतिभाप्रत्यभिज्ञे च प्रत्यक्षे एव सम्मते ॥१७॥

'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम् ।
शुक्तावपि हि रौप्यांशाः पञ्चीकरणतो मताः ॥१८॥

शुक्तिरौप्यमतेस्तस्मात् सत्यालम्बनता मता ।
शुक्तिरौप्यमतिर्भ्रान्ता रौप्यांशाल्पत्वहेतुतः ॥१९॥

इतिप्रतिपक्षिभयङ्करजगद्गुरुश्रीहर्यानन्दाचार्य–
सिद्धशिरोमणिप्रणीतायां प्रमाणदीपिकायां
प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणाख्यः
प्रथमो मयूखः ॥१॥

अथानुमानप्रमाणमयूखः

अनुमाकरणं चाथानुमानं परिकीर्तितम् ।
साधकतममेवात्र करणं प्राज्ञसम्मतम् ॥१॥

ततो लिङ्गपरामर्शोऽनुमायां करणं मतम् ।
व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्शनामिका ॥२॥

तज्जा चानुमितिः पक्षे साध्यबुद्धिर्मता बुधैः ।
साध्याधारस्थता हेतौ व्याप्तिः प्राज्ञैः प्रकीर्तिता ॥३॥

साहचर्यस्य भूयिष्ठदर्शनाद् व्याप्तिधीर्भवेत् ।
तद्दर्शनं सपक्षे हि भवेन्निश्चितसाध्यके ॥४॥

साध्यशून्यो विपक्षश्च पक्षः सन्दिग्धसाध्यकः ।
अन्वयव्यतिरेकी हि हेतुश्च केवलान्वयी ॥५॥

यत्सत्त्वे खलु यत्सत्त्वमन्वयव्याप्तिरीरिता ।
यच्छून्यत्वं च यच्छून्येऽभावव्याप्तिर्हि साधने ॥६॥

अन्वयव्याप्तितश्चाथान्वयी हेतुर्बुधैर्मतः ।
अभावव्याप्तितो हेतुर्व्यतिरेकी समीरितः ॥७॥
सिद्धान्ते द्विविधश्चैव सद्धेतुर्बुधसम्मतः ।
केवलव्यतिरेकी तु सिद्धान्ते मन्यते न हि ॥८॥
उभे चात्रानुमानाङ्गे व्याप्तिश्च पक्षधर्मता ।
द्वयोरन्यतरस्याथ विरहे हेतुदुष्टता ॥९॥
व्यभिचारी विरुद्धोऽथासिद्धः सत्प्रतिपक्षकः ।
बाधितश्चेति पञ्चापि हेत्वाभासाः प्रकीर्त्तिताः ॥१०॥
हेतुश्च व्यभिचारी हि स्वस्थानातिक्रमे भवेत् ।
स ह्यनैकान्तिकश्चाथ द्विविधः परिकीर्तितः ॥११॥
विपक्षेऽपि स्थितश्चेत् स साधारणो मतस्तदा ।
बुधैः सपक्षमात्रस्थोऽसाधारण उदाहृतः ॥१२॥
साध्याभावेन स व्याप्तो विरुद्धत्वेन सम्मतः ।
आदिमस्त्रिष्वसिध्देष्वाश्रयासिद्धः समीरितः ॥१३॥
पक्षश्च पक्षताऽवच्छेदकशून्यश्च तत्र हि ।
पक्षे च हेतुराहित्यं स्वरूपासिद्धता स्मृता ॥१४॥
व्याप्यत्वासिद्धता चात्र द्विधा प्राज्ञैः समर्थिता ।
व्याप्तिग्राहकमानस्य शून्यत्वात् तत्र चादिमा ॥१५॥
हेतावुपाधिसत्त्वाच्च द्वितीया सम्मता बुधैः ।
साध्यव्यापकतायां च साधनाव्यापकत्वकम् ॥१६॥

उपाधित्वेन सम्प्रोक्तं हेतोः परमदूषणम् ।
प्रतिपक्षस्य सत्त्वे तु हेतोः सत्प्रतिपक्षता ॥१७॥

यस्य प्रबलमानेन साध्याभावो विनिश्चितः ।
दार्शनिकैः स हेतुर्हि बाधितः सम्प्रकीर्तितः ॥१८॥

अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं चेति भेदतः ।
स्वार्थेन स्वानुमा चात्र परार्थेन परानुमा ॥१९॥

न्यायजस्तु परामर्शः परानुमितिकारणम् ।
न्यायस्तत्र प्रतिज्ञाद्यवयवपञ्चकं मतः ॥२०॥

प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशो हेतूक्तेर्हेतुता तथा ।
व्याप्तिनिर्देशपूर्वा हि दृष्टान्तोक्तिरुदाहृता ॥२१॥

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वबोधश्चोपनयो मतः ।
निगमनं तु साध्यस्योपसंहारवचः खलु ॥२२॥

नैयायिका भवन्त्येतत्पञ्चावयववादिनः ।
वेदान्तिनो वदन्त्येष्वनुमासिद्धौ यथारुचि ॥२३॥

इति प्रतिपक्षिभयङ्करजगद्गुरुश्रीहर्यानन्दाचार्य—
सिद्धाशिरोमणिप्रणीतायां प्रमाणदीपिकाया—
मनुमानप्रमाणनिरूपणाख्यो
द्वितीयो मयूखः ॥२॥

अथ शब्दप्रमाणमयूखः

अनाप्तानुक्तवाक्यस्य शब्दप्रमाणता मता ।
द्वारं पदार्थबुद्धिश्च शक्तिधीः सहकारिणी ॥१॥

वाक्यं पदसमूहश्च शक्तं पदतया मतम् ।
अभिधाख्या च शक्तिर्हि वेदस्यार्थावबोधिता ॥२॥
मुख्या वृत्तिः पदस्यार्थे सव प्राज्ञैरुदीरिता ।
घटेत्युक्ते घटे चैवं शक्तिर्घटपदस्य हि ॥३॥
सम्बन्धोऽभिहितः प्राज्ञैर्वृत्तिः पदपदार्थयोः ।
मुख्यार्थस्य हि बाधे तु वृत्तिर्मतौपचारिकी ॥४॥
गौणी च लक्षणा चेति भेदात् सा द्विविधा पुनः ।
शक्यस्य गुणवत्त्वेन त्वाद्या वृत्तिर्मता बुधैः ॥५॥
लक्षणा शक्यसम्बन्धः साऽन्वयानुपपत्तितः ।
जहदथाजहच्चेति द्विधा सा परिकीर्त्तिता ॥६॥
आकांक्षायोग्यताऽऽसत्तिमद् वाक्यं हि प्रमापकम् ।
प्रमाणमखिलो वेदः सिद्धे व्युत्पत्तिसम्भवात् ॥७॥
भागद्वयं हि वेदस्य कर्मब्रह्माभिधायकम् ।
तत्राद्ये कथितं कर्म ब्रह्माराधनलक्षणम् ॥८॥
शास्त्रे हि पूर्वमीमांसाऽऽख्येऽस्य शंकाः समाहिताः ।
ब्रह्मणो वर्णितं चान्त्ये स्वरूपं च गुणादिकम् ॥९॥
एतच्छङ्कासमाधानं मीमांसा चोत्तरा मता ।
मता मीमांसयोस्तस्मादुभयोरेकशास्त्रता ॥१०॥
विध्यर्थवादमन्त्रेतिभेदाद् वेदस्त्रिधा मतः ।
सम्मतस्तत्र विद्वद्भिर्विधिवाक्यं प्रवर्त्तकम् ॥११॥

विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥१२॥

इत्येवं हि विधिः प्राज्ञैस्त्रिविधः सम्प्रकीर्त्तितः ।
नित्यो नैमित्तिकः काम्यश्चापि भेदा विधेर्मताः ॥१३॥

प्रवृत्त्युत्तम्भकं वाक्यमर्थवादतया मतम् ।
मन्त्रत्वेन मतो वेदोऽनुष्ठेयार्थप्रकाशकः ॥१४॥

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्योक्तानि वैदिकैः ॥१५॥

पूर्वक्रमविशिष्टा हि वेदाश्चेशसमीरिताः ।
नित्या अपौरुषेयास्ते तस्माद् बुधैश्च सम्मताः ॥१६॥

नित्यो वेदश्च निर्दोषो वक्त्रभावाद्धि सम्मतः ।
प्रामाण्यं हि बुधैर्वेदे स्वीकृतं स्वत एव तत् ॥१७॥

स्मृत्यादेस्तु प्रमाणत्वं वेदमूलतया मतम् ।
शास्त्रं वेदविरुद्धं च नैव याति प्रमाणताम् ॥१८॥

देहस्य वाचकाः शब्दा पर्यवस्यन्ति देहिनि ।
सर्वशब्दकवाच्यस्तद् रामः सर्वशरीरकः ॥१९॥

इति प्रतिपक्षिभयङ्करजगद्गुरुश्रीहर्यानन्दाचार्यसिद्धशिरोमणिप्रणीतायां
प्रमाणदीपिकायां शब्दप्रमाणनिरूपणाख्यस्तृतीयो मयूखः ॥३॥

श्रियानन्दार्यशिष्येण हर्यानन्देन निर्मिता ।
प्रकाशिका प्रमाणानां भूयात् प्रमाणदीपिका ॥२०॥

—०—

जगद्गुरुश्रीमदनुभवानन्दाचार्याष्टकम्

रक्षकं वैष्णवानां च धर्मवारिधिवर्धकम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥१॥

रामानन्दकृतानन्दभाष्याब्जस्य प्रभाकरम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥२॥

भक्तिगङ्गाप्रवाहेण मुक्तिदं लोकपावनम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥३॥

विशिष्टाद्वैतवादेन वादिवादापसारकम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥४॥

सर्वसिद्धिप्रदातारं सिद्धेन्द्रं सिद्धसेवितम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥५॥

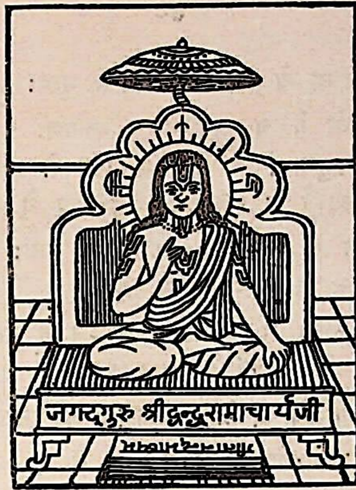
मुद्रोर्ध्वपुंड्रमालादे रक्षकं परमं बुधम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥६॥

श्रीगीतार्थसुधाकारं सदाचारोपदेशकम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥७॥

त्रयाणां च रहस्यानां भव्यव्याख्याविधायिनम् ।
नमाम्यनुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥८॥

वैष्णवभाष्यकारश्रीवैष्णवाचार्यनिर्मितम् ।
अष्टकं भवतादेतत् सर्वकल्याणकारकम् ॥९॥

———o———



जगद्गुरुश्रीदुन्दुरामाचार्यप्रणीतं

भक्तनिरूपणम्

श्रीसुशीलासुतं नत्वा भाष्यकारं तथा गुरुम् ।
भक्तलक्षणबोधाय कुर्वे भक्तनिरूपणम् ॥१॥
ज्ञानिनः शान्तचित्ताश्च दयाशीला गतस्पृहाः ।
परेषां पीडका ये न श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥२॥
अन्यदोषं न पश्यन्ति सर्वप्राणिहितैषिणः ।
ईर्ष्याविरहिता ये च श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥३॥
संग्रहवृत्तिहीनाश्च तुष्यन्ति स्वल्पतश्च ये ।
भगवत्पादभक्ताश्च श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥४॥
रामयज्ञसहायाश्च सर्वत्र समदर्शिनः ।
श्रीरामपूजका ये च श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥५॥
नन्दन्ति वीक्ष्य रामार्चां स्वाचार्यग्रन्थपाठकाः ।

निन्द्यकर्मविहीना ये श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥६॥
नासत्यवादिनो ये च प्रियसत्यस्य भाषिणः ।
ग्राहकाः सद्गुणानां ये श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥७॥
परेषां हानिलाभौ तु स्वीयवद् वीक्षकाश्च ये ।
साधुसेवारता ये च ॒ष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥८॥
भागवतकथायाश्च श्रवणे कथने तथा ।
निरताः सात्विका ये च श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥९॥
उत्कण्ठिताश्च ये नित्यं भगवन्नामकीर्त्तने ।
रोमाञ्चशालिनो ये च श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥१०॥
च्युता नाश्रमधर्मेभ्यश्चातिथिपूजकाश्च ये ।
गुरुशास्त्रवशा ये च श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥११॥
संस्कारपञ्चकापन्ना आकारत्रयशालिनः ।
रहस्यत्रयवेत्तारः श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥१२॥
अर्थपञ्चकतत्त्वज्ञा रामकैङ्कर्यकारकाः ।
सदाचाररता ये च श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥१३॥
सात्विकाहारशीलाश्च वैष्णवा हरिचिन्तकाः ।
एकादशीव्रतासक्ताः श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥१४॥
सच्छास्त्रे सद्गुणे सक्ताः सन्निष्ठाः सत्प्रवृत्तयः ।
विषयेभ्यो विरक्ता ये श्रेष्ठा भक्तश्च ते मताः ॥१५॥
वैष्णवानाञ्च पूजायां कीर्त्तने वन्दने तथा ।
श्रद्धयोत्कण्ठिता ये च श्रेष्ठा भक्ताश्च ते मताः ॥१६॥

द्वारपीठेश्वरश्रीमद्दुन्दुरामार्यनिर्मितम् ।
भगवद्भक्तिदं भूयादेतद् भक्तनिरूपणम् ॥१७॥

—०—

नमः परब्रह्मणे भगवते श्रीरामाय ।

श्रीविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तो विजयतेतराम् ।

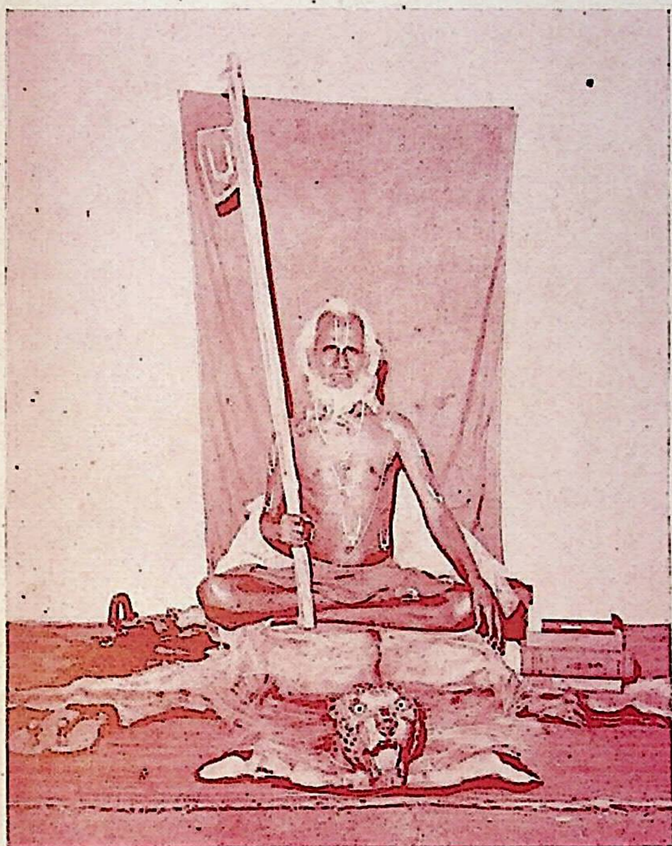
जगद्गुरु श्रीश्रियानन्दाचार्यसिद्धान्तविजयिप्रणीतः

सिद्धान्तविजयः

कार्यकारणरूपं च चिदचिद्देहिनं विभुम् ।
दिव्यदेहगुणं वन्दे श्रीमद्रामं परेश्वरम् ॥१॥
भक्तिज्ञाननिधिं नत्वा पूर्णानन्दं जगद्गुरुम् ।
सिद्धान्तेविजयं कुर्वे सत्सिद्धान्तावबुद्धये ॥२॥
सिद्धान्तेषु च सर्वेषु विशिष्टाद्वैतमेव हि ।
श्रौतत्वात् युक्तियुक्तत्वाद् विश्वे विजयतेतराम् ॥३॥
प्राचीनैस्तत्त्वविद्भिर्हि वाल्मीक्यादिमहर्षिभिः ।
स्वीकृतत्वाद् यशश्चास्य दिङ्मण्डले सुविस्तृतम् ॥४॥
ग्रन्थैः सूत्रादिभिश्चास्य व्यासादयः प्रचारकाः ।
बोधायनाख्यवृत्त्याऽतिवर्धकः पुरुषोत्तमः ॥५॥
भेदाभेदाभिनन्दिन्यः सन्ति याः श्रुतयश्च ताः ।
सर्वाः समन्विताश्चास्मिन् सिद्धान्ते बुधसम्मते ॥६॥
भोक्ताभोग्येति भेदोक्तिर्विशेषणविशेष्ययोः ।
अद्वैतश्रुतिवृन्दस्य विशिष्टाद्वैतबोधिता ॥७॥
देहात्मनोर्विभिन्नत्वे देहिनश्चैकता यथा ।
भेदे चिदचिदीशानां विशिष्टस्यैकता तथा ॥८॥
घटकश्रुतिभिर्देहौ चेतनाचेतनौ मतौ ।
मतश्चात्मतया ब्रह्म ताभिश्चिदचितोरथं ॥९॥
सम्बद्धे त्वपृथक्सिद्ध्या रामे चिदचिती यतः ।

ततो ब्रह्मशरीरत्वाद् विशेषणे मते च ते ॥१०॥
व्यावृत्तिः स्वीकृता यस्माच्चिदचित्तत्त्वयोर्मिथः ।
तयोर्विशेषणत्वं तद् व्यावर्त्तकतयाऽक्षतम् ॥११॥
सूक्ष्माचिच्चिद्विशिष्टं हि ब्रह्म कारणमुच्यते ।
स्थूलाचिच्चिद्विशिष्टंतु ब्रह्म कार्यतया मतम् ॥१२॥
विशिष्टयोस्तयोरैक्यं विशिष्टाद्वैतमुच्यते ।
कार्यकारणयोरैक्यं सिद्धान्ते स्वीकृतं यतः ॥१३॥
अन्यथा सर्वविज्ञानमेकविज्ञानतः कथम् ।
सिद्ध्येच्छ्रुतिमतं चैतद् भावनीयं मनीषिभिः ॥१४॥
यतो वेत्यादिवाक्येनाभिहिता ब्रह्महेतुता ।
सत्त्यद्भावश्रुतत्वाद्धि कार्यता ब्रह्मणि मता ॥१५॥
अक्षतं निर्विकारत्वं ब्रह्मणः श्रुतिसम्मतम् ।
सद्वारिका मता यस्माद् ब्रह्मणः परिणामिता ॥१६॥
नामरूपविभागस्यानर्हता सूक्ष्मता मता ।
तद्भिन्ना स्थूलता चात्र चिदचितोरुदीरिता ॥१७॥
विशेषणान्वयि द्वित्वं मतं विशिष्टयोरिति ।
अरुणाम्बुजयोश्चाथ शुक्लकलशयोरिव ॥१८॥
वेदविद्भिश्च तत्त्वज्ञैर्ब्रह्मोपसनतत्परैः ।
सर्वश्रेष्ठतया प्रोक्तं विशिष्टाद्वैतमेव तत् ॥१९॥
पूर्णानन्दार्यशिष्यश्रीश्रियानन्दार्यनिर्मितः ।
सिद्धान्तविजयो भूयात् सिद्धान्तबोधकः सताम् ॥२०॥

—:o:—



पश्चिमाम्नाय-श्रीरामानन्द-पीठ-श्रीशेषमठाधीश-
जगद्गुरु-श्रीरामानन्दाचार्य-योगिराज-
स्वामि-श्रीरामप्रपन्नाचार्य-दर्शनकेसरीजी महाराज

श्री कोसलेन्द्रमठ
अहमदावाद-७

श्री शेषमठ (विश्राम द्वारका)
शींगडा (सौराष्ट्र)



श्रीसीतारामाभ्यां नमः ।

आनन्दभाष्यकारश्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।

विद्वद्वर्य–श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितः

खण्डनोद्धारः



अणोरणीयान् महतो महीयान्
एकः पुमान् विश्वजनीनवृत्तिः ।

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार–श्रीरामानन्दाचार्याय नमः

श्रीगुरुचरणकमलभ्यां नमः

श्रीमद्रामप्रपन्नाचार्ययोगिराजप्रणीता

दीपिका



सर्वस्मात् प्राक् सृजति भुवनं ब्रह्मणो विग्रहेण
विष्णुर्भूत्वा पुनरपि जगद्रक्षणं यः करोति ।
ईशानः सन् ग्लपयति मुहुः संसृतिं तां समस्तां
तं श्रीरामं जनकतनयास्वामिनं नौमि नित्यम् ॥१॥

जगत्प्रसूतिस्थितिभङ्गबीज-

चेतनाचेतनांशानामंशिनं वेदवेदितम् ।
निमित्तं जगतो मूलं रामं ब्रह्म नमाम्यहम् ।।२।।

आनन्दभाष्यकृद्रामानन्दाचार्यं यतीश्वरम् ।
नौमि चानुभवानन्दं द्वारपीठेश्वरं निजम् ।।३।।

श्रीमद्रघुवराचार्यं नमस्कृत्य स्वसद्गुरुम् ।
कुर्वे तत्वप्रकाशाय खण्डनोद्धारदीपिकाम् ।।४।।

जो भगवान् चित् अचित् लक्षण सकल जगत् के उत्पत्ति स्थिति तथा विनाश के कारण हैं और अणुत्व रूप से प्रसिद्ध जो परमाणु तदपेक्षया भी जो परम अणु हैं अर्थात् परम सूक्ष्म हैं, तथा महत्वरूप से लोक प्रसिद्ध जो आकाशादिक तत्व हैं तदपेक्षया भी जो परम महान् है– जिनका कार्यकलाप व्यक्तिमात्र के कल्याण के लिये ही होता है और जो एक हैं सजातीय द्वितीय रहित हैं तथा पुरुष रूप हैं, वे भगवान् श्रीरामचन्द्र मेरे अन्तःकरण में प्रकाशित हों ।

यहां 'जगत् प्रसूति' आदि विशेषण से 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्य-भिसंविशन्ति, (जिससे इन आकाशादि भूतों की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होकर जिसमें यह जगत् स्थित है और

मस्माकमन्तःकरणे चकास्तु ॥१॥

अन्त में जिसमें प्रविष्ट होता है) इस श्रुति का तथा "जन्माद्यस्य यतः" (जिस परम कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् व्यक्ति से स्थावर जंगम जगत् का उत्पादन होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् निवास करता है तथा जिसमें पुनः प्रलयकाल में लीन होता है) इस सूत्र का अर्थ प्रकाशित किया गया है।

"अणोरणीयान्" इस विशेषण से भगवान् में अतिसूक्ष्मता का प्रतिपादन किया है अर्थात् जिसने भगवान् की परमकृपा को नहीं प्राप्त की है उसे भगवान् कभी भी प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे सूक्ष्म परमाणु प्रभृति पदार्थ अप्राप्य हैं उसी तरह अतिसूक्ष्म होने के कारण उस व्यक्ति से भगवान् अप्राप्य हैं।

"महतो महीयान्" महत्वेन प्रसिद्ध जो आकाशादि तत्त्व हैं उनकी अपेक्षया भी भगवान् महान् हैं, इस विशेषण से यह बतलाया गया है कि जिसका मन भक्ति भावना से संविशुद्ध है उस पुरुष से भगवान् सर्वदैव प्राप्य हैं। इन दोनों विशेषणों द्वारा "अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः" (अणु से भी अणु महान् से भी महान् आत्म परम पुरुष भगवान् प्रत्येक प्राणी की बुद्धि में स्थित हैं, उस पर-

आनन्दाद्वयवादिनी श्रुतिरपि त्रस्तेव मूकायते

मात्मा को विशुद्ध अन्त:करण वाले पुरुष मन की प्रसन्नता से ही देखते हैं। इस श्रुति का अर्थ प्रकाशित किया गया है। "विश्वजनीन" इस विशेषण से यह बतलाया गया है कि मर्यादावतार भगवान् श्रीरामजी का जो कोई भी लीला कार्य होता है वह सब लोक कल्याण के लिए ही होता है, स्व के लिए नहीं होता। "आप्तकामस्य का स्पृहा" इत्यादि श्रुति से स्वार्थ के अभाव का प्रतिपादन होता है। "एक:" इस विशेषण से परम तत्व में द्वित्वादि संख्या का निराकरण किया गया है। "पुमान्" यह विशेषण परम तत्व में सर्वसामर्थ्यादि सकल कल्याण गुणगणाश्रयत्व का प्रतिपादक है। "एक:" यह विशेषण चिदचिद्विशिष्ट परमतत्त्व में अद्वैत का प्रतिपादन करता है। अर्थात् चेतन और अचेतन दो तत्त्व हैं, यह भी स्थूल सूक्ष्म भेद से दो प्रकार के हैं। उसमें संसार कालिक जड़ चेतन स्थूल हैं तथा प्रलयकालिक जड़ चेतन सूक्ष्म हैं। ये दोनों भगवान् के अवयव हैं। भगवान् अवयवी हैं। अवयवी में भेद नहीं है इसलिए तादृश अवयवद्वयविशिष्ट भगवान् अद्वैतात्मक हैं। विशिष्टाद्वैत स्वरूप को जानने के लिये जिज्ञासु मत्कृत विशिष्टाद्वैत माला ग्रन्थ को देखें ॥१॥

० ०

उस तेजोविशेष को मैं नमस्कार करता हूँ, जो तेज

तस्मिन्नेव जडीभवन्ति जगतचितांसि मायामुपि ।

निर्विकार है "जायते अस्ति विपरिणमते वर्द्धते अपक्षीयते विनश्यति" इत्यादि यास्क परिपठित जो छै भाव विकार हैं उनसे जो रहित है तथा जिस तेजोविशेष में आनन्दाद्वैतका प्रतिपादन करने वाली श्रुति "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "प्रज्ञानं ब्रह्म" ब्रह्म सत्य ज्ञान आनन्दात्मक है कहकरभी डरती हुई मौन भावको आलम्बन करती हैं। क्योंकि "यतो वाचो निवर्तन्ते" जहाँ से वाणी निवृत्त हो जाती है। श्रुति वाणी रूप है तो जिसमें वाणी की प्रवृत्ति नहीं है वहां श्रुति क्या कर सकती है? अतः मौन भाव का ही अवलम्बन करती है। एतावता परमतत्व में वाणी का अगम्यत्व बतलाया गया है। माया के विनाशक उस परमतत्व में सभी का अन्तःकरण (मन) जड़ हो जाता है, अर्थात् जो परमतत्व माया का विनाशक है वह मनोगम्य भी नहीं है "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" मन के साथ-साथ वाणी जहां से निवृत्त हो जाती है, यह श्रुति मनो अगम्यता में प्रमाण है और "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्" जो मन से नहीं जाना जाता है तथा जिससे मन को जानते हैं वही ब्रह्म है। यह श्रुति भी ब्रह्म को मनोअगम्य कहती है। जो परम तत्व भगवान् अनन्य भक्ति से भजन करने वाले व्यक्तियों को मोक्ष देनें वाले हैं, जिनने भक्त को मोक्ष

निर्वाणप्रतिभूभविष्णु भजतामाभीरदारप्रियम्

देने का नियम कर लिया हैं और परम कमनीय तत्व है। जिनको आभीर गोप अथवा शूद्र जाति की स्त्री (शबरी) प्रिय है एवं जो स्वात्म प्रकाश चेतन रूप हैं, तथा पाप पुण्य रूप मल से रहित हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

(श्लोक के पूर्वार्द्ध के विशेषणों से श्रीरामजी में अभक्त के लिये वाणी मनो अगम्यता का प्रतिपादन हुआ है तथा "मायामुषि" पद "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" मेरी शरण में प्राप्त होने वाले इस माया से तर जाते हैं (मैं उनकी माया को नष्ट कर देता हूँ) इस भगवत्प्रतिज्ञा का स्मरण कराता है। निर्वाणेत्यादि विशेषण से 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय" उस महापुरुष भगवान् श्रीराम को जानकर के मोक्ष को प्राप्त करता है, भगवान् के सिवाय मोक्ष का दूसरा मार्ग नहीं है, इस श्रुति प्रतिपादित परम तत्व का ग्रन्थकार स्मरण कराते हैं। भविष्णु पद से भगवान् में कमनीयत्व का प्रतिपादन होने से भगवान् में निरतिशय अखिल अनवधिक कल्याण-गुणाधारत्व बतलाया गया है, न कि भगवान् को निर्गुण कहा गया है। 'भजताम्' पद से पराभक्ति से परमतत्व (भगवान्) की आराधना करने वालों को ही मोक्ष प्राप्त होता है, यह कहा गया है। "भक्त्या त्वनन्यया लभ्योहम्"

वन्दे स्वात्मकचित्प्रकाशममलं तन्निर्विकारं महः ॥२॥
क्षीराब्धेरुज्जिहानां त्रिदशपरिषदि प्रोल्लसद्भूरिभङ्गीम्

अनन्या भक्ति से ही मुझको प्राप्त किया जाता है। 'आभीर-दारप्रियम्' इस विशेषण से भगवान् पतितोद्धारक सिद्ध होते हैं। भगवान् श्रीराम ने नीच जाति शवरी का भी उद्धार किया था। यद्यपि आभीर शब्द गोप वाचक है, तथापि 'आभिरी तु महाशूद्री जातिपुंयोगयोः समा' इस अनुशासन से महाशूद्र बोधक भी है। 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यांति परांगतिम्' इससे सिद्ध होता है कि आभीर शब्द शूद्र बोधक भी है। रा० मानस में भी यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है यथा "आभीर यवन किरात खस श्वपचादि अति अधरूप जे" 'अमलम्' इस विशेषण से भगवान् में पाप पुण्य रूप मल का निराकरण सिद्ध होता है ॥२॥

प्रकाशन शील भगवान् अपाय (पाप कर्म) से मेरी रक्षा करें। भगवान् कैसे हैं? इस जिज्ञासा के उत्तर में 'क्षीराब्धेरित्यादि' समुद्र मथन के पश्चात् क्षीर समुद्र से निकली हुई स्वानुरूप पति के अन्वेषण के अभिप्राय से देव दानवों की सभा में दृष्टि डालने वाली त्रिभुवन जननी प्रफुल्लित कमल के समान स्मितमुखवाली लक्ष्मीजी को स्वकीय कटाक्ष से स्वीकार करते हुए, लज्जा से अधोमुख वाले देव कामशर से समुत्पन्न है सात्विक भाव जिनमें सात्विक भावैक धर्मादि से ओत प्रोत हाथ के द्वारा लक्ष्मीजी को स्वीकार करने वाले भगवान् अपाय से रक्षण करें। समुद्र मथन के

अङ्गीकुर्वन् कटाक्षैस्त्रिभुवनजननीं व्रीडया नम्रमौलिः ।
देवः पापादपायात् कुसुमशरपरीरम्भसञ्जातभावः
सद्यः स्विद्यत्करेण स्मितकमलमुखीमाददानः करेण ॥३॥

पश्चात् लक्ष्मीजी को स्वीकार करने वाले विष्णु भगवान् को लक्षित करके ग्रंथकार का मंगल है । वस्तुतस्तु मैथिल वाचस्पतिका अभिप्राय जनकपुर की सभा में है । अर्थात् देव श्रीरामजी अपाय से रक्षण करें । 'कथंभूत:, इस जिज्ञासा में क्षीराब्धेः का कथन है । क्षीर समुद्र के समान निर्मल अनेक गुण विशिष्ट अति दीर्घ जो विदेह प्रदेश उससे उद्गत न कि समुत्पन्न जो श्रीसीताजी, इस विशेषण से श्रीसीताजी में अयोनिजत्व का सूचन होता है । फिर कैसी कि त्रिदश देवताओं की जो सभा तत्सदृश राजसभा में, मेरे अनुरूप मेरा पति होने के कौन योग्य है इस अभि-प्राय से दृष्टिपात करने वाली, उस स्थान में भगवान् श्री-राम को देखकर प्रफुल्लित कमल के समान स्मित मुख वाली, समस्त जगत् के प्रसव में समर्थ ऐसी सीताजी को अपने कटाक्ष से पूर्व में अंगीकार करते हुए भगवान् श्रीराम सभा में दशरथ विश्वामित्र वसिष्ठ प्रभृति गुरुजनों के समक्ष लज्जा से अवनत मुखवाले भगवान् श्रीराम लोक-मर्यादा के अनुसार कामशर संपर्क से समुत्पन्न हैं सात्विक भाव जिनमें ऐसे भगवान् घर्मांकित हाथ के द्वारा श्रीसीता जी को अंगीकार करने वाले अपाय से रक्षण करें ॥३॥

तर्ककान्तारचारिण्यः स्खलन्ति प्रायशो गिरः ।
तत् समादधति प्राज्ञा एष धर्मः सनातनः ॥४॥
खंडनमुद्दण्डमभूदुपर्युपरि कल्पनासहस्रेण ।
तन्मूलशुद्धमतिना वाचस्पतिना निरस्यते सम्यक् ॥५॥

अथ कथायां वादिनो नियममेतादृशं मन्यन्ते यत् प्रमाणादयः सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया सिद्धाः पदार्थाः सन्तीति

तर्क रूप महावन में विचरने वाली वाणी का पतन प्रायः हुआ ही करता हैं, परन्तु बुद्धिमान् पुरुष वहां उसका समाधान कर देते हैं, यह सनातन धर्म है अर्थात् किसी की कहीं त्रुटि हो तो उसका समाधान कर देना, ऐसी ही पूर्वापर की मर्यादा है ॥४॥

श्रीहर्ष का खण्डन ग्रंथ उपरी उपरी हजारों कल्पनाओं से अत्यन्त उद्दण्ड होगया है अतः कथा करने में अत्यन्त विशुद्ध बुद्धि युक्त वाचस्पति मिश्र से उस खण्डन का सम्यक् रूप से निरसन किया जाता है ॥५॥

कथा (शास्त्रार्थ) आरंभ करने से पूर्व वादी अर्थात् नैयायिक प्रभृति एक ऐसा नियम मानते हैं कि प्रत्येक तन्त्र (शास्त्र) के सिद्धान्त रूप से सिद्ध प्रमाणादिक(प्रमाण, प्रमेय, प्रयोजन, संशय, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितंडा हेत्वाभास छल जाति निग्रहस्थान प्रभृति) पदार्थ हैं। तब वादी प्रतिवादी को इन सबको

कथकाभ्यामभ्युपेयम्। तदपरे न क्षमन्ते। तथाहि प्रमाणादीनां यत् सत्त्वमभ्युपेयं तत् कस्य हेतोः ? किं तदनभ्युपगच्छद्भ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां तदभ्युपगमनियतस्य वाग्व्यवहारस्य प्रवर्तयितुमशक्यत्वात् उत तत्कर्तव्यवाग्व्यवहारहेतुत्वात् उत लोकसिद्धत्वात्। अथवा तदनभ्युपगमस्य तत्त्वनिर्णयविजयातिप्रसञ्जकत्वादिति।

अत्र यद्यपि प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमनियतत्वं तद्धेतुकत्वं तथात्वेन लोकसिद्धत्वं तदधीनफलकत्वं चेति चतुष्टयमप्य-

---

अवश्य मानना चाहिये। इस बात को वेदान्ती चार्वाक प्रभृति नहीं मानते हैं। वेदान्ती लोग कहते हैं कि शास्त्रार्थ के पहिले से प्रमाणादिकी सत्ता को क्यों माना जाय ? क्या प्रमाणादि के स्वीकार के विना वाग्व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं कर सकते हैं। क्योंकि वाग्व्यवहार प्रमाणादि के स्वीकार से नियत है। अथवा वादी से होने वाला जो वाग् व्यवहार उसका कारण है प्रमाणादि। अथवा प्रमाणादि लोक सिद्ध हैं। अथवा शास्त्रार्थ का फल जो तत्त्व निश्चय या विजय सो, प्रमाणादि के स्वीकार के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ यद्यपि प्रमाण सत्ता के स्वीकार से नियत अथवा प्रमाण सत्ताहेतुक अथवा तद्रूपेण लोकसिद्धत्व अथवा तदधीन फलकता ये चारों एक रूप ही हैं तब चार विकल्प अलग-अलग करना उचित नहीं है, तथापि पुरस्कार (प्रकार) के

विरुद्धमिति विकल्पो न कल्प्यते। तथापि पुरस्काराभि-प्रायेण विकल्पः इदं वा पुरस्कृत्य तथा मन्यसे इदं वेति। ननु तथापि न्यूनो विकल्पः सर्वपुरस्कारपक्षस्यापि विकल्प-नीयत्वादिति चेन्न। एकैकखण्डनेनैव सर्वखण्डनसिद्धौ तस्यार्थतः खण्डितत्वेन पृथगनुपन्यासादिति। अत्र नाद्य-द्वितीयौ वेदान्तिमाध्यमिकचार्वाकवाग्व्यवहारस्य तेन विनापि सत्त्वात्। न तृतीयः लोको हि प्रमाणं वा वाहीकादिर्वा। अत्र नाद्यः प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमः प्रमाणादिव्यवहारसिद्ध इत्यस्यापि विचार्यत्वात्। नापरः तद्व्यवहारस्य परीक्षकैर-

---

अभिप्राय से विकल्प किया गया है। यह प्रकार है कि यह प्रकार है ? फिर भी तो विकल्प न्यून ही रहा क्योंकि सर्व प्रकार विकल्प का भी तो कथन होना चाहिये। उत्तर—एक एक के खण्डन करने से ही सर्व प्रकार पक्ष का भी खण्डन हो जाता है। अतः उसका प्रथक् कथन नहीं किया।

इन चारों विकल्पों में से प्रथम द्वितीय विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि वेदान्ती माध्यमिक चार्वाक का व्यवहार प्रमाणादि सत्ता स्वीकार के बिना भी होता है। तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि लोक पद से प्रमाण भूत लोक का ग्रहण है या बाहीक का (अर्थात् बैल हांकने वाले अनभिज्ञ का) इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाणादि सत्ता का स्वीकार प्रमाणादि व्यवहार से सिद्ध

नादरणात् । नान्त्यः समयबन्धेनैव फलानतिप्रसङ्गादिति खण्डनम् ॥

अत्र प्राञ्चः । अलीकापेक्षवैलक्षण्यमात्रमेवेह सत्त्वं विवक्षितं तच्च प्रमाणादिवस्तुस्वरूपमेव । अस्तु वा अबाध्यत्वादिकं सत्त्वं धर्मधर्मिणोर्मया भेदोपगमात् तदवधारणमेव तदभ्युपगमः । अथ सर्वादृष्टेः सन्देहात् स्वादृष्टेश्च व्यभि-

---

है। इसके भी विचारणीय होने से। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि पामरादिकों के व्यवहार का विद्वान् लोग आदर नहीं करते हैं। चतुर्थ विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि समयबन्धद्वारा ही फलानति प्रसंग सिद्ध हो जाता है तब प्रमाणादि सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं हैं। यहां तक खण्डन ग्रन्थ का निरूपण किया गया।

'इतिखण्डनम्' यहाँ तक पूर्व पक्ष का निरूपण किया गया। अब इसके आगे 'अत्र प्राञ्चः' से उद्धारकर्ता का उत्तर होता है।

अलीक (शश विषाणादिक) तदपेक्षया वैलक्षण्य ही, यहाँ सत्त्व है। (अर्थात् अलीकविलक्षणत्वं सत्त्वम्) यही सत्त्व का लक्षण है। यह सत्त्व प्रमाणादि वस्तु का स्वरूप ही है अथवा अबाध्यत्वसत्त्व है। जिसका बाध न हो वह सत है। हम लोग धर्म और धर्मी में भेद मानते हैं एतादृश सत्त्वका जो निर्णय वही इस सत्त्व का अभ्युपगम कहलाता है।

चारात् अबाध्यत्वं दुरवधारणमिति चेन्न। यस्यहि वस्तुनो यावन्तः परीक्षाप्रकारा लोके प्रसिद्धाः तावद्भिः परीक्ष्यमाणे तस्मिन् वस्तुनि चेदन्यथाभावो नावसीयते तदा तदबाधित-मवगम्यते। तादृशमेव च विज्ञानं लौकिकैः प्रमेति तत्करणमेव

पूर्वपक्ष—यहाँ अबाध्यत्वका निर्णय नहीं होसकताहै क्योंकि अबाध्यत्व का अर्थ होता है बाधाभाव। तब यह बाधा भाव सब पुरुषों को हो अथवा अपने को। इसमें प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता है। क्योंकि सब के बाधाभाव को तो सर्वज्ञ ही जान सकता है हमारे जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति को सर्वाबाध्यत्व का जानना कठिन है। अतः सभी पुरुषों के बाधा-भाव रूप अबाध्यत्वका निश्चय नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्व का बाधाभाव व्यभिचरित है। किसी वस्तु में एक व्यक्ति को बाधाभाव रहने पर भी व्यक्त्यन्तर को उस वस्तु में बाध बुद्धि नहीं रहती है।

उत्तर—जिस वस्तु के जितने परीक्षा के प्रकार लोक में प्रसिद्ध हैं उन सब प्रकारों से परीक्षा करने पर यदि उस वस्तु में किसी प्रकार से अन्यथा भाव निर्णीत न हो तब उसको अबाधित समझते हैं और एतादृश जो ज्ञान है उसको लोग प्रमा ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार के प्रमाज्ञान के उत्पादक चक्षु-रादि प्रमाण को प्रमाण कहते हैं और तादृश ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं, इस कारण से प्रमाणादि का सत्त्व माना जाता है और उसका अभ्युपगम भी माना जाता है। वह

प्रमाणमिति तद्विषय एव च प्रमेयमिति गीयते। तस्मादस्ति प्रमाणादीनां सत्त्वं च अभ्युपगमश्चेति। तद्धि नाभ्युपगम्यते यत्प्रतीयते एव न यथा खपुष्पादि। प्रतीतमपि वा बाध्यते यथा देहात्मत्वादि। उपाधिपुरःसरमेव वा प्रतीयते यथा कुङ्कुमारुणा तरुणीति। प्रमाणादि तु नैवं इति। न च तद्-

---

पदार्थ नहीं माना जाता है जो कि प्रतीयमान न हो, जैसे आकाश कुसुम (क्योंकि आकाश कुसुम प्रतीत नहीं होता है) अथवा जो प्रतीत होता हो और बाधित हो जाता हो उस पदार्थ को भी नहीं मानते हैं, जैसे देह में आत्मत्व ज्ञान। (सभी व्यक्ति देह को आत्मा समझते हैं किन्तु उत्तर-काल में बाध होने से देह आत्मा नहीं है) एवं उपाधि पूर्वक जो जाना जाता है उस ज्ञान को भी प्रमा नहीं कहते हैं, जैसे 'कुंकुमारुणा तरुणीति' यहाँ कुंकुम की अरुणिमा है, स्त्री की नहीं। कुंकुमरूप उपाधि के बल से स्त्री में आरुण्य आता है स्वाभाविक नहीं है। अतः उक्त प्रत्यय को सोपाधिक होने से प्रामाणिकत्व नहीं होता है। प्रमाणादि पदार्थ ऐसा नहीं है, अर्थात् प्रतीत नहीं होता हो ऐसा नहीं है किन्तु प्रतीत होता है। न तो प्रतीत होकर के देहात्म के समान बाधित होता है न कुंकुमारुणा तरुणी के समान सोपाधिक है।

पूर्वपक्ष—प्रमाणादि ज्ञान में प्रामाण्यका सन्देह होने से

गृहीतेःप्रामाण्यसंशयादर्थपर्यन्तमनवधारणमिति । प्रवृत्ति-सामर्थ्यादिना ज्ञातप्रामाण्यस्याप्यवधारणसम्भवादिति न च प्रतीतमपि प्रमाणादिकम् औत्तरकालिकबाधप्रतिसन्धानेन त्याज्यम् । आसंसारं बाधानवतारात् । तादृशबाधस्यापीदानीं विनिश्चायकाभावात् । शङ्कापिशाच्याश्चातिदौर्बल्येनाकिञ्चित्कर-त्वात् त्वयापि च व्यवहारदशायां सर्वलोकसिद्धस्यैव वर्त्मनो-ऽनुसर्तव्यत्वात् । अत एवानुमानवैरिणं चार्वाकं प्रत्यनुमा-प्रयोगं कुर्वाणो न चार्वाकैरभिधीयते तत्प्रयोगस्य लौकिकैरु-

---

विषय पर्यन्त अनिर्णीत हो जायगा ।

उत्तर—प्रवृत्तिसामर्थ्य रूप हेतु द्वारा प्रमाणादि ज्ञान में प्रामाण्य का निर्णय होता है ।

पूर्वपक्ष—प्रमाणादिक ज्ञात होने पर भी उत्तरकाल में बाध के आ जाने से छोड़ दिया जायगा ।

उत्तर—संसार पर्यन्त उसका बाध नहीं होता है । उत्तर काल में होने वाले बाध का भी अभी कोई निश्चायक प्रमाण नहीं है । शंका रूपी पिशाचिनीका तो मूल दुर्बल होने से बाधकत्व नहीं है । आपको भी व्यवहार दशा में सर्व लोक प्रसिद्ध मार्ग का ही अवलम्बन करना पड़ता है । अत एव अनुमान प्रमाण को नहीं मानने वाले चार्वाक के प्रति अनुमान प्रयोग करते हुए आपको चार्वाक से उपा-लम्भ नहीं मिलता है क्योंकि अनुमान प्रमाण को लोगों ने

पगमात् वाद्यनुमतत्वस्यादोषत्वात् प्रकृतव्यवहारदशायां लौकिकं पन्थानं जहत् उपेक्षणीय एव भवति। नापि प्रपञ्चमिथ्यात्वावष्टम्भेन प्रमाणादेरसत्त्वाभ्युपगमः प्रपञ्चमिथ्यात्वे प्रमाणाभावात्। न हि प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिः न हि तन्मिथ्यात्वे प्रत्यक्षमस्ति। नाप्यनुमानं प्रत्यक्षबाधात् नाप्यागमः विरोधिप्रत्यक्षबाधेन प्रपञ्चमिथ्यात्वश्रुतेरेवा-

---

मान लिया है। वादी द्वारा अनुमत दोष नहीं होता है। इस व्यवहार काल में लौकिक मार्ग को छोड़ने वाला लोगों से उपेक्षित होता है। न वा प्रपंचके मिथ्यात्व बल पर प्रमाणादिका तिरस्कार कर सकते हैं। क्योंकि प्रपञ्च के मिथ्या होने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण में मिथ्यात्व तो सिद्ध हो नहीं सकता क्योंकि तादृश कोई प्रत्यक्ष नहीं है, यदि मिथ्यात्व साधक प्रत्यक्ष हो तब तो वादी प्रतिवादी में विवाद ही न हो जैसे घटादि पदार्थ चक्षुरादि प्रमाण से सिद्ध है तो इसमें किसी को विवाद नहीं होता है। न वा प्रपंच के मिथ्यात्व में अनुमान प्रणाम है। क्योंकि प्रपंच सत्यता ग्राहक प्रत्यक्ष से अनुमान का बाध हो जायगा। न वा 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि आगम प्रपंच मिथ्यात्व में प्रमाण हो सकता है क्योंकि विरोधी प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने के कारण तादृश आगम अन्यपरक है। अर्थात् जैसे यजमान और

न्यपरत्वात् । किं च प्रपञ्चमिथ्यात्वं न तावदभावप्रतियोगित्वं सिद्धसाधनात् नाप्यत्यन्तासत्त्वं न हीदं प्रमाणेनालिङ्ग्यते खपुष्पादिवत् । नापि प्राचीनैः प्रमाणादिसत्ता नाङ्गीकृतेत्यतोऽस्माकमपि तदनुपगम इति प्रपञ्चमिथ्यात्वमिति युक्तम् । अभ्युपगमबीजे सति प्राचीनानभ्युपगमस्या-

---

प्रस्तर का भेद ग्राही प्रत्यक्ष यजमानः प्रस्तर का बाधक है तो उक्त आगम सादृश्य अर्थ में लाक्षणिक हो जाता है उसी प्रकार से 'विश्व सत्यं द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्रुति संवादित भेद ग्राहक प्रत्यक्ष से "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इस श्रुति को अन्य परकत्व मानना ही उचित होगा । और भी यह प्रपंच मिथ्यात्व क्या है ? क्या अभाव प्रतियोगित्व रूप है ? यह ठीक नहीं है क्योंकि इसमें सिद्ध साधन दोष है । सिद्धसाधन स्थल में पक्षता नहीं होती क्योंकि यदि संशय पक्षता हो अथवा सिषाधयिसा पक्षता हो, दोनों ही मत में सिद्धि निश्चय विरोधी होती है । घटाद्यनधिकरण में घटाभाव रहने से अभाव प्रतियोगत्व घट में होने पर घट मिथ्या नहीं कहलाता । स्वाधिकरण में विद्यमान होने से । न वा अत्यन्त असत्व मिथ्यात्व है क्योंकि अत्यन्त असत् ख पुष्पादिक प्रमाण द्वारा ज्ञात नहीं होता है तो यदि यह प्रपंच अत्यन्त असत् हो तो प्रमाणंज्ञाप्य नहीं होगा । न वा प्राचीनों ने प्रमाण सत्ता को नहीं स्वीकार किया है इसलिये

नभ्युपगमाहेतुत्वात् । तदेतत् दिगम्बरैर्दर्शनावरणीयं तम इत्युपहस्यते । किं च प्रमाणं स्वार्थविचारे कथायां च विचारयितुः कथयितुश्चानियतोपस्थितिकमज्ञातस्य व्यवहारानङ्गत्वात् । अत एव लौकिकानां स्वार्थविचारे कथायां चाङ्गत्वात् प्रमाणादिकं तत्सत्त्वं च सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति । न तत् कथासाध्यम् । न हि तेन मय्येव प्रमा जन्यते न तु त्वयि येन तस्य प्रमाकरणत्वं त्वां प्रति साधनीयं स्यात् तस्य त्वयि

मैं भी नहीं मानता हूँ । इसलिये प्रपञ्च में मिथ्यत्व मानना ही ठीक है ऐसा कहा सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वीकार करने का कारण विद्यमान है तब प्राचीनों का अस्वीकार मात्र प्रमाणादि सत्ता के अस्वीकार में हेतु नहीं बन सकता है । इस विषय को लेकर के जैनदर्शन में यह तुमको दर्शनावरणीयतम हैं ऐसा कहकर उपहास किया है । और भी प्रमाण स्वार्थ विचार में तथा कथा में विचार करने वाले तथा कहने वाले दोनों को ही नियतोपस्थितिक है । अर्थात् दोनों के लिये बराबर है । क्योंकि अज्ञात प्रमाण कथा का अङ्ग नहीं होता है । अत एव लौकिक पुरुष के स्वार्थ विचार तथा कथा में अङ्ग होने से प्रमाण तथा प्रमाणसत्त्व सर्व तंत्र सिद्धान्त है । वह प्रमाण सत्य कथा द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता है । क्या प्रमाण मुझमें ही प्रमा का उत्पादन करता है, तुममें नहीं ? जिससे कि

मयि च समवृत्तिकत्वात् । एवं च सति प्रमाणत्वासत्त्वाभ्यु-पगमवतः तदसत्त्वाभिधानमौदासीन्याभिधानं वा नूनं विप्रलम्भकवाक्यं तथा च प्रमाणादिसत्त्वेऽपि प्रमाणं कथायां वाच्यमकथायां वेति विकल्पस्यापि क्वावकाशः तत्सत्वस्य सकलव्यवहर्त्रनुमतत्वेन तत्र प्रमाणाभिधानस्यैवानवकाशात् । किं च प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमस्तावत्विचारकथयोः प्रवृत्ति-हेतुः । तथा च तं विनैव यदि ते मन्यसे तदा परप्रबोधहेतुभूतं वाग् व्यवहारमन्तरेणापि परप्रबोधमिच्छ तथा च विरमय वाग्व्यवहारादपीत्यलमतिपीडनया ॥

प्रमाण में प्रमाणत्व तुम्हारे लिये सिद्ध किया जाय । प्रमाण तो तुम्हारे तथा मेरे लिये समान है । ऐसा होने से प्रमाण सत्ता नहीं मानने वाले के प्रमाणासत्व को अभि-धान अथवा उदासीनता का कथन निश्चित विप्रलम्भक का वाक्य है । तब प्रमाणादि सत्ता में भी प्रमाण का कथन किसी कथा में कहा जायगा कि कथा से अतिरिक्त स्थल में । इस विकल्प का भी अवकाश कहाँ ? प्रमाण सत्ता तो सकल व्यवहारियों से अनुमत होने के कारण प्रमाण में प्रमाण का कथन अनवकाशित होता है । और प्रमाण सत्ता का स्वीकार विचार तथा कथा में प्रवर्तक है । तब यदि प्रमाण के बिना विचार को तथा कथा को मानते हो तो अन्यदीय ज्ञान के कारणीभूत जो वाग्–व्यवहार उसके

नन्वियमपि प्रतिबन्ध्युपायव्यतिरेके फलं भवतीत्यभ्युपगम्य वादिभ्यां प्रवर्तितायां कथायां त्वया वाच्या, अन्यथा प्रवर्तितायां वा । नाद्यः स्वयमपि तथोपगमेन तस्यामुपायव्युत्पादनानौचित्यात् । नापरः न्यायमते जगति तादृश्यायाः कथाया एवासम्भवात् । न ह्युपायासत्त्वं तदौदास्यं वा समाश्रित्य वादी वादिनौ वा कथां प्रवर्तयत इति । न्यायमतमिति चेत् । हन्त तर्हि त्वयापि नैयायिकेषु यद्दूषणं दीयते तत् तदङ्गत्वाभ्युपगमप्रवर्तितायां कथायाम् अथ प्रमाणसत्त्वाभ्युपगमाङ्गिकायाम् । नाद्यः तत्र तदभिधानानौचित्यात् स्वयमेव नैयायि-

---

बिना भी परप्रबोध को मान लो । वाग्व्यवहार से भी विरत हो जाओ । इस विषय पर इसके आगे ज्यादा विचार निरर्थक है ।

पूर्व पक्ष—उपाय के अभाव में प्रतिबन्धी फलरूप होता है यह मान कर के वादिद्वय से प्रवर्तित कथा में आप कहोगे अथवा प्रकारान्तर से प्रवर्तित कथा में ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं जब आपने ऐसा मान लिया तब उस कथा में उपाय का कथन अनुचित होगा । द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि न्याय के मत में ऐसी कोई कथा ही नहीं है । उपाय को न मानकर के अथवा उपाय में उदासीनता का अवलम्बन कर के वादी या वादी द्वय कथा को नहीं चलाते हैं । न्यायमत ऐसा है, ऐसा कहो तो आप

केन प्रमाणादेरनङ्गत्वोपगमात् । नान्त्यः त्वन्मते तादृश्यायाः कथाया एवासम्भवात् तस्मात् प्रमाणाद्यनभ्युपगमे कथैव न सम्भवति उन्मत्तकेलिप्रसङ्गात् इत्येव स्यात् ॥

नव्यास्तु प्रमाणस्य हि सत्त्वं नेत्यभ्युपगच्छन् प्रमाणेन कथं दूषयेत् नेति । नाभ्युपैमि किन्तु तत्रौदासीन्येन वर्त इति चेन्न । प्रत्यक्षखण्डनाय त्वया प्रमाणस्याहरणात् औदास्ये च तदसम्भवात् । न हि तत्रोदास्ते चाश्रयते चेति सम्भवति

भी जो नैयायिक को दोष दोगे वह प्रमाण के अनभ्युपगम पूर्वक कथा में अथवा प्रमाणसत्वाभ्युपगम पूर्वक प्रवर्तित कथा में ? इसमें प्रथम विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि उस विषय की चर्चा निरर्थक है । नैयायिक ने स्वयमेव यहां प्रमाण को तादृश कथा में अङ्ग नहीं माना है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि आपके मत में एतादृश कथा असंभवित हैं । इस कारण से प्रमाणादि के अस्वीकार वादी के मत में कथा ही नहीं चल सकेगी । उन्मत्त व्यवहारवत् सब अव्यवस्थित हो जायगा ।

खण्डनोद्धारकर्ता प्राचीन मत से प्रमाणादि को व्यवस्थित करके अब नवीन के मत से निराकरण करते हैं । "नव्यास्तु" इत्यादि प्रमाण की सत्ता नहीं है ऐसा स्वीकार करके पुनः प्रमाण द्वारा ही किस प्रकार से खण्डन करते हैं ? मैं प्रमाण सत्ता तो नहीं मानता हूं किन्तु उसमें

तस्मादौदास्याभिधानम् असत्त्वाभिधानं च विप्रलम्भक-वाक्यमिति । सांव्यवहारिकेन प्रमाणेन कथयामि न तु पारमार्थिकीमपि सत्तामभ्युपैमि शेषे बाधोदयादिति चेत् । किमिदं सांव्यवहारिकत्वम् । अविचारितसुन्दरत्वमिति चेत् । तर्हि तदबाधकमेव प्रमाणम् । न हि बाध्येन किञ्चिद्बाध्यते किन्त्वबाध्येनैव । सर्वमेव बाधकं बाध्यम् उभयसिद्धबाध्या-

---

उदासीनता से व्यवहार करता हूँ, यह कहना भी ठीक नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण के खण्डन करने के लिये आप प्रमाण का ग्रहण करते हैं तब उसमें उदासीनता कैसे बनेगी ? उदासीनता भी रखते हैं और उसका ग्रहण भी करते हैं यह दोनों नहीं बन सकता है, इसलिये उदासीनता का अवलम्बन और असत्त्व का कथन वंचक के समान होता है ।

शंका—मैं सांव्यवहारिक प्रमाण से कथा करता हूँ न कि पारमर्थिकी प्रमाणादि सत्ता को मानता हूँ क्योंकि अन्त में तत्त्व ज्ञानोत्तर काल में प्रमाणादि का बाध हो जाता है ।

समाधान—यह सांव्यवहारिकत्व क्या है ?

शंका—अविचारित सुन्दरता विचार करने पर बाधित हो जाती हो । आपात मनोरम हो उसको सांव्यवहारिक कहा जाता है ।

समाधान—तब तो अन्त में बाधित होने वाला प्रमाण

विशेषादिति चेत् । इदमप्यनुमानं वाध्यम् अवाध्यं वा इत्यु-भयतः पाशारज्जुः । त्वत्कल्पितानि प्रमाणानि त्वत्कल्पि-तैरेव दूषणैरुपसृष्टानि विलीयन्ते एवं दूषणान्यपि सुन्दोपसुन्द-

---

बाधक नहीं होगा क्योंकि जो वस्तुतः स्वयं बाधित है वह दूसरे का बाधक कैसे होगा ? अवाध से ही बाध्य होता है ।

शंका–जो कोई वाधक है वह सभी वाध्य होता है उभयमत सिद्ध बाध्य के समान । अर्थात् जैसे शुक्तिका में रजत उभयमत सिद्ध वाध्य है, उस रजत के तुल्य यह प्रमाणादिक हैं अतः यह भी बाध्य है ।

समाधान–यह जो आपने अनुमान बनाया है जिसके द्वारा प्रमाणादि सभी पदार्थ में वाध्यत्व को सिद्ध करते हैं वह अनुमान स्वयं वाध्य है अथवा अबाध्य है ? यदि प्रथम पक्ष कहें तो वाधित होने से यह किसी का बाधक नहीं होगा क्योंकि जो स्वयं बाध्य है सो वाधक कैसे बनेगा ? यदि द्वितीय पक्ष मानें तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृत अनुमान अबाध्य हो गया । आप तो सभी वाधक का बाध्यत्व सिद्ध करते हैं तो आपको प्रतिज्ञा हानि दोष होता है इस प्रकार से 'उभयतः पाशारज्जुः' इस न्याय विषयता का अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं ।

शंका–नैयायिक से परिकल्पित जो प्रमाण है वह नैया-

वदिति ब्रूम इति चेत् । एवं हि सर्वाणि प्रमाणानि त्वद्रीत्या बाध्यानीति त्वद्वचनार्थः सोपि व्याहतः तस्यैवाबाध्यत्वात् बाध्यत्वे चार्थासिद्धेः किं नश्छिन्नम् उपात्तस्य साधनस्य असाधनत्वे उपादातुरेव निग्रहात् । एतत् सर्वं बाध्यमेव शेषे

यिक परिकल्पित दूषरण जाल से युक्त होने के काररण नष्ट हो जाता है और सुन्दोपसुन्द की तरह से दोष भी उसी दोष जाल से नष्ट हो जाता है ऐसा मैं कहता हूं ।

समाधान—ऐसा मानें तब तो 'सर्वाणि प्रमाणानि त्वद्रीत्या बाध्यानि' यह जो आपका वचन है सो भी व्याहत हो जाता है, क्योंकि इस वचन को अबाध्य होने से । यदि इस वचन को भी बाधित मानें तब तो आपका अभिप्राय ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सभी पदार्थ में बाध्यता अबाधित से होगी । और इस वचन को आपने बाध्य मान लिया ।

शंका—मेरा क्या जाता है, यहां पूर्व पक्षी का अभिप्राय यह है कि मैं सभी को अनिर्वचनीय मानता हूं तो मेरा यह वचन भी बाध्य हो जाय तो क्या क्षति है ।

समाधान—जो हेतु साध्य की सिद्धि करने के लिये लिया जाता है वह कदाचित् साध्य साधक नहीं हो सका तो उस हेतु का आश्रय लेने वाले व्यक्ति निगृहीत माने जाते हैं । यदि आपका साधन साध्यसाधक नहीं बना तो आप निगृ-

बाधोदयादिति चेन्न। आसंसारं तदनुदयात्। व्यवहार-दशोत्तरं बाधो भविष्यतीति चेन्न। आसंसारं व्यवहारदशाया एव सत्त्वात् तदुदोच्यापि दशा भविष्यतीत्यत्र प्रमाणाभावात्। उपनिषदां च तत्प्रमाणत्वाभिमतानाम् त्वया प्रामाण्याभावस्य

हीत माने जाते हैं। यदि आपका साधन साध्य साधक नहीं बना तो आप निगृहीत हो जाते हैं।

शंका–ब्रह्म व्यतिरिक्त सभी प्रमाण प्रमेयादिक पदार्थ बाध्य ही हैं, क्योंकि शेष में (अन्त में) बाध के आजाने से।

समाधान–जहां तक संसार है वहां तक तो बाध नहीं होता है।

शंका–व्यवहारकाल के बाद में बाध आयेगा अर्थात् व्यवहारोत्तर काल में सभी पदार्थ बाधित हो जायेगें।

समाधान–जहां तक संसार है तावत्पर्यन्त तो व्यवहार दशा ही है, संसार के बाद भी कोई दशा होगी–इसमें कोई प्रमाण नहीं है "तत्र माता अमाता भवति पिता अपिता भवति वेदा अवेदा भवन्ति" इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि संसार के बाद कोई दशा नहीं होती है तब जो आप कहते हैं कि व्यवहारदशोत्तर काल में सभी पदार्थ का बाध हो जाता है सो ठीक नहीं हैं। आपके मत में प्रमाण-त्वेन अभिमत है उपनिषद्, उसको तो आप प्रामाणिक नहीं मानते हैं और मैं उस उपनिषद् को अन्य परक मानता हूं

मया चान्यपरत्वस्योपगमात् शङ्कामात्रस्य च दौर्बल्येनासाधकत्वात्। व्यवहारदशायां तावत् उपनिषदेव स्वप्रकाशशुद्धबुद्धस्वभावे ब्रह्मणि दशान्तरभूते प्रमाणम् एतद्दशात्यये तु तदेव स्वस्मिन् स्वप्रकाशत्वादिति चेत्। दशान्तरे तस्याः कुतो न प्रामाण्यम् अङ्गवैकल्याद्वा अङ्गिवैकल्याद्वा। नो भौ प्रागिव तदानीमपि बौद्धु र्योग्यताद्यवगतेरुपनिषदां च सत्त्वात् उपनिषज्जन्यबोधो हि वृत्तिलक्षणः सचानिर्वचनीयानाद्यविद्याद्वयमहिम्ना प्रादुर्भवति सारस्वत इव पवनोद्भूतस्य वीचिनि-

---

अतः शंका मात्र दुर्बल होने से असाधक है।

शंका—व्यवहार दशा में सर्वबाध के अवधिभूत शुद्ध स्वप्रकाशात्मक ब्रह्म में उपनिषद् ही प्रमाण है और व्यवहार दशा के बाद में तो स्वप्रकाशात्मक ब्रह्म स्वमेय स्व में प्रमाण है।

समाधान—दशान्तर में अर्थात् अद्वैतावस्था में उपनिषदों को प्रमाण क्यों नहीं मानते हैं ? क्या उस समय में अङ्ग जो योग्यतादिक वह नहीं है ? अथवा अङ्गी उपनिषद ही नहीं है ? इसमें दोनों ही पक्ष अयुक्त हैं क्योंकि संसार दशा के समान अद्वैत दशा में भी बोद्धा पुरुष के पास योग्यतादिक सामग्री विद्यमान है और वेद भी बैठा है अर्थात् अङ्ग और अङ्गी दोनों बैठे हैं, तब उपनिषद् को प्रामाण्य नहीं मानना ठीक नहीं है।

चयः। तदत्यये तु विलीयते तस्यैव निवातस्तिमितस्येवेति चेत्। भवेदेवं यदि ब्रह्मभिन्नो बोद्धा तदा न स्यात् स पारमार्थिको नास्त्येवेति चेन्न। साधयिष्यन्ते हि नानात्मानः॥

यत्तु प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वं नैयायिकेन तावत् साध्यते तत् कीदृश्यां कथायां न तावत् वैतण्डिकेन

शंका–उपनिषद् के द्वारा वृत्ति लक्षण बोध उत्पन्न होता है। अनादि अनिर्वचनीय तूला अविद्या और मूला विद्या के बल से अर्थात् तत्वमसि इत्यादि वाक्य से अविद्या बल से वृति लक्षणबोध उत्पन्न होताहै, जैसेकि जलाशयमें वायुके बल से अनेक प्रकार के जल तरंग उत्पन्न होते हैं, और अविद्या के विनाश होने से वह वृत्ति लक्षण बोध भी नष्ट हो जाता है, उस समय में ब्रह्म मात्र अवस्थित रहता है, अविद्या प्रभृति सकल द्वैत का अभाव हो जाता है। उस समय में कोई प्रमाण नहीं रहता है इसलिये वेद को भी अप्रामाण्य माना गया है। जैसे वायु के अभाव में जल की तरंग नष्ट हो जाती हैं और जल निश्चल होकर के अवस्थित रहता है।

समाधान–यह आपका कथन ठीक हो सकता है यदि ब्रह्म से भिन्न बोद्धा उस काल में न हो।

शंका–परमार्थतः उस समय में ब्रह्म से भिन्न कोई बोद्धा नहीं है।

प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमेनैव प्रवर्तितायां सिद्धसाधनापत्तेः। अथ तदनङ्गत्वाभ्युपगमेन तदङ्गत्वानङ्गत्वौदासीन्येन वा तेन प्रवर्तितायां तथासति तत्कथान्तरमपि तथैवास्तु न हि यया कथया प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वं साध्यते सा कथा

समाधान–नानात्म वाद की मैं स्थापना करूंगा।

शंका–नैयायिक प्रमाण सत्ता को जो कथा का कारण मानते हैं सो किसके साथ चलने वाली कथा में सिद्ध करेंगे ? यदि कहो कि वैतण्डिक के साथ चलने वाली कथा में सिद्ध किया जाता है, सो तो बनेगा नहीं क्योंकि वैतण्डिक प्रमाण सत्ता को नहीं मानता है तब तो प्रमाण सत्ता के स्वीकार वादी से कथा में सिद्ध करेंगे, परन्तु यह तो नहीं बन सकता है क्योंकि सिद्ध का ही साधन करने से सिद्ध साधक का दोष हो जायगा। यदि कहो कि जो प्रमाण सत्ता को कथा में अङ्ग नहीं मानते हैं उनसे चलाई हुई कथा में प्रमाण सत्ता को कथांगत्व सिद्ध करता हूँ। अथवा प्रमाण की सत्ता में जो उदासीन हैं उनसे चलाई हुई कथा में कथांगत्व की सिद्धि करता हूँ तो यह ठीक नहीं है क्योंकि साधन करने वाली कथा जैसे प्रमाण सत्ता के विना हुई उसी प्रकार से कथांतर भी प्रमाण सत्ता के विना ही चलती रहेगी। जिस कथा से प्रमाणादि सत्ताभ्युपगम को कथांगत्व की सिद्धि करेंगे वही कथा तदं-

तदङ्गत्वसिद्धौ सत्यां प्रवर्तने इति सम्भवति तदानीं साध्यस्य तदानीमेक सिद्धत्वासम्भवादिति । तत्तुच्छम् । कथा हि तावत् साधनदूषणपरवचनसन्दर्भविशेषः । न च साधनाद्यनङ्गीकारे तदौदासीने वा स तादृशो वक्तुं शक्यते तस्मात् गलेपादिकयापि कथकेन साधनदूषणे मन्तव्ये तदनुमतिं विना तन्मय्यां कथायामेव प्रवेशासम्भवात् तस्मात्तदभ्युपगममन्तरेण कथैव न सम्भवति । तदुक्तम् भाष्यकृता । "यदि नाभ्युपैति तदा उन्मत्तवदुपेक्षणीयः स्यात् ।" तर्हि तदङ्गत्वसाधिका कथा कथं तदंगत्वाभ्युपगममन्तरेण । न कथञ्चिदित्यवेहि ।

गत्व सिद्धि होने पर चलेगी । क्योंकि जो साध्य है वह साधक नहीं हो सकता है । साध्यत्व और साधकत्व युगपत् विरुद्ध है ।

यत्तु का समाधान—साधन दूषणबोधनेच्छासे प्रयुक्त जो वचन समुदाय उसी का नाम है कथा । साधनादि के अभाव में अथवा साधनादि जो उदासीन हैं एतादृश वचन विशेष को बोल ही नहीं सकता है । इसलिये गले पादुकान्याय से कथक को साधन दूषण का स्वीकार करना आवश्यक है । साधन दूषण की अनुमति के बिना साधन दूषण मयी कथा में प्रवेश ही असंभवित है । इसलिये प्रमाण सत्ता के अभ्युपगम के बिना कथा ही नहीं बन सकती है । वात्सायन भाष्यकार ने भी कहा है "यदि वैताण्डिक प्रयोजनादि के पूछने पर प्रयोजनादि को

साधनदूषणानंगीकारे तत्परवचनसन्दर्भरूपा कथैव कर्तुं न शक्यते नहि तन्नाभ्युपैति तेन च व्यवहरति इति सम्भवति तस्मात् ईदृशव्यवहर्त्रा त्वयैवानीदृशोऽभिसन्धिरपि स्वयमेव हेय इत्यलमस्माकं तदंगतासाधनप्रयासेन इत्याहुः ॥

अथावश्यकत्वाल्लाघवाच्च समयबन्ध एवास्तु कथाहेतुर्न तु तस्मिन् सति प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमोऽपि गौरवात् माध्यमिकादिकथाप्रयोगे व्यभिचाराच्चेति चेत्। स कीदृक्।

स्वीकार न करै तो वह पागल के समान उपेक्षित हो जाता है। प्रमाण सत्ता में कथांगत्व को सिद्ध करने वाली कथा किस तरह से होगी? प्रमाण सत्ता कथा का अङ्ग है यह माने बिना किसी भी प्रकार से नहीं होगी, ऐसा उत्तर समझो। यदि साधन दूषण को न मानें तो साधन दूषण बोधनेच्छया उच्चरित वचन समुदाय रूपा कथा ही नहीं कर सकते हैं, ऐसा हो नहीं सकता है। जिसको मानते तो नहीं हैं और उसको लेकर व्यवहार करते हैं, ऐसा कर्म नहीं हो सकता है। अतः ईदृश व्यवहार करने वाले आप ही हैं। और ऐसा विलक्षण अभिप्राय भी सर्वथा उपक्षेणीय है इसलिये कथा में प्रमाणादि सत्ता अङ्ग है ऐसा प्रयास भी निरर्थक है।

शंका—आवश्यक होने से तथा लाघव होता है इसलिये समय बन्ध को ही कथा में कारणता माना जाय, नहीं तो

तथाहि वादिना प्रमाणेन तर्केण च व्यवहर्तव्यम् प्रतिवादिनापि कथाङ्गतत्त्वज्ञानविरहलिंगप्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमं निग्रहस्थानं तस्य वक्तव्यं तद्व्युत्पादने च वादिनो भंगो व्यवहर्तव्यः, तदव्युत्पादने तु प्रतिवादिन एव भंगः निरनुयोज्यानुयोगात् । यस्य च साधने परोक्तं दूषणं न लगति यद्दत्तं च दूषणम् ।

कारण रूप से समय बन्ध को मानकर पुनः प्रमाण सत्ता को भी कारणता न माना जाय, क्योंकि गौरव होता है । और माध्यमिकादि का कथा प्रयोग में व्यभिचार भी होता है । माध्यमिकादि की कथा होती है परन्तु वे लोक प्रमाण सत्ता को नहीं मानते हैं, तो वहाँ कथा रूप कार्य होता है किन्तु कारणत्वेनाभिमत प्रमाण सत्ता नहीं है ।

समाधान—समय बन्ध का क्या स्वरूप है ? जिसको आप कथा में कारण मान करके प्रमाण सत्ता को अन्यथा सिद्ध बनाते हैं । 'तथाहि' इत्यादि ग्रंथ से खाण्डनिक समय बन्ध के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं । वादी पक्ष की स्थापना करने वाले को प्रमाण तथा तर्क द्वारा व्यवहार करना चाहिये । अर्थात् प्रमाण तर्क द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करें । प्रति वादी को चाहिये कि कथांगत्वज्ञान के अभाव को बतलावे साध्याभाव साधक हेतु का उपन्यास करे, प्रतिज्ञात्यादि अन्यतम निग्रह स्थान का उद्भाव न करे । ऐसा करने पर वादी का पराजय हुआ ऐसा व्यवहार

अनुद्धारं तौ जेतृतया व्यवहर्तव्याविति । ईदृशोऽसाविति चेत् । हन्त तर्हि साधकबाधकतर्कैर्व्यवहर्तव्यम् ते च नांगीकर्तव्या इति दुर्घटम् । परपक्षस्तावत् नांगीक्रियते तथा च तमादाय तत्प्रतिषेधलक्षणो व्यवहारः क्रियते एवेति चेन्न । प्रतिषेधस्य हि तत्र धीराहार्यरूपैवांगम् प्रमाणादेरभ्युपगमरूपेऽतिविशेषात् प्रमाणादेः प्रतिषेध्यकोटिप्रविष्टस्य प्रमाणादिर्व्यं

करना । यदि प्रतिवादी दोष का उद्भाव न कर सके तो प्रतिवादी का पराजय हुआ । जिसके हेतु में परोक्त दोष न लगे तथा जो दोष दिया गया उसका उद्धार करदे उन दोनों को जेता रूप से व्यवहार किया जाय । एतादृश यह समय बन्ध है ।

उद्धार करता का समाधान—तब तो साधक बाधक तर्क से व्यवहार किया जाय और उसको माना न जाय ऐसा तो अति अशक्य है । अर्थात् जिसके द्वारा कार्य किया जाय उसको स्वीकार न किया जाय, यह कैसे बनेगा ।

शंका—नैयायिकादि के व्यवहार को नहीं मानता हूँ किन्तु पर पक्ष को लेकर के उनका प्रतिषेध लक्षण व्यवहार तो किया जाता है ।

समाधान—प्रतिषेध अर्थात् अभाव का जो ज्ञान होता है वह तो आहार्य रूप ही होगा उसी को आप अङ्ग मानोगे और प्रमाणादि अभ्युपगम रूप में अति विशेता है । यहाँ तो प्रमाण प्रतिषेध्य कोटि में प्रविष्ट हो रहा है और प्रमा-

व्यवहर्तव्यमिति स्वोपगमेन करणकोटावपि प्रवेशात् । ननु प्रमाणादेरप्यभ्युपगमो न प्रयोजको गौरवात् किन्त्वनभ्युपगमाभाव एव लाघवात् विशिष्टव्यवहारे भेदाग्रहवत् । अत

णादि द्वारा व्यवहार करना चाहिये ऐसा आप समय बन्ध के स्वरूप में प्रमाण को मानने से प्रमाण करण कोटि में भी प्रविष्ट हो जाता है तब प्रमाणादि निराकरण कैसे किया जा सकता है ?

शंका—प्रमाणादि का अभ्युपगम प्रयोजक है क्योंकि उसको प्रयोजक मानने में गौरव होता है किन्तु लाघव होने से अनभ्युपगमाभाव प्रजोक है, विशिष्ट व्यवहार में भेदाग्रहवत् । अर्थात् जैसे इदं रजतमित्यादि विशिष्ट व्यवहार स्थल में यदि इदं पुरोवर्ती द्रव्य का और रजत पदार्थ का यदि भेद ग्रह रहेगा तब अभेद व्यवहार नहीं हो सकेगा क्योंकि अभेद में भेद ग्रह प्रतिबन्धक है । अतः भेद का अग्रह कारण है और इदं का रजत का संसर्गग्रह प्रयोजक नहीं है । इसी प्रकार प्रकृत में अनभ्युपगम प्रति बन्धक है तब तदभाव को प्रयोजक मानते हैं और अभ्युपगम को प्रयोजक नहीं मानते हैं । अनभ्युपगमाभाव से ही निर्वाह हो जाता है । अतएव वैयर्थ्य होने से प्रमाणादि के असत्व को भी मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । किन्तु मध्यस्थ बुद्धि से ही व्यवहार होता है ऐसा

एव प्रमाणादेर्नासत्त्वमंगीकरणीयं वैयर्थ्यात् । किं तु मध्यस्थ-यैव धिया व्यवहार इतिब्रूम इति चेन्न । आहारभिन्ना हि या प्रमाणादेः कथाव्यवहारादिहेतुत्वधीः सैव हि सत्त्वधीः स एव चाभ्युपगमः तथा च तयाभ्युपपन्नाहमभ्युपैमीति च वदन् स्फुटमतिधृष्टोऽसीति दूरमपसर । किं च त्वदुक्तो न समयबन्धः शास्त्रसिद्धे साधनदूषणयोः सिद्धिप्रतिषिद्धि-

---

मैं कहता हूँ ।

समाधान—प्रमाणादिक कथा व्यवहार में कारण है ऐसा जो आहार्य भिन्न ज्ञान, इसी ज्ञान का नाम है प्रमाणादि सत्व ज्ञान । और यही है प्रमाणादि का अभ्युपगम । इस दशा में एतादृश ज्ञान को स्वीकार करके मैं प्रमाणादि सत्व को नहीं मानता हूँ ऐसा बोलते हुए तुम अत्यन्त धृष्ट हो, दूर हो जाओ ! अर्थात् असम्बद्ध प्रलाप करने से पण्डितों के बीच में कथा करने के योग्य नहीं हो । अतः तुमको हट जाना ही अच्छा है । और भी आपका जो यह समय बन्ध है सो शास्त्र प्रसिद्ध (स्वाभाविक) साधन दूषण में जो सिद्धि प्रतिसिद्धि है उसमें प्रयोजक नहीं है । सिद्धि व्याप्यत्व प्रतिसिद्धि व्याप्यत्व तो साधन दूषण में स्वाभाविक है, समय बन्ध तो अधिक हो जाता है । अत एव समय बन्ध को नहीं सुनने वाले जो मध्यस्थ तटस्थ व्यक्ति हैं उनको साधन दूषण का श्रवण होने पर सिद्धि

धीर्जयभंगधीश्चोत्पद्यते । किं तु यत्र शास्त्रं न जागर्ति तत्रैव समयवन्धो यथाऽनौष्ठ्यमेव वाच्यम् अप्रतिभैवोद्भाव्या अमुकदेशी समाश्रयणीय इत्यादि तत्र हि समयवन्धा-व्यप्यत्वे समयवन्धस्याधिकत्वात् । अत एव समयवन्ध-मश्रुतवतामपि तटस्थानां तत्साधनदूषणश्रवणे सिद्धिप्रतिसिद्धि

और प्रति सिद्धि बुद्धि उत्पन्न होती है और जय भंग बुद्धि भी पैदा होती है, किन्तु शास्त्र जहाँ नहीं है उस स्थल में ही समय वन्ध प्रयोजक होता है, जैसे अनोष्ठ्य वर्ण ही बोलना चाहिये केवल अप्रतिभादोष का ही उद्भावन करना चाहिये । अमुक देश वाले को ही आश्रय देना इत्यादि स्थलों में यथा 'अनौष्ठ्यम्' का अभिप्राय यह है कि किसी किसी सभा में कोई कोई अभिमानी प्रतिवादी प्रतिज्ञा करता है कि मैं अनौष्ठ्य वर्ण ही बोलूंगा अथवा अनौ-ष्ठ्य वर्ण का ही प्रयोग होना चाहिये । 'उपूपध्मानीयाना-मोष्ठौ' यह व्याकरण का नियम है ऊकार पवर्गादि वर्ण के उच्चारण को ही नियन्त्रित कर देता है । जैसे किसी अभिमानी कवि ने कहा "अमुष्यां सभायां मयैषा प्रतिज्ञा भुजंगप्रयातैर्विना वाङ् न वाच्या" यथा वा किसी सम्प्रदाय में नियम है कि दक्षिणी को अधिकारी नहीं बनाना, इनके सम स्थल में समय बन्ध कारण है, सर्वत्र समय बन्ध की कारणता नहीं है । प्रमाण तथा तर्क में साधकत्व वा

लिंगनादेव तदतिक्रमादौ जयपराजयसिद्धेः । प्रमाणतर्कयोस्तु साधकबाधकत्वे न सामयिके किन्तु स्वाभाविके एव तयोस्त-थात्वस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तत्वात् इति न तत्र समयबन्धा-पेक्षेति । नन्वस्तु प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमः कथांगम् अन्यथा व्याघातात् । तथापि प्रमाणादिसत्ता तावन्न तात्त्विकी सेत्स्यति, सर्वदा सर्वथा सर्वस्य यत्र न बाधकावतारः तद्धि तात्त्विकम् एतच्चाशक्यनिरूपणं कथाप्रवृत्तिसमये सर्वथैवाज्ञेयं तस्मात् कतिपयप्रतिपत्तृनिष्ठः कतिपयकालव्यापकोऽभ्यु-

---

बाधकत्व समय सिद्ध नहीं है किन्तु स्वाभाविक है । प्रमाण तर्क में साधकत्व वा बाधकत्व सर्वतन्त्र सिद्धान्त सिद्ध है। इसलिये प्रमाण तर्क के विषय में समय बन्ध की अपेक्षा नहीं है ।

शंका—मान लिया जाय कि प्रमाणादि सत्ता का अभ्यु-पगम कथा का अङ्ग है, क्योंकि नहीं मानने से व्याघात दोष हो जाता है तथापि प्रमाणादि सत्ता तात्विक नहीं है क्योंकि जिसमें सर्वदा सर्वथा सभी को बाधकता न आवे वह पदार्थ ही तात्विक कहाता है, इसका निरूपण असर्वज्ञ से अशक्य है क्योंकि असर्वज्ञ व्यक्ति सर्व देश सर्व कालादिक को नहीं जान सकता है और कथा की प्रवृत्ति के समय में तो सर्वथैव अज्ञेय है । इसलिये कतिपय प्रतिपत्ता में रहने वाला कतिपय काल का व्यापक जो अभ्युपगम

पगमो लौकिकव्यवहारहेतुः स एव च कथांगमपि तथा च सांव्यवहारिकीं प्रमाणादिसत्तामभ्युपेत्य विचारारम्भ इति सिद्धं नः समीहितमिति चेन्न। प्रमाणशरीरमेव दुरवधारणम् तस्य प्रामाण्यं वा येनैवं मन्यसे। नाद्यः धूमादेः सर्वैरेव धूमत्वादिनावधारणात् प्रमाणत्वेन तदवधारणं न शक्यमिति चेन्न। प्रमात्वस्य प्रवृत्तिसामर्थ्यादिना शक्यावधारणत्वेन तदुपहित-

---

लौकिक व्यवहार का हेतु है और वही कथा में अङ्ग है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सांव्यवहारिक प्रमाणादि सत्ता को मानकर के विचार का आरम्भ करना चाहिये, इस से हमारा इष्ट सिद्ध होता है।

समाधान—आपके पूर्व पक्ष का क्या अभिप्राय है ? क्या प्रमाण का जो शरीर है उसका अवधारण नहीं हो सकता ? अथवा प्रमाण घटक जो प्रामाण्यतदेक देश उसका अवधारण नहीं हो सकता है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान्' इति अनुमिति में प्रमाण है धूम, तद्विषयक धूमत्व रूप से सब को निश्चय होता ही है। नहीं तो कहो कि उस धूमादि प्रमाण का प्रमाणत्व रूप से निश्चय तो अशक्य ही है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जब प्रवृत्ति सामर्थ्य से प्रमात्व का निश्चय होता है तब प्रमात्वोपहित प्रामाण्य का भी निर्णय हो ही जायगा।

प्रमाणत्वस्यापि शक्यावधारणत्वात् । विषयिणि संशयात् विषयेऽपि प्रमाणादौ सर्वत्र संशयः स्यादिति ब्रूम इति चेत् ? न हि विषयिणो ज्ञानत्वेनापि घटविषयत्वेनापि तस्य घटत्वप्रकारकत्वसंशयः । न हि अजानन् जानामीति प्रत्येति । नापि घटं जानन् घटं जानामीत्यनुव्यवसायाकारनिरस्त एवास्यान्यथाभावः । नापि गृहीतेः प्रामाण्यसंशयात् गृहीतेऽप्यामूलं संशयः । न हि ज्ञाने प्रामाण्यसंशयो भवत्येवेति

शंका—जब विषयी ज्ञान में सन्देह होगा तब प्रमाणादि रूप विषय में भी सर्वत्र सन्देह हो जायगा, क्योंकि ज्ञान-संशय विषयसंशय का प्रयोजक है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

समाधान—विषयी ज्ञान में ज्ञानत्व रूप से घट विषयकत्व रूप से घटत्व प्रकारक सन्देह नहीं होता है । किसी वस्तु को नहीं जानने वाला व्यक्ति, जानता हूँ ऐसा नहीं समझता है । न वा घट को जानता हुवा घट को नहीं जानता हूँ ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता है, क्योंकि घट ज्ञान के वाद 'घटमहं जानामि' ऐसा जो अनुव्यवसाय ज्ञान है उससे घट ज्ञान का जो अन्यथा भाव अर्थात् संशयादिक सो सब निरस्त हो जाता है ।

शंका—गृहीति अर्थात् ज्ञान मैं प्रामाण्य का सन्देह होने से गृहीत अर्थात् विषय उसमें मूल पर्यन्त संशय हो जायगा ।

समाधान—कोई नियम नहीं है कि ज्ञान में प्रामाण्य

नियमः तज्ज्ञानस्याज्ञानेन वा कोट्यस्मरणेन वोत्कटविषया-न्तरसञ्चारेण वा तत्संशयानुत्पत्तेरपि सम्भवात् । तस्मात् प्रमाणसत्त्वावलम्बनापि धीः तन्निश्चयरूपा तावदुत्पन्ना सा चागृहीतप्रामाण्या सन्दिग्धप्रामाण्या सती प्रमाणानि दर्शयन्ती प्रमाणादिसत्त्वे प्रमाणमिति । अग्रेतनेन विचारेण प्रमाणादयो बाध्या भविष्यन्तीति शंकया नेदानीमप्यभ्युपेयत इति चेत् ।

का सन्देह होता ही है, घटादिज्ञान में घट विषयक अज्ञान से अथवा कोटि के अस्मरण से प्रबल विषयान्तर के संचार से सन्देहोत्पत्ति का अभाव हो सकता है। अतः प्रमाण सत्व को अवलंबन करने वाली वुद्धि प्रमाण सत्व की निश्चय रूपा उत्पन्न होती है और वह गृहीत प्रामाण्यवाली और असन्दिग्ध प्रामाण्या होकर के प्रमाण रूप विषय का प्रकाशन करती हुई प्रमाण की सत्ता में प्रमाण होती है ।

शंका—उत्तर काल में आने वाला जो विचार उसमें प्रमाणादिक बाधित हो जायगा ऐसी शंका से अप्रतिरुद्ध होने के कारण से वर्तमान काल में भी प्रमाणादिक को हम लोग नहीं मानते हैं।

समाधान—भविष्यत् बाध विषयक शंका को बाधकत्व नहीं होता है ऐसा मानने से अति प्रसंग होगा ।

शंका—अति प्रसंग नहीं होता है क्योंकि सभी पदार्थ ब्रह्म व्यतिरिक्त बाध्य ही है ।

न हि भविष्यतो बाधकस्य शंकापि बाधिका अतिप्रसंगात् । नातिप्रसंगः सर्वमेव हि बाध्यमेवेति चेन्न । तर्हि सर्वं बाध्यम् सर्वबाधकस्यैव वा बाध्यत्वात् तस्मात् सर्वं बाध्यमित्यादिकं वाक्यम् नानुप्रतिपत्तेरङ्गम् स्वक्रियास्ववचनस्वज्ञानादिव्याघातग्रस्तत्वेन बाधितार्थकतया योग्यताज्ञानविरहादिति ॥

समाधान—तब तो सभी बाध्य है अथवा सभी बाधक को बाध्य होने से, अतः 'सर्वं बाध्यम्' इत्यादि जो वाक्य है वह स्वोत्तर काल में होने वाला जो ज्ञान उसकी उत्पत्ति में कारण नहीं है । क्योंकि स्वक्रिया स्ववचन स्वज्ञानादि व्याघात रूप दोष से ग्रस्त होने से तथा बाधितार्थक होने से योग्यता ज्ञान के अभाव होने से ।

शंका—इन सब बाधकों के द्वारा प्रमाणादि सत्त्वाभ्युपगम को कथा के प्रति कारणता की सिद्धि करेंगे किसी कथा में ही, क्योंकि अकथ रूप वादी प्रतिवादी का वचन समुदाय हो नहीं सकता है, तब तो प्रकृत कथा की तरह दूसरी भी कथा प्रमाणादि सत्त्वाभ्युपगम के बिना ही होवे ।

समाधान—कथा से पूर्वकाल में ही स्वार्थ प्रमाण से पूर्वोक्त व्याघातादि की सहायता से सहकृत होकर के तुमको उत्पन्न होता है उसी से प्रमाणादि सत्ता का अभ्युपगम सिद्ध होता है, अर्थात् व्याघातादि दोष के सहकार से कथा के पूर्व काल में ही प्रमाणादिक में कथा कारणत्व सिद्ध होता

नन्वेभिरपि बाधकैः प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वं साधनीयम् कथायामेव न ह्यकथाभूतो वादिनोर्वचनसन्दर्भः सम्भवति तथा चैतत्कथावत् कथान्तरमपि प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमं विनैवास्तु इति चेन्न । कथातः पूर्वमेव स्वार्थप्रमाणनोक्त्या ज्ञाता-दिसहायेन त्वय्यवतीर्णेन त्वयि तदङ्गत्वसिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात् । नन्वेवं प्रमाणादिसत्तायामपि तद्धीः प्रमाणम् एवमुत्तरत्रापि इति धीधारोपगमेनाऽनवस्था स्यात् । तदनभ्युपगमे च मूलपर्य-

---

है, क्योंकि कारण के बिना कार्य कथमपि नहीं हो सकता है। अन्यथा तैलार्थी नियमतः तिलोपादान नहीं करेगा।

शंका–प्रमाण सत्ता में तज्ज्ञान को कारणता मानेंगे एवं ज्ञान में भी प्रमाण जिज्ञासा होने से ज्ञानान्तर को कारण मानेंगे, इस प्रकार से तो परम्परा का अनुसरण करने से अनवस्था होगी, कदाचित् परम्परा न मानो तब तो मूल पर्यन्त प्रमाण की असिद्धि हो जायगी।

समाधान–अविरल रूप से ज्ञान ज्ञान का ज्ञान इस प्रकार से ज्ञान की धारा को मैं नहीं मानता हूँ जिससे कि अनवस्था हो, किन्तु कदाचित् कोई ज्ञान अनु व्यवसाय ज्ञान से ज्ञान होता है, अन्तिम ज्ञान तो सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष से अथवा योगज धर्म संनिकर्ष से जाना जाता है इसलिये अनवस्था दोष नहीं होता है। यदि अप्रामाणिक ज्ञान का अनन्त प्रवाह होता तब अनवस्था होती, और प्रमाण सत्ता

न्तमसिद्धिः स्यादिति चेन्न । न ह्यविरललग्नवित्तितद्वित्तिधारोपगम्यते येनानवस्था स्यात् किं तु काचिद्वित्तिरनुव्यवसीयते शेषा तु सामान्यलक्षणया योगजधर्म्मेण वा ज्ञायते इति सर्वा ज्ञायते न वानवस्थेति प्रमाणादिसत्ता त्वया कथाङ्गत्वेनाभ्युपेता सा च स्वरूपसत्ता न तु बुद्धिसिद्धिधाऽतो न बुद्धिमात्रपरिशेषः ।।

अथ यथा त्वन्मते घटादेस्तज्ज्ञानस्य च सत्ताऽविशेषेऽपि

को तो आपने भी स्वीकार कर लिया है जो प्रमाण सत्ता कथा का कारण है । यह प्रमाणसत्ता स्वरूपतः कारण है न तु बुद्धि सिद्ध (ज्ञायमान) होकर के कारण नहीं है । इसलिये ज्ञान मात्र का परीशेष नहीं होता है अर्थात् अनवस्था प्रसंग नहीं होता है ।

शंका—जिस प्रकार से न्याय के मत से ज्ञान तथा घट विषय में सत्ता समान है अर्थात् विषय विषयी दोनों सत् हैं फिर भी ज्ञान ही व्यवहार का उपपादक होता है इसी प्रकार से मेरे मत में घट तथा घटज्ञान दोनों असत् हैं किन्तु असत् ज्ञान ही व्यवहार को चलाता है, व्यवहार भी आविद्यक ही है, व्यवहार सत् कारण की अपेक्षा नहीं करता है, सभी प्रमेय ब्रह्म का विवर्त हैं ।

समाधान—तब तो व्यवहार को नहीं सिद्ध कीजिये, सर्वदा सर्वत्र असत्त्वं को समान होने से । यदि ऐसा कहो कि अलब्धात्मक कार्य सलब्धात्मक किया जाता हैं, तब तो

ज्ञानमेव व्यवहारकं तथा मन्मते तयोरसत्ताविशेषेऽप्यसदेव ज्ञानं व्यवहारकं व्यवहारोऽप्याविद्यक एवेति न सत्कारणापेक्षी सर्वेषामपि प्रमेयाणां ब्रह्मविवर्तत्वादिति चेत्तर्हि व्यवहारो न साध्यते सर्वदाऽसत्ताविशेषात् ।

यदि चालब्धात्मकः सलब्धात्मको क्रियते इत्युच्यते तदा लब्धात्मकमेव पूर्वावधितयाऽपेक्ष्येत । असत एव पूर्वावधित्वे दण्डाद्यसत्वकालादपि घटादिः स्यादिति सर्वकार्याणामनादित्वापत्तिः । अथ यथा सामग्री आद्यक्षणेऽसत्यपि तत्काले कार्यजन्म नियमयति तथा कारणमपि तत्कालेऽसत्तत्काले कार्य

लब्धात्मक जो दण्डादिक है वह पूर्व अवधि रूप से अर्थात् कारण रूप से अपेक्षित होता है। यदि असत् दण्डादिक को ही कारण माने तब तो दण्डादिक के अभावकाल में भी घटादि कार्य की उत्पत्ति हो जायगी, इस प्रकार से सभी कार्य अनादि हो जायगा। जैसे आकाशादि पदार्थ कारणापेक्ष नहीं होने से अनादि है उसी प्रकार से घटादिक कार्य दण्डाद्यनपेक्ष होने से अनादि हो जायगा।

शंका—जैसे सामग्री कार्य के आद्यक्षण में असती रहती है फिर भी उस समय में कार्य की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार से कारण भी उस काल में असत् है फिर भी उस असत् कारण से कार्य की उत्पत्ति होगी इसमें क्या क्षति है। अभिप्राय यह है कि दण्डादि कारण समुदाय का

जन्मनियमयिष्यतीति चेन्न। भ्रान्तोऽसि। सामग्री हि तत्कालेऽसती यद्यपि तथापि पूर्वक्षणेऽसती तत्काले कार्य-जन्म नियमयतु तथा स्वभावत्वेनैव सिद्धत्वात् असत् कारणान्तु सर्वदैवासिद्धम् निःस्वभावकम् तत्केनावष्टम्भेन नियमयिष्यति

नाम है सामग्री और सामग्री में कार्य का प्रागभाव भी रहता है, यह प्रागभाव कार्य की उत्पत्ति समय में नष्ट हो जाता है तब कार्य उत्पन्न होता है। जब तक प्रागभाव रहता है तब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये पूर्व-पक्षी ने कहा है कि कार्य के आद्यसत्ताक्षण अर्थात् उत्पत्ति के समय में सामग्री का अभाव है तो जैसे सामग्री के अभाव काल में कार्योत्पादन होता है उसी प्रकार से सामग्री घटक जो दण्डादिक हैं उसके अभावकाल में भी घटादि कार्य का उत्पादन क्यों नहीं होगा ?

समाधान—तुम भ्रान्त हो, यद्यपि सामग्री (सामग्री कार्य के आद्य काल में) असती है तथापि सामग्री पूर्वक्षण में सत् है और तत्काल में असत् होकर के भी उस समय में कार्य का नियमन करे, एतादृश स्वभाव से ही वह सिद्ध हैं। कार्योत्पाद काल में कारण को रहना चाहिये, यह जो नियम है सो समवायि असमवायी कारण परक है, कपाल तथा कलाप संयोग यावत् कार्य तक रहता है और निमित्त कारण तो कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में रह करके ही

कूर्मरोमवन्निरूपाख्यत्वात् । ननु कारणं तावत् सत्ताघटितं नियतप्राक्सत्त्वरूपत्त्वात्तस्य तथा च तत् सत्ताविशिष्टे धर्मिणि वर्तते तदविशिष्टे वा । नाद्यः आत्माश्रयात् एकस्या एव

नियामक है, इसलिये सामग्री तत्काल में नहीं भी है किन्तु पूर्वक्षण वृत्ति तो है ही, ऐसा ही इस सामग्री का स्वभाव है, स्वभाव के ऊपर किसी का नियन्त्रण नहीं होता है अन्यथा जगत् का वैचित्र्य व्यवहार व्याहत हो जायगा ।

'केन शुक्लीकृता हंसाः' इत्यादि, असत् जो कारण वह तो सर्वदैव असिद्ध है निःस्वभावक है, तब किस बल से कार्य का नियमन करेगा ? कूर्मरोम के सदृश निरुपाख्य होने से । जैसे कूर्म रोमादिक असत् निरुपाख्य है तो वह कार्य का नियामक नहीं है, उसी प्रकार से असत् दण्डादिक कार्य जन्म का नियामक कैसे होगा ? कथमपि नहीं हो सकता है, अतः सत् ही कारण बन सकता है ।

शंका—कारण तो सत्ता घटित है क्योंकि कार्याव्यवहिते प्राक्कालिक सत्त्व रूप ही कारणत्व है, अब मैं वेदान्ती आप नैयायिकादि द्वैती से पूछता हूँ कि यह कारणता सत्ता विशिष्ट दण्डादिक धर्मी में रहती है अथवा सत्ता रहित धर्मी में रहती है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि सत्ता तो आपके मत में एक ही है तो उद्देश्यतावच्छेदक सत्ता

सत्ताया धर्मधर्म्युभयविशेषणत्वात् । न च प्रत्याश्रयं विभिन्नैव सत्ता सत्सदित्यनुगतव्यवहारस्याननुगताभिस्ताभिर्निर्वाहणासम्भवात् तत्सम्भवे वाऽननुगतानि स्वरूपाण्येव सदित्यनुगतव्यवहारकाणि भवन्तु कृतमननुगताभिः सत्ताभिरिति वृद्धिमिच्छतो मूलमपि नष्टमिति कारणमसदायातम् । द्वितीये तु सिद्धं नः समीहितम् । तदुक्तम् ।

और-कारणात्मक विधेय रूप सत्ता के एक होने से आत्माश्रय दोष हो जाता है, एक ही सत्ता धर्म और धर्मी उभयका विशेषण होती है । नहीं कहोगे कि प्रत्येक आश्रय में सत्ता भिन्न भिन्न ही है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से सत् सत् यह जो अनुगत व्यवहार होता है उसका निर्वाह अननुगत सत्ता से नहीं हो सकेगा । यदि अननुगत वस्तु से भी अनुगत व्यवहार को संपादन करो तो अननुगत जो व्यक्ति स्वरूप उसीसे अनुगत व्यवहार हो जायगा तब यह अनुगत सत्ता को स्वीकार करने का क्लेश क्यों किया जाय ? इस प्रकार से वृद्धि की इच्छा रखने वाले तुमको मूल (प्रथमसत्ता) भी नष्ट हो गया इस प्रकार से कारण असत् होगया ऐसा सिद्ध होता है । द्वितीय पक्ष (सत्ता रहित दंडादिक कारण है) भी ठीक नहीं है क्योंकि इससे तो हमारा ही पक्ष (असत् दण्डादिक कारण है) सिद्ध होता है । ऐसा कहा भी हैं "अन्तर्भावितसत्त्व मित्यादि' अन्त-

अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्त्वतः ।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्त्वतः ॥ इति ।
मैवं नहि सर्वेषां कारणानां महासामान्यरूपा सत्ताऽस्मा-

र्भावित सत्त्व को अर्थात् सत्ता विशिष्ट को यदि कारण मानते हैं तो तत् (वह) कारण असत् ही सिद्ध होता है। सत्ता विशिष्ट जब कारण हुआ तब विशेषण जो सत्ता है वह भी कारण बनती ही है और अनवस्था भय से सत्ता में तो सत्तान्तर (दूसरी सत्ता) को नहीं मानते हो तो असत् ही कारण हुआ, और यदि सत्ता विशिष्ट दण्ड कारण नहीं है तब तो आपने स्वयं मानलिया कि असत् दण्डादिक कारण हैं—इति ।

समाधानः— सभी कारणों में मैं महासामान्य रूप सत्ता को नहीं मानता हूं, क्योंकि हम लोग प्रतिबन्ध का भाव को भी कारण मानते हैं (जैसे दाह रूप कार्य के प्रति वह्नि लकड़ी आदि कारण है उसी प्रकार से चन्द्रमण्यभाव भी कारण है क्योंकि जब चन्द्रकान्त मणि दाह का प्रति बन्धक है तब तदभाव कारण हो जाता है। अब यदि सभी कारणों में महासामान्य को मानें सो असम्भवित है क्योंकि अभाव में जाति नही रहती है। प्रतियोगिता अनुयोगिता अन्यतरसंवन्ध से समवायाभाव रूप जाति बाधक होने से) अब महा सामान्य को लेकर और उसको विकल्प करके जो

भिरुपेयेते प्रतिबन्धकाभावादेरपि मया कारणत्वोपगमात् तथा च तामादाय विकल्प्य यत् खण्डनं तच्छलम् ॥

अथ स्वरूपसत्तामेव स्वकारणानां मन्यसे इति तामेवाहं

खण्डन करते हैं सो छल रूप है, समुचित नहीं है।

वक्ता के अभिप्राय से विपरीत अभिप्राय की कल्पना करके जो खण्डन किया जाता है, उसको छल कहा जाता है। जैसे किसी ने कहा कि "नवकम्बलकोयं नेपालादागतः" यहां नव शब्द नवीनता अर्थ में प्रयोग किया गया है किन्तु छलवादी नव शब्द को संख्यापरक होने की कल्पना करके खण्डन करता है "कुतोऽस्य नवकम्बला एक एव कम्बलो दृश्यते" नौ कम्बल कहां हैं ? एक ही तो कम्बल है। इसी प्रकार प्रकृत में वक्ता का अभिप्राय सर्वकारणानुगत महासामान्य के तात्पर्य से नहीं है किन्तु यह महा तार्किकाभिमानी ने महा सामान्य की कल्पना करके उसके ऊपर विकल्प जाल बिछाकर जो खण्डन किया है सो छल रूप होने से उपेक्षणीय है।

शंकाः– आप लोग कारण की स्वरूप सत्ता को ही मानते हैं उसी स्वरूप सत्ता का मैं विकल्प करता हूं।

समाधानः—ऐसा जो आप कहते हो सो ठीक नहीं है क्योंकि स्वरूप सत्ता से वस्तुत्व अनलीकत्व प्रमाणगम्यत्व कारण में समझा जाता है, और यह जो वस्तुत्वादि का धर्म

विकल्पयामीति ब्रूषे तदपि न। स्वरूपसत्तया हि वस्तुत्वमनलीकप्रमाणगम्यत्वं वा तच्च धर्मिविशेषणम् स्वरूपसत एवोक्तरूपस्य मया नियतपूर्ववर्तित्वलक्षणकारणत्वोपगमात् इयं च स्वरूपसत्ता धर्मिण्यन्या कारणत्वे चान्येति क्वात्माश्रयः। न चैवं कारणतायामननुगमो दोषाय इष्टत्वात् कारणता हि

है सो कारण जो दण्डादि रूप धर्मी उसी का धर्म है। उक्त रूप वस्तुत्वादि धर्म विशिष्ट स्वरूप सत् जो दण्डादिक उसीको हम सब कार्याव्यवहित नियत पूर्ववृत्तित्व लक्षण कारणत्व मानते हैं। यह धर्मीगत जो स्वरूप सत्ता है सो भिन्न है और कारणता में जो सत्ता है वह भिन्न है। इस स्थिति में आत्माश्रय दोष कैसे होगा ? (अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदकी भूत स्वरूप सत्ता तथा विधेय रूपा सत्ता एक होती तो आत्माश्रय की सम्भावना होती)। नहीं कहो कि यदि ऐसा मानते हो तो कारणता में अननुगम दोष होगा, स्वरूप सत्ता के भिन्न भिन्न होने से। तो इसका समाधान यह है कि यह अननुगम दोष इष्ट है। क्योंकि जो कारणता है सो विषय (कार्य) प्रतियोगी कारण के भेद से भिन्न भिन्न ही है एक नहीं है।

शंका:— स्वरूप सत् जो घटादिक पदार्थ है वह भी असत्‌ही है, क्योंकि घटोनास्तीत्याकारकानुभवसे घट और असत्व का सामानाधिकरण्य गृहीत होता है, यदि असत्व

विषयप्रतियोगिभेदेन भिन्नैव। ननु स्वरूपसदप्यसदेव घटो नेत्यादिधिया घटत्वासत्त्वयोः सामानाधिकरण्यानुभवादिति चेत्। घटो धर्मी कदाचित् स्वरूपसन् कदाचिच्चासन्निति ब्रूषे सर्वदैव संश्चासंश्चेति वा। नाद्यः उभयोरपि दशयोस्तस्य त्वन्मते घटत्वमविशिष्टमस्तीति उभयोरपि ततो घटार्थक्रिया

धर्म को घटादि वृति नहीं मानें तब तो असत्व को घटत्व के सामानाधिकरण्य कैसे सिद्ध होगा। अतः स्वरूप सत् भी घटादिक असत् ही है।

समाधानः— घटादि रूप जो धर्मी है सो कदाचित् स्वरूप सत् है कदाचित् असत् है ऐसा कहते हो अथवा सर्वदा ही सत् भी है और असत् भी है यह कहते हो ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों ही दशा में घट में आपके मत में घटत्व विशिष्ट घड़ा है, तब दोनों में घटार्थ क्रिया जलहरणादिक समान रूप से हो जायगी तब तो 'घटोऽसत्' यह नहीं होगा क्योंकि असत् घट से भी घटार्थ क्रिया हुई। और जिसमें जिस समय में घटार्थ क्रिया होती है, वह असत् कैसे कहावेगा ? सर्वदा सत् भी है असत भी है, ऐसा जो द्वितीय पक्ष है सोभी ठीक नहीं है क्योंकि एक समय में एक अधिकरण में सत्वासत्वरूप विरुद्ध धर्म नहीं रह सकता है क्योंकि वह दोनों परस्पर विरुद्ध वस्तु है।

शंकाः— यदि घटादिक में सत्त्व असत्त्व नहीं रहता है

तुल्यैव स्यात् तथा चासन्नित्यपि न स्यात् अर्थक्रियाकारित्वात् । नान्त्यः विरोधात् तर्हि घटो नास्तीत्यस्य कोऽर्थः घटस्याभावोऽस्तीत्येव हि नह्यसत्त्वाविशिष्टे घटे किमपि प्रमाणं प्रसरति इन्द्रियसन्निकर्षव्याप्त्यादेस्तेन सहासम्भवात् । शब्दोऽप्ययं प्रमाणविरोधी उक्तपर एवेति घटतदसत्त्वयोश्च न

तब 'घटो नास्ति' इस प्रतीतिका क्या अर्थ है ?

समाधानः– घट का अभाव है यही अर्थ है । असत्व विशिष्ट घट में कोई प्रमाण नहीं है, इन्द्रिय सन्निकर्ष तथा व्याप्ति प्रभृति प्रमाण का असत्त्व के साथ संबन्ध नहीं हो सकता है, घट तथा असत्व का धर्म धर्मी भाव नहीं, नियमतः दोनों को विरोध सहावस्थान नहीं हो सकती है ।

और भी घट तथा असत्व का जो विरोध है सो निरुपाधिक (स्वाभाविक) है क्योंकि ये दोनों परस्पर प्रतिक्षेप रूप हैं । अतः इन दोनों में प्रतियोगी अनुभाव ही है न कि धर्म धर्मी भाव है, अर्थात् घट है प्रतियोगी, असत्व है अनुयोगी, न तु घट है धर्मी तथा सत्व घट का धर्म है । अतएव अति प्राकृत गोपपत्नी भी चोर की आशंका होने पर दीपक लेकर के घर में चोर की असत्ता (चोराभाव) को जान करके निःशंक होकर सो जाती है .क्योंकि चोर की असत्ता को जानने से चोर का प्रतिक्षेप हो जाता है । यदि यह असत्व चोर का धर्म हो तव तो असत्व से चोर का

धर्मधर्मिभावः नित्यविरोधेन द्वयोः सहासम्भवात् ॥

किं च निरुपधिर्विरोधोऽनयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वात् इति प्रतियोग्यनुयोगिभाव एवानयोः न तु धर्मधर्मिभावः । अत एव गोपाङ्गना अपि स्तेनशङ्कायां प्रदीपमुपादाय तेनापवरकौ स्तेनासत्वमवेत्य निःशङ्कं शेरतेस्तेनप्रतिक्षेपात् स्तेनधर्मत्वे तु तदसत्त्वस्य तेन स्तेनाप्रतिक्षेपात् त्वमिव ता अपि कांदिशिकी भवेयुः । कथं तर्हि घटो

विरोध नहीं होगा तो आपकी तरह गोपांगना भी संदिग्ध ही हो जायगी ।

शंका—तब तो 'घटो नास्ति' यहां सामानाधिकरण्य कैसे होता है ।

समाधान—घटा भाव के असत्व का ही अनुशासन होने से । जैसे सूर्य को न देखने वाली राजकन्या में भी 'असूर्यपश्या' यह प्रयोग होता है ।

शंका—स्वरूप सत् में ही यदि घटत्व रहता है तथा उसकी सत्ता रहती है तब तो 'घटोऽभूत् घटो भविष्यति' इन दोनों स्थलों में तो भूत भविष्य घटद्वय तो इस काल में असत् है तो उसमें स्वरूप सत्ता किस प्रकार की ? और इन दोनों का व्यवहार भी कैसे होगा ?

समाधान—किसी भी प्रकार से नहीं । वर्तमान काल में घटत्वाधिकरण रूप से वह दोनों घट प्रतीयमान ही

नास्तीति समानाधिकरणप्रयोगः घटाभावे तस्यैव साधुत्वानुशासनात् यथा सूर्यस्याप्यद्रष्टरि असूर्यम्पश्येति ।

ननु यदि चासतो घटत्वसत्ता तदा घटोऽभूत् भविष्यतीत्यादौ भूतभविष्यतोरिदानीमसतार्घटयोः कथं सा । न कथञ्चित् न हिदानीं घटत्ववत्ता तयोः प्रतीयते किं तु स्वकाले घटत्ववतोस्तयोरिदानीं तत्कालस्पर्शेन कालास्पर्शेन वा तद्वत्तया प्रतीयमानयोरिदानीं प्रागभावप्रध्वंसौ परं प्रतीयेते अभावधियः प्रतियोगितावच्छेदकधर्मप्रकारकप्रतियोगिधीसाध्यत्वनियमात् ।

होते हैं । किन्तु भूतादिकाल के सम्बन्ध से अथवा वर्तमान काल के असम्बन्धमात्र से घटत्वाधिकरणरूपेण प्रतीयमान उन दोनों घटों का प्रागभाव प्रध्वंस ही केवल प्रतीयमान होता है, क्योंकि अभाव ज्ञान प्रतियोगितावच्छेदक धर्म प्रकारक ज्ञानाधीन होता है ।

शंका—प्रत्यक्ष जो प्रागभाव और ध्वंस उसको योग्यानुपलब्धि से जानेंगे सो कैसे होगा ? क्योंकि आहार्य रूप प्रतियोगी की उपलब्धि की सर्वत्र सत्ता होने का नियम है ।

समाधान—प्रतियोगी के सत्व से प्रसंजित उपलब्धि को ही मैं योग्यानुपलब्धि कहता हूं, स्वीकार करता हूँ । और भी देखिये जो स्वरूपतः सिद्ध नहीं है और बुद्धि से सिद्ध है, एतादृश पदार्थ में कारणता नहीं होती है, क्योंकि मनोरथ सिद्ध मोदकादि भक्षण से तथा वास्तविक मोदक भक्षण से

नन्वयमभावः प्रत्यक्षो योग्यानुपलब्ध्या ग्राह्यः सा चेह नास्ति आहाररूपायाः प्रतियोग्युपलब्धेः सर्वत्र सत्त्वनियमादिति चेन्न। प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितताया उपलब्धेरभावस्य मयानुपलब्धित्वेनोपगमादिति दिक् ॥

अपि च बुद्धिसिद्धस्यापि स्वरूपासतः कारणत्वमनुपपन्नम् मानोरथिके वास्तवे च मोदकादिभक्षणे तृप्त्यादितौल्यं स्यात्। तदुक्तं स्थापकेन।

आशामोदकतृप्ता ये ये चोपार्जितमोदकाः।
रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते ॥

यत्तु मानोरथिकेनापि मोदकादिना तृप्त्यादिकमसद्रूपं जन्यत एवेति। तत्तुच्छम्। कारणाधीनं यस्योत्तरसमये स्वरूपं तस्यैव कार्यत्वात् अन्यथा वेमा घटस्य दण्डः पटस्य

तृप्ति प्रभृति कार्य की समानता हो जायगी। स्थापक ने कहा भी है, जो व्यक्ति आशा मोदक से तृप्त है और जो उपार्जित मोदक है (जिसने वास्तविक मोदक भक्षण किया है) इन दोनों की तृप्ति प्रभृति कार्य में समानता हो जायगी। जिस किसी ने यह मान लिया है कि मनोरथ सिद्ध मोदक के भक्षण से भी तृप्ति प्रभृति कार्य सद्रूप ही होता है, तो यह तो सर्वथा ही ठीक नहीं है क्योंकि कारण के उत्तर काल में कारण के अधीन स्वरूप प्राप्ति होती है उसी को कार्य कहते हैं। अन्यथा यदि ऐसा

निगृहीतत्वं जयस्य सत् साधनप्रयोक्तृ भङ्गस्य कारणं स्यादिति सर्वं व्यत्यस्तमापद्येतेति साधुपाण्डित्यम्। न च जयभङ्गौ समयबन्धो नियमयिष्यतीति वाच्यम्। दृढीभूतं हि जयभङ्गकारणत्वं समयबन्ध आलम्बिष्यते तत्कारणत्वदृढिमैव तु न स्यादसतोऽपि कारणत्वात् तस्मात् कार्यपूर्वसमये नियमतः स्वरूपसत् कारणम्। तदुक्तमाचार्यैः। "पूर्वभावो हि

न मानें तो वेमा घट का कारण हो जायगा और दण्ड पट का कारण हो जायगा, निगृहीतत्व जय का कारण हो जायगा, सत्साधन का प्रयोग भंग (पराजय) का कारण हो जायगा, तब इस प्रकार कारण भाव सर्वत्र अस्तव्यस्त हो जायगा, किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। प्रत्युत तेल का चाहने वाला तिल का ही उपादान करता है दुग्धार्थी गाय को ही पालता है, न कि बैल को पालता है।

शंका—जय पराजय का नियन्त्रण तो समयबन्ध से ही होगा ?

समाधान—दृढीभूत जय पराजय की कारणता का समयबन्ध में अवलंबन करेंगे, यह तो कारणता की ही महिमा है, न कि असत् की कारणता मानने से होगा। इसलिये कार्य के अव्यवहित पूर्व समय में जो नियमतः स्वरूप सत् है वही कारण होता है यही कारण का लक्षण है। आचार्य उदयन ने भी कहा है कि पूर्व भाव हेतुत्व है अर्थात् कार्य

हेतुत्वंमीयते येन केनचित्" इति । त्वमप्यात्थ "पूर्वसम्बन्धो हेतुत्वमिति । पूर्वसम्बन्धनियमश्च स्वरूपासतो न सम्भवति तस्मात् पूर्व सम्बन्ध नियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ । हेतुतत्त्व-वहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथेति यत् त्वयोक्तम् तत् सर्वथैवानु-पपन्नम् तथाहि नियमतः प्राक्समयसम्बन्धः कारणत्वम् स च खपुष्पादेः स्वरूपासतो न सम्भवति किं तु प्राक् स्वरूपसतः ईदृशो मत्पक्षः त्वत्पक्षोऽप्ययमेव तदा शान्तं विवादेन विप्लुतं

के नियमतः पूर्ववृत्ति हो तथा स्वरूप सत् होता है । आप (वेदान्ती) भी कहते हो कि पूर्व सम्बन्ध का नाम है कारण । पूर्व सम्बन्ध नियम स्वरूपतः असत् पदार्थ का नहीं होता है, अन्यथा गगन कुसुम भी किसी का कारण हो जायगा । पूर्व सम्बन्ध नियमात्मक कारणता जब दोनों के मत में समान है तब कारणता के शरीर से बहिर्भूत जो सत्त्व असत्त्व कथा सो निरर्थक है, ऐसा आपने जो कहा है सो सर्वथा अनुपपन्न है । तथा हि नियमतः कार्य पूर्व कालिक सम्बन्ध रूप कारणत्व सत् को ही हो सकता है । न कि असत् आकाश पुष्पादि में हो सकता है । किन्तु पूर्व कालिक स्वरूप सत् में ही होगा यह न्याय मत है । यदि यही मत वेदान्ती का भी हो तब तो विवाद ही नहीं रहा । खंडन भी गया । कारिका में जो दोनों मत से कारणता का कथन किया था उसका उत्तर उपसंहार ग्रंथ से उद्धार

च खण्डनेन ॥

अथ प्राक् कारणस्य स्वरूपसत्तां नाभ्युपैषि तदा नावयोः पञ्चतौल्यमिति गाथापूर्वार्द्धमशुद्धम् । अपि च सत्त्वं यत्कारणत्वबहिर्भूतं ब्रूपे तत्तावत् स्वरूपसत्त्वं तदीयकारण-त्वान्तर्भावस्य व्यवस्थापितत्वात् । अथ सत्ताजात्यभिप्रायेण ब्रूषे तदा व्यक्तम् निरनुयोज्यानुयोगस्तव । न हि वयं सत्ता-

---

कर्ता ने प्रतिपादन किया है अतः दोनों मत से कारणता समान नहीं है किन्तु हमारे मत से कारण स्वरूप सत् और आपके मत से कारणस्वरूपासत् है ।

यदि आप व्यवहित पूर्व क्षण वृत्तिकारण की स्वरूप सत्ता को नहीं मानते हो तब तो हम दोनों के मत में समा-नता नहीं होती है, इसलिये गाथा का जो पूर्वार्द्ध है सो अशुद्ध है, क्योंकि "पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ" यह ठीक नहीं है । और भी देखिये जिस सत्ता को आप कारणता के बहिर्भूत कहते हैं सो सत्ता तो स्वरूप सत्ता है उसकी तो हमने कारणता में अन्तर्भाव की व्यवस्था कर दी है । यदि सत्ता जाति के अभिप्राय से बहिर्भूतत्व का प्रतिपादन करने में तात्पर्य हो तब तो निरनुयोज्यानुरूप निग्रह स्थान प्राप्त हो जाता है । सत्ता जाति का कारणता में अन्तर्भाव मैं तो नहीं मानता हूँ । हम लोग सत्ता जाति को कारणत्व का निर्वाहक नहीं कहते हैं । क्योंकि भ्रम के

जातिमपि कारणत्वनिर्वाहिकां ब्रूमहे विशेषादर्शनस्य भ्रमे दोषाभावस्य प्रामाण्ये विहिताकरणस्य प्रत्यवाये समवायस्य रूपादिप्रत्यक्षे मिथ्याज्ञानाद्यभावस्य मोक्षे अस्माभिः कारणत्वोपगमात्। अत एवाचार्या अप्याहुः। "भावो यथा तथाभावः कारणं कार्यवन्मत" इति। अथ यादृश्या धिया त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तया सिद्धान्तिनः कारणस्य वस्तुसत्त्वावधारणं ममापि तादृश्यैव धिया तस्य कारणत्वावधारणं तदेतत् सांवृतं सत्त्वं किं तु सापि धीस्त्वन्मते स्वरूपसत्स्वेव न तु निरुपाख्येषु येन तेषामपि कारणत्वापत्तिः। मन्मते तु त्रिचतुरकक्षातस्त-

---

प्रति विशेषादर्शन कारण होता है, प्रामाण्य के प्रति दोषाभाव कारण होता है, प्रत्यवाय में विहित क्रिया के अकरण को कारण मानते हैं। रूपादिक के प्रत्यक्ष में समवाय को कारण मानते हैं और मिथ्याज्ञान के अभाव को मोक्ष में कारण मानते हैं। इसलिये सत्ता जाति को तो कारणता में निर्वाहक मैं भी नहीं मानता हूँ। अतएव उदयनाचार्य ने कहा है कि "भावो यथेत्यादि" जिस प्रकार से भावात्मक पदार्थ कार्य होता है तथा कारण भी होता है, उसी प्रकार से अभाव भी कारण भो होता है और कार्य भी होता है।

शंका—तीन चार कक्षा में विश्रान्त यादृश बुद्धि से सिद्धान्ती नैयायिक लोग कारण में वस्तु सत्ता का निश्चय

स्यापि बाध्यत्वावसायात् । मूलपर्यन्तं बाधावताराञ्च कारणानां सत्तावधारणं इति चेत्तर्हि त एव पश्चिमाद्बाधान्न धीर्न वा तदधीनं कारणत्वावधारणम् न वा तत्सत्तावधारण-मिति निरुपाख्यादविशेषः ॥

यत्तु संवृत्तिरपि सती व्यवहारयेत् असती वा । नाद्यः

करते हैं। तद्वत् हम वेदान्ती लोग भी तादृश बुद्धि से ही कारणता का निर्णय करते हैं। इसी को सांवृत्तिक सत्ता कहते हैं। परन्तु यह बुद्धि आपके मत से स्वरूप सत् पदार्थ में ही रहती है निरुपाख्य में नहीं जिससे कि निरु-पाख्य में कारणता की आपत्ति लगे। हम (वेदान्तियों) के मत में तो चार कक्षा के बाद भी बाध्यता का निश्चय होने से मूल पर्यन्त वाधित होने से कारण में सत्ता का निश्चय नहीं होता है।

समाधान—तब तो पश्चात् कालिक बाध होने से वह ज्ञान ही नहीं हुआ न वा ज्ञानाधीन कारणता का निश्चय होगा। न वा पदार्थों में सत्ता का निश्चय होगा। तब दण्डादिक पदार्थ में निरुपाख्य से क्या विशेषता हुई ? अर्थात् दण्ड तथा कूर्म रोमादिक समान हो गये।

शंका—अविद्यासंवृत्ति सत है या असती होकर के व्यव-हार चलाती है। इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्ती ने अविद्या को सती नहीं माना है। द्वितीय पक्ष

त्वयानभ्युपगमात् । नान्त्यः असत्त्वेनावधृतस्य कारणत्वोपगमात् इति नैयायिकदत्ते दोषे सा तावदिदानीं त्रिचतुरकक्षामात्रविश्रान्ता अविचारितसत्तासत्त्वैव व्यवहारयतीति ब्रूमः । अन्यथा प्रथमत एवैतादृशविचारावतारणे मतिकर्दमे व्यवहार एव न स्यात् । वस्तुतस्तु सा यदि सती तदा व्यवहारयितुं क्षमा यदि चासती तदापि तथैव । भ्रमविषयेणासता भ्रमे तथा भविष्यदादिविषयके ज्ञानेऽसतैव विषयेण तथाऽसतैव कार्येण कारणशक्तेश्च विलक्षणव्यवहार इत्यस्य त्वयाप्यनुमतत्वा-

---

भी ठीक नहीं है, क्योंकि असत्वेन निश्चित वस्तु में कारणता का स्वीकार करना पड़ता है, इस प्रकार नैयायिक दोष देंगे, अतः तीन चार कक्षा में विश्रान्त ज्ञान द्वारा अविचारित सत्ता वाली सत्ता ही व्यवहार को करती है ऐसा मैं कहता हूँ। यदि ऐसा नहीं मानें तब तो पहिले से एतादृश विचार को लाने पर बुद्धि रूप पंक में फस जाने से व्यवहार होना ही असम्भवित हो जावेगा। वस्तुतः यदि अविद्यादिकों को सत् मानें तब ही वह अविद्या व्यवहार रकानेमें समर्थ होगी। यदि असती मानने से भी उसी तरह व्यवहार कराने में समर्थ होगी। भ्रम ज्ञान का विषय जो रजतादि वह असत् होकर के भी भ्रम में विशिष्ट व्यवहार (इदं रजतम्) का प्रयोजक होता है। एवं भविष्यत् विषयंक ज्ञान में असत ही विषय विशिष्ट

दिति तन्न । उक्तक्रमेण तत्सत्त्वस्यैवावधारणात् न हिं सम्भवति व्यवहाराय तामाश्रयते तस्याश्च सत्तासत्तयोरुदास्ते इति । दृष्टान्ताश्चायुक्ताः । तथाहि भ्रमस्तावदसद्वैशिष्ट्यावगाहितया व्यधिकरणप्रकारकतया वा विलक्षणव्यवहारविषयः क्रियते तच्च द्वयं तत्रास्त्येव एवं भविष्यदादिना घटादिना समं ज्ञानस्य विषयविषयिभावः सम्बन्धोऽस्त्येव तद्विषयत्वमेव च तस्य विलक्षणव्यवहारे हेतुः । असत्तु कार्यं कारणस्योपलक्षण-

---

व्यवहार का प्रयोजक होता है। एवम् असत् कार्य कारण शक्ति का जो विलक्षण व्यवहार उसका प्रयोजक होता है, इस चीज को आप (नैयायिक) भी मानते ही हैं।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन युक्तियों से तो भ्रमादि विषयीभूत पदार्थों का सत्व ही सिद्ध होता है। ऐसा नहीं हो सकता है कि व्यवहार के लिये जिसका आश्रयण किया जाय उसकी सत्ता और असत्ता में उदासीन रहे। आपने जो यह दृष्टान्त दिया है सो अयुक्त है। भ्रम तो असत् वैशिष्ट्य का अवगाहन करने से अथवा व्यधिकरण प्रकारत्वेन विलक्षण व्यवहार को विषय करता है वह दोनों वस्तु भ्रम में है ही। एवं "घटो भविष्यति" इस स्थल में भाविकालिक पटादि के साथ ज्ञान का विषय विषयी भाव सम्बन्ध है। उस ज्ञान में भविष्यत् घट विषयत्वही तो विलक्षण व्यवहार का कारण है। और

मिति तदेवं खण्डनकारेण सर्वशून्यतावष्टम्भेन यदादिष्टम् तत् प्रत्यादिष्टमेव ।

अथेदानीं तत्रानुशयानेन तेन वेदान्तमतमाश्रीयते तथाहि सर्वशून्यता सिद्धा न वा अन्त्ये पूर्णतैव आद्येपि स्वतः परतो वा तत्राद्ये स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानमस्त्येव परतः पक्षे तु परपदवाच्यम् प्रमाणमस्तीति सर्वथापि शून्यतास्तीति तस्मात् ज्ञानं परिशिष्यते तच्च स्वप्रकाशं तथाहि ज्ञानस्य ज्ञानान्तर-

---

असत् जो कार्य है वह कारण का उपलक्षण है, विशेषण नहीं है। अतः खण्डनकार ने सर्व शून्यता वादी का मत लेकर जो खण्डन किया था उसका उपरोक्त प्रकार से निराकरण किया गया। अभी यदि सर्व शून्यता मत में रह करके खंडनकार वेदान्त मत का आश्रयण करते हैं तथाहि सर्व शून्यता सिद्ध है कि नहीं ? इसमें यदि अन्तिम पक्ष मानें तब तो शून्यता की असिद्धि होने से पूर्णता की सिद्धि हो जाती है। प्रथम पक्ष में शून्यता स्वतः सिद्ध है ? अथवापरतः सिद्ध है ? इसमें प्रथम पक्षमें स्वप्रकाश होने से ज्ञान है ही। परतः पक्ष में पर शब्द से किसका ग्रहण करते हैं ? यदि प्रमाण को लें तब तो प्रमाण की अस्तितता सिद्ध होती है शून्यता नहीं सिद्ध हुई। तस्मात ज्ञान रहता है, वह ज्ञान स्व प्रकाश रूप है। ज्ञान को यदि ज्ञानान्तर से वैद्य मानेंगे तो अनवस्था हो जायगी। इस-

वेद्यत्वेऽनवस्थानात् स्ववेद्यतैव । ननु किं ज्ञानवेदनेन ज्ञानस्य स्वरूपसत्तयैवार्थव्यवहारसिद्धेरिति चेन्न । स्वरूपसत्तायां विप्रतिपत्तौ तद्वेदनस्याप्यवश्यस्वीकर्तव्यत्वात् । एवं तत्तद्वेदनेष्वपि इत्यनवस्थैव चरमवेदनस्यावेदने तस्य मानाभावेनासत्त्वेऽर्थपर्यन्तमसत्त्वं वा स्यात् । तदुक्तम् । अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति इति । अथ सर्वा वित्तिरवश्यवेद्यैव प्रमेयत्वस्य केवलान्वयित्वात् । अविरललग्ना तु

लिये ज्ञान स्ववेद्य होता है ।

शंका—ज्ञान का ज्ञान मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि ज्ञान की स्वरूप सत्ता से ही अर्थ का व्यवहार हो जायगा ।

समाधान—ज्ञान की स्वरूप सत्ता में विप्रतिपत्ति होने से तद्विषयक ज्ञानान्तर का अनुसरण आवश्यक हो जायगा, एवं ज्ञान में भी ज्ञानान्तर का अनुसरण करने से अनवस्था हो जायगी । यदि अन्तिम ज्ञान का ज्ञान नहीं हुआ तब तो प्रमाणाभावात् अन्तिम ज्ञान असत् हो जायगा, और अन्तिम ज्ञान के असत् होने पर उपांत्यज्ञान भी असत होगा, एवंक्रमेण अर्थ पर्यन्त असत्व आ जायगा । ऐसा कहा है कि जिस ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है वह अर्थ ज्ञान ही नहीं बन सकता है ।

शंका—सभी ज्ञान अवश्य वेद्य हैं, क्योंकि प्रमेयत्व के-

वित्तितद्वित्तिधारा नाभ्युपेयते तथाननुभवात् किं तु काचित्त-दैव काचिदन्यदा काचित् प्रत्यक्षेण काचिच्च लिङ्गादिना प्रतीयते इति ब्रूमइति चेन्न । प्रथमा ह्यर्थग्राहिणी व्यवसाया-त्मिका द्वितीया अर्थावरुद्धज्ञानग्राहिणी अनुव्यवसायात्मिका घटज्ञानमिति तृतीया अर्थावरुद्धज्ञानावरुद्धात्मग्राहिणी घटं जानामीति । इतोऽधिका धीधारा त्वन्मतेऽपि नानुभूयते ।

वलान्वयी है । अर्थात् प्रमेयत्व शब्द का अर्थ होता है प्रमा-विषयत्व । तो ज्ञान ज्ञेय सभी प्रमेय हैं (प्रमाका विषय है) इस स्थिति में यदि ज्ञान का ज्ञान न हो तो ज्ञान प्रमेय कैसे कहलावेगा ? तथा प्रमेयत्व केवलान्वयी कैसे होगा ? (एक जातीयता सम्बन्ध से जो सर्वत्र रहे वही केवलान्वयी है) अतः प्रमेयत्व के केवलान्वयी होने के कारण से जो कोई ज्ञान है, सभी ज्ञानान्तर का विषय होता है । परंतु अविरल लग्न ज्ञान तत् ज्ञान ज्ञानधारा को नहीं मानते हैं क्योंकि ज्ञानधारा का अनुभव नहीं होता हैं इसी से किन्तु कोई ज्ञान उसी समय में जाना जाता है कोई ज्ञान काला-न्तर में जाना जाता है कोई ज्ञान प्रत्यक्ष से और कोई-कोई हेतु द्वारा जाना जाता है ऐसा मैं कहता हूँ ।

मसाधान—जो प्रथम ज्ञान है वह अर्थ का ग्रहण करता है उसका नाम व्यवसायात्मक ज्ञान होता है, और द्वितीय ज्ञान अर्थावरुद्धज्ञानावरुद्ध ज्ञान का ग्राहक अनुव्यवसाय

अन्यथा घटं जानामीति जानामीत्याद्याकारा धीः कदाचित् केनचित् अनुभूयेत। तस्याः सविषयतत्तद्धीविषयकत्वनियमे घटपर्यन्तावगाहनावश्यकत्वात् किं च चरमा धीर्न चरमसमानाधिकरणज्ञानग्राह्या अनिर्मोक्षापत्तेः। नापि व्यधिकरणज्ञानग्राह्या प्रमाणाभावात्। नापि चरमा स्वग्राहिका स्वप्रकाशापत्तेः। नाप्यग्राह्या मूलपर्यन्तं विलोपापत्तेः। नाप्युपान्त्यया-ऽन्ताया ग्रहः स्वविषयकतद्ग्रहे स्वप्रकाशापत्तेः। न च

कहलाता है, उसका आकार है घटज्ञानमित्याकारक तृतीय ज्ञान अर्थविरुद्धज्ञानावरुद्ध ज्ञान का ग्राहक होता है "घटं जानामीत्याकारक" इससे अधिक ज्ञान धारा आपके मत में भी अनुभूयमाना नहीं होती है। अन्यथा घटं जानामी-त्याकारक जानामीत्याकारक ज्ञान किसी से कदाचित् अनुभूयमान हो जायगा। बुद्धि को सविषयक तत्तद्धीविषय-कत्व का नियम होने से घट पर्यन्त विषय का अवगाहन आवश्यक है। और भी देखिये—अन्तिम जो ज्ञान होता है वह अन्तिम ज्ञान के समानाधिकरण ज्ञान से गृहीत नहीं होता है। ऐसा नहीं मानो तो अनिर्मोक्षापत्ति हो जायगी। न वा चरम ज्ञान पुरुषान्तरीय ज्ञान ग्राह्य होता है, क्योंकि उसको व्यधिकरण ज्ञान ग्राह्यता होने में प्रमाण नहीं है। न वा चरमज्ञान स्व का ग्राहक होता है, ऐसा मानने से स्वप्रकाशत्व हो जायगा। न वा अन्तिम ज्ञान अग्राह्य

सामग्र्यनवस्थावज्ज्ञानानवस्था तस्याः प्रामाणिकत्वात् । अत्राहुः । ज्ञानस्यावश्यवेद्यत्वेऽपि नानवस्था ज्ञानं प्रमेयमित्यादिव्याप्तिज्ञानस्य तथा एतदनुव्यवसायस्यैतद्विषयभूतस्वग्राहकस्य तथा योगजधर्मज्ञानस्य तथा भगवत्प्रत्यक्षस्य च मयापि स्वप्रकाशत्वोपगमात् । अथ घटोऽयमित्यादिस्थले

होता है। मूल पर्यन्त विलोप हो जायगा। न वा उपान्त ज्ञान से अन्तिम ज्ञान का ग्रहण होता है, क्योंकि स्वविषयक तद् ज्ञान मानें तो पुनः स्वप्रकाशता की आपत्ति हो जायगी। नहीं कहो कि जैसे सामग्री की अनवस्था मानते हैं उसी प्रकार से ज्ञान की भी अनवस्था मान ली जाय। सो ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि सामग्री में प्रमाण है अर्थात् सामग्री की अनवस्था प्रामाणिक है और ज्ञानानवस्था में कोई प्रमाण नहीं है। इतना ऊहापोह करने के वाद सिद्धान्ती कहते हैं—"अत्राहुः" ज्ञान मात्र को अवश्यवेद्य मानने पर भी अनवस्था नहीं होती है क्योंकि "ज्ञानं प्रमेयम्" इत्यादि जो व्याप्ति ज्ञान है उसको हम लोग भी स्वप्रकाश मानते हैं तथा अनुव्यवसाय ज्ञान स्वविषय का ग्राहक है वह भी स्वप्रकाश है तथा योगज धर्म ज्ञान एवं ईश्वर का प्रत्यक्ष है इन सबको हम लोग भी स्वप्रकाशक मानते हैं ॥

शंका—घटोयमित्यादि स्थल में ज्ञान और ज्ञान की

ज्ञानतज्ज्ञानधारा स्यात् ज्ञानस्य जातसम्बद्धत्वात् अपेक्षणीयान्तरस्य चाभावादिति चेन्न। अत्राप्युत्कटविषयान्तराकर्षणेन मनसः प्रतिबन्धसम्भवात्। यत्र नोत्कटो विषयोपरागो न वा सुखदुःखरागद्वेषादिसामग्री तत्र धीतद्धीधारास्त्विति चेत्।

धारा होगी, क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध विद्यमान तथा अपेक्षणीय वस्त्वन्तरका अभाव होने से।

समाधान—यहाँ भी उत्कट विषयान्तर के आकर्षण से मन का प्रतिबन्ध हो जाता है (अभिप्राय यह है कि ज्ञान के संपादन के लिये आत्म मनः संयोग आवश्यक है, एवं मन का इन्द्रिय के साथ संबन्ध और इन्द्रिय का विषय के साथ संबन्ध रहता है तब ज्ञान होता है, तो एक विषय-संयुक्त इन्द्रिय का मन के साथ संयोग है मन का आत्मा के साथ संयोग है तब ज्ञान होता रहता है। जब विषयान्तर इन्द्रियादि संबन्ध द्वारा उपस्थित हुआ तब मन का जो पूर्व विषय के साथ संबन्ध रहता है सो टूट जाता है और विषयान्तर का संबन्ध हो जाता है तब विषयान्तर का ही ज्ञान होता है पूर्व विषय का संबन्ध नही रहने से पूर्व ज्ञान की धारा नहीं चलती है। इसलिये कहा कि उत्कट विषयान्तर के संचार से मनका प्रतिबन्ध हो जाता है)

शंका—जिस स्थल में उत्कट विषयान्तर का सम्बन्ध नहीं है, तथा सुख दुःख रागद्वेषादि होने की बाह्य

बाढं तर्हि तत्र विषयशतभारमन्थराशेषा धीरवसीयेतेति चेत् । बाढं तत्र हि मूलविषये घटत्वे मध्यमानि परःशतान्यपि ज्ञानानि ज्ञानत्वेन आत्मा ज्ञानवत्त्वेन प्रतीयते तेन शेषापि धीर्घटं जानामीत्याकारिकैव ॥

अथ या धीर्घटविषया सा च न वर्तमाना या च वर्तमाना सा न घटविषया तथा च कथमत्र घटं जानामीति धीरस्त्विति चेन्न । अस्या अपि परम्परया घटविषयकत्वात् । वीणायां

अथवा आन्तर सामग्री नहीं है उस स्थल में ज्ञान अथवा ज्ञान की धारा हो ।

समाधान—ठीक है तब तो उस स्थल में सैकड़ों विषय के भार से मन्थरा अन्तिम बुद्धि जानी जायगी, ऐसा कहो तो ठीक है किन्तु वहाँ मूल विषय घटादि का ज्ञान तथा मध्यवर्ती जो सैकड़ों ज्ञान हैं उनका ज्ञानत्वरूप से तथा ज्ञानवत्त्वेन रूपेण आत्मा प्रतीयमान होता है, इसलिये अन्तिम ज्ञान घट को मैं जानता हूँ, ऐसा ही होता है ।

शंका—जो ज्ञान घट विषयक है वह वर्तमान नहीं है और जो ज्ञान वर्तमान है वह घट विषयक नहीं है । तब किस प्रकार से कहते हैं कि घट को मैं जानता हूँ ? यह ज्ञान घट विषय का है ।

समाधान—यह अन्तिम ज्ञान भी परम्परा रूप से घट विषयक ही है । वीणा में शब्द है. इसकी तरह । समय

उत्पन्ने सति न तस्याज्ञानसंशयविपर्यया इति तस्य प्रमा तावदावश्यकी। सा चैवंरूपेऽपि सुखादौ भवतु भिन्ना तस्यां प्रकाशत्वात्। ज्ञाने तु प्रथमज्ञानाभिन्नैव तद्भेदकल्पनेऽनिर्मोक्षापत्तेः। ज्ञानस्य ज्ञानकर्मत्वे घटवज्जडत्वापत्तिरिति शब्द इतिवत् समयसौक्ष्म्याच्च वर्तमानत्वधीः। अथ ज्ञाने

(काल) की सूक्ष्मता के कारण से अतीत में भी वर्तमानत्व ज्ञान होता है।

शंका—ज्ञान की उत्पत्ति होने के बाद में ज्ञान विषयक अज्ञान तद्विषय सन्देह अथवा विपर्यय नहीं होता है। अतः उस ज्ञान को प्रमारूप मानना आवश्यक है। वह प्रमा स्वरूप (अज्ञान सन्देह विपर्यय रहित) सुखादिक में ज्ञेय जो सुख उससे भिन्न भले हो। क्योंकि सुख विषयक वह प्रकाश है। ज्ञान में तो वह प्रमा प्रथम ज्ञान से अभिन्न ही है, यदि भेद मानेंगे तो सुषुप्ति और मोक्ष नहीं होगा और यदि ज्ञान को ज्ञानान्तर का कर्म मानेंगे तो घटादि के समान ज्ञान भी जड़ हो जायगा (घटादि विषय जड़ क्यों है ? इसलिये कि घटादि पदार्थ ज्ञान का कर्म होता है, अब यदि ज्ञान को भी ज्ञान का कर्म मानेंगे तो ज्ञान भी जड़ हो जायगा "ज्ञानं जड़ं ज्ञानकर्मत्वात् यत् ज्ञानकर्म भवति तत् जड़ रूपं यथा घट इति")।

समाधान—सभी ज्ञान स्वसमान कालिक स्वसमानाधि-

चेन्न। न हि सर्वं ज्ञानं समानकालीनसमानाधिकरणसाक्षात्कारविषयतानियतं ब्रूमो येन मानसानुव्यवसायधारया निर्मोक्षो न स्यात्। किं तु किञ्चिज्ज्ञानं व्यवहारेण किञ्चिल्लिङ्गान्तरेण किञ्चिन्मानसानुव्यवसायेन किंचित्सामान्यलक्षणया किंचिद् योगजधर्मलक्षणया च प्रत्यासत्त्या अवसीयत इति न किञ्चिदपि ज्ञानमवेद्यमिति ब्रूमः। नापि जडत्वापत्तिरप्रयोजकत्वात्॥

करण प्रत्यक्ष ज्ञान का नियमतः विषय होता ही है, ऐसा मैं नहीं कहता हूँ जिससे कि मानस अनुव्यवसाय की धारा चलने से अनिर्मोक्षापत्तिरूप दोष उपस्थित हो। किन्तु कोई कोई ज्ञान व्यवहार द्वारा जाना जाता है, कोई ज्ञान लिंगान्तर से जाना जाता है, कोई ज्ञन अनुव्यवसाय ज्ञान से ज्ञात होता है। कोई ज्ञान सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष से ज्ञात होता है और कोई ज्ञान योगज धर्म लक्षण सन्निकर्ष से जाना जाता है। इसलिये कोई भी ज्ञान अवेद्य नहीं है, ऐसा मैं कहता हूँ। न वा ज्ञान के ज्ञान का कर्म होने से जडत्वापत्ति भी होती है क्यों कि अप्रयोजक होने से। (ज्ञान में ज्ञान कर्मत्व रहे जड़त्व रूप साध्य न रहे ऐसी यदि व्यभिचार शंका होगी तो उसका निवर्तक कोई अनुकूल तर्क नहीं है।)

शंका—अर्थ जो घट पटादिक विषय हैं उसका जो

ननु चार्थो ज्ञानप्रकाशाधीनप्रकाशत्वाज्ज्ञाने प्रकाशमान एव प्रकाशिष्यते। तथा च सिद्धं ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वं ज्ञानार्थयोः प्रकाशद्वयस्यैकदाऽनुदयादिति चेत्। किमिदं तदधीनत्वम्। न तावत्तद्धेतुकत्वम्। न हि ज्ञानप्रकाशहेतुकोऽर्थं प्रकाशः। तथा चासिद्धिः स्वप्रकाशत्वे साध्ये विरुद्धता च। न हि तद्धेतुकस्तदभिन्नो भवति। नापि तद्व्याप्तत्वं अभेदे-

---

प्रकाश है सो ज्ञानात्मक प्रकाश के अधीन है। अतः जब ज्ञान प्रकाशित रहेगा तब भी घटादिक प्रकाशित होता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्वप्रकाश रूप है। ज्ञान का और अर्थ का अलग-अलग प्रकाश होता है ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि दो प्रकाश एक समय में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

समाधान—इस तदधीनत्व का क्या अर्थ है? (ज्ञान प्रकाश के अधीन अर्थ प्रकाश है तो इसमें अधीनत्व का क्या अर्थ है?) तत् हेतुकत्व यह अर्थ नहीं हो सकता है अर्थात् ज्ञान प्रकाश जन्य अर्थ प्रकाश है यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान प्रकाश से उत्पन्न अर्थ प्रकाश है ऐसा नहीं माना जाता है। अतः असिद्धि दोष होता है। और स्वप्रकाशत्व साध्य में तद्धेतुकत्व रूप हेतु विरुद्ध है, गोत्व अश्वत्व की तरह से। विरोध का ही स्पष्टीकरण करते हैं। "नहि तद्धेतुकेत्यादि" जो जिस हेतु से उत्पन्न होता है

ऽसम्भवात् । नापि तदभिन्नत्वं साध्याविशेषात् ॥

यत्तु घटादीनां तावज्जडत्वं ज्ञानकर्मत्वं स्वव्यवहारे परापेक्षत्वं वास्ति तत्तावत् न निर्बीजम् । नापि यत्किञ्चिद्-बीजम् । नाप्यनियतबीजम् । अतिप्रसङ्गात् । तस्मात् नियत-

---

वह उससे अभिन्न नहीं होता हैं। दण्ड रूप कारण से जायमान घट दण्ड से अभिन्न नहीं होता है, किन्तु जनक से जन्य भिन्न ही होता है।) न वा तद्व्याप्तत्व रूप तदधीनत्व है क्योंकि अभेद में व्याप्तत्व नहीं होता है किन्तु भेद में ही व्याप्तत्व होता है। वह्नि वह्निव्याप्त हैं ऐसा देखने में नहीं आता है। न वा तद्भिन्नत्व तद्धेतुकत्व है। क्योंकि इस पक्ष में साध्य विशेष दोष होता है जो ही साध्य है वह ही हेतु है।

शंका—"यत्तु इत्यादि" घटादिक विषय में जो जडत्व हैं सो ज्ञान कर्मता अथवा स्वव्यवहार में स्व से अतिरिक्त परापेक्षत्व रूप है, तो यह जो ज्ञानकर्मत्व है अथवा परा-पेक्षत्व घट व्यवहार में है सो निर्मूलक नहीं है। न वा यत् किंचित् मूल है, न वा अनियत कोई इसका मूल है, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग हो जायगा, इसलिये इसका कोई नियत हेतु है ऐसा स्वीकार करना आवश्यक है। इसमें ज्ञान अस्वप्रकाश है ऐसा जानने के बाद ज्ञान में जडत्व की उपलब्धि नहीं होती है। अतः परिशेषात् ज्ञान

किञ्चिद्बीजं वाच्यम्। तच्च परिशेषादस्वप्रकाशत्वमिति ज्ञाते जडत्वाद्यभावात् स्वप्रकाशत्वमिति। तन्न। जडत्वं हि प्रकाशान्यत्वम्। तच्च प्रकाशसामग्र्यजन्यत्वरूपं निबन्धनं तज्जन्यत्वे प्रकाशत्वापत्तेः। ज्ञानकर्मत्वं हि ज्ञानविषयत्वम्। तच्च वस्तुत्वनिबन्धनं स्वव्यवहारे परापेक्षत्वमपि अस्वप्रकाशत्वनिबन्धनमेव। ज्ञानचतुष्टयभिन्नानि तज्ज्ञानानि जडानि च

स्वप्रकाश रूप सिद्ध होता है।

समाधान—जो प्रकाश भिन्न है उसका नाम जडत्व है प्रकाशभिन्न शब्द का अर्थ होता है प्रकाश सामग्री से अजन्यत्व होना। यदि कदाचित् प्रकाश सामग्री से जन्यता मानें तब तो जड़ में भी प्रकाशत्व की आपत्ति हो जायगी। एवं ज्ञानकर्मत्व शब्द का अर्थ है ज्ञानविषयत्व अर्थात् ज्ञान का जो कर्म हो उसका नाम है ज्ञानकर्म। यह ज्ञान कर्मत्व वस्तुत्व के आधीन है, अर्थात् जो पदार्थ होगा वह ज्ञान का विषय होगा। और स्वव्यवहार में परापेक्षत्व भी अस्वप्रकाशाधीन है अर्थात् जो अस्वप्रकाश है वह सब स्वव्यवहार में अवश्य परापेक्ष होगा। चार ज्ञान (ज्ञान प्रमेय हैं इत्याकारक ज्ञान, अनुव्यवसाय ज्ञान, योगज धर्म ज्ञान और भगवत् का ज्ञान) से भिन्न जो ज्ञान है तथा जड़ पदार्थ घट पटादिक वह सब अस्वप्रकाश होने से स्व स्वव्यवहार में परापेक्ष ही हैं।

सर्वाणि स्वव्यवहारे परापेक्षाण्येव अस्वप्रकाशत्वादिति ॥

ननु ज्ञानं जिज्ञासावेद्यं न वा। आद्ये जिज्ञासापि हि सामान्य ज्ञान पूर्विकेति जिज्ञासातः प्राक् ज्ञानस्य सामान्य-ज्ञानमायातम् । तदपि च जिज्ञासातः स्यात् ज्ञात-त्वात् तज्जनन्यपि जिज्ञासा सामान्यज्ञानादिति जिज्ञासाज्ञान-योर्द्वारा द्वयमनिवृत्तमापद्येत। न वा पक्षेऽप्यवेद्यं वा स्यात् अजिज्ञासावेद्यं वा। अत्राद्ये ज्ञानव्यवहृतिर्न स्यात् ग्रहणा-भावात्। ज्ञाततयापि न ज्ञानग्रहः ज्ञानाबोधे तस्या अबोधात्

शंका—ज्ञान जिज्ञासा का विषय होता है कि नहीं ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं हैं क्योंकि जिज्ञासा भी तो सामान्य पूर्वक ही होगी। इसलिये जिज्ञासा से पूर्व काल में ज्ञान का भी ज्ञान होता है ऐसा सिद्ध होता है। वह ज्ञान भी जिज्ञासा से होगा, क्योंकि ज्ञान होने से तथा ज्ञान को उत्पादन करने वाली जिज्ञासा सामान्य ज्ञान से ही होगी। इस प्रकार ज्ञान तथा जिज्ञासा के द्वारा दोनों ही अपने आप स्वरूप प्राप्त नहीं करेंगे। न वा अवेद्य जो द्वितीय पक्ष है सो ही ठीक है, क्योंकि अवेद्य ज्ञान होगा अथवा अजिज्ञासा से वेद्य होगा ! इसमें प्रथम अवेद्य पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि अवेद्य होगा तब तो प्रमाणाभाव होने से ज्ञान का व्यवहार नहीं होगा। ज्ञातता रूप से भी ज्ञान का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान का अबोध होने से

तस्या ज्ञानोपहितशरीरत्वात् । सा हि न चक्षुःपातमात्रवेद्या । नापि व्यवहारानुमेयं ज्ञानं व्यवहारेण ज्ञानोपस्थितौ व्याप्तिग्रहो गृहीतव्याप्तिकाच्च व्यवहारात् ज्ञानोपस्थितिरित्यन्योन्याश्रयात् । अजिज्ञासावेद्यत्वे चानिर्मोक्षो ज्ञानमनःप्रत्यासत्तेः सर्वदा सत्त्वादिति परिशेषादपि ज्ञानं स्वप्रकाशमिति । उच्यते । आत्ममनःसंयोगस्य यदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः सहायीभवति तदा बाह्यार्थानुभवः । स एव सहायो यदा स्थिरस्तदा

ज्ञातता का भी बोध नहीं होगा, क्योंकि ज्ञातता भी ज्ञानोपहित ही होती हैं । वह केवल चक्षुः संयोग से ही वेद्या नहीं होती है । न वा व्यवहारद्वारा ज्ञान अनुमेय हो सकेगा, क्योंकि जब व्यवहार से ज्ञान उपस्थित होगा तब व्याप्ति ज्ञान होगा । और जब गृहीतव्याप्तिक व्यवहार होगा तब उस व्यवहार से ज्ञान की उपस्थिति । तो इस प्रकार से व्यवहार और ज्ञानोपस्थिति में परस्पराश्रय दोष हो जायगा, यदि ज्ञान को अजिज्ञासावेद्य मानें तो अनिर्मोक्ष हो जायगा, क्योंकि ज्ञान और मन का जो सन्निकर्ष है, वह तो सर्वदा विद्यमान है । अतः परिशेष से ज्ञान स्वप्रकाश है ऐसा सिद्ध होता है ।

समाधान—जिस समय में आत्ममनः संयोग का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष सहायक रहता है उस समय में बाह्यार्थ का अनुभव होता है, वह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप सहायक यदि

धारावाहिकानुभवः । यदा च संस्कारपरिपाकस्य स सहायः तदा प्रत्यभिज्ञा । यदा तु तत्सहायरहितः संस्कारपरिपाकः तदा स्मृतिः । यदा तु संस्कारपरिपाकेन्द्रियार्थसन्निकर्षरहित आरब्धज्ञान आत्ममनःसंयोगः तदानुव्यवसाय इत्युत्सर्गः । यदा त्वस्मिन् सत्यप्युत्कटविषयेन्द्रियसन्निकर्षः तदा तदर्थ-ज्ञानम् । न तु ज्ञानज्ञानमित्यलमतिविस्तरेण । तस्माद-जिज्ञासावेद्यत्वेऽपि ज्ञानस्य प्रबलविषयमहिम्ना धाराया

स्थिर रहता है उस समय में धारावाहिक ज्ञान होता है। जब कि संस्कार परिपाक का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष सहायक रहता है उस समय में प्रत्यभिज्ञा 'सोऽयं घटः' इत्याकारिका होती है। जब इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप सहायक रहित संस्कार परिपाक रहता है उस काल में स्मरणात्मक ज्ञान होता है, और जिस समय में आरब्ध ज्ञान में आत्म-मनः संयोग को संस्कार परिपाक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की सहा-यता नहीं रहती है उस समय में अनुव्यवसाय ज्ञान होता है। जब कि आत्ममनः—संयोग के रहते हुए उत्कट विषयेन्द्रिय संनिकर्ष रहता है उस समय में अर्थ विषय ज्ञान होता है न कि ज्ञान का ज्ञान होता है। इस विषय पर अधिक विचार निरर्थक है। इसलिये ज्ञान के अजिज्ञासा वेद्य होने पर भी प्रबल विषय के बल से ज्ञान धारा रुक जाती है विषय की प्रबलता में फल ही प्रमाण है

निवारणात् । प्राबल्ये च फलमेव प्रमाणम् । किञ्चोक्तगत्यापि ज्ञानस्यैव स्वप्रकाशत्वसम्भावनापि । न तु ब्रह्माभिन्नस्य नित्यचैतन्यस्य तस्य घटाद्यनालम्बनत्वात् आसंसारमप्रतीयमानत्वाच्चेति व्यर्थस्ते स्वप्रकाशतासाधनश्रमः । किञ्च प्रकाशस्य स्वधर्मावरुद्धस्यैव प्रकाशमानस्य स्वप्रकाशत्वसिद्धेर्नाद्वैतसिद्धिः । धर्मानवरुद्धस्य तु तस्य स्वप्रकाशत्वेन भाने धर्मोपग्रहप्रवर्तिष्णुशब्दविषयता तस्याविद्यादशायामपि न स्यात् । अथ शब्दान्तरं तावद् ब्रह्मणि न प्रवर्तते । किं तूपनिषत् ।

अर्थात् फल के बल से अथवा दौर्बल्यसे कारण में बलाबल निश्चित किया जाता है । और भी देखिये— उपर्युक्त प्रकार से तो अनित्य ज्ञान में ही स्वप्रकाशत्व की सम्भावना होती है न कि ब्रह्म से अभिन्न नित्यज्ञान में, क्योंकि नित्य ज्ञान में घटादि आलम्बन नहीं है और जहां तक संसार है वहां तक नित्य ज्ञान प्रतीयमान भी नहीं होता है । इसलिये ज्ञान में स्वप्रकाशत्वसाधन का श्रम करना बिलकुल व्यर्थ है । और भी स्वधर्म ज्ञानत्व से आक्रान्त प्रकाशमान प्रकाश में ही स्वप्रकाशत्व की सिद्धि होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है । धर्म (ज्ञानत्व) रहित ज्ञान का स्वप्रकाशत्वेन ज्ञान मानें तब तो धर्म के सहकार से चलने वाला जो शब्द है उसका विषय अविद्या दशा में भी नहीं होगा ।

शंका—यद्यपि कार्यार्थक शब्द की प्रवृत्ति ब्रह्म में नहीं

सापि न कण्ठतस्तदाह येन प्रकारतया धर्ममपेक्षेत् । किं तु विषं भुङ्क्ष्वेत्यस्य एकादश्यभोजने यथा तात्पर्यं तद्वत् प्रपञ्चनिषेधश्रुतेरपि ब्रह्माद्वैतविधौ तात्पर्यम् । तथा च ब्रह्माद्वैतमेव तच्छ्रुतेरर्थः यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायादिति चेन्न । न हि तात्पर्यमात्रं सामग्री कारणान्तरविलोपा-

---

होती है क्योंकि ब्रह्म अकार्य रूप है तथापि उपनिषत् की प्रवृत्ति ब्रह्म में होती है वह उपनिषत् शब्द भी कण्ठतः ब्रह्म में प्रवृत्त नहीं होताहै क्योंकि उपनिषत् शब्द स्यवमेव कहता है कि'यतो वाचो निवर्तन्ते' जहाँसे वाणी निवृत्त होजाती है। यदि ब्रह्म शब्दप्रतिपादित होता तव शब्द की प्रवृत्ति होने के लिये ब्रह्म में प्रकारता रूप से धर्म की आवश्यकता होती। किन्तु जैसे 'विषं भुंक्ष्व' इस वचन का तात्पर्य एकादशी तिथि में भोजन नहीं करना, ऐसा है। उसी प्रकार से प्रपंच निषेधक वाक्य का 'अतोऽन्यदार्तम्' विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः, "ब्रह्मभिन्न सभी पदार्थ मिथ्या हैं," विद्वान् नाम रूप से विमुक्त हो जाता है, इत्यादि वाक्य का ब्रह्माद्वैत में तात्पर्य है। इसलिये ब्रह्माद्वैत ही श्रुति का अर्थ होता है। जिस अर्थ के बोधन की इच्छा से जो शब्द प्रयुज्यमान होता है उस शब्द का वही अर्थ होता है, इस न्याय से।

समाधान—शब्दबोधमें तात्पर्य ज्ञानमात्र सामग्री नहीं है

पत्तेः । नाप्युपलक्षणन्यायाच्छ्रुत्या ब्रह्मधीः काकपदोपस्थापितकाकस्मारितोत्तृणत्वादिविशिष्ट गृहविशेषधीवत् श्रुतितो ब्रह्मधियोऽनुदयात् ।

अथाविद्यादशायां श्रुतितोऽपि तद्धीः । तथाहि नित्येन तावदध्ययनविधिनाधीतस्वाध्यायो मुमुक्षुरापाततो वेदान्तवाक्यं श्रुत्वावगच्छति यत् आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्युपक्रमोपनिषदात्मोपाधिकमितरेषां प्रियत्वं वदन्त्यात्मैव

क्योंकि अन्य सभी कारण का विलोप हो जायगा । न वा 'उपलक्षणन्यायात्' श्रुति द्वारा ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो सकता है । 'काकवन्तो देवदत्तगृहाः, यहाँ जिसे काक पद से उपस्थापित काक स्मारित उतृणत्वादि विशिष्ट गृह विशेष का ज्ञान होता है उसी प्रकार से श्रुतिद्वारा ब्रह्म विषयक वोध उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका—अविद्या दशा में अर्थात् भेदव्यवहार काल में भी श्रुति द्वारा अद्वैत आत्म ज्ञान होता है । तथा हि नित्य जो अध्ययन विधि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" स्वाध्याय अर्थात् वेद का अध्ययन करना—इस विधि द्वारा जिसने वेद का अध्ययन कर लिया है ऐसा जो मुमुक्षु वह आपाततः वेदान्त वाक्य "तत्त्वमसि" इसको सुनकरके जानता है कि "आत्मन" इत्यादि आत्मा के निमित्तक सभी प्रिय होता है, इस उपक्रम से और आत्मेतर में जो प्रियत्व है सो

निरुपधिप्रिय इति प्रतीते तत आत्मनि ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीत्युपसंहारेणानन्दात्मकस्यात्मनः सर्वाभिन्नत्वमिति प्रतीतेः । अथ एतावादरे खल्वमृतत्वमित्युपसंहारशेषादानन्दात्मकब्रह्माभेददर्शनस्यामृतत्वसाधनत्वमवेत्य कथं तद्दर्शनं स्यादित्याकांक्षायां "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इति श्रुत्वा मुमुक्षुर्मीमांसते । न च तस्य मीमांसनाऽसम्भवः । अधीत्य स्नायादिति श्रुतेर्मन्त्रब्राह्मणा-

---

आत्मोपाधिक है तस्मात् आत्मा ही निरुपाधिक (स्वाभाविक रूप से) प्रिय है। ऐसा जानने के बाद आत्मा का विज्ञान होने से सभी पदार्थ विदित होता है। इत्यादि उपसंहार से आनन्द स्वरूप आत्मा सबसे भिन्न है ऐसा ज्ञान होता है। उसके बाद इतना ही अमृतत्व है इस उपसंहार से आनन्द स्वरूप ब्रह्म के अभेद दर्शन को अमृतत्व (मोक्ष) के प्रति कारणत्व को जान करके किस प्रकार से अभेद दर्शन होगा ? एतादृश जिज्ञासा होने के बाद "आत्मा द्रष्टव्य है (दर्शन के योग्य है) मनन करने के योग्य है श्रवण करने के योग्य है निदिध्यासन योग्य है" इस श्रुति से जानकर के मुमुक्षु विचार करता है। नहीं कहेंगे कि ब्रह्म विचार असंभवित है तो ऐसा नहीं कहना द्रष्टव्यादिक चारों ज्ञान समान रूप से उपस्थित हुए हैं। इसलिये पूर्वोक्त उपक्रम उपसंहार से संस्कृत जो वेद वाक्य

ध्ययनवत् गृहस्थीभविष्यत्स्वकरिष्यमाणाग्निहोत्राद्यनुष्ठानसाधनीभूततत्तद्वाक्यार्थविचारमूलस्तम्भत्वेनावश्यकतया कर्ममीमांसाध्ययनस्यापि तदानीं सिद्धेः। एवं च मीमांसामेनां विचारेण मुमुक्षुर्विचारयति । न हि तावदेते चत्वारोऽपि विधयः आत्मदर्शनस्य निदिध्यासनविधिविहितक्रियानुष्ठानमात्रसाध्यतया पृथक्कृतिसाध्यत्वासम्भवेन पृथग्विधानायोगात् । नापि श्रवणमननिदिध्यासनानि त्रीण्येव यथोक्तक्रमवन्ति प्रधानानि एकस्मै फलाय विधीयन्ते तेषां परस्परनिराकांक्षतया समुच्चयायोगात् ॥

अथ य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य इति छान्दोग्योपनिषदा आत्मज्ञानस्यैवेष्टसाधनत्वे गमिते ज्ञानस्य प्रकाराकांक्षायामिष्टसाधनत्वमनूद्य द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यादिविधयः प्रवर्तन्त इति चेन्मैवम् । एवमपि द्रष्टव्य इत्यस्यानर्थक्यादेव । न च सोऽनुवादः । न हि तस्येष्टसाधनत्वानुवादेनात्र किंचित्प्रयोजनम् प्रतिपत्तिचतुष्टयस्य तुल्यवदुपस्थितेः । तस्मात् पूर्वोक्तेनोपक्रमोपसंहारसंस्कृतवेदवाक्येना-

---

है उससे आत्म ज्ञान में मोक्ष रूप इष्ट साधनता का ज्ञान होता है । तत्पश्चात् आत्मा द्रष्टव्य इस एक देश से आत्मदर्शन का अनुवाद करके आत्म ज्ञानार्थी के लिये लाघवात् श्रवण रूप अङ्गी का विधान किया जाता है और मनन

त्मदर्शनस्यावगतम् अपवर्गेष्टसाधनत्वम् आत्मा द्रष्टव्य इत्येक-
देशेनानूद्य तदर्थितया श्रवणमङ्गि विधीयते लाघवात्। तत्फ-
लीभूते चात्माद्वैतज्ञाने कुतर्काभ्यासदूषितान्तःकरणतया भेद-
दृशामश्रद्धामलक्षालनरूपायोपकाराय मन्तव्य इत्यत्र मननं
श्रवणाङ्गतया विधीयते मलक्षालनेऽपि सत्यात्मश्राविकाया
उपनिषदो निदिध्यासनरूपेणोत्तरव्यापारेण नात्माद्वैतसाक्षा-

तथा निदिध्यासन श्रवण लक्षण अङ्गी का अङ्ग है न कि यह दोनों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र फल वाले हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण स्वयं ग्रन्थकार बतलाते हैं। "तत्फलीभूते" इत्यादि, उस श्रवण का फल स्वरूप जो अद्वैतात्मक ज्ञान उसमें कुतर्क के अभ्यास से दूषित है अन्तःकरण (मन) जिनका ऐसे जो भेददृष्टि (जीव ब्रह्म में भेद ज्ञानवान) हैं उनके अश्रद्धा रूप जो मल उसका प्रक्षालनात्मक उपकार के लिये "मन्तव्यः" इस अंश से श्रवण के अङ्ग रूप मनन का विधान किया जाता है। अश्रद्धा रूप मल का प्रक्षालन होने पर भी सत्य आत्म स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला उपनिषद् वाक्य निदिध्यासन रूप उत्तर व्यापार के विना अद्वैतात्म साक्षात्कारात्म के उत्पादन में समर्थन होता है। अतः शब्द के लिये एक निदिध्यासन अङ्गान्तर का विधान करता है। जैसे कुल्हाडी के ऊपर मट्टी से निघर्षण किया जाता है। बीज–मोर्चा–

त्कारफलपर्यवसानमिति दात्रस्य पांसुरुत्त्रणवत् शब्दस्य निदिध्यासनमपरमङ्गं विधीयते। तथा च मनननिदिध्यासनाभ्यामङ्गाभ्यां उपहतानि ब्रह्माद्वैतवाक्यानि मुक्तिहेतुभूतब्रह्माद्वैतसाक्षात्कारं फलन्तीति । शब्दश्च आत्मसाक्षात्कारेऽस्मिन करणम् असाधारणत्वात्। यदेव यस्यां बुद्धावसाधारणं तदेव तस्याः करणमिति मतसिद्धान्तात्। अद्वैत-

---

लगी हुई कुल्हाडी से जब छेदन कार्य नहीं होता है तब उस पर मट्टी डाल कर उसको घिसा जाता है तब वह कार्य क्षम हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में निदिध्यासन पांसुघर्षण के समान है। निदिध्यासन के बाद शब्द अप्रतिहित हो कर अद्वैतात्म साक्षात्कार स्वरूप फल का उत्पादन करता है। तब मन निदिध्यासन रूप अङ्गद्वय से सहकृत ब्रह्माद्वैत वाक्य "तत्त्वमसीति" मोक्षकारणीभूत जो ब्रह्माद्वैतसाक्षात्कार रूप फल का उत्पादन करता है। इस आत्म साक्षात्कार रूप कार्य में वाक्य ही करण है असाधारण होने से। जो जिस बुद्धि में असाधारण होता है वही उसका करण होता हैं। ऐसा नैयायिक का सिद्धान्त है। (जिसके उत्तर काल में जो कार्य होता है उस कार्य के प्रति पूर्ववर्ती करण है। शब्द के उत्तर काल में आत्मसाक्षात्कार होता है। इसलिए उक्त सांक्षात्कार में शब्द करण है। ऐसा कहा भी है "वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक्

श्राविकास्तु उपनिषदः ऋग्वेदे प्रज्ञानं ब्रह्मेति। यजुर्वेदे अहं ब्रह्मास्मीति। तत्रैव वृहदारण्यके एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। तत्रैव तैत्तिरीये स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक इत्यादि। सामवेदे तत्त्वमसीति। अथर्ववेदे अयमात्मा ब्रह्मेति। एतानि तावन्महावाक्यानि। अत्र प्रथमवाक्ये

परोक्षावभासिते। करामलकवद्वोधमपरोक्षं प्रसूयते" यद्यपि अन्यत्र शब्द को परोक्ष ज्ञान जनकत्व ही है प्रत्यक्ष-ज्ञान जनकत्व नहीं होता है तथापि प्रकृत में प्रत्यक्ष ज्ञान जनकत्व तो है ही। जिस स्थल में विषय प्रत्यक्ष संनिहित रहता है वहां प्रत्यक्ष ज्ञानजनकत्व होता है, 'दशमस्त्व-मसि" में शब्द का एतादृश स्वभाव देखा गया है।) ब्रह्माद्वैत का प्रतिपादन करने वाला निम्नलिखित उपनिषद् वाक्य है। ऋग्वेद में "प्रज्ञानं ब्रह्म" जीव ब्रह्म रूप है। यजुर्वेद में "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ। उसी यजुर्वेद के वृहदारण्यक में "एष ते आत्माम्यमृतः" यही तुम्हारा आत्मा जीव अन्तर्यामी अमृत रूप है। उसी यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में कहा है "यश्चायं पुरुषे यश्चादित्ये स एक" जो इस पुरुष में है और जो आदित्य में है वे दोनों एक ही चेतन है। सामवेद में "तत्त्वमसि" तुम ईश्वर रूप हो। अथर्ववेद में "अयमात्मा ब्रह्म" यह आत्मा जीव ब्रह्म है। ये चारों महा वाक्य हैं। यहां प्रथम वाक्य में प्रज्ञान पद

अज्ञानपदेनैकादशेन्द्रियाधिष्ठातरि द्वितीयवाक्ये चाहमा जीवे चतुर्थवाक्येऽपीदमा स्वप्रकाशे जीव उक्ते सर्वत्र तस्य ब्रह्माभेदोऽनुभाव्यते। तृतीयवेदवाक्ये तु तत्पदस्य वाच्यं यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते सदेव सौम्येदमग्र आसीत् तमो वा इदमेकमेवाग्र आसीत् नासदासीन्नोऽसदासीत्तदानीं नासीद्रजो व्योमापरो यत् किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीत् गहनं गभीरं न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः आनीतवातं सुधया तदेकं तस्माद्धान्यं न परः किंच नासत्तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेत्यादिवाक्यार्थी-

---

से एकादशेन्द्रिय के अधिष्ठाता का ग्रहण होता है। द्वितीय वाक्य में अहं पद से जीव का ग्रहण होता है। चतुर्थ वाक्य में इदं पद से स्वप्रकाश जीव प्रतिपादित होता है। सभी जगह में जीव का ब्रह्म के साथ अभेद का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय वेद वाक्य में तत्त्वमसि में तत् पद का वाच्य जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं, हे सौम्य ! यह परिदृश्य मान जगत् उत्पत्ति के पहले सद्रूप ही था, उत्पत्ति के पहिले तम मात्र था, असत् नहीं था सद्रूप कोई पदार्थ नहीं था। उस समय में आकाश नहीं था मृत्यु नहीं अमृत नहीं दिन नहीं रात नहीं, तम था। उसने ईक्षण

भूतमनाद्यविद्यामायाश्रयो जगदुत्पत्तिस्थितिनिरोधकारणं सच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्म । तत्पदस्य लक्ष्यं तु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्मदक्षिणतः पश्चाच्चोत्तरेणाधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठमित्याद्युपनिषद्भिः प्रतीतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयं ब्रह्म । त्वं पदस्य शक्यं तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कारैः कृशस्थूलादिदेह-

---

किया, मैं एक से बहुत हो जाऊँ, इत्यादि वाक्य से अनादि अविद्या का आश्रय आकाशादि सब का उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कारण सत् चित् आनन्दात्मक ब्रह्म प्रतिपादित होता है। तत् पद का लक्ष्य तो सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है वह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही पूर्व में है ब्रह्म ही दक्षिण में, पश्चिम में, उत्तर में ऊधः अर्ध्व में सर्वत्र व्याप्त है ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से जाना गया नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्य परमानन्दात्मक अद्वय ब्रह्म ही लक्ष्य है। त्वं पदका शक्य वाच्य अर्थ जीव है जो कि देह इन्द्रिय मन बुद्धि प्राण अहंकार से तथा स्थूलत्व कृशत्वादि देह धर्म से, मूकत्व बधिरत्व आदि इंद्रिय धर्म से, काम इच्छा संकल्पादि रूप अन्तःकरण धर्म से अस्ति उत्पत्ति वृद्धि परिणाम अपक्षय विनाशात्मक छै भाव विकार से, अशना पिपासा शोक जरा मरणादि, रूप छै उर्मी से, त्वचा मांस मेद रुधिर अस्थि मंज्जा रूप छै कोश से युक्त है, आध्या-

धर्मैर्मूकत्वादीन्द्रियधर्मैः कामादिभिरन्तःकरणधर्मैः अस्तित्वोत्पत्तिविवृद्धिपरिणत्यपक्षयविनाशैः षड्भिर्भावविकारैः अशनायापिपासाशोकजरामरणैः षड्भिरूर्मिभिः त्वग्रुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जात्मकैः षड्भिः कोशैरुपेत आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकेन तापत्रयेणाभिभूतः स्वर्गनरकाद्यनुभवी प्रत्यगात्मा ।

त्मिक अधिदैविक आधिभौतिक लक्षण तापत्रय से अभिभूत है स्वर्ग नरकादि स्थान का अनुभव करने वाला प्रत्यगात्मा है वही त्वं पद का वाच्य अर्थ है। और जो यह विज्ञानमय हृदय के भीतर ज्योतिः स्वरूप है इस वाक्य से प्रतिपादित देहादि से विलक्षण देहादि का साक्षी रूप है सो त्वं पद का लक्ष्य है। यहाँ जहदजहत्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा) से तत्त्वं में जो विरुद्धांश है, जैसे त्वं पदार्थ में अविद्यक जो देहादि संबन्ध है उस को हटा करके त्वं पदार्थ का एकदेश प्रत्यगात्मा को। एवं तत् पदार्थैक माया संबन्ध को छोड़ कर के त्वं पदार्थैकदेश अन्तर्ज्योति स्वरूप को तत्पदार्थैक देश ब्रह्म के साथ अभिन्नता का प्रतिपादन असि पद से होता है। यहाँ लक्षणा का अर्थ है तात्पर्यमात्र। उपदेश द्वारा जायमान एतादृश वाक्यार्थज्ञान ही तत्व ज्ञान है जो कि श्रोतव्य इत्यादि विधि का विषय है। ऐसा होने से आत्मा से अतिरिक्त वस्तु में प्रकाशात्मकत्व का निराकरण होने से। तात्पर्य रूप से श्रुति द्वारा

लक्ष्यं तु योऽयं विज्ञानमयो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष इत्यादिवाक्यैर्निरूपितो देहादिविलक्षणस्तत्साक्षीति ॥

अत्र च जहदजहत्स्वार्थलक्षणया तत्त्वविरुद्धमाविद्यकं देहादिसम्भेदमपास्य त्वं पदार्थैकदेशं प्रत्यगात्मानमन्तर्ज्योतिरादिरूपं तत्पदार्थीभूतब्रह्माभिन्नतयाऽसिपदेनानुभाव्यते । लक्षणा च तात्पर्यमात्रम् । एतादृशमेव वाक्यार्थज्ञानमौपदेशिकं तत्त्वज्ञानं श्रोतव्य इत्यादिविधिविषयीभूतमिति । एवं च आत्मातिरिक्ते प्रकाशासम्बन्धेन निरस्ते प्रत्यगात्मनि च परमात्माभिन्नतया श्रुत्या तात्पर्यतोऽविद्यादशायामनुभाविते सिद्धं ब्रह्माद्वैतमिति वदन्ति ॥

तत्रोच्यते । शब्दो न साक्षात्कारकारणम् चक्षुषा साक्षात्कारं करोमीतिवत् शब्देन साक्षात्करोमीत्यनवगतेः । किञ्चात्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्याद्युपक्रम्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन

जीवात्मा को परमात्मासे अविद्या दशा में अभेद का प्रतिपादन होने से ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होती है ऐसा अद्वैत मतानुयायी लोग कहते हैं ।

अब नैयायिक समाधान करते हैं—शब्द साक्षात्कारी ज्ञान में (प्रत्यक्ष ज्ञान में) करण नहीं हो सकता है । क्योंकि चक्षु से साक्षात्कार करता हूं इसके समान शब्द से साक्षात्कार करता हूँ ऐसी प्रतीति नहीं होती है । किं च आत्मा देखने योग्य है इत्यादि

मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवतीति शतपथे श्रवणात्तुल्य-वत्प्रतिपत्तिचतुष्टयावगतेर्नाङ्गाङ्गिभावः । हन्तैवमात्मज्ञानेन सर्वं विदितं भवतीति शतपथादप्यात्माभिन्नं सर्वं सिद्ध्ये-दिति चेन्न । सर्वस्याविद्यकतयात्मनश्च तात्त्विकत्वेन तयोर-

---

उपक्रम करके अरे आत्मा के दर्शन से श्रवण से मति से विज्ञान से यह परिदृश्यमान संपूर्ण जगत् विदित हो जाता है। इस शतपथब्राह्मण से सुनने में आता है तो एक रूप से चारों प्रकार (दर्शन श्रवण मनन निदिध्या-सन) का ज्ञान अवगत होने से चारों ही समान है नहीं तो इन चारों में परस्पर अङ्गाङ्गी भाव है। अङ्गाङ्गी भाव मानने से तुल्यत्त्वावगम वाधित हो जायगा। आत्मज्ञान से यह सब विदित हो जाता है। इस शतपथ से तो यही सिद्ध होता है कि सभी पदार्थ आत्मा से अभिन्न हैं। (यदि यह कार्य जात आत्मस्वरूप न हो तो आत्मा के जानने से कैसे जाना जायगा? क्या अश्व के ज्ञान से गो जाना जाता है? इसलिये सब में अत्माभिन्नत्व सिद्ध होता है) ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि आकाशादि प्रपंच आविद्यक हैं और आत्मा तात्त्विक है तो इन दोनों में अभेद होना असंभव है। (क्या कभी भी शुक्ति रजत और घट एक होता है? क्यों? तो इसमें एक प्रतिभासिक है और घट व्यावहारिक है। अतः इन दोनों में (तात्त्विक और

भेदासम्भवात् किं तु तज्ज्ञानं स्तूयते। अपि च नित्यानित्य-वस्तुविवेके शमदमादिमुमुक्षाभोगवैराग्यैर्ब्रह्मविचारेऽधिकार इत्यात्थ। अत्राद्यो न तावद् ब्रह्मविचारादेव अन्योन्याश्रयात्। नापि न्यायात् ब्रह्मविचारस्य न्यायपूर्वकत्वनियमापत्तेः। न चेष्टापत्तिरपसिद्धान्तात्। किञ्च श्रुतिजन्या ब्रह्माद्वैतविषया धीर्न तावद् ब्रह्माभिन्ना अजन्यत्वापत्तेः।

आविद्यक में) अभेद कथमपि नहीं हो सकता है। किंतु शतपथ में जो अभेद कहा गया है सो ज्ञान की स्तुति मात्र है। और भी नित्य अनित्य वस्तु का विवेक, इहामुत्रार्थ फल भोग विराग, शम दमादि साधन षट्क, और मुमुक्षुत्व इन चार को आप ब्रह्म विचार में कारण कहते हैं, अर्थात् इन चार के रहने से ही ब्रह्म विचार होता है, अन्यथा नहीं। तो इन चार में जो प्रथम है, नित्यानित्य वस्तु विवेक, वह क्या ब्रह्म विचार से ही होता है? यदि ऐसा मानलें तब तो अन्योन्याश्रय होगा। क्योंकि ब्रह्म विचार करने पर नित्यानित्य वस्तु विवेक होगा, और नित्यानित्य वस्तु विवेक होने पर ब्रह्म विचार होगा। न वा न्याय से (युक्ति से) ब्रह्म विचार होगा। ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि ऐसा मानने से ब्रह्म विचार को न्याय पूर्वकत्व हो जायगा। इसमें इष्टापत्ति नहीं कह सकते हैं, क्योंकि आपका सिद्धान्त नहीं है। और भी श्रुतिसे होने वाली

नापि ब्रह्मभिन्ना परप्रकाशापत्तेः । तद्भेदाभेदाभ्यां न सा निर्वक्तुं शक्यत इति चेत् । सोऽयं पुंसोऽपराधो न तु वस्तुनः । वस्त्वेव तत्तथेति चेत् । अहो मोहो येन प्रमाणगोचरस्यावस्तुत्वं तदगोचरस्य तु वस्तुत्वमङ्गीकार्यते नूनं गगनारविन्दादिकमपि वस्तु मंस्यसे । किञ्च सर्वशून्यतानगरं

ब्रह्माद्वैत विषयक बुद्धि ब्रह्म से अभिन्न है अथवा भिन्न है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मनित्य है तो उससे अभिन्न जो अद्वैत ज्ञान सो जन्य कैसे होगा ? यदि द्वितीय पक्ष मानें तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि भेद मानने से ब्रह्माद्वैत ज्ञान पर प्रकाश्य हो जायगा । नहीं कहें कि भेदाभेद अनिर्वचनीय की सिद्धि होती है । सो भी ठीक नहीं है क्योंकि अनिर्वचनीयत्व तो पुरुष का अपराध है पदार्थ का अपराध नहीं है । नहि कहें कि पदार्थ ही ऐसा है जो अनिर्वचनीय है, ऐसा कहा है कि "यथा यथार्थाश्चित्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा । यदेतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयमिति ।"

समाधान—आपको यह मोह है कि प्रामाणिक जो पदार्थ उसको तो अवस्तु कहते हैं और जो प्रमाण का विषय नहीं है उसको वस्तु मानते हैं । अर्थात् ब्रह्म विषयक जो वृत्ति है जिसमें पूर्वोक्त विकल्प द्वारा प्रमाण सिद्धत्व नहीं बनता है उसको वस्तु रूप मानते हैं और सकल

विज्ञाननगरं वा प्रविश स्वीकुरु वा पारमार्थिकीं प्रमाणगम्यतामिति । अपि च स्वप्रकाशत्ववत् स्वात्मिकाया लौकिक्याः प्रकाशक्रियायाः कर्मत्वं वाच्यम् । तच्च न । अभेदे क्रियाकर्मभावानुपपत्तेः । अलौकिकधीचतुष्के त्वगतिः समाधिः ॥

अथ किमिदं कर्मत्वम् । न तावत्क्रियाफलशालित्वम् ।

प्रमाणसिद्ध जो आकाशादि पदार्थ स्वक्रिया में समर्थ हैं उनको नहीं मानते हैं। इस स्थिति में तो आप गगनकुसुम को भी वस्तु ही मानेंगे। और भी इस स्थिति में आप सर्व शून्यता नगर (माध्यमिक के सिद्धान्त) में प्रवेश कीजिये अथवा विज्ञानवादी के नगर में प्रवेश कीजिये (अर्थात् माध्यमिक या विज्ञानवादी का मत लेकर आप कह रहे हैं। अतः आपको स्वसिद्धान्त परित्याग रूप दोष होता है)। अथवा पारमार्थिक प्रमाण गम्यत्व सबको मानिये। और भी जैसे ज्ञान में स्वप्रकाशत्व मानते हैं उसी तरह स्वात्मक जो लौकिक प्रकाश क्रिया है उसका कर्म ज्ञान को मानिये। परन्तु यहाँ यह हो नहीं सकता है, क्योंकि अभेद में क्रिया का कर्म भाव नहीं होता है। अलौकिक जो चार ज्ञान हैं उनमें तो अगति ही समाधान है।

शंका—यह कर्मत्व वस्तु क्या है ? क्रिया के द्वारा होने वाला जो फल, तादृश फल का जो आश्रय हो उसका नाम है कर्म। जैसे "चैत्रो ग्रामं गच्छति" चैत्र गाँव जाता

गमनक्रियाफलीभूतग्रामसंयोगशालिनो ग्रामस्येव चैत्रस्यापि कर्मतापत्तेः। किं तु परसमवेतेति क्रियाविशेषणम्। ननु परत्वं न तावत् कर्मत आत्माश्रयापत्तेः। नापि फलाश्रयतः कर्तुरपि संयोगविभागरूपफलाश्रयत्वादिति चेन्न। तत्क्रियान-

---

है, यहाँ क्रिया है गमन, उस क्रिया से जायमान जो फल संयोगरूप फल उसका आश्रय है गाँव, उसको कर्म कहते हैं तो यह लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि "चैत्रो ग्रामं गच्छति" यहाँ जैसे ग्राम की कर्म संज्ञा होती है उसी प्रकार से चैत्र की भी कर्म संज्ञा हो जायगी। क्योंकि यहाँ क्रिया जो गमन रूपा है उससे होने वाला फल संयोगरूप फल उसका आश्रय जैसे ग्राम है, उसी प्रकार से चैत्र भी है। संयोग द्विष्ठ होता है। संयोग ग्राम तथा चैत्र दोनों में ही रहता है। अतः क्रिया जन्य फलशाली हो वह कर्म है। यह लक्षण ठीक नहीं है। किन्तु परसमवेतत्व, यह भी क्रिया का विशेषण है। अर्थात् परसमवेत जो क्रिया उससे जायमान जो फल उस फल का जो आश्रय होता है उसको कर्म कहें तो एतादृश फलाश्रत्व ग्राम में ही है चैत्र में नहीं है।

शंका—जो यह परत्व विशेषण देते हैं सो कर्मापेक्षया परत्व कहते हैं अथवा फल की अपेक्षा से परत्व, कहते हैं? इसमें प्रथम पक्ष कर्म की अपेक्षा से परत्व यह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि आत्माश्रय दोष हो जायगा। कर्म का

धिकरणत्वे सति तत्क्रियाफलशालिनः कर्मत्वात्। हन्त तर्हि वृक्षात् पतति पत्रेऽपादानीभूतस्यापि वृक्षस्य पत्रनिष्ठस्पन्द-क्रियाजन्यविभागरूपफलाश्रयतया कर्मतापि स्यात्। तथा च वृक्षं पत्रं पततीति स्यात्। न स्यात् धात्वर्थतावच्छेदकत्वेन फलविशेषणात्। पूर्वविभागस्तु न पतिधात्वर्थतावच्छेदक इति

लक्षण कर्म घटित हो जाता है। न वा फलापेक्षया परत्व विवक्षित है। जो द्वितीय पक्ष है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि संयोग विभाग रूप जो क्रिया जन्य फल उसका आश्रय कर्ता भी होता है।

उत्तर–तत् क्रिया का अनधिकरण हो और तत् क्रिया जन्य जो फल शाली हो उसको कर्म कहते हैं। ऐसा कर्म लक्षण करने से कर्ता में अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योंकि कर्ता गमनादि क्रिया का अनधिकरण नहीं होता है।

लघुपूर्व पक्ष–तब तो वृक्ष से जब पत्ता गिरता है वहाँ वृक्ष अपादान है, किन्तु पत्र में रहने वाली जो पतन क्रिया तादृश क्रिया से जायमान जो विभाग रूप फल तादृश विभागात्मक फल का आश्रयत्व वृक्ष में भी है, कर्म संज्ञा हो जायगी। यहाँ वृक्ष अपादान है कर्म नहीं है किन्तु उक्त लक्षण के जाने से 'वृक्षं पर्णं पतति' ऐसा भी प्रयोग हो जायगा। अर्थात् कर्म लक्षण को अतिव्याप्ति अपादान में हो जायगी।

न तरुः पतेः कर्म । अत एव पत्रस्पन्दक्रिया यदा त्यजिनोच्यते तदा वृक्षः कर्मेश पूर्वविभागस्यैव त्यजिधात्वर्थतावच्छेदकत्वात् । यद्यपि यमेव स्पन्दं त्यजिराह तमेव पातरपि । तथा च त्यजेरेव प्रयोगे तरुः कर्म न तु पतेरपि शब्दशक्तिवैचित्र्यात् । तथा च विशिष्टस्यैव तत्तद्धात्वर्थतावच्छेदकफल-

---

उत्तर—फल में धात्वर्थतावच्छेदकत्व यह विशेषण देने से । अर्थात् क्रिया जन्य जो फल है वह कैसा हो ? तो धात्वर्थ का विशेषण हो ? पृकृत स्थल में पूर्व विभाग पतधात्वर्थतावच्छेदक नहीं है इसलिये पतन क्रिया का कर्म वृक्ष नहीं होता है । अत एव पत्र में होने वाली स्पन्दन क्रिया जब त्यज धातु से कही जाती है तब तो वृक्ष कर्म कहलाता है 'वृक्षं त्यजति पत्रम्' ऐसा प्रयोग होता है (यहाँ पत्र है कर्ता त्याग है धात्वर्थ वृक्ष है कर्म) क्योंकि यहाँ पूर्व विभाग त्यज धात्वर्थतावच्छेदक है । यद्यपि जिस स्पन्द को त्यज धातु कहता है उसी स्पन्द को पत धातु भी कहता है तथापि त्यज धातु के प्रयोग में ही वृक्ष की कर्म संज्ञा होती है, पत धातु के प्रयोग में नहीं । कर्म संज्ञा वृक्ष को होती है, क्योंकि शब्द की शक्ति विचित्र होती है (त्यज धातु तथा पत धातु के समानार्थकत्व होने पर भी त्यज धातु के योग से ही वृक्ष की कर्म संज्ञा होती है 'वृक्षं त्यजति पत्रम्' यह प्रयोग होता है और पत धातु के योग

शालित्वम् तत्तद्धातुप्रयोगे तत्तत्कारकस्य कर्मत्वमित्यननुगतमेव कस्याः क्रियायाः किं कर्मेति विशिष्यैवाकाङ्क्षोदयात् । नन्वेवं नदी वर्धत इत्यत्र वृद्धिरवयवोपचयरूपा धात्वर्थः । तत्फलं त्वप्राप्तदेशप्राप्तिः । तच्च तीरनिष्ठमतस्तीरं कर्म स्यात् । एवं पतेःस्पन्दविशेषोऽर्थः । तत्फलं त्वधःसंयोगः । स चाधोनिष्ठ इत्यधः कर्म स्यात् । तेन नदीतीरं वर्धत इति भूतलं पत्रं पततीति च प्रयोगः स्यादिति चेदत्र प्राञ्चः । अप्राप्तदेशप्राप्त्युपहितावयवोपचयस्य विशिष्टस्यैव वृद्धिधात्वर्थत्वम् । तथाऽधःसंयोगावच्छिन्नस्पन्दस्य पत्यर्थत्वमिति तीराधःपदार्थयोरुक्तसंयोगविशेषवतोर्धातुभ्यामेवोपस्थितिरिति न तत्र कर्मविभक्तिराकाङ्क्षाविरहात् । तदुक्तम् ।

धातोरर्थान्तरे वृत्तौ धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥इति॥

में वृक्ष की कर्म संज्ञा नहीं होती है :वृक्षात्पतति पत्रम' यही प्रयोग होता है । (क्योंकि शब्दका सामर्थ्य अलग अलग होता है) ऐसा होने से विशिष्ट को ही तत् धात्वर्थताव-च्छेदक फलशालित्व है । अतः तत्तत् धातु के प्रयोग में तत् तत् कारक को ही कर्मत्व होता है सबको नहीं । अतः कर्मत्व अनुगत नहीं है किन्तु अनुगत ही कर्मत्व है । क्योंकि किस क्रिया का कौन कर्म है ? इस प्रकार से विशेष रूप से ही आकांक्षा होती है ।

संगच्छते इत्यादौ धातोरर्थान्तरे वृत्तिः । वर्धते पतती-

शंका—पूर्व क्रम से 'नदी वर्धते' इस स्थल में धात्वर्थ है वृद्धि । वृद्धि कहते हैं अवयव का उपचयापचय (बढ़ने-घटने) को । फल है अप्राप्त देश की प्राप्ति, यह जो अप्राप्त देश की प्राप्ति, फल है सो तीर में रहता है, तब तीर को भी कर्म संज्ञा होनी चाहिये और नदी वर्धते तीरे के समान 'नदी तीरं वर्धते' यह भी प्रयोग साधु प्रयोग कहलाना चाहिये, अर्थात् जो तीर अधि- करण है वह कर्म हो जायगा । अधिकरण में कर्मलक्षण जाने से अतिव्याप्ति हो रही है एवं पत् धातु का अर्थ है स्पन्द विशेष, अर्थात् विलक्षण क्रिया । उस क्रिया से जायमान फल होता है उधः संयोग, यह संयोग अधोदेश भूतलादिक में रहता है तो अधोदेश भूतलादिक भी कर्म हो जायगा । तब तो 'नदी तीरं वर्धते' 'भूतलं पत्रं पतति' ऐसा भी प्रयोग होना चाहिये । परन्तु ऐसा तो प्रयोग नहीं होता है ।

इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन के सिद्धान्त से कहते हैं कि अप्राप्त देश प्राप्ति से उपहित जो अवयवोपचय वही विशिष्ट रूप से वृध धात्वर्थ है (अर्थात् अप्राप्त देश प्राप्त्यु-पहितत्व विशिष्ट अवयवोपचय धात्वर्थ है) तथा अधः संयोगवच्छिन्न जो स्पन्द (क्रिया) यही पत धातु का अर्थ है, अतः तीर तथा अधः पदार्थ तत्तत्संयोग विशिष्ट की

त्यादौ धात्वर्थेनोपसंग्रहः । माघे माघे व्रजाम्यहमिति काञ्चन-मालिनीवाक्ये प्रयागमिति । प्रसिद्धेरविवक्षातो यथा । गच्छ

उपस्थिति धातु द्वारा ही होती है तब उन दोनों में आकांक्षा का अभाव होने से कर्म विभक्ति नहीं होती है। यदि तीर तथा अधोदेश की उपस्थिति नहीं होती तो द्वितीया विभक्ति द्वारा उन दोनों की उपस्थिति के लिये द्वितीया विभक्ति आवश्यक होती। किन्तु यहाँ तो धातु से ही वह दोनों उपस्थित हो जाते हैं। इस स्थिति में कर्मत्व अनावश्यक है। इस विषय को लेकर वैयाकरणों ने कहा है "धातु यदि अर्थान्तर में वृत्ति हो एवं धात्वर्थ से जिसका संग्रह होता हो, और जो कर्म उसकी अविवक्षा हो, उन स्थलों में सकर्मक क्रिया भी अकर्मिकी कहलाती है। संगच्छते में गम् धातु अर्थान्तर में है। (गम धातु का अर्थ होता है गमन्,) परन्तु प्रकृत मिलना यह अर्थ होता है। इस धातु की वृत्तिता अर्थान्तर में है। वर्द्धते तथा पतति में अधोदेश तथा तीरादिक धात्वर्थ से उपसंगृहीत होता है। एवं माघे माघे व्रजाम्यहम्' हरेक माघ में जाती हूँ, इस कांचनमालिनी वाक्य में 'प्रयागम्' प्रसिद्धि की अविवक्षा का उदाहरण है। "गच्छ गच्छसि चेत्" यहाँ धात्वर्थ प्रसिद्ध है गमन। परन्तु गमन की विवक्षितता नहीं है किन्तु गमनाभाव विवक्षित है। अतः यहाँ सकर्मक धातु भी

गच्छसि चेत् कान्तेत्यादावित्याहुः ॥

नव्यास्तु वृधेर्व्यापारोऽर्थः अवयोपचयः फलं तदवच्छेदकमिति न तीरं कर्म तादृशफलभागित्वाभावात् । पतेस्त्वधः

अकर्मक होता है, यहाँ कर्म की आवश्यकता नहीं है, अकर्मक होने से । गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः । ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् (हे कान्त यदि आप जाना चाहते हैं तो जाइये, आपका मार्ग कल्याणकारक हो, किन्तु मेरा भी जन्म उसी स्थान में हो जहाँ आप जा रहे हैं) अब यहाँ गमन में तात्पर्य नहीं है, जाने पर मेरा मरण हो जायगा क्योंकि जन्म मरणोत्तर कालिक है; अतः गमन का विधान नहीं है किन्तु गमन का निषेध होता है, इसलिये गम धातु का प्रसिद्ध जो गमन उसकी विवक्षा नहीं की जाती है अतः अकर्मक हो जाता है ।

नवीन प्रकृत में समाधान करते हैं—वृध धातु का व्यापार अर्थ होता है, अवयवोपचय फल है, वह फल धात्वर्थतावच्छेदक है इसलिये तीर कर्म नहीं है क्योंकि धात्वर्थतावच्छेदकीभूत जो फल है उसका आश्रय तीर नहीं होती है । अतः 'नदी तीरं वर्द्धते' ऐसा प्रयोग नहीं होता है । और पत धातु का अधोदेश कर्म है क्योंकि धात्वर्थ के उपलक्षणी भूत तत्तत्फल रूप संयोग का आश्रय

कर्मैव धात्वर्थोपलक्षणीभूततत्तत्फलरूपसंयोगाश्रयत्वात् । कर्म-विभक्तिरपि तत्र । अत एव–

उद्धृत्य मेघैस्तत एव तोयमर्थं मुनीन्द्रैरिव संप्रणीताः ।
विलोकयामास हरिः पतन्तीर्नदीः स्मृतीर्वेदमिवाम्बुराशिं ॥

इति माघकाव्यमपि ।

अत एव न अकर्मकधातुगणे लज्जासत्तास्थितिजागरणम् इत्यादौ पतेः पाठः द्वितीयाश्रितातीतपतितेत्यादिना नरकं पतित इत्यादौ समासश्चापि घटत इत्याहुः ॥

नन्वधस्तीरयोः कथं कर्मताशङ्कापि पतने वृद्धौ च

होने से । अतः वहाँ कर्म विभक्ति भी वही होती है माघ काव्य प्रयोग में कर्म विभक्ति होती है ऐसा कहा है "उस समुद्र से मेघ जल लेकर के समुद्र में गिरती हुई नदी को भगवान् ने देखा, जैसे वेद से अर्थ लेकर मुनियों द्वारा बनाई गई स्मृति पुनः वेद रूप समुद्र में ही गिरती हैं, अर्थात् चरितार्थ होती हैं । अत एव अकर्मक धातु के परिगणन में लज्जा तत्ता स्थिति जागरण वृद्धि क्षयादिक में पत धातु का पाठ नहीं किया है । और 'द्वितीयाश्रितातीतपतितेति' इस सूत्र से 'नरकं पतितः' इत्यादि स्थल में समास भी होता है ऐसा कहा है ।

शंका–अधोदेश तथा तीर में कर्मत्व की आशंका ही कैसे होती है ? क्योंकि पतन में तथा वृद्धि में तो कारकत्व

कारकत्वाभावात् कारकविशेषस्य च कर्मत्वादिति चेद् भ्रान्तोऽसि । द्वितीयाप्रयोगो ह्यापाद्यते स चाकारकेऽपि प्रकृतक्रियाफलशालिनि यथा ग्रामादौ । कुत्र तर्हि कीदृशी

ही नहीं है और कारक विशेष का ही नाम होता है कर्म। (कार्य का जो जनक होता है उसका नाम होता है कारण) वह कारण तीन प्रकार का होता है, समवायि कारण असमवायि कारण और निमित्त कारण। पुनः निमित्त कारण छै प्रकारका होताहै—कर्ता कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण। अतः कर्म होगा सो कारक अवश्य होगा। अतः जो कारक होगा सो कारण होगा ही। और कारण जो होता है सो कार्य का जनक ही होता है। एक नियम और है कि व्यापक का अभाव होने से व्याप्य का अभाव होता है, तब प्रकृत में कर्म में व्यापक जो जनकता है उसका जब अभाव है तब कारकत्व कैसे रहेगा ? और कारकत्व जनकत्व कैसे होगा ? कर्म तो क्रिया का जनक नहीं है यह पूर्व पक्षी का आशय है।

समाधान—तुम भ्रान्त हो, मैं तो द्वितीया विभक्ति के प्रयोग में आपत्ति दे रहा हूँ, यह प्रयोग तो कारक भिन्न धात्वर्थतावच्छेदक फलशाली में होता है। जैसे 'ग्रामं-गच्छति' इस प्रयोग में यहाँ धात्वर्थतावच्छेद संयोग रूप फल का जनक तो देवदत्त है क्योंकि देवंदत्त चलन कर्ता है

द्वितीया व्रीहीन् प्रोक्षति घटं पश्यामीत्यादौ कर्मत्वे शाक्ती आत्मनं जानातीत्यादौ तु तत्र भाक्ती परत्वाभावात्। ग्रामं गच्छतीत्यादावपि तथा ग्रामोदेस्तत्क्रियायामकारकत्वात्। एवं वह्निमनुमिनोमीत्यादावपीति। विस्तरस्तु तत्त्वालोके मयैवोक्त इतीहोपरम्यते।

ग्राम जनक नहीं है आश्रयमात्र है।

शंका—तब किस फल में किस प्रकार की द्वितीया होती है।

उत्तर—सुनो ! 'व्रीहीन् प्रोक्षति' व्रीही का प्रोक्षण करता है 'घटं पश्यामि' घट को देखता हूँ। इस स्थल में शाक्ती कर्मता है, व्रीही तथा घट प्रोक्षण तथा ज्ञान क्रिया का जनक है। 'आत्मानं जानाति' आत्मा को जानता है यहाँ भाक्ती कर्मता है, क्योंकि यहाँ पर समवेत क्रिया नहीं है, और ग्रामं गच्छति। ग्राम जाता है, यहाँ भी भाक्ती कर्मता है क्योंकि यहाँ भी ग्राम में क्रिया जनकत्व, नहीं है। यहाँ तो गमन रूप क्रिया जनकत्व तो देवदत्त रूप कर्ता में है। एवं 'वह्निमनुमिनोमि' वह्निका अनुमान करता हूँ, यहाँ भाक्ती कर्मता ही है, क्योंकि यहाँ भी क्रिया का जनक वह्नि नहीं है। इस विषय का विस्तृत विचार मत्कृत तत्वालोक में देखें। अतः इस विषय को मैं यहाँ ही छोड़ता हूँ।

यत्तु स्वकर्मत्वं स्वप्रकाशत्वमुक्तदोषैर्माभूत् अस्तु स्वविषयत्वमेव स्वप्रकाशत्वम्। यद्वा स्वव्यवहारे ज्ञानान्तरानपेक्षत्वमेव स्वप्रकाशत्वं स्वस्मिन् सत्येव स्वव्यवहारात्। अथ विषयविषयिभावो भेदे दृष्टस्तथा व्यवहारो व्यवहर्तव्यज्ञाना-

---

जिस किसी ने कहा कि यद्यपि स्व का जो कर्म है उसी का नाम स्वप्रकाश है, यह स्वप्रकाशकता लक्षण नहीं बनता है तो भले न बने, क्योंकि स्व में स्व को कर्मत्व नहीं होने से। तथापि स्व का जो विषय हो उसी का नाम है स्व प्रकाश। अथवा स्व के व्यवहार में ज्ञानान्तर की अपेक्षा न करे उसको स्व प्रकाश कहते हैं। स्व के रहने से ही स्व का व्यवहार होता है। क्या घट के अभाव रहने पर घट का व्यवहार कभी भी हो सकता है? अतः स्व के (ज्ञान के) व्यवहार में अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिये ज्ञान स्व प्रकाश है। एतादृश स्व प्रकाशत्व लक्षण बन सकता है।

अवान्तर पूर्व पक्ष—अथेत्यादि विषय विषयी भाव संबन्ध वहीं होता है जहाँ परस्पर भेद रहता है, जैसे घट और ज्ञान में। घट और ज्ञान जब परस्पर भिन्न हैं तब ही दोनों में विषय विषयो भाव रूप होता है, इतर संबध का बाध होने से। इसी प्रकार का व्यवहार जहाँ होता है वहाँ व्यवहर्तव्य पदार्थ का ज्ञान अवश्य रहता

दृष्टः । तथा च तदुभयं विनापि विषयविषयिभावस्य व्यवहारस्य चाङ्गीकारे दृष्टविरोधः स्यादिति चेन्न । यदि स्वप्रकाशो न स्यात् तदा ज्ञानमेव न सिद्ध्येत् परप्रकाशेऽनवस्थानादित्यन्यथानुपपत्त्या दृष्टविरोधविधूननादिति । तन्न । परप्रकाशपक्षे ऽप्यनवस्थाया निरस्तत्वेनान्यथानुपपत्तेरनवतारात् ।

है अन्यथा व्यहर्तव्य के ज्ञान के बिना भी व्यवहार हो जायगा, तव तो भेद और ज्ञान के बिना भी विषय विषयी भाव और ज्ञान के बिना भो ज्ञान का व्यवहार मानलेवें तो दृष्ट विरोध होता है ।

समाधान–ऐसा मत कहो । क्योंकि यदि ज्ञान को स्व प्रकाश न मानो तव तो वह ज्ञान ही नहीं होगा । अर्थात् ज्ञानत्व की सिद्धि नहीं होगी । यदि ज्ञान को परतः प्रकाश मानें तो अनवस्था हो जायगी । इसलिये अन्याथानुपपत्ति के वल से दृष्ट विरोध की शंका दूर जाती है । जैसे कहा है "अन्यथानुपपत्तिश्चेदास्ति वस्तु प्रसाधिका । पिनष्टि दृष्टि वैमत्यं सैव सर्वबलाधिकेति" । यदि पदार्थ की सिद्धि करने वाली अन्यथानुपपत्ति विद्यमान हो तो वह सर्व प्रमाणापेक्षया बलवती होकर के सभी दृष्ट विरोध को दूर कर देती है । चाहे अन्यथानुपपत्ति का जो विरोधी है अन्यथोपपत्ति उसको बतलाइये अथवा दृष्टता का जो आग्रह है उसको छोडिये । जैसे 'घट को देखता है, यहाँ

यत्तु स्वाविषयकेणाज्ञानेन स्वव्यवहारो जन्यत इति तन्न व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यविषयकधीसाध्यतानियमात् । न ह्यजानन् न वान्यं जानन् अन्यद्व्यवहरति । सत्तायामपि सद्व्यवहारः सत्तावत्त्वधीजन्य एव । किं तु सा च तत्र भ्रान्ति-

---

ज्ञाता अलग है, ज्ञेय अलग है, और ज्ञान अलग है किन्तु 'आत्मा को जानता है' यहाँ उन सब नियमों को छोडना पडता है, क्योंकि अन्यथानुपपत्ति है। इसी प्रकार से अन्यथानुपपत्ति के होने से भेद रहने पर ही विषय विषयी भाव और व्यवहर्तव्य ज्ञान रह कर के ही व्यवहार होता है। इस नियम को ज्ञान स्थल में छोडना पडता है, अन्यथानुपपत्ति होने से। अतः ज्ञान स्वप्रकाश है यह सिद्ध हुआ। अब यत्तु मत का खण्डन करते हैं–'तन्नेति' ज्ञान को पर प्रकाश मानें इस पक्ष में भी अनवस्था का निराकरण कर दिया गया है। अतः अन्यथानुपपत्ति की चर्चा ही नहीं चलती है। जिस किसी ने कहा कि स्व अविषयक जो अज्ञान उसी से स्व का व्यवहार होता है, स्व ज्ञान से स्व का व्यवहार नहीं होता है। यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि व्यवहार को व्यवहर्तव्य ज्ञान साध्यत्व का नियम होने से। कोई भी व्यक्ति जाने हुए विना व्यवहार नहीं करता है। न वा अन्य वस्तु को जान कर के अन्य का व्यवहार करता है। सत्ताओ में भी जो सद् व्यवहार होता है

बाधात् । एवं तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहौ भुवादयः कुटादय इत्यादौ क्रियावाचित्वादिना गुणीभूतस्यापि भुवः कुटश्च धीश्वरेति क्वापि नाज्ञाते व्यवहारः ॥

अथ सत्तासत्ताभ्यां विचारासहत्वाज्जगदेव शून्यमिति माध्यमिकः । चिद्व्यतिरिक्तमत एवैवमिति खाण्डनिकः ।

वह भी सत्तावत्व ज्ञानाधीन ही है । किन्तु सत्ता में जो सत्त्वावत्व ज्ञान है सो बाध होने के कारण भ्रमात्मक है, शुक्ति रजत के समान । एवं तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास में भुवादिक कुटादिक स्थल में भी क्रियावाचित्व रूप से गुणी (उपसर्जन) भूवादिक का तथा कुटादिक का व्यवहार ज्ञानाधीन ही होता है । इसलिये अज्ञात में किसी जगह व्यवहार नहीं होता है किन्तु ज्ञात में ही व्यवहार होता है । इस स्थिति में अज्ञात जो ज्ञान उसका व्यवहार नहीं होगा । अतः ज्ञान स्व प्रकाश नहीं है किन्तु परतः प्रकाश है ।

शंका—सत्व असत्व रूप से विचार करने पर इसकी सत्ता स्थिर नहीं होने के कारण से ज्ञान ज्ञेयात्मक जगत् शून्यरूप ही है, ऐसा शून्यता—वादी माध्यमिक कहता है । तथा ज्ञान व्यतिरिक्त प्रमेयात् असत् मिथ्या है ऐसा खांड-निक (वेदान्ती) कहते हैं । सूत्रकार (गौतम) ने कहा है इन दोनों के मत प्रदर्शन के प्रकरण में । जगत् असत् नहीं

तथा च सूत्रम् । नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यादिति । मैवम् । यैर्दोषैः प्रमेयजातं ग्रस्ततया विचारासहं तेदोषाः स्वकमपि ग्रसन्ति न वा । आद्ये क्व प्रमेयशून्यता तद्बीजभूतानां दोषाणामेव विलयात् । तथाप्यहमेव जयी मदुक्तदोषाणामेव प्रागल्भ्यादिति चेत् । धिङ् निस्त्रप व्याहतं ब्रुवाणोऽपि जैत्रतामिच्छसि । दूष्यदूपणसाध्यसाधनजयपराजयाः

है न वा सत् है न वा सदसत् है, सत् असत् के विरोध होने से ।

समाधान—यह प्रमेय समुदाय जिस दोष से ग्रस्त होने के कारण से विचारासह है ये दोष अपने स्वरूप को नष्ट करते हैं अथवा नहीं ? इसमें प्रथम पक्ष अर्थात् दोष अपने स्वरूप को नष्ट करते हैं, ठीक नहीं है । क्योंकि जब दोष अपने स्वरूप को भी नष्ट कर लेते हैं तब प्रमेय शून्यत्व की सिद्धि कैसे ? अर्थात् जब साधक स्वयं विलीयमान होगया तब शून्यता किस हेतु से सिद्ध होगी ?

शंका—तथापि मैं वेदान्ती ही विजयी हूँ क्योंकि मदुक्त दोष सबसे बलवान् हुआ ।

उत्तर—हे निर्लज्ज ! तुझे धिक्कार है, क्योंकि व्याहत वचन बोलता है । और फिर जय की आशा रखता है ।

पूर्व पक्ष—दूष्य तथा दोष साध्य साधन जय पराजय यह सभी वस्तु अविद्या का विलास (कार्य) है, तात्विक

सर्वेऽप्यविद्याविलसिता एवं मरुमरीचिकातोयवदिति चेत् । नूनमुमदिष्णुरसि यदेवं तत्त्वमवगच्छन्नपि निष्फले कथापथे प्रवर्तसे । न प्रवर्ते किं तु चिदात्मनि स्वप्रकाशे भरमवलम्ब्य सुखमास इति चेत् । तर्हि न त्वदुक्तदूषणानि मद्वाक्यस्पृंशि कथकानुक्तत्वादिति दूरमपसर । अन्त्ये तु दोषा एवावशिष्यन्त इति न सर्वशून्यतासिद्धिः । अथ तेषां सर्वेषां सत्त्वासत्त्वौ-दासीन्येन विचारं प्रवर्तयाम इति चेन्न । न हि तदाश्रयमाण

नहीं है । मरुमरीचिका में जल के समान ।

उत्तर–निश्चित आप पागल हैं जो इस प्रकार तत्व को जानते हुए भी निष्फल कथा में प्रवृत्त होते हैं । मैं कथा में प्रवृत्त नहीं होता हूँ, किन्तु स्वप्रकाश चिदात्मा में विश्वास रख कर सुख से बैठता हूँ । ऐसा कहो तब तो तुम्हारे द्वारा प्रयुक्त जो दूषण वह मेरे वाक्य को तो स्पर्श भी नहीं करता है । क्योंकि कथक से उक्त नहीं होने के कारण से । इसलिये तुम कथा से दूर हो जाओ । द्वितीय भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब दोष ने अपने स्वरूप को नष्ट नहीं किया तब तो अन्त में चलकर दोष स्वयं अवशिष्ट रह गया है, तब सर्वशून्यता की सिद्धि कहाँ हो सकी ?

शंका–दोषादिक सभी पदार्थ की सत्ता असत्ता में उदासीन होकर विचार को चलाता हूँ, ऐसा यदि कहो तब तो उन दोषादि पदार्थों का आश्रय करने से केवल वाणी

इति सम्भवति केवलं वाङ्मनसविसंवादजन्मा प्रलापोऽयमिति । यत्तु अद्वैते प्रमाणमुपन्यसिष्यंस्तदवताराय नैयायिकप्रश्नमद्वैते किं प्रमाणमित्येवं रूपं खण्डनकृद् वर्णयामास तेन जानीमः स न्यायनयस्य किं वदन्तीमपि नाश्रौषीत् । तथाहि न्यायनये सर्वत्र प्रमितस्यैव धर्मीकरणात् अद्वैतस्य च त्वन्मतस्य त्वन्मते गगनारविन्दायमानत्वात् व्यावृत्तत्वस्य केवलान्वयित्वोपगमात् । किञ्च नायं बुभुत्सोः प्रश्नः किं तु जिगीषोः स चाविच्चिप्सुस्तथा चाक्षेपयुक्तिं प्रत्यक्षबाधादिरूपां

मनके विसंवादमात्रसे जायमान यह निरर्थक प्रलाप होताहै ।

शंका—'यत्तु इत्यादि अद्वैत में प्रमाण के उपन्यास की इच्छा रखकर नैयायिक के मत से अद्वैत में क्या प्रमाण है ? इस तरह से खंडनकार ने जो वर्णन किया है उससे जान पडता है कि खंडनकार नें न्याय सिद्धान्त की किंवदन्ती को भी नहीं सुना है । न्याय का मत इस प्रकार का है । न्याय के सिद्धान्त में सभी जगह जो पदार्थ प्रमित है वही धर्मी होता है । भवन्मतसिद्ध अद्वैत आपके मत में आकाश कुसुम के तुल्य हैं, व्यावृत्तत्व धर्म के बलान्वयी रूप से माना गया है । और भी देखिये 'अद्वैते किं प्रमाणं, यह प्रश्न तत्व बुभुत्सु का (तत्व जानने की इच्छा वालो का) नहीं है किन्तु विजिगीषु (विंजय की इच्छा रखने वाले) का है, उसका आप निराकरण करते है ।

हृदि निधाय द्वैतनिषेधधिया किं करणमभिप्रैषीति प्रश्नः । तत्र च श्रुतिस्त्वदभिमतं करणं न घटते बाधादिति प्रष्टु-र्भावः । तथा च त्वदुक्तं सर्वमेव प्रश्नखण्डनमलग्नकमिति ॥

अथेदानीमन्योन्याभावप्रतियोगित्वमत्यन्ताभावप्रतियोगि न वेति संशये सति विधिकोटिमद्वैतं साधयितुं खण्डनकृदेक-मेवाद्वितीयम् नेह नानास्ति किञ्चनेति श्रुती तावदुदाजहार ।

उस क्षेप की युक्ति को, प्रत्यक्ष बाध रूप को हृदय में रख करके द्वैत के निषेध की बुद्धि से तुमको क्या करण है ऐसा प्रश्न कर्ता का अभिप्राय है उसमें भवदभिमत श्रुति में करणत्व नहीं घटता है क्योंकि प्रत्यक्ष बाध है, ऐसा पूछने वालों का भाव है । इस स्थिति में आप से कहे गये सभी प्रश्न खण्डन प्रकार अयुक्त हैं 'अन्यत् भुक्तमन्यद्वान्तम्' के समान हैं ।

शंका—अन्योन्याभावीय प्रतियोत्वि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है अथवा नहीं है ? इस प्रकार का संशय होता है, यहाँ विधि का अङ्गीकार करके अद्वैत की सिद्धि करने के लिये खण्डनकार श्रीहर्ष "एकमेवाद्वितीयम्" एक अद्वैत त्रिविध भेद रहित ब्रह्म है । तथा "नेह नानास्ति किंचन" द्वैतविशिष्ट ब्रह्म में नाना कोई भी दृश्य नहीं है । इस श्रुतिद्वय को प्रमाण रूप से कथन किया है, उस श्रुति में ब्रह्म प्रकृत (प्रक्रान्त) है इस स्थल में ब्रह्म एक

तत्र च ब्रह्मेति प्रकृतम् । तेन यद्यपि ब्रह्मैकमेव द्वितीयं ब्रह्म नास्ति एवकारस्तत्राभेदं नियमयन् भेदाभेदं वारयति तथा अद्वितीयं ब्रह्मणि ब्रह्मप्रतियोगिकोऽन्योन्याभावो नास्तीत्यापाततो व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थः प्रतीयते । तथापि नात्र श्रुतेस्तात्पर्यम् । एवं कृत्वोह्येयं गिरागिरेति ब्रूयादितिवदर्थवादत्वापत्तेः । किं तु श्रुत्यन्तरैकवाक्यत्वानुरोधादप्राप्ते शास्त्रमर्थ-

---

ही है द्वितीय ब्रह्म नहीं है । श्रुति घटक एव कार सर्वथा अभेद का प्रतिपादन करता है । अतः भेदाभेद का निराकरण होता है तथा अद्वितीय पद का ब्रह्म में ब्रह्म प्रतियोगिक अन्योन्याभाव नहीं है, एतादृश अर्थ आपाततः व्युत्पत्ति बल से लब्ध प्रतीयमान है । तथापि इस अर्थ में श्रुति का तात्पर्य नहीं है । क्योंकि "एवं कृत्वा उपह्रेयं गिरागिरेति ब्रूयात्" ऐसा करके गिरा गिरा, यही बोलना चाहिये । इस वाक्य के समान प्रकृत वाक्य अर्थवाद मात्र हो जायगा । किन्तु श्रुत्यन्तर के 'सदेव सौम्येदमग्रे आसीत्" (हे सौम्य श्वेतकेतु यह परिदृश्य मान जगत् उत्पत्ति के पूर्व में सद्रूपही था) के साथ एक वाक्यता के अनुरोध से तथा प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र अर्थवान् (सफल) होता है । इस न्याय से उक्त श्रुतिद्वय का अद्वैत अर्थ में ही तात्पर्य है ।

शंका—यह घट पटादिक में भेद का ग्रहण करने वाला

चदित्यतश्चाद्वैते तत्तात्पर्यम् । न च घटपटादिभेदप्रत्यक्ष-बाधादिबलान्मुख्यमर्थमपास्य मुमुक्षुणा केवलात्मभावनानिष्ठेन भावितव्यमित्यत्र श्रुतेस्तात्पर्यमिति वाच्यम् । भेदप्रत्यक्षस्य घटपटादिविषयत्वेन श्रुतेश्चापाततस्तदविषयत्वेन विषयभेदेन बाधनायोगात् । क्रत्वङ्गीभूतहिंसाया विदिताया रागप्राप्त-

---

जो प्रत्यक्ष उससे बाध होने से अद्वैत वाक्य मुख्यार्थ को छोड़कर मुमुक्षु को केवल आत्म भावना निष्ठ होकर के रहना चाहिये, इस अर्थ में तात्पर्य क्यों नहीं होगा ?

समाधान–प्रत्यक्ष घट पटादि नियत विषयक भेद का ग्रहण करता है और आपाततः सर्वविषयक अभेद का ग्रहण करने वाली है । अतः विषयभेद होने से प्रत्यक्ष में बाधकत्व तथा श्रुति में बध्यत्व नहीं होता है। यद्यपि "अग्निषोमीयपशुमालभेत" अग्निषोम निमित्तक पशु का आलम्भन करना, इस श्रुति से प्राप्त जो हिंसा है उसमें राग प्राप्त होने से "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" किसी भी देश काल में प्राणी का नाश नहीं करना, इस श्रुति में बाध होता है, उसी प्रकार से अद्वैत श्रुति घट पटादि प्रत्यक्ष के साथ स्वजन्य अभेद ज्ञान का तथा घट एवं पट के साथ तथा घट पट तद्भेद के साथ तद्विषयक प्रत्यक्ष का तथा तत्तद्विषयक प्रत्यक्ष परस्पर अभेद का अवगाहन (विषय) करे । इन सब का परस्पर

हिंसानिषेधः श्रुत्यैवेति । तथा अद्वैतश्रुतिर्घटपटादिप्रत्यक्षेण सह स्वजन्याभेदज्ञानस्य तथा घटेन पटेन तद्भेदेन च सह तद्विषयकप्रत्यक्षाणामेवं तेषां प्रत्यक्षाणामन्योन्यमभेदमवगाहताम् । न हि तेषामप्यन्योन्यं भेदो घटपटभेदग्राहिणा प्रत्यक्षेण प्रागग्राहीति । तथा च न श्रौतप्रत्यक्षेण श्रौतधीर्बाध्या स्वाभेदात् श्रुत्या तदभेदालिङ्गनात् घटपटादीनां सर्वेषा-

---

भेद घटपट भेद ग्राही प्रत्यक्ष पहिले से नहीं किया है। इसलिये श्रौत प्रत्यक्ष से श्रौत ज्ञान का बाध नहीं होता है, क्योंकि स्व के साथ अभेद होने से। श्रुति सब ही के अभेद का आलम्बन विषय करती है। घट पटादि सभी पदार्थ का भेद प्रत्यक्ष विषय का अर्थ तः अभेद सिद्ध होता है। घट से अभिन्न जो ज्ञान तथा उस ज्ञान से अभिन्न जो पट है उनका परस्पर भेद नहीं हो सकता है।

शंका–तत्तत् ज्ञान का परस्पर भेद प्रत्यक्ष से ग्रहीत होगा।

उत्तर–तब उन ज्ञानों के भी परस्पर भेद का अवलम्वन श्रुति करै, ऐसा होने से मूल पर्यन्त अनुपपत्ति होने से अर्थतः अभेद सिद्ध हो जाता है।

शंका–जैसे श्रुति सर्वत्र अभेद को ग्रहण करती है उसी प्रकार से प्रत्यक्ष सर्वत्र भेद का ग्रहण करै ?

उत्तर–इसमें अनवस्था दोष हो जाता है तथा विषया-

मेव भेदप्रत्यक्षालिङ्गितानामप्यभेदोऽर्थात् सिध्यति। न हि सम्भवति घटाभिन्नज्ञानाभिन्नं पटादि परस्परं भिन्नमिति। अथ तेषामपि ज्ञानानां भेदः प्रत्यक्षेणालिङ्गनीयः। तदा तद्धियामभेदं श्रुतिरवगाहताम् तावतैव मूलपर्यन्तमनुपपत्तेरभेद आयास्यति। न च प्रत्यक्षेण तद्भेदालिङ्गनमपि अनवस्थानात् विषयान्तरसञ्चाराच्च। तथा च भेदधीर्यतो निवर्तते तदेवाश्रित्याभेदश्रुतिः प्रवृत्ता तदभेदं अर्थापत्तिसहकाराच्च मूलपर्यन्तमभेदं साधयिष्यति। तस्मात्—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्तावद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते॥

पार्ष्णिग्राहः पृष्ठस्थोऽरातिः। न च तुल्यन्यायतया भेद-

न्तर का संचार नहीं होता, इसलिये जिस स्थान में भेद ज्ञान निवृत्त हो जायगा उस स्थल में प्रवृत्त श्रुति अर्थापत्ति के सहकार से अभेद करती हुई मूल पर्यन्त अभेद का साधन कर देगी, तस्मात् बहुत दूर तक दौड़ने के कारण थकी हुई बाध परम्परा जहाँ निवृत्त होती है उसी स्थल में पार्ष्णिग्राह रूप अद्वैत वाक्य से जीती जाती है। पार्ष्णिग्राह का अर्थ होता है पीछे रहने वाला शत्रु।

शंका—तुल्य न्याय से प्रत्यक्ष भी चरम बुद्धि में भेद का ग्रहण करेगा।

उत्तर—तुल्य न्यायता सामान्य लक्षणा की तरह प्रमाण

प्रत्यक्षेण चरमबुद्धेरप्यालिङ्गनम् । न हि तुल्यन्यायता सामान्यलक्षणादिवत् प्रमाणसहकारिणी येन व्यवहितानागतानपि गमयेत् ॥

अथ सर्वाः बुद्धयः सर्वस्वविषयभिन्नाः बुद्धित्वादिति । न सर्वतद्विषयावगाहने सार्वज्ञ्यापत्तेः अलौकिकप्रत्यक्षेषु व्यभिचाराच्च तेषु स्वस्यापि विषयत्वात् । अथ सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादिभ्य इति तदानुपसंहारस्वरूपासिध्यादयः । न हि

को सहकारिणी नहीं है जिससे कि व्यवहित पदार्थ का भी बोध न करे ।

शंका—सभी बुद्धि स्व स्व विषय से भिन्न-भिन्न है, बुद्धि होने से । इस अनुमान के द्वारा विषय विषयी में भेद सिद्ध होगा ।

उत्तर—यदि प्रत्यक्ष से सर्व विषय का ज्ञान हो जाय तब तो सबको सर्वज्ञ हो जाना चाहिये । और अलौकिक प्रत्यक्ष में व्यभिचार दोष भी होता है, क्योंकि अलौकिक, प्रत्यक्ष में स्व भी विषय होता है ।

प्रश्न—सभी विषय विषयी भिन्न है, प्रमेय होने से । इस अनुमान के द्वारा सर्व भेद की सिद्धि होगी ।

उत्तर—इस अनुमान में अनुपसंहारी तथा स्वरूपासिद्धि दोष होता है । सभी को पक्ष बनाने से पक्ष व्यतिरिक्त में हेतु साध्य का उपसंहरणस्थल नहीं है । तथा सभी पक्ष में

सर्वेषां पक्षीकृतानां स्वरूपं हेतुमत्तां वा किञ्चज्ज्ञो वेद। अथ काचिदेव बुद्धिः पक्षः तद्धर्म एव च हेतुः तदा बुद्ध्यन्तरं द्वारीकृत्याद्वैतश्रुतिः प्रवेक्ष्यति। तथा च।

हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते।
किञ्चिच्च त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः॥

आस्थिते अङ्गीकृते। अथ घटपटौ भिन्नावित्यादिरूपया

हेतुमत्त्वज्ञान किस असर्वज्ञ को होगा? इसलिये उपसंहर-स्थलाभाव होने से अनुपसंहारी अनैकान्तिक दोष हो जाता है, तथा पक्ष में हेतु का नहीं रहना यह जो स्वरूपासिद्धि है सो भी होती है। इसलिये यह अनुमान ठीक नहीं है।

प्रश्न—सभी बुद्धि पक्ष नहीं है; किन्तु यत्किचित् बुद्धि को ही पक्ष बनाता हूँ। इसलिये अनुपसंहारी अनैकान्तिक दोष नहीं होगा, तथा यत्किचित् पक्ष में रहने वाले प्रमेयत्व को ही हेतु बनाता हूँ, इसलिये स्वरूपासिद्धि दोष भी नहीं होगा।

उत्तर—तब तो पक्ष से भिन्न दूसरी बुद्धि को द्वार बनाकर के अद्वैत श्रुति का प्रवेश होगा, तब मूल पर्यन्त अद्वैत सिद्ध हो जाता है। "हेत्वाद्येत्यादि" ऐसा कहा है कि यदि सभी बुद्धि को पक्ष रूपेण स्वीकार करो तो हेत्वभाव तथा सार्वज्ञ रूप होता है। यदि कदाचित् किसी को छोड़ते हो अर्थात् यत्किचित् बुद्धि को पक्ष बनाते हो

प्राथमिकधिया योऽन्योर्भेदो गृहीतः स एव बुद्धितद्बुद्धि-धाराया अभेदे सति न निर्वहेत। न हि सम्भवति वस्त्वनेकम् तदभिन्नं तु तज्ज्ञानमेकमिति। तस्मादर्थभेदान्यथानुपपत्त्यैव धीधारायामपि भेद इति न तदभेदं श्रुतिराह बलवदर्थापत्ति-विरोधादित्याशंक्य साप्यर्थापत्तिर्ज्ञाता भविष्यतीति तस्या-स्तज्ज्ञानस्य चाभेदे श्रुतिः प्रवर्तिष्यत इति र्धावेद्यभेदस्या-न्यथानुपपत्तेस्तज्ज्ञानस्य चाभेदे श्रुतिः प्रवर्त्स्यतीत्यर्थः।

तब तो वही दरवाजा अद्वैत श्रुति को प्रवेश करने को मिल जाता है। आस्थित शब्द का अर्थ होता है अङ्गीकार (स्वीकार) घट पट भिन्न है इत्याकारक जो प्राथमिक प्रत्यक्ष बुद्धि है उसके द्वारा गृहीत जो घट पट का भेद सो बुद्धि तथा बुद्धि धारा का अभेद माननें पर युक्त नहीं होगा। क्योंकि वस्तु अनेक हैं और वस्तु से अभिन्न जो ज्ञान सो एक है, यह कैसे बन सकेगा? इसलिये अर्थ भेद अन्यथा अनुपपन्न है। इस अन्यथानुपपत्ति से ही बुद्धि धारा में भी भेद सिद्ध होगा। इसलिये अभेद श्रुति धीधारा का अभेद नहीं कहती है, बलवत्ती अर्थापत्ति के विरोध होने से। ऐसी शंका करके उत्तर करते हैं कि यह अर्थापत्ति भी तो स्व ज्ञान की अपेक्षा करती है, अर्थापत्ति तथा उसके ज्ञान का अभेद करने के लिये अभेद श्रुति प्रवृत्त होगी। ततः ज्ञान वेद्य जो

अस्तु वा भेदप्रत्यक्षविषय एव घटादावभेदश्रुतिप्रवृत्तिः । योग्यताज्ञानं न शाब्दधीहेतुरङ्गुल्यग्रे करिशतं विहरतीत्यादौ व्यभिचारात् । अस्तु वा तदपि । श्रौतधीश्चेयं प्रमैव श्रुतेरन्यत्रालब्धावकाशायाः प्रमाणत्वात्तद्विरोधेन भेदप्रत्यक्षस्यैवाप्रमाणत्वात् । अथ योग्यताया असंसर्गाग्रहादियमसंसर्गाग्रहरूपा । तथाप्यस्या असदसं-

---

भेद उसके तथा तज्ज्ञान के साथ अभेद करने में श्रुति अवश्यमेव प्रवृत्त होगी । अथवा भेद प्रत्यक्ष का विषय जो घटादिक पदार्थ है उसके अभेद करने में भी श्रुति प्रवृत्त होती है । इसमें अयोग्यता ज्ञान प्रतिबन्धक होगा ऐसा नहीं कहना, क्योंकि योग्यता ज्ञान को शाब्दबोध कारणता मानने में 'अंगुली के अग्र भाग में सौ हाथी विहार करते है, इस वाक्य में व्यभिचार होता है । अर्थात् उक्त वाक्य में योग्यता ज्ञान नहीं है और शब्दाबोध सर्वानुभव सिद्ध है । अथवा मान लिया जाय कि योग्यता ज्ञान शाब्दज्ञान में कारण है, तथापि श्रौत ज्ञान प्रमा रूप ही है, क्योंकि श्रुति के अन्यत्र चरितार्थ नहीं होने से वह प्रमाण रूप है । श्रुति विरोध होंने से भेद प्रत्यक्ष को ही अप्रमाण रूप होता है । यद्यपि योग्यता असंसर्गका अग्रह रूपा होने से यह भी असंसर्गाग्रह रूपा है । तथापि इसको असंसर्गाग्रह रूप होने से संसर्ग ज्ञान की सिद्धि होती है ।

सर्गाग्रहरूपत्वात् संसर्गसिद्धिः । न च प्रत्यक्षबाधं श्रुतिबाधेन परिहरतो वेदान्तिनोनौचित्यम् तदुद्भावितनिग्रहस्थानेनैवोद्भावितनिग्रहस्थानपरिपरिहारस्य तत्त्वात् । तथा च तेन श्रुतेर्बाध इति वाच्यम् । श्रुतेः प्रमाणत्वात् तर्कस्य चाहार्यारोपरूपत्वात् । किञ्चानौचित्यात् तत् बाध्यते यस्य मूलं तथा ह्यते । प्रकृते तु नैवं अद्वैतश्रुत्यैव तर्कमूलव्याप्यव्यापकस्य भेदगर्भस्य खण्डनात् ॥

शंका—श्रुति बाध से प्रत्यक्ष बाध का परिहार करने वाले वेदान्ती को अनौचित्य दोष होता है । जैसे नैयायिक से उद्भावित निग्रह स्थान दोष का उद्भावित निग्रह स्थान से परिहार करने वाले नैयायिक की तरह । इस दशा में अनौचित्य नामक तर्क से श्रुति का बाध होगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाण है । और तर्क तो आहार्य आरोप रूप है (बाध कालिक इच्छा जन्य ज्ञान को आहार्य कहते हैं जैसे वह्न्यभाव वाला जल वह्निमान् है, यह ज्ञान आहार्य कहलाता है) और भी देखिये अनौचित्य नामक तर्क से उस स्थल में बाध होता है जहाँ प्रमाण की प्रवृत्ति होने पर तर्क का मूल खंडित नहीं होता है । प्रकृत में तो ऐसा नहीं है क्योंकि श्रुति प्रमाण की प्रवृत्ति होने से भेद घटित तर्क मूल व्याप्यव्यापक भाव का खण्डन हो जाता है ।

यत्तु प्रागन्तिमज्ञानतो भेदाग्रह उक्तः। तदयुक्तम्। तस्याप्युदाह्रियमाणतादशायां भेदग्रहणसम्भवादिति। तन्न। अन्तिमबुद्धेरिदानीं प्रत्यक्षेण ग्रहणासम्भवात्। न चानुमानेनानुपपत्त्या वा तद्ग्रहणम् अभेदाभिमानिनं वादिनं प्रति भेदधीमूलकयोस्तयोरप्रवृत्तेः। न च ममानुमानादितस्तद्भेदबुद्धौ मद्वचनाद्वादिनस्तत्र भेदसंदेहोऽप्यस्त्विति वाच्यम्। अभेदाभिमानिनः कोटिद्वैताभिमानेन निष्परिपन्थि-

---

शंका—जो अन्तिम ज्ञान से पूर्व ज्ञान का भेदाग्रह है, ऐसा कहा था, सो ठीक नहीं है। क्योंकि उदाह्रियमाणता दशा में भेदग्रह हो सकता है।

उत्तर—इस समय में प्रत्यक्ष द्वारा अन्तिम बुद्धि का ग्रहण होना असंभव है। नहीं कहो कि अनुमान प्रमाण वा अर्थापत्ति प्रमाण से अन्तिम बुद्धि का ज्ञान होगा, सो ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वत्र अभेद मानने वाले वेदान्ती-वादी के लिये भेद ज्ञान पूर्वक होने वाला जो अनुमान अथवा उपपत्ति प्रमाण उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। नहीं कहोगे कि मेरे अनुमानादि प्रमाण से भेद होगा तब उसमें मेरे वचन से वादी को भेद का सन्देह होगा। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अभेद वादी के मत से कोटि-द्वय का अभिमान मात्र है, और निर्विरोध श्रुति रूप प्रमाण के रहने से सन्देह की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है।

श्रुतिरूपसाधकमानसत्त्वेन सन्देहस्याप्यनुदयात् । किंच परः किञ्चनवेत्तीति यत्रावगम्यते तत्र न तस्य घटादितो भेदो ग्राह्यः स्वरूपानवधारणात् । तथा चाभेदश्रुतिस्तत्रैव लब्धपदा तत्त्वाद्विश्वाभेदे पर्यवस्यति ॥

नतु कथं भेदानङ्गीकारे पदपदार्थवैचित्र्यव्यवहारः आविद्यकभेदोपगमात् । न च मयि व्याघातापादनमपि भेदाभावे आपादकस्यैवासिद्धेरिति खण्डनम् ॥

और भी देखिये "यह कुछ जानता है" ऐसा जहाँ ज्ञान होता है उस स्थल में घट से ज्ञान का भेद गृहीत नहीं हो सकता है । क्योंकि स्वरूप का ही निश्चय न होने से । इस स्थिति में उसी स्थल में अभेद श्रुति अवसर प्राप्त करके सभी ज्ञान ज्ञेयादिक वस्तु में अभेद की सिद्धि करेगी ।

शंका–यदि आप भेद को न मानें, तब तो पदार्थों में जो विचित्रता है उसका संपादन कैसे होगा ?

उत्तर–आविद्यक भेद को मैं मानता हूँ । यह आविद्यक भेद व्यवहार में विचित्रता का हेतु होता है । हम वेदान्तियों के मत में ब्रह्म मात्र परमार्थ सत् है, तदतिरिक्त अविद्यादिक सभी पदार्थ व्यावहारिक हैं । अर्थात् ब्रह्म ज्ञानेतर से अबाध्य है । तब मैं जो सभी पदार्थ का खण्डन करता हूँ इसका मतलब पारमार्थकत्व का खण्डन करता हूँ व्यावहारिकता का नहीं । अतः व्यवहार दशा में जो पदार्थ जैसा

अत्रोच्यते । अभेदश्रुतिः प्रत्यक्षेण प्रतिरुध्यते । न च प्रत्यक्षश्रुत्योरविनिगमादुभयत्र प्रामाण्यसंशयः प्रत्यक्षस्य सकलप्रमाणोपजीव्यत्वेन भेदप्रत्यक्षस्योपजीव्यजातीयतया तेनैव श्रुतेर्बाधनात् ॥

है वह उसी रूप में व्यवस्थित रहता है। प्रमाण—स्वर्ग नरकादि व्यवस्था सभी वस्तु अपने-अपने रूप से अपने-अपने स्थान में यथावत् व्यवस्थित ही है। हमारे मत में व्याघात दोष नहीं देना। क्योंकि जब भेद नहीं है तब भेदाभाव रूप आपादक का अभाव है। तो आपादक के अभाव से आपत्ति कैसे हो सकती है ? यहाँ तक खण्डन-कार श्रीहर्ष ने अपने मत का प्रतिपादन किया इसके आगे का ग्रंथ उद्धारकर्ता का होता है। अत्रोच्यते से।

अब समाधान करते हैं—अभेद श्रुति का प्रत्यक्ष से प्रतिषेध होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से अद्वैत श्रुति का बाध हो जाता है। नहीं कहो कि विनिगमना विरह से प्रत्यक्ष में तथा श्रुति में उभयत्र प्रामाण्य का सन्देह हो जायगा, तब किससे किस का बाध होगा ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाण का उपजीव्य (प्रयोजक) है। एवं भेद का जो प्रत्यक्ष प्रमाण चक्षु है सो उपजीव्य श्रावण प्रत्यक्ष का सजातीय है, इसलिये घटादि प्रत्यक्ष से श्रुति का ही बाध होगा, न कि

ननु भवतु प्रत्यक्षमुपजीव्यम् । तथापि नेह नानास्ति किञ्चनेति श्रुतिस्तावदभेदबोधिका । अत्र किञ्चनेतिपदेनोपस्थिते सर्वत्रैवाभेदः श्रुत्या विधीयत इति नाभेदविधौ प्रत्यक्षोपजीवनमिति चेत् । तथापि किञ्चनेतिपदसमानविषयत्वादुपजीव्यत्वाच्च प्रत्यक्षं तां बाधेतैव । किंच यत्र भेदाभेदप्रत्ययौ परस्परस्पर्धिनौ तत्राप्यनन्यथासिद्धत्वाद् भेदधीस्तमेव अभेदधीस्तु तज्जातीयत्वमालम्बते ता एव चैत्रक्षपा इतिवत् ।तथा च

श्रुति से प्रत्यक्ष का बाध होता है ।

शंका—प्रत्यक्ष उपजीव्य भले रहे तथापि "नेह नानास्ति-किंचन" यह श्रुति अभेद का प्रतिपादन अवश्य करेगी । क्योंकि यहाँ "किञ्चन" इस पद से उपस्थित सभी पदार्थ में श्रुति द्वारा अभेद का विधान किया जाता है, इसलिये अभेद बोधन अंश में श्रुति प्रत्यक्ष का उपजीवन नहीं करती है, अतः उपजीव्य विरोध की चर्चा भी नहीं है ।

समाधान—तथापि प्रत्यक्ष को किंचन इयद का समान विषयत्व होने से तथा उपजीव्य होने से प्रत्यक्ष प्रमाण श्रुति का अवश्यमेव बाध करता है । और भी देखिये—जिस स्थल में भेद ज्ञान तथा अभेद ज्ञान परस्पर विरोधी हैं वहाँ भी अनन्यथा सिद्ध होने से तथा उपजीव्य होने से अभेद ज्ञान का विरोध होता है और अभेद तज्जातीय का अवलंबन करता है 'ता एव चैत्रक्षपाः' (वही चैत मास की

तद्वदत्रापि स्यात् न च भेदधियो भ्रमत्वमपि सम्भवति भ्रान्ते-रभ्रान्तिपूर्वकत्वात् त्वन्मते भेदस्यालीकत्वात् अलीकस्य च विधिनिषेधाङ्गीकारे उन्मत्तकेलिप्रसङ्गात् । अविवेकाद् बोधयतु वा श्रुतिरद्वैतम् । तथापि भेदप्रत्यक्षधिया तद् बाधनीयं

रात है) इसके समान जहाँ वाक्य से अभेद बोधन होता है उस जगह में यदि प्रत्यक्षादि बाध रहता है तो वह वाक्य तत्सजातीय को समझाता है न कि उसी व्यक्ति को । जैसे 'वही चैत्र की रात है' यहाँ जो चैत की रात थी वह तो आज नहीं है क्योंकि "यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः शीघ्र मपामिव" इस न्याय से । अतः अभेद ज्ञान सजातीय विषयक भी होता है और भेद ज्ञान तो अभेद का विरोधी होता है । उसी प्रकार से प्रकृत में भी होता है । नहीं कहोगे कि भेद ज्ञान तो भ्रमात्मक भी हो सकता है, एतावता उसका निर्वाह हो जायगा । ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि भ्रम अभ्रम पूर्वक ही होने से । अन्यत्र प्रसिद्ध का ही अन्यत्र भ्रम हो जाता है । आपके मत से भेद तो अलीक है और अलीक पदार्थ विधि निषेध का विषय नहीं हो सकता है । यदि फिर भी उसका विधि निषेध मानो तब तो उन्मत्त प्रलाप कहलायेगा । अथवा अविवेक से श्रुति अद्वैत को समझावे तथापि प्रत्यक्ष ज्ञान से उसका बाध हो जाता है । क्योंकि अद्वैत का जो ग्राहक

ग्राहकस्य दौर्बल्यात् । पारमार्थिकत्वादद्वैतमबाध्यमिति चेन्न । असिद्धेः न हि पारमार्थिकमबाध्यं दृष्टम् । लोके दृष्टमिति चेन्न । त्वन्मते लोके द्वयोरप्यदर्शनात् । एवं विषयान्तरेऽपि गृहीते श्रुत्या नाभेदधीः तद्भिन्नयैवातादात्म्याग्राहिण्या स्वरूपभेदस्य गृहीतत्वात् । किञ्च विशिष्टबोधिकायां श्रुतौ विशेष्यमुद्दिश्य विशेषणं विधीयते । तथा चोद्देश्यत्वविधेयत्वलक्षणभेदा-

---

है उसके दुर्बल होने से । नहीं कहो कि पारमार्थिक होने से अद्वैत का बाध नहीं होता है । यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वैत में पारमार्थिकत्व असिद्ध है । जो पारमार्थिक है सो अबाध्य होता है, ऐसा देखने में नहीं आता । लोक में ऐसा देखने में तो आता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपके मत से लोक में दोनों ही वस्तु अदृष्ट है । एवं प्रत्यक्ष प्रमाण से विषयान्तर जब गृहीत होता है तब सहसा श्रुति उन सब विषयों में अभेद का प्रतिपादन नहीं कर सकती है । क्योंकि तादात्म्याभाव के अग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण से पदार्थों का जो परस्पर स्वरूप भेद है उसका ग्रहण हो जाता है । और भी देखिये विशिष्ट पदार्थ का ग्रहण करने वाली श्रुति विशेष्य को उद्देश्य करके उस उद्देश्य में विशेषण का विधान करेगी (जैसे धनवान् सुखी है, यहाँ धनवान् को उद्देश्य बनाकरके उसमें सुख का विधान किया है, ऐसे ही यहाँ भी मानना

वगतेरावश्यकत्वात् तथाप्युपजीव्यया श्रुतेर्बाधः। यत्र श्रुत्या भेदप्रत्यक्षास्पृष्टेनान्तिमज्ञानेन समं स्वजन्यज्ञानस्याभेदे ग्राहिते तदन्यथानुपपत्त्या मूलपर्यन्तमभेदः स्यादिति। तन्न। प्रत्यक्षेण घटादिभेदग्राहिणा श्रुतेरिवान्यथानुपपत्तेरपि बाधनात् विष-

---

आवश्यक है) तब तो उद्देश्यत्व विधेयत्व लक्षण जो भेद है उसका ज्ञान होना आवश्यक है. अन्यथा श्रुतिजन्य बोध सर्वथा अनुपपन्न हो जायगा। अब जब कि श्रुति भेद प्रत्यक्ष सापेक्ष हुई तब उपजीव्य रूप भेद प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध अवश्य होगा। जिस किसी ने कहा था कि भेद प्रत्यक्ष से ग्रहण करने के अयोग्य जो अन्तिम बुद्धि है उसको श्रुतिजन्य ज्ञान के साथ जब अभेद का प्रति पादन करती है श्रुति, तब अभेदान्यथानुपपत्ति के बल से मूल (घट पट) पर्यन्त अभेद की सिद्धि होगी। सो ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे घट पट के भेद को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष अभेद प्रतिपादन करने वाली श्रुति का बाधक होता है उसी प्रकार से अभेदान्यथानुपपत्ति का भी प्रत्यक्ष बाधक होता है, क्योंकि विषय विरोध दोनो जगह समान है। (अभेद प्रतिपादन करने वाली श्रुति के साथ भेद प्रति-पादक प्रत्यक्ष का विरोध है तद्वत् अभेदान्यथानुपपत्ति को भी भेद प्रतिपादक प्रत्यक्ष से विरोध है, समान विषय में विरोध होता है तथा विरोध होने से प्रबल प्रमाण दुर्बल

यविरोधाविशेषात् । किञ्च तत्तद्विशेषरूपेण श्रुत्याऽभेदबोधने वाक्यभेदः स्यात् । न च श्रुतितो द्रागेव सर्वविषया अभेदधीरुदेति । मद्बुद्धिस्तु विचारजन्यत्वात्तस्यः सर्वविषयत्वं गाहत इति चेन्न । घटपटयोर्भेदप्रत्यक्षेण तत्राभेदश्रुतेर्विघ्नितया द्राक् सर्वत्राभेदश्रुतेरप्रवृत्तेः । यच्च परः किंचिद्द्वेत्याद्युक्तम् । तदप्ययुक्तम् । तन्मात्रे अर्थादावभेदग्रहे विरम्य व्यापारायोगः स्यात् । तत्रान्यत्र च द्रागेव सर्वत्र श्रुत्याऽभेदग्रहणे घटपटादिभेदप्रत्यक्षेण तत्र विघ्नः स्यात् । यच्चोक्तम् अन्तिमबुद्धौ

का बाधक हो जाता है) और भी देखिये—यदि श्रुति तत्तद्विशेष रूप (घट पटादि विशेष रूप) से तत्तद्वस्तु में अभेद का बोध न करे तब तो वाक्य भेद रूप दोष हो जायगा, क्योंकि सकृदुच्चरित वाक्य प्रथमतः सामान्य रूप से पुनः तत्तद्विशेष रूप से अर्थावबोधन करने से । नहीं कहो कि श्रुति से तो झटिति सर्व विषयक बोध अभेद विषयक उत्पन्न हो जाता है किन्तु मेरी बुद्धि के विचार द्वारा विलंब से उस अभेद बुद्धि में सर्व विषयत्व का अवलंबन करती है । अर्थात् श्रुति से तो सहसा सर्व विषयक बोध हो जाता है किन्तु मेरा ज्ञान विचार द्वारा विलंब से सर्व विषयत्व को जानता है । ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि घट पट का भेद ग्रहण करने वाला जो प्रत्यक्ष वह जब विद्यमान है तब उस प्रत्यक्ष सें अभेद प्रति पादक वाक्य

श्रौतबुध्या सममभेदधीरभेदश्रुतित आदावस्त्वति । तन्न । अन्तिमबुद्धाज्ञातायां न तावदभेदः श्रुत्या बोध्यते उद्देश्याज्ञाने विधानासम्भवात् विधायकशब्दस्य च तथैव सर्वत्र प्रवृत्तिदर्शनात् । नापि ज्ञातायाम् तेनैव ज्ञानेन

के प्रतिबद्ध होने से झटिति अभेद प्रति पादन करने के लिये प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है (क्या चन्द्रकान्तमणि से प्रतिबद्ध वह्नि झटिति दाह जनक होती है ? तद्वत्प्रकृत में भी समझना चाहिये) जो किसी ने 'परः किञ्चिद्वेत्तीति-विवक्षुरित्यादि' प्रकरण से अभेद का समर्थन किया था वह भी अयुक्त है, क्योंकि क्रमिक रूप से अर्थ में अभेद प्रतिपादन करने में विराम होकर व्यापार नहीं होगा। शब्द बुद्धि क्रिया का विराम होकर के व्यापार नहीं होता है। वहाँ तथा अन्यत्र विषय में झटिति अभेद ग्रहण करने में श्रुति को प्रत्यक्ष प्रमाण का विघ्न उपस्थित है। जो पहले कहा था कि अन्तिम बुद्धि में श्रौत बुद्धि के साथ अभेद ज्ञान को श्रुति आदि में ही करेगी, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तिम बुद्धि में जो श्रुति अभेद का प्रतिपादन करतो है सो अज्ञात अन्तिम बाध में अभेद कहती है, इसमें प्रथम अज्ञान पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि अन्तिम बुद्धि रूप जो उद्देश्य है वह अज्ञात है तब अज्ञात उद्देश्य में अभेद का विभाग कैसे होगा ? क्योंकि विधायक

तस्याः स्वरूपभेदस्य गृहीततया तत्राप्यभेदश्रुतेरप्रवृत्तेः । एतेन सुदूरधावनश्रान्तेति निरस्तम् । किंचाभेदे बोध्यबोधक-सहकार्यसहकारिजन्यजनकवाच्यवाचकप्रतिपन्नाप्रतिपन्नभेदविरहात् कथमभेदं श्रुतिर्बोधयतु । अथाविद्यकाद् भेदात् सर्वमिदं घटते

शब्द का सर्वत्र यही प्रवृत्ति प्रकार है (अर्थात् ज्ञात उद्देश्य में ही विशेषण का विधान होता है अज्ञात उद्देश्य में विधान नहीं होता है) न वा ज्ञात उद्देश्य में विधान होता है, यह द्वितीय पक्ष ही ठीक है, क्योंकि जिस ज्ञान के द्वारा अन्तिम बुद्धि रूप उद्देश्य ज्ञात होगा उसी ज्ञान में उद्देश्य का स्वरूप भेद ज्ञात हो जायगा तब उस स्थल में अभेद का प्रतिपादन श्रुति कैसे कर सकती है ? अर्थात् प्रत्यक्ष प्रतिबद्ध श्रुति की प्रवृत्ति नहीं होगी । इस उत्तर से 'सुदूरधावनश्रान्ता' इत्यादि ग्रंथ से जो अभेद के प्रतिपादन का प्रयत्न किया था सो भी अरण्यरुदन के समान निरस्त हो जाता है । और भी देखिये—यदि अभेद को प्रधानता दें तो अभेद में बोध्य बोधक का निर्वाह कैसे होगा ? क्योंकि बोध्य—बोधक भाव भेद साध्य है । समझने की वस्तु अलग है, और समझाने वाला अलग है, तब अभेद में यह कैसे होगा ? एवं सह-कारी असहकारी जन्य जनक वाच्य• वाचक प्रतिपन्न अप्रतिपन्न गुरु शिष्य उपास्य उपासक इत्यादि व्यवहार

तर्हि तत एव त्वय्यनिष्टापादनमपि घटताम् । सर्वमिदनिर्वच-नीयमिति चेत् । अहो पाण्डित्यं निर्वचनात्मकश्रुतिप्रामाण्य-मुपक्रम्यानिर्वचने पर्यवसानम् । वयं वैतण्डिकाः किमपि न साधयामः किं तु भेदं निषेधाम इति चेत् । अविद्यादशायां श्रुतिरद्वैते प्रमाणमिति घुष्यन् पुरुषायुषमनैषीरथेदानीं तत्र दोषदर्शनादन्यथा वर्णयन् स्वाशयमपि नावधारयितुं क्षमसे ।

भेद के विना नहीं हो सकेगा। तब अभेद प्रति पादन श्रुति से कैसे होगा ?

शंका—पूर्व पक्ष वादी वेदान्ती कहते हैं कि यह सब व्यवहार आविद्यक भेद मानने से बन सकेगा।

उत्तर—तब उसी आविद्यक प्रमाण से आप में अनिष्टा-पादन भी हो सकता है।

शंका—यह सभी पदार्थ अनिर्वचनीय है।

उत्तर—आश्चर्य है आपकी पंडिताई को। निर्वचनात्मक श्रुति प्रामाण्य का उपक्रम करके अनिर्वचनीयता में उप-संहार करते हैं। नहीं कहो कि हम तो वैतण्डिक हैं, किसी भी वस्तु को सिद्ध नहीं करते हैं किन्तु भेद का निराकरण मात्र करते हैं। ऐसा कहें सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्याकाल में श्रुति अद्वैत में प्रमाण है, ऐसी घोषणा करते हुए अपनी आयु को समाप्त कर चुके अब उसमें दोष देख कर प्रकारान्तर से वर्णन करते हुए अपना

किंचाभेदो यः साध्यः स भेदाभावो भेदविरोधो वा । उभयथापि भेदः पारमार्थिक आपद्येत न ह्यवस्तुनो विरहो विरोधी वा वस्तु सन्निति घटते । किंच श्रुतिः प्रपञ्चब्रह्मणोऽभेदमाहेत्यप्ययुक्तम् । ब्रह्मैव तत्त्वं प्रपञ्चस्त्वतत्त्वमिति

जो अभिप्राय है उसका निर्णय करने में समर्थ नहीं हो रहे हैं । और देखिये—जिस अभेद को आप सिद्ध करते हैं वह अभेद क्या भेदाभाव रूप है अथवा भेद विरोधी है ? दोनों पक्षों में भेद पारमार्थिक हो जाता है । क्योंकि अवस्तु का अभाव अथवा वस्तु का जो विरोधी होता है सो वस्तु सत् नहीं होता है । इसका अभिप्राय यह है कि समास के अन्तर्गत जो 'नञ्' है उसके छै अर्थ होते हैं । सादृश जैसे 'अनिक्षुः सरः' यहाँ सादृश्यार्थक 'नञ्' है, इक्षु के सदृश सरोवर है । २. अर्थ है अभाव 'अघटं भूतलम्' । ३. भेद 'अघटः पटः' । ४. अल्पार्थक 'यथा' अनुदरा कन्या अलवणकं शाकम् । ५. 'अप्राशस्त्य' अब्राह्मणो, वार्धुषिक अप्रशस्त इत्यर्थः । ६. विरोध 'असुर' न सुर सुरविरोधी राक्षस । प्रकृत में यदि विरोध वा अथवा अभावार्थक हो तो जिसका विरोधी अभेद है वो अभाव है वह वस्तु सत् होगी । अप्रमित प्रतियोगिक अभाव नहीं होता है इसलिये भेद में पारमार्थिकत्व होता है । और भी देखिये श्रुति प्रपंच तथा ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करती है, ऐसा

शङ्कराचार्यवचनविरोधात्। अत एव तयोर्भेदं निषेधतीत्यपि न। एवं हि ब्रह्मणः प्रपञ्चाभिन्नतया जडत्वेन स्वप्रकाशचिदानन्दानात्मकत्वे तदर्था मुमुक्षोः प्रवृत्तिरपि न स्यात्। तथा च श्रुतिः प्रपंचनिषेधपरेति वाच्यम्। तथा च क्व ब्रह्मप्रपंचयोरभेदगन्धोऽपि। अथ जीवपरमात्मनोरभेदं श्रुतिराह तत्त्वमसी-

---

आपने कहा था वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्ममात्र पारमार्थिक तत्व है और प्रपञ्च आकाशादिक पदार्थ अतत्त्व है, ऐसा जो शंकराचार्य का वचन है उससे विरोध होता है तत्व अतत्व का तादात्म्य कैसे हो सकता है ? (ऐसा मानने से ब्रह्म में जडत्व हो जायगा अथवा प्रपञ्च में चेतनावत्व हो जायेगा अत एव ब्रह्म प्रपञ्च में जो भेद है श्रुति उसका निराकरण करती है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से ब्रह्म प्रपंच से अभिन्न होने के कारण से जड़ हो जायगा तब ब्रह्म स्व प्रकाश चिदानन्दात्मक नहीं रहा। तब तो ज्ञान सुखात्मक ब्रह्म प्राप्ति के लिये जो मुमुक्षु का प्रयत्न है सो निष्फल हो जायगा। इसलिये आपको कहना पड़ेगा कि श्रुति प्रपंच का निराकरण परक है, इस स्थिति में ब्रह्म तथा प्रपंच में अभेद होने की क्या आशा रखते हैं ? अर्थात् ब्रह्म और प्रपंच में तादात्म्य किसी भी दशा में नहीं हो सकता है।

शंका—तत्त्वमसि इत्यादि महा वाक्य परमात्मा तथा

त्याद्युक्तेरिति चेन्न प्रत्यक्षबाधात् परमात्मान्योन्याभावस्य प्रतिस्वं स्वात्मनि प्रत्यक्षत्वात् नाहं ज्ञानमितिवन्नाहं परमात्मेति प्रतीतेः । आत्मनि तत्तादात्म्यसत्त्वे तथोपलम्भापत्त्या तद्भेदस्य तत्राध्यक्षतोपगमात् प्रतियोगिसत्त्वविरोधिन्या एवानुपलब्धेर्योग्यानुपलब्धित्वात् । किंचाभेदश्रुत्या क्रमेणा-

---

जीव का अभेद प्रतिपादन करते हैं। 'हे श्वतकेतु तुम परमात्मा के स्वरूप हो' यह भी युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि जीव ब्रह्म के तादात्म्य होने में प्रत्यक्ष बाध होता है। परमात्मप्रतियोगिक अन्योन्याभाव का प्रत्येक जीव में प्रत्यक्ष होता है। मैं ज्ञान नहीं हूँ इसी प्रकार से मैं परमात्मा नहीं हूँ ऐसा अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है अर्थात् 'नाहं ज्ञानम्' इसके सदृश 'नाहं परमात्मा' यह ज्ञान सर्व साधारण को होता है। यदि जीव में ईश्वर का तादात्म्य रहे तब तो 'ईश्वरतादात्म्यवानहं' इस प्रकार से अनुभव होना चाहिये सो नहीं होता है इसलिये ईश्वर का भेद जीव में होता है। ऐसा माना जाता है। प्रति योगी सत्त्व का निराकरण करने वाली अनुपलब्धि का नाम ही योग्यानुपलब्धि है (जैसे 'नाहमीश्वरः' यह प्रत्यक्ष ही जीवात्मा परमात्मा का भेद साधक है उसी प्रकार से 'नाहमीश्वरो विरुद्धधर्माश्रयात्' इस अनुमान से तथा "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" "द्वावीशानीशौ" इत्यादि

भेदावगाहनमिति यदुक्तम् । तदप्ययुक्तम् । शब्दस्य विरम्य व्यापाराभावादिति ।

यत्त्वभेदश्रुत्या द्रागेव सर्वत्रैवाभेदधीर्जन्यते । न च घटादौ भेदप्रत्यक्षेण श्रुतिबाधनं वस्तुतः श्रुतेर्बलवत्त्वात् ।

श्रुतियों से सिद्ध होता है कि जीव परमेश्वर भिन्न है, और जीव ईश्वर में यदि अभेद हो तो जीव ईश्वर की उपासना कैसे करेगा ? क्योंकि उपासना उपास्य उपासक के भाव भेद के विना बन ही नहीं सकती है और परमेश्वरोपासना को स्वर्गीय वर्ग प्राप्ति में कारण माना गया है। आचार्य उदयन ने भी कहा है "स्वर्गीयवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः । यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ।" और भी देखिये श्रुति द्वारा क्रमेण जीव ईश्वर का अभेदावगाहन होता है, ऐसा जो पूर्ववादी ने कहा था सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि विरमित होकर के शब्द का व्यापार नहीं होता है "शब्दकर्मणोर्विरम्य व्यापारायोगादिति ।"

जिस किसी ने कहा था कि अभेद श्रुति से सभी जगह में झटिति अभेद बोध उत्पन्न हो जाता है। नहीं कहो कि घटादिक पदार्थ में भेद प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध हो जायगा । अर्थात् श्रुति सर्वत्र अभेद सिद्ध करने को आवेगी उस समय में भेद प्रत्यक्ष उसको बाधित कर लेगा । ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति वस्तुतः बलवती

तथा च श्रुतिर्निर्दोषत्वेन बलीयसी भेदप्रत्यक्षमेव प्रतिक्षिपेत् । तदुक्तम् ।

> पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः ।
> बाधनादुपजीव्येन न बिभेति न मनागपि ॥
> एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
> आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥इति॥

तन्न । एवं हि सर्वेषामेकदैवाभेदबोधने बोद्धुः सार्वज्ञ्यं स्यात् । तच्च न मन्यसे । अन्यथा सामान्यप्रत्यासत्त्यो-

---

है। निर्दोष होने के कारण श्रुति बलवती है। इसलिये श्रुति से ही प्रत्यक्ष का बाध होगा, न कि प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध हो सकेगा। ऐसा कहा है "पारमार्थिक अद्वैत के शरण में प्रविष्ट होकर के श्रुति उपजीव्य (प्रत्यक्ष) के बाध करने में थोड़ी भी नहीं डरती है। एक विलक्षण ब्रह्मास्त्र को लेकर अन्य किसी वस्तु की गणना नहीं करने वाले धीर वीर की शास्त्रार्थ लक्षण युद्ध में कहीं भी पराजय नहीं होती है।

समाधान—तन्नेति यदि पूर्वोक्त प्रकार से एक ही समय में सर्वत्र अभेद का बोध न हो तो बोद्धा जो पुरुष है सो सर्वज्ञ हो जायगा। सो तो आप मानते नहीं हो, अन्यथा यदि आप इस बात को स्वीकार करें तब तो सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष के बल से सभी पदार्थों का भेद प्रत्यक्ष से

परस्थितानां सर्वेषामेकदैव भेदे प्रत्यक्षेणावगते श्रुतिर्निर-वकाशैव स्यात्। श्रुतेर्बलवत्त्वं च विचार्यमेवास्ति। किंच बोद्धुर्बाधावधारणमेव शाब्दधीविरोधि न तु याथार्थ्यमपि। तच्चात्रास्त्येव। न च भेदप्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धि सम्भावनया दौर्बल्यम् श्रुतेरप्यन्यपरत्वसम्भावनया तत्सम्भवात्। न

गृहीत होगा तब अभेद श्रुति निरवकाशा ही होगी, अर्थात् सामान्यलक्षणासहकृत प्रत्यक्ष से ग्रहण होने से विरोधी सद्भाव में अद्वैत वाक्य अभेद को नहीं समझा सकता है, सर्व प्रमाणापेक्षया श्रुति बलवती है। यह तो विचारणीय विषय है। विचार के पहले श्रुति का सर्वापेक्षया बला-धिक्य अज्ञेय है। और भी देखिये—बोद्धा पुरुष को बाध का जो निर्णय है वही शब्द ज्ञान में विरोधी है। बाध ज्ञान गत याथार्थ्य विरोधी नहीं है। क्योंकि तद्वत्ता बुद्धि के प्रति तदभाववत्ता निश्चय को ही प्रतिबन्धकत्व होता है, न कि बाध बुद्धि को प्रमात्वेन प्रतिबन्धकता है। बाधक कुक्षि में प्रमा के निवेश करने से गौरव होता है। एतादृश बाधावधारण तो प्रकृत में विद्यमान है ही। नहीं कहो कि भेद प्रत्यक्ष में अन्यथा सिद्धि की संभावना होने से दौर्बल्य होगा, सो ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति में भी तो अन्य परत्व की संभावना होने से उसमें भी दौर्बल्यापादन समान हो है। नहीं कहो कि श्रुति तथा प्रत्यक्ष दोनों में

चैवं श्रुतिप्रत्यक्षयोर्बलाबलसन्देह एवास्त्विति वाच्यम् श्रुतेः सहकारिविरहादिना दौर्बल्यात् ।

नन्वेतत्सर्वमविद्यावष्टम्भेन मयोक्तम् । वस्तुतस्तु परमात्मभिन्नं न किंचित्तत्त्वम् । एवं च श्रुतिश्चाविद्या च जगच्च

बलाबल का सन्देह रहे । ऐसा भी ठीक नहीं है, क्योंकि सहकारी के अभाव के कारण से श्रुति में दौर्बल्य ही है । यदि दोनों में समान बलवत्व होता है तब उभयत्र सन्देह कह सकते हैं सो तो है नहीं प्रत्युत श्रुति का सहकारी कोई नहीं है, इसलिये श्रुति में दौवल्यत्व वस्थित है अतः प्रत्यक्ष बलवान् है तो बलवान् प्रत्यक्ष से दुर्बल श्रुति का बाध ही होता है, दोनों में सन्देह नहीं है ।

शंका—मैंने जो कुछ कहा है सो सब अविद्या के बल से कहा है, वस्तुतः देखें तो परमात्मा से भिन्न कोई भी पदार्थ पारमार्थिक नहीं है । ऐसा हुआ तब श्रुति भी आविद्यक है एवं आकाशादिक जो जगत् है अविद्या से जाय मान यावद्व्यवहार है तावत्पर्यन्त तत्तत् अर्थ क्रिया करने में समर्थ यह सब आविद्यक है, शुक्ति में प्रतिभास मान रजत आविद्यक है, यथा वा स्वप्नकाल में परिदृश्य मान निखिल प्रपंच आविद्यक है उसी तरह से अविद्योपदर्शित सभी प्रपंच आविद्याक है, स्वयं अविद्या भी आविद्यक ही है क्योंकि विचारासह होने से जैसे शुक्ति रजत् सत् है किं वा

सर्वमाविद्यकं विचारासहत्वात् । ब्रह्मैवैकं तत्त्वम् । तच्च स्वप्रकाशचिद्रूपत्वान्मेयमातृप्रमामानभेदशून्यमवाङ्मनसगोचरत्वाच्च न विचारगोचरोऽपीति चेत् । नूनं मत्तः संज्ञाशून्योऽसि यद्ब्रह्मणो वचनागोचरत्वं वचनेनैव प्रतिपादयसि । इदमप्याविद्यकमिति चेत् । यत्र प्रमाणानि प्रसरन्ति तन्न वस्तु

असत् यद्वा सद सत् है यह बात विचार करने पर सिद्ध नहीं होती है उसी प्रकार से अविद्यादिक सभी पदार्थ विचार को सहन नहीं करने के कारण से तत्व नहीं है। केवल ब्रह्म ही एक मात्र तत्व है। वह ब्रह्म स्व प्रकाश चिद्रूप होने से प्रमेय प्रमाता प्रमिति प्रमाणादि भेद से रहित है। एवं वाणी मन का अविषय होने से ("यतोवाचो निवर्तन्तेऽप्राप्यमनसा सह" जिस ब्रह्म को वाणी मन प्राप्त न करके निवृत्त हो जाते हैं) ब्रह्म विचार का विषय भी नहीं है।

समाधान—निश्चित आप ज्ञान रहित पागल हो। क्योंकि ब्रह्म का वचनागोचरत्व वचन द्वारा ही प्रतिपादन करते हो, यह कैसे हो सकता है? नहीं कहो कि यह सब भी आविद्यक ही है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो प्रमाण से प्राप्त है अर्थात् जिसमें प्रमाण की प्रवृत्ति होती है उसको तो वस्तु नहीं मानते हैं और जिस (ब्रह्म) में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है उसको वस्तु मानते हैं।

यत्र तु न प्रसरन्ति तदेव वस्त्विति महती दुष्प्रत्याशा। तस्माज्जगत्कर्तारं ब्रह्मपदार्थमवेहि। तत्र च कार्यायोजनादि प्रमाणं जानीहि अभेदश्रुतीर्भाविनापरत्वेनावेहि (विद्धि) विरम जगद्भेदाभिमानादित्यलमतिविस्तरेणेति। किंच केयमविद्या

सेयं महती दुष्प्रत्याशा। इसलिये जो जगत् का कर्ता है उसको ब्रह्म पदार्थ समझिये।

उस जगत् कर्ता ब्रह्म के विषय में कार्यायोजनादिक हेतु को प्रमाण समझिये। अर्थात् क्षित्यंकुरादिक सकर्तृक हैं, कार्य होने से। जो कार्य होता है वह अवश्य सकर्तृक होता है जैसे घटादिक पदार्थ। प्रकृत में द्व्यणुकादि रूप जो कार्य है उसका जो कर्ता है वही भगवान् ईश्वर है, जो लीला करने के लिये भगवान् श्रीराम रूप से अवतरित होते हैं। जिस पदार्थ के उपादान का प्रत्यक्ष जिसको होता है वही उसका कर्ता होता है। प्रकृत में द्व्यणुक का उपादान है परमाणु उसका प्रत्यक्ष अस्मदादिको नहीं होता है तब जिसको होता है वही ईश्वर है। इस प्रकार से जगत् कर्तृत्वेन ईश्वर की सिद्धि होती है। इसी प्रकार से आयोजनादि हेतुओं के द्वारा ईश्वर सिद्धि को जानना चाहिये। उदयनाचार्य ने कहा है—

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः। इति॥

किंनिष्ठा कतिविधा चेति । तत्र परमात्मन्येका जीवेषु प्रतिस्वम-परेति टीका । तन्न । अविद्यावशेन हि जीवे ब्रह्मतो भिन्ने सत्यविद्या तमाश्रयते । अविद्याश्रयणेन च स ब्रह्मतो भिन्नः स्यादित्यन्योन्याश्रयात् । न चात्रानादितापरिहारो व्यक्तिभेदे हि स स्यात् बीजाङ्कुरवत् । अत्र तु न तथा । न हि जीवा

और अभेद श्रुति को अभेद भावना परक जानिये । और जगत् के अभेदाभिमान को छोड़िये । अब इसके ऊपर ज्यादा विचार करना निरर्थक है, अतः इससे उपरत होता हूँ । और भी देखिये, ये अविद्या वस्तु क्या है ? तथा वह अविद्या किसमें रहती है ? तथा कितने प्रकार की है ? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार ने कहा है कि परमात्मा में एक अविद्या रहती है, तथा प्रत्येक जीव में अलग-अलग अविद्या रहती है । यह ठीक नहीं है क्योंकि अविद्या के बल से जब जीव ब्रह्म से भिन्न होगा तब जीव में अविद्या रहेगी और वह जीव जब अविद्या का आश्रय बन जायगा तब ब्रह्म से भिन्न होगा । तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष होता है । नहीं कहो कि अनादित्व मानने से अन्योन्याश्रय का परिहार होता है, बीजांकुर के समान । तो वह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ व्यक्ति भिन्न-भिन्न है वहाँ अना-दिता का स्वीकार करने से दोष का परिहार होता है । जैसे बीजांकुर में । यहाँ बीज व्यक्ति अंकुर व्यक्ति उत्पाद

अपि उदयन्ते व्ययन्ते चेति । येन व्यक्तिभेदः स्यात् ॥

एतेन जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामप्यन्योन्याश्रयचक्रकप्रतिपत्तिरपास्ता । आत्माश्रयानवस्थयोर्हि प्रामाणिकत्वं परिहारः । तच्चानवस्थायां व्यक्तिभेदादेव सम्भवति आत्माश्रये तुव्यक्त्यभेदादेव । अन्योन्याश्रयचक्रकयोस्तु व्यक्ति भेद एव परिहारः । यथा जन्मप्रवृत्त्योः जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां चेति । तद्वन्नात्र व्यक्तिभेदोऽस्ति । परस्परापेक्षं च व्यक्तिद्वयं न सम्भवति कारणाभावादिति ॥

अथास्तु विवरणमतम् । तथाहि अविद्या हि ब्रह्ममात्रा-

विनाशशाली अलग-अलग (अनेक) है। प्रकृत में तो व्यक्ति भेद नहीं है। क्या जीव उत्पाद विनाशशाली है ? जिससे कि व्यक्ति भेद सिद्ध होगा। इससे जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञान में जो परस्पराश्रयत्व दोष दिया था वह भी परास्त हो गया। आत्माश्रय अवस्था में तो प्रामाणिकत्व ही परिहार प्रकार है। यह वस्तु अनवस्था में व्यक्ति भेद से संभवित है और आत्माश्रय में व्यक्ति के अभेद से। अन्योन्याश्रय तथा चक्रक में व्यक्ति से ही परिहार होता है। जैसे जन्म और प्रवृत्ति में यथा वा जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञान में व्यक्ति भेद मानने से। इस तरह प्रकृत में व्यक्ति भेद नहीं है। परस्परापेक्षित व्यक्तिद्वय हो नहीं सकता है, कारण के अभाव होने से।

श्रिता एकैव । सा च ब्रह्मवदनादिरेव । ब्रह्मण्येव च स्थिता जीवानावृणोति । तथा च तयाऽवृता जीवा ब्रह्मणो भिन्नत्वेन बहुत्वेन चकासति । यदा तु तामावारिकां योगसमाधिमर्यादया जीवो व्यतिक्रामति तदा जीवन्मुक्त इत्युच्यते । यदा तु सर्वे तदा सर्वे जीवा ब्रह्मणि लीयन्ते अविद्या च व्येति कर्तव्याभावात् ब्रह्मैव निर्विकारमवतिष्ठत इत्येकदैव सर्वमुक्तिरिति । तन्न ।

शंका—मान लिया जाय विवरणकार के मत को । तथा हि अविद्या केवल ब्रह्म में रहती है तथा एक है और वह अविद्या ब्रह्म के समान अनादि हैं (अर्थात् एक है और उसकी उत्पत्ति नहीं होती है) उस अविद्या से आवृत जीव समुदाय ब्रह्म से भिन्न रूपेण तथा अनेक रूपेण । देव मनुष्यादि अनेक रूपों से भाषित होते हैं । जब कोई पुण्यशाली जीव योग समाधि मर्यादा से आचरण करने वाली उस माया का अतिक्रमण कर जाता है तब वह जीवविशेष जीवन मुक्त कहलाता है । जब सभी जीव उस आवारक अविद्या को अति क्रमण कर जाते हैं तब सभी जीव ब्रह्म में लीन हो जाते हैं । तथा अविद्या भी चली जाती है (नष्ट हो जातो है) कर्तव्य का अभाव होने से । उस समय में निर्विकार एक बह्म रह जाता हैं, इस प्रकार से एक ही समय में सभी का मोक्ष हो जाता है ।

समाधान—विवरणकार का यह मत ठीक नहीं है,

सा ह्यविद्या ब्रह्माश्रिता ब्रह्मतो भिन्ना वास्तवी चेत्तदा द्वैतं स्यात् । ब्रह्माभिन्नाचेत्तदा तद्वद्वानुपपत्तिरपसिद्धान्तश्च । साप्यविद्यकी चेत्तदा तस्या अविद्यान्तरप्रभवत्वे अविद्यानन्त्यं स्यात् । किञ्चेयमविद्या मोहात्मिका वा तत्त्वज्ञानविरहात्मिका वा । नोभौ । न हि ब्रह्मणि तौ सम्भवतः । न हि ब्रह्मानभिज्ञं मूढञ्चेति स्वप्रकाशचिद्रूपत्वात्तस्य । अथ जीवसमवेतं मिथ्या-

---

क्योंकि वह अविद्या जो ब्रह्म में रहने वाली है। सो ब्रह्म से भिन्न है। पारमार्थिकी है ऐसा कहें तो द्वैतापत्ति हो जायगी। और यदि वह अविद्या ब्रह्म से अभिन्न है, ऐसा मानें तब तो अविद्या का विनाश नहीं होगा। और अप सिद्धान्त दोष भी होगा। क्योंकि अविद्या को ब्रह्म से अभेद कहीं नहीं कहा है। नहीं कहो कि अविद्या भी आविद्यक ही है, सो ठीक नहीं। क्योंकि उस अविद्या को अविद्यान्तर से जन्य कहने पर अविद्या में अनन्त्य दोष हो जायगा। और भी देखिये यह अविद्या मोह रूप है अथवा तत्वज्ञानाभाव रूप है? इसमें दोनों पक्ष अयुक्त हैं। इन दोनों की संभावना ब्रह्म में नहीं है। ब्रह्म अनभिज्ञ है वा मूढ है ऐसा नहीं, क्योंकि ब्रह्म तो स्वप्रकाश चिद्रूप है इसलिये मोह वा ज्ञानाभाव ब्रह्म में नहीं जा सकता है। यदि कहो कि जीव में रहने वाली मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या ब्रह्म को विषय करती है, सो भी

ज्ञानमविद्या ब्रह्म विषयीकरोति । तदान्योन्याश्रयः । जीवे हि ब्रह्मतो भिन्ने सति तत्र मिथ्याज्ञानं समवेयात् । समवाये च स ब्रह्मतो भिद्य तेति । अथाविद्याविजृम्भितं मायानगरं तथा विश्वमेवेति ब्रूम इति चेन्मायास्वरूपं पृष्टो मायाफलेनोत्तरयन्नूनमनभिज्ञोऽसि । किञ्चाऽविद्याऽस्तु यथा तथा । न हि सा ब्रह्म विषयीकरोति । न वा तत्र समवैतीति कथं ब्रह्माश्रितेत्यु-

---

ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय होता है। जैसे जीव जब ब्रह्म से भिन्न है यह सिद्ध जो जाय तब जीव में मिथ्याज्ञान सिद्ध होगा। और जब मिथ्याज्ञान का समवाय जीव में सिद्ध हो जाय तब जीव में ब्रह्म भिन्नत्व की सिद्धि होगी, सो यह अन्योन्याश्रय दुस्तर हो जाता है। यदि कहो कि अविद्या का विलास (कार्य) यह माया नगर है तथा इसी प्रकार से संपूर्ण जगत् माया का कार्य अति विलक्षण है, यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मैं पूछता हूँ कि माया का स्वरूप क्या है? तो इस प्रश्न का उत्तर आप माया के फल (कार्य) से देते हुए आप निश्चित अनभिज्ञ हैं। और भी देखिये अविद्या तो जैसी तैसी रहे परन्तु वह अविद्या ब्रह्म को विषय नहीं करती है। न वा ब्रह्म में समवाय से रहती है, तब वह अविद्या ब्रह्माश्रित कैसे होती है? (इस कथन से संक्षेप शारीरककार का जो कथन है "आश्रयत्वविषयत्व-

च्यते । ननु सत्त्वेनासत्त्वेन च सा निर्वक्तुं यथा न शक्यते तथा भावत्वेनाभावत्वेन मोहत्वेन जीवनिष्ठत्वेन वा ब्रह्मनिष्ठत्वेनापि निर्वक्तुं न शक्यत इत्येव तदनिर्वचनीयत्वार्थं इति ।

भागिनी निर्विकार चितिरेव केवला । पूर्वासिद्धतमसो हि गोचरो नाश्रयो भवति न गोचरः" अविद्या का आश्रय तथा विषय शुद्ध ब्रह्म ही होता है । अविद्याके पश्चात काल में होने वाला जीव सापेक्षा पूर्व सिद्ध अविद्याका न आश्रय है न वा विषय है । उसका खंडन होता है । ब्रह्म में अविद्याश्रयत्व अविद्याविषयत्व युक्ति संगत नहीं होता है । यदि ब्रह्म में अविद्या रहेगी. तब ब्रह्म भी अज्ञ हो जायगा और इस बात को कोई नहीं मान सकेगा । अनुभव तथा श्रुत्यादि से सिद्ध है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं)

शंका—जैसे अविद्या का निर्वचन सद्रूप से वा असद्रूप से नहीं होसकता है उसी प्रकारसे भावरूपसे अभावरूप से मोह रूप से जीवाश्रितत्व ब्रह्माश्रितत्वादि रूप से अविद्या का निर्वचन नहीं हो सकता है, यही तो अविद्या में अनिर्वचनीयत्व है, चित्सुखीकार ने भी कहा है "प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् । गाहतेतदनिर्वाच्यत्वमाहुर्वेदान्तवेदिनः" जो वस्तु सत्वेन असत्वेन सदसत्वेन भावत्वेन अभावत्वेन इत्यादि रूप से विचार पदवी को प्राप्त नहीं होती है उसी का नाम अनिर्वचनीय है, न कि

धिङ्मूढ यां बोद्धुं व्याहर्त्तुं च न शक्नुषे तामाश्रित्य विवदमानो न लज्जस इति दूरमपसर। किं कुर्म एवं स्वभावेव सेति चेत् । निःस्वभावामेवं स्वभावां वदन् व्याघातादपि

निर्वचनागोचरत्व अनिर्वचनीय है।

समाधान—अरे मूर्ख ! जिस वस्तु को समझ नहीं सकते हो, बोल नहीं सकते हो उस वस्तु को लेकर विवाद करते हुए तुम को लज्जा नहीं आती है इसलिये तुम सभा से दूर हो जाओ। सभा में विचारक व्यक्तियों का समावेश होता है पागलों का नहीं।

शंका—क्या करूं ऐसे ही स्वभाव वाली अविद्या है अर्थात् जिसको कोई न जान सके न बोल सके ऐसे ही स्वभाव वाले अविद्यादि पदार्थ हैं इसमें किसी का क्या दोष है ? ऐसा कहा भी है "यथायथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा। यदेतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्। जिस जिस प्रकार से अर्थ का विचार करते हैं वैसे वैसे वह अर्थ विशीर्यमाण होता जाता है। पदार्थ को जब यही अच्छा लगता है तो हम लोग इसमें क्या करें ?

समाधान—स्वभाव रहित अविद्या को एतादृश स्वभाव वाली अविद्या है, ऐसा कहते हुए क्या व्याघात दोष से नहीं डरते हो ? अतः जैसे जैसे अविद्या की परीक्षा करते हो (तद्विषयक विचार करते हो) तैसे तैसे

बिभेषि । तस्माद् यथा यथा परीक्षसे तथा तथा व्याघातसंघातनिर्घातघातमासाद्य माद्यन्नुन्माद्यन्नितस्ततः प्रलपसीति । अथाविद्या ब्रह्मावृणोतीत्ययुक्तम् तस्य स्वत एवावाङ्मनसगोचरत्वात् । आवृतत्वादेव तत्तथेति चेन्न । अपसिद्धान्तात् । अविद्या ब्रह्म नावृणोति किं तु तद्बलाद् ब्रह्म विवर्तत इति ब्रूम इति चेत् । कोऽयं विवर्तः । मिथ्यापरिणामः । कोऽयं परिणामः । प्रकृत्यनुवृत्तौ रूपान्तरा वृत्तिः । यथा हेम्नः

व्याघात से घात (समुदाय) रूप जो निर्घात (वज्र) उसका जो आघात प्रहार उसको प्राप्त कर के उद्भ्रांत होकर इतस्ततः प्रलाप (निर्थक वचन) करते हो । आपने कहा था कि अविद्या ब्रह्म को आवृत करती है सो आपका कहना ठीक नहीं है, क्योकि ब्रह्म तो स्वतः वाणी मन का अविषय है । आवृत होने के कारण से ही ब्रह्म वाणी मन का अविषय है ऐसा कहें सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से आपको अप सिद्धांत दोष होता है । अविद्या से ब्रह्म आवृत नहीं होता है, किन्तु अविद्या के बल से ब्रह्म विवर्तित होता है ऐसा कहते हैं, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यह विवर्त वस्तु क्या है ? यदि मिथ्या परिणाम को विवर्त कहें सो ठीक नहीं, क्योंकि यह मरिणाम वस्तु क्या है ? यदि कहो कि प्रकृति का अनुवर्तन रहते हुए रूपान्तर की प्राप्ति का नाम परिणाम है । जैसे सोने का

कुण्डलादि। सोऽयं परिणाम आविद्यकत्वान्मिथ्येति ब्रूम इति चेत्। यथा हेम कुण्डलत्वेन पर्यवस्यति। तथा ब्रह्मा- सद्भूतादित्वेन पर्यवस्यतीति त्वद्वाक्यार्थः। स चायुक्तः। सदसतोश्चेतनजडयोरात्मानात्मभूतयोस्तादात्म्यासम्भवात्। न हि तात्त्विकस्यातात्त्विकः परिणामः सम्भवतीति। हिमान्या मायागन्धर्वनगरवदेतत् स्यादिति चेन्नैवम्। न हि

कुण्डल। यहाँ मूल कारण जो सोना है उसका अनुवर्तन कुण्डल में रहता है और आकार भेद हो जाता है, इसी का नाम परिणाम है। यह परिणाम भी आविद्यक होने से मिथ्या है। "वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" जितना विकार है सो सब वाचारंभण मात्र (मिथ्या) है, ऐसा मैं कहता हूँ।

उत्तर–जैसे सुवर्ण कुण्डलाकार में पर्यवसित होता है उसी तरह से ब्रह्म आकाशादि प्रपंचाकारेण पर्यवसित होता है, यही आपके वाक्य का अर्थ है, सो ठीक नहीं है क्योंकि सत् असत् में जडचेतन में आत्मा अनात्मा में परस्पर तादात्म्य नहीं हो सकता है। तात्विक पदार्थ का परिणाम अतात्विक पदार्थ नहीं हो सकता है। सुवर्ण कुण्डल में दोनों पदार्थ समान हैं, प्रकृत में तो ब्रह्म तात्विक है और आकाशादि प्रपंच अतात्विक है, अतः इन दोनों में तादात्म्य घटित परिणाम कैसे होगा ?

हिमानी तथात्वेन परिणमते विवर्तते वा। किं तु हस्त्यश्वादित्वेन मूढैः प्रतीयते। ब्रह्म तु कथं तथा प्रतीयतां सर्वपरोक्षत्वादिति ॥

ईश्वरसिद्धिस्त्वेवम्। "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः

शंका—हिमानी के माया नगर गन्धर्व नगर के समान प्रकृत में भी होगा (अर्थात् हिमाच्छादित प्रदेश में जैसे गन्धर्व नगर देखने में आता है, वहाँ कार्य कारण से सर्वथा भिन्न होता है, उसी प्रकार प्रकृत में भी कारण के असमान कार्य होगा) इसमें क्या हानि है ?

समाधान—हिमानी का तदाकारेण परिणाम नहीं होता है, न वा हिमानी का विवर्त होता है, किन्तु प्राकृत लोग हाथी घोडा रूप से हिमानी को जानते हैं। ब्रह्म तो जाना कैसे जायगा, ब्रह्म सभी के लिय परोक्ष है। दृष्टान्त में हिमानी रूप अधिकरण प्रत्यक्ष है, तब उसमें लोग हाथी घोड़े देखते हैं, ब्रह्म जब परोक्ष है तब उसमें प्रपंच को कोई कैसे देखेंगा ? अनुपद वक्ष्यमाण प्रकार से परमात्मा (भगवान् श्रीराम) की सिद्धि होती है। जोआत्मा अपहत पाप हैं अर्थात् जिसके भीतर सुख दुःख का निमित्तकारण पुण्य पाप नहीं है, जो जरावस्था से रहित है, मृत्यु से रहित है, जिसमें शोक नहीं है

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य'' इति छान्दोग्योपनिषदा आत्मविषयकप्रतिपत्तिविधौ सा प्रतिपत्तिः किंरूपा कतिविधा वेत्याकांक्षायां आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो

जो भूख प्यास से रहित सत्यकाम है, सत्यसंकल्प है, ऐसा जो आत्मा है सो अन्वेषणीय है, वही जिज्ञासा का विषय है। इस छान्दोग्य उपनिषद में आत्म विषयक प्रति-पत्ति (ज्ञान) विधि में वह प्रतिपत्ति किस प्रकार की है तथा कितने प्रकार की है ? ऐसी जिज्ञासा होने केबाद अरे मैत्रेयी आत्मा देखने के योग्य, है श्रवण करने योग्य है, मनन करने के योग्य है, निदिध्यासन करने के योग्य है अर्थात् आत्मज्ञान के लिये श्रवण मनन निदिध्यासन करना चाहिये। इस शतपथ श्रुति से आत्म विषयक यथा वर्णित चार प्रकार की प्रतिपत्ति में इष्ट साधनता ज्ञान होने से, वह इष्ट वस्तु क्या है ? जिसके लिये चार प्रकार की प्रति पत्ती का विधान किया गया है, एतादृश जिज्ञासा होने के पीछे "न स पुनरावर्तते" मोक्ष प्राप्त किया हुआ पुरुष पुनः पुनः इस संसार में लौटकर के नहीं आता है। इस अर्थवाद शास्त्र से अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष की उपस्थिति होने से विधि वाक्य के साथ अनुवाद वाक्य की एकवाक्यता होने के बाद यह चार प्रकार की जो प्रतिपत्ति है उसमें मोक्ष कारणता का ज्ञान होता है अर्थात् मोक्ष का कारण

निदिध्यासितव्यो मैत्रेयीति शतपथश्रुत्यात्मविषयकयथोक्तप्रति-पत्तिचतुष्कस्येष्टसाधनत्वेऽवगते इष्टाकांक्षायां च न स पुनरावर्तत इत्यर्थवादेनापुनरावृत्ते मोक्षस्योपस्थितौ विध्यनुवादैकवाक्यतया च प्रतिपत्तिचतुष्टयस्य मोक्षसाधनत्वावगमे मोक्ष्यमाणप्रवृत्तिप्राप्तौ प्रवृत्तिविषयीभविष्यत्तदुपायविशेषजिज्ञासायां श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरिति गुणविधिना वेदानुमानयोस्तद्गुणयत्वविधानात् । अथ श्रवणकारणवेदाकांक्षायां सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणव ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोवायु नाकाशम-

---

प्रतिपत्ति चतुष्टय है ऐसा जानने के बाद मोक्ष विषयक इच्छावालाजो पुरुष उसकी प्रवृति होती है, तदनन्तर प्रवृत्ति के विषय में चार प्रकार के उपाय विशेष की जिज्ञासा होने से श्रुति वाक्य द्वारा श्रवण करना चाहिये तथा उपपत्ति तर्क द्वारा मनन करना चाहिये इस गुण विधायक वाक्य से वेदान्त तथा अनुमान में कारणता का विधान होता है। इस के बाद श्रवण का कारण वेद की आकाँक्षा होने से वे याज्ञवल्क्य बोले हे गार्गी ! यहाँ वह अक्षर ब्रह्म है जिसके लिये ब्राह्मण लोग कहते हैं अस्थूल, स्थूलत्व जो देह धर्म है उससे रहित है, अणुत्व से रहित है, ह्रस्वत्वधर्म से रहित है, स्पर्श रहित है, दीर्घत्व रहित है, लौहित्यदि रूप व्याप्य नीलादि वर्ण रहित है, स्पर्श रहित है, स्नेह रहित है, छाया

सङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुःश्रोत्रमरागमनोतेजस्कमप्राणममुख-
मनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपू-
र्वमनपरमबाह्यं न तदश्नोति कञ्चन तदश्नोति कश्चनेत्यादि
शतपथश्रुत्यात्मनि श्रुते विधिबोधितद्वितीयप्रतिपत्तये निरञ्ज-
नत्वादिश्रुतिसंजाताश्रद्धामलक्षालनाय च मननानुसरणे इतरभिन्ना
नुमितेर्व्याप्तिपक्षधर्मतासंवेदनसाध्यत्वेऽपि तस्यात्र प्रावादुक-
प्रवादनिरासक्षमात्मपञ्चावयवसाध्यतया साङ्गोपाङ्गन्यायस्वरूप-

रहित है, तामोवर्जित है, वायु भिन्न है, आकाश रूप नहीं है, असंग है, किसीभी पदार्थके साथ संबन्ध रहितहै, स्पर्श रहित है, गंध रहित है, रस रहित है, चक्षु श्रोत्र से रहित है, राग वर्जित है, मनोरहित है, तेज रहितहै, प्राण मुख नाम गोत्रसे रहित है, जरामरण भय से रहित अमृत रूप है, रजोगुण रहितहै, शब्द रहित है, विवृत संवृतादि वर्णस्थान रहित है, अपूर्व है, पर बाह्यत्वादि रहित है, वह न किसी को खाता है न उसको कोई खाता है। इस शतपथ श्रुति से आत्मा का श्रवण होने के बाद मन्तव्यः इस विधि वाक्य से बोधित मननात्मक द्वितीय प्रतिपत्तिके लिये तथा निरंजनत्वादि श्रुति से जायमान जो बोध उसमें होने वाली अश्रद्धा मल, उस मल का निराकरण करने के लिये मनन का अनुसरण करना आवश्यक हो जाता है। मनन है इतर भेदानुमिति। इस अनुमिति का व्याप्ति पक्ष धर्मता ज्ञान साध्यत्व होने

निरूपणाय षोडशपदार्थव्युत्पादनप्राप्तौ तत्रापि षोडशपदार्थनिरूपणस्य निरस्तसमस्तदोषानुषङ्गस्वलक्षणसाध्यतया लक्षणदोषनिरासस्य च लक्षणमन्तरेणासम्भवितया लक्षणस्य च धर्मिज्ञानसाध्यस्य तत्साधकोद्देशसाध्यतयोद्देशलक्षणपरीक्षात्मकप्रवृत्तित्रित्वे व्यवस्थिते यथोक्तहेतुहेतुमद्भावसङ्गत्योद्देशलक्षणपरीक्षाणां पौर्वापर्यसिद्धे जातिनिग्रहस्थानविशेषलक्षणा नात्वभ्यर्हिततमप्रमाणादिपरीक्षाविषयकशिष्यबुभुत्सौत्कट्येन प्रतिबन्धे । अथ तत्पर्याप्तावसरतः करणादर्थतश्चरमभाव इति सर्वमभिसन्धाय

पर वादियों का जो विवाद है उसके निराकरण करने में समर्थ जो पंचावयव वाक्य उससे साध्य होने से अंग उपाँग सहित न्याय स्वरूप के निरूपण करने के लिये सोलह पदार्थ का कथन प्राप्त होता है, उसमें भी पदार्थ निरूपण है, उसके समस्त दोष रहित जो स्वकीय लक्षण तत्साध्य होने से लक्षण का जो दोष है उसका निराकण लक्षण के बिना नहीं बन सकता है । धर्मिज्ञान साध्य जो लक्षण है उसका साधक जो उद्देश्य तत्साध्य होने से, उद्देश्य लक्षण परीक्षा इन तीनों के व्यवस्थित होने पर पूर्वोक्त कार्य कारणभाव संगति को लेकर के उद्देश्य लक्षण परीक्षा पूर्वापर भाव से निरूपण किया गया है । तदनन्तर अभ्यर्हित प्रमाणादि परीक्षा विषयक शिष्य की इच्छा से जाति निग्रह स्थानादि

दुःखपङ्कनिमग्नानुद्दीधीर्षन्नक्षपादो महामुनिस्तदुपशमस्य परम्परयोपायभूतामान्वीक्षिकीं प्रणिनाय। तत्रापि चान्वीक्षिक्या साङ्गोपाङ्गया प्रावादुकप्रवादनिरासक्षमे पञ्चावयवे समुपवर्णिते तेनैव मननात्मिका द्वितीया प्रतिपत्तिरपि साध्यते क्षित्यादेः कार्यत्वेन घटवत् सकर्तृकत्वानुमानात् ॥

नन्वादिपदस्य प्रकारवाचित्वेन कश्चिदेकः प्रकारो वाच्यो

का भी आचाय ने न्याय शास्त्र में कथन किया है। इन सब वस्तुओं को मन में रख कर के दुःख पंक में निमग्न प्राणियों के उद्धार करने की इच्छा से दुःख के उपशमन रूप मोक्ष में परम्परया कारण रूप से उपयोगी आन्वीक्षिकी न्याय शास्त्र को बनाया। उसमें भी सांगोपांग युक्त आन्वीक्षिकी से वादिमत के निराकरण में समर्थ पंचावयव का निरूपण होने से मननात्मक द्वितीय प्रतिपत्ति भी होती है। क्षित्यादिक सकर्तृक हैं, कार्य होने से घर के समान इस अनुमान से।

शंका—क्षित्यादि पक्ष में कार्यत्व हेतु से सकर्तृकत्व का अनुमान होता है, घट की तरह ऐसा कहा है। यहां आदि पद जो है सो प्रकार वाचक है तो ऐसे किसी प्रकार का कथन करना चाहिये जिससे कि तत्तत्स्थल में मही (पृथिवी), तथा 'महीधर पर्वतादिक सभी का पक्ष रूपेण संग्रह हो जाय। अर्थात् ऐसा अनुगत कोई पक्ष बनाइये

येन तत्र तत्र महीमहीधरादयः संगृह्यन्ते । अत्राहुः । अदृष्टा-द्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यसमवेतजन्यत्वं तथा । अत्र

जिससे प्रत्येक कार्यं का संग्रह हो जिसमें कि कार्यत्व हेतु के द्वारा कतृर्कत्व का अनुमान सरलता से किया जा सके । तत्तत्व्यक्ति रूप से यदि पक्ष बनावेगें तब तो व्यक्ति के अनन्त होने से सैकड़ों वर्ष में भी अनुमान से सकतृकत्व का अनुमान नहीं हो सकेगा, और अनुमान न बन सकने से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकेगी । और ईश्वर की सिद्धि नहीं होगी तो न्याय शास्त्र का निर्माण व्यर्थ हो जायगा और यदि न्याय शास्त्रका निर्माण नहीं हुआ तो 'मन्तव्य' इस श्रुति से बोधित मनन नहीं हो सकेगा । और मनन यदि नहीं होगा तो मनन साध्य निदिध्यासन नहीं होगा निदि-ध्यासन नहीं होगा तो साक्षात्कार कैसे होगा ? और साक्षात्कार नहीं होगा तो साक्षात्कार साध्य मोक्ष नहीं होगा। मोक्ष न होने से तो उद्देश्यासिद्धि दोष हो जायगा । सभी शृंखला अस्तव्यस्त हो जायगी । इस लिये अनुगत रूप से पक्ष को जान सके ऐसा ही किसी प्रकार का कथन होना चाहिये, जिससे सर्वत्र साध्य सिद्धि कर सकें ।

समाधान—अत्राहुः प्रकृत पूर्व पक्ष का समाधान सिद्धान्ती कहते हैं यहा अदृष्ट द्वार न हो ऐसा उपादान विषयक अन्य कृति (अस्मदादि का प्रयत्न) उससें अन्य मात्र तथा

जन्यकृत्यजन्यत्वेन पक्षविशेषणे कृते सर्वासंग्रहः सर्वस्य सन्दिग्ध-कर्तृकस्य स्वमते कृतिजन्यत्वादिति तदर्थं जन्येति । जन्यपदं तु स्वमते कृतौ विशेषणम् परं प्रत्यापातत उपरञ्जकम् । एव-

समवेत (समवाय सम्वन्ध से वृत्तिमंन जो जन्य यह हो यहाँ पक्ष है यहाँ यदि कृति जन्यत्व पक्ष में विशेषणदें प्रथम अन्य पद न दें तो जितना कार्य-जात है उन सब का संग्रह नही हो सकेगा, साध्य जो सकतृकत्व उसका सन्देह जिस जिसमें है वे सभी पदार्थ न्याय मत में कृतिजन्य हैं। अतः सभी संदिग्ध कर्तृक पदार्थ पक्षरूप से संगृहीत हों जाय, इस लिये प्रथम जन्य पद पक्ष में दिया गया है। न्याय मत से जन्य पद कृतिका विशेषण होता है। अन्य के लिये आपाततः उपरंजक है अर्थात् परिचायक है। जो विशेषण व्यभिचारादि दोष का वारण करता है वह तो विशेषण कहलाता है और जो दोष वारक न हो सो परिचायक होता है। जैसे नीला घड़ा है, यहाँ नीला गुण पीतादि से व्यावर्तक होने से विशेषण है और प्रमेयो घटः यहाँ प्रमेयत्व, घड़ा का किसी से व्यावर्तक नहीं होता है क्योंकि सभी पदार्थ प्रमेय ही हैं, यदि कोई पदार्थ अप्रमेय होता तब ही तो प्रमेयत्व व्याव-र्तक होता, सो तो है नहीं। प्रमेयत्व केवलान्वयी है, अतः प्रमेयत्व विशेषण केवल घड़े का परिचय कराता है

मपि शब्दफूत्कारादीनां मृदङ्गादिगोचरकृतिजन्यानां जन्यकृति-जन्यत्वेन न पक्षत्वमिति तत्संग्रहायोपादानगोचरेति जन्यकृति-विशेषणम् । शब्दादयोऽपि हि गगनपवनगोचरजन्यकृत्यजन्या

इससे उस प्रमेयत्व को उपरंजक परिचायक कहते हैं। प्रकृतमें जन्य पद स्वमतसे विशेषण है, और मत से उपरंजक है। जन्य पद को कृति में विशेषण देने पर भी मृदंगादि विषयक कृति से उत्पन्न होने वाला जो शब्द तथा फूत्कार (फूक ने) प्रभृति वस्तु के जन्य कृति से उत्पादित होने से पक्ष रूप से संग्रह नहीं हो सकेगा। अतः शब्द फूत्करादिक का संग्रह करने के लिये उपादान गोचर, यह विशेषण जन्य कृति में दिया जाता है। शब्द प्रभृति वस्तु आकाश पवन विषयक जन्य कृति से अजन्य ही हैं, क्योंकि आकाश और वायु दोनों अतीन्द्रिय हैं (आकाश तो सर्व मत से अतीन्द्रिय है और प्राचीन नैयायिकों के मत से वायु भी अतीन्द्रिय है) प्राचीन का कथन ऐसा है कि बहिरिन्द्रिय से उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है जिसमें रूप रहता है। वायु में रूप नहीं है इससे वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः कहा है "ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः" शब्द वृत्ति कंपादि लिंग से वायु अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं है। नवीन के मत से वायु प्रत्यक्ष भी है। इस विषय पर अधिक विचार देखना हो तो मत्कृत पुस्तकान्तर में देखिये। यहाँ इस विषय पर

एव तयोरतीन्द्रियत्वात् । नन्वेवमपि सर्वासंग्रहः । क्षित्यादयो हि परमाणुगोचरजन्यकृतिजन्या एव । तथा हि यागादिगोचरा यष्टुर्या जन्या कृतिः सापि यागहिंसादिकं भावयन्ती तत्फली-भूतं सुखं दुःखञ्चोदपादयन्ती तदवरुद्धत्वेन तत्कारणी-भूतं परमाणुमपि विषयीकरोतीत्यतः सर्वसंग्रहायादृष्टाद्वारकेति उपादानगोचरजन्यकृतिविशेषणम् । इयं तु कृतिरदृष्टाद्वारिकै-

---

अधिक विचार अप्रक्रांत हो जायगा। कृति में जन्यत्व विशेषण तथा जन्य कृति में उपादान गोचर विशेषण देने पर भी सब का संग्रह पक्ष तरीके नहीं होता है, क्योंकि क्षित्यादि पदार्थ परमाणु विषयक जो जन्य कृति उस कृति से तो पैदा होता है, कैसे होता है ? इसका प्रकार बतलाते हैं—तथाहि इत्यादि ग्रंथ से। याग करने वाले पुरुष की यागादि विषयक जो कृति है सो तो जन्य कृति ही है। यह याग कर्ता की याग विषयक कृति याग हिंसादि का संपादन करती हुई याग हिंसा का जो फल है सुख तथा दुःख उसको बनाती हुई फलावरुद्ध होने से कारण रूप जो परमाणु उसको भी पुरुष कृति विषय करती है। इसलिये सभी का संग्रह हो अतः अदृष्टाद्वारक यह विशेषण उपादान गोचर जन्य कृति में देते हैं। यह जो कृति याग करने वाले की याग विषयक जो फल द्वारा परमाणु को भी विषय करने वाली है सो तो अदृष्ट

वोपादानगोचरा भवति। एवमपि निरुपादानानां प्रध्वंसानाम-दृष्टाद्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यतया पक्षप्रवेशे वृत्ते तदंशे सकर्तृकत्वानुमाने बाधः। नहि ध्वंसस्य निरुपादानस्योपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वलक्षणं सकर्तृकत्वं सम्भवतीति तद्वहिष्करणाय समवेतपदम्। एवमपि सामा-

---

द्वारक है। अदृष्ट को लेकर के अस्मादादि की कृति पर-माणु तक को विषय करती है न कि अस्मदादि कृति में ऐसी शक्ति है कि परमाणु को विषय करे। इसलिये अदृष्टाद्वारकत्व विशेषण देने से पूर्वोक्त दोष नहीं होता है। पुनः पक्षी कहते है अदृष्ट द्वारक विशेषण देने पर भी निरुपादानकध्वंस रूप जो कार्य है उस ध्वंस को अदृष्टाद्वारक उपादान विषयक जन्य कृति से अजन्य होने से पक्ष में प्रवेश होने से तदेश में ध्वंस रूप पक्षैकदेश में जो सह कतृकत्व का अनुमान करेंगे उस अनुमान में बाध दोष हो जाता है। क्योंकि ध्वंसरूप जो कार्य है सो तो निरुपादानक है तब उसमें उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षाकृति-मज्जन्यत्व लक्षण सकर्तृकत्व नहीं हो सकता है, इसलिये ध्वंस का संग्रह न हो सके तस्मात् समवेत यह विशेषण पक्ष में दिया जाता है, ध्वंसात्मक कार्य समवेत नहीं है। जैसे घटादि भाव कार्य समवाय संबन्ध से कपाल में पैदा होता है उसी प्रकार से ध्वंस कार्य किसी में समवाय

न्यानां नित्यगुणानां च पक्षप्रवेशे वृत्ते तदंशे बाधः स्यादिति तद्वारणाय चरमं जन्यपदम् । साध्यं तु अदृष्टाद्वारकोपादान-गोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वम् । अत्राप्युपादानेत्यादौ

सम्बन्ध से पैदा नहीं होता। यदि ध्वंस भी समवाय सम्बन्ध से पैदा हो तब तो वह भी भाव हो जायगा। अत: ध्वंस समवेत नहीं है निरुपादानक है। केवल प्रति-योगिता सम्बन्ध से, जब उत्पन्न होता है तब तादात्म्य सम्बन्ध से उसमें प्रतियोगी कारण होता है। ध्वंस उत्पन्न होता है प्रतियोगित्ता सम्बन्ध से, प्रतियोगी घट में उस घट में तादात्म्य सम्बन्ध से घट रहता है स्व में स्व का तादात्म्य होता है। ध्वंस का कोई उपादान कारण नहीं होता है। वह ध्वंस दण्ड प्रहारादि कारण से होता हुआ दण्ड प्रहार पुरुष प्रयत्न साध्य है इसलिये सकर्तृक कहलाता है। नहीं कहेंगे दण्ड जहाँ गृह कोण में रखा गया है उसके नीचे घड़ा है उस घड़े के ऊपर दण्ड गिर गया है और घड़ा फूट गया है उसमें पुरुष कर्तृकत्व कैसे हुआ ? क्योंकि किसी पुरुष ने तो दण्ड प्रहार किया नहीं। ऐसा कहना ठीक नहीं है। एतादृश स्थल में ईश्वर कर्तृकत्व समझिये। प्रलय के समान, नदीं वेग के समान। अथवा जिसका घड़ा फूटा उसके अदृष्ट से हुआ इसलिये अदृष्टाद्वारकत्व नहीं है।

अदृष्टाद्वारकत्वादि पक्ष में विशेषण देने पर भी सामान्य जाति तथा नित्य जो जलीयपरमाणु उसका गुण रूपादिक नित्य है उसका भी पक्ष में प्रवेश होता है, अर्थात् वह सब भी पक्ष हुआ, और उसमें सकर्तृकत्व साध्य नहीं है, नित्य होने से। तो उसमें बाध दोष होता है। इसलिये सामान्य तथा नित्य गुण में बाध दोष का वारण करने के लिये पक्ष में चरम जन्य पद का निवेश किया गया है। सामान्य जाति तथा परमाणु का शुक्लादि गुण नित्य है। उत्पाद विनाश रहित है। इसलिये उसका संग्रह नहीं होता है। न वा बाध की आशंका प्रकृत अनुमान में होती है। यद्यपि 'जन्यते इति जातिः' इस व्युत्पत्तिसे जातिमें भी अनित्यत्व प्रतिभासित होता है तब "भक्षितोपि लशुने न शान्तो व्याधिः" इस न्याय से जन्य विशेष देने पर भी दोषोद्धार नहीं हुआ। तथापि "नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्" इस नैयायिकलक्षण का अनुसन्धान करके प्रश्न तथा समाधान समझना। अथवा जो जाति को अनित्य समझते हैं उनके मत से घटादि योग क्षेम समानता समझना। यद्यपि शांकर वेदान्ती परमाणु, गगनादि को ब्रह्म जन्य मानते हैं "आकाशः संभूतः"इत्यादि श्रुति के बल से। तब उनके मत से परमाणु गुण में बाध वारण करने के लिये जन्य विशेषण निरर्थक है, तथापि वे लोग आकाशः सम्भूतः के अर्थ को ठीक से नहीं जानते हैं श्रुत्यर्थ को ठीक से जानने का प्रयत्न करें।

कृतेऽदृष्टद्वारा उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतयः क्षेत्रज्ञस्य भवन्त्येवेति तद्विशिष्टक्षेत्रज्ञेनैवार्थान्तरमिति तद्वारणायादृष्टाद्वारकेति उपादानगोचरप्रत्यक्षज्ञानचिकीर्षयोः कृतेश्च विशेषणमिति केचित् । तन्न । न ह्यर्थान्तरवारणाय साध्ये विशेषणं साध्यगौरवेण व्याप्यत्वासिद्ध्यापत्तेः । किं त्वदृष्टाद्वारकोपादानगो-

---

प्रकृत अनुमान में अदृष्टाद्वारक उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञानवान् चिकीर्षावान् कृतिमान से जन्यत्व रूप है । अदृष्टाद्वारकत्व रूप विशेषण कृतिमान का है, तादृश पुरुष जन्यत्व साध्य है । कोई कहते हैं कि अदृष्ट द्वारा क्षेत्रज्ञ का उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृति भी कारण होता है, तो तादृश उपादान गोचर अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृतिमत्व विशिष्ट जीव को लेकर के अर्थान्तर दोष हो जायगा । अतः अदृष्टाद्वारकत्व विशेषण तादृश ज्ञान चिकीर्षा कृति का है, न कि तादृश कृतिमान का है । यह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थान्तर दोष का निवारण करने को विशेषण साध्य में नहीं देना । ऐसा करने से साध्य का शरीर गुरु भूत हो जाने से व्याप्यत्वासिद्धि हो जायगी । किन्तु अदृष्टा द्वारक उत्पादन विषयक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृतिमान जो हो वही कर्ता होता है । अर्थात् अदृष्टाद्वारकत्व विशेषण तादृश कृतिमान कर्ता का है, कर्ता का विशेषण जो ज्ञानादिक है उसका नहीं

चरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमानेव हि कर्ता । यथा घटपटादौ कुलालकुविन्दादिः । एवं चैवं प्रयोगः । अदृष्टाद्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यानि समवेतानि जन्यानि अदृष्टाद्वारकोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यानि समवेतत्वे सति प्राग-

---

है । जैसे घटादि कार्य में कुलाल कुविन्दादिक कर्ता होता है । ऐसा होने से अनुमान का प्रयोग इस प्रकार से होता है । 'अदृष्टाद्वारकेत्यादि' अदृष्टा द्वारक उपादान विषयक जन्य कृति से अजन्य समवेत समवाय सम्बन्ध से रहने वाला जो जन्य (इतना पक्ष है) वह कैसा है ? अदृष्टाद्वारक उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृतिमान व्यक्ति से जन्य है (यह है साध्य) समवेत होकर के प्रागभाव का प्रतियोगी होने से (यह है हेतु) हेतु में प्राग भाव प्रति योगी कहने से जन्यत्व का लाभ होता है, उसी का नाम जन्य होता है, जिसका प्राग भाव होता है । नित्य पदार्थ का प्राग भाव नहीं होता है । हेतु में समवेतत्वे सति कहने से ध्वंस का निवारण होता है । ध्वंस पैदा होता है इसलिये प्राग भाव का प्रतियोगी होता है, किन्तु निरुपादानक होने से समवेत नहीं है । इसलिये ध्वंस की व्यावृत्ति होती है । इतने अंश से प्रतिज्ञा हेतु दो न्यायावयव का प्रदर्शन हुआ । अब उदाहरण लक्षण न्यायावयव बतलाते हैं । 'यद्यदित्यादि' जो समवेत होकर प्रागभाव का प्रति-

भावप्रतियोगित्वात् । यद्यत् समवेतत्वे सति प्रागभावप्रतियोगि तदद्दृष्टाद्वारकोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यम् यथा घटः । एतानि चाद्दृष्टाद्वारकोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वव्याप्यसमवेतत्वसमानाधिकरणप्रागभावप्रतियोगित्ववन्ति । तस्मादुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यानि । नायं हेतुराभासस्तल्लक्षणायोगादिति नैयायिकेन

योगी होता है सो अद्वारक उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृति मान् पुरुष से जन्य होता है, जैसे घटादि कार्य यथोक्त हेतु मान हैं तो कुलालादि पुरुष से जन्य होते हैं । जिसलिये ये सब कार्य अदृष्टाद्वारक उपादान विशयक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृति मज्जन्यता से व्याप्त समवेतत्व समानाधिकरण प्रागभाव प्रतियोगित्व वान हैं (इससे उपनय लक्षण चतुर्थ न्यायावयव का प्रदर्शन कराया) इसलिये घटादि सकल कार्य अद्दृष्टाद्वारक उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृति मान से जन्य हैं । इस अंश से निगमन रूप पांचवे अवयव का प्रदर्शन कराया । यह प्रकृत साध्यक जो कार्यत्व हेतु है सो हेत्वाभास नहीं है, क्योंकि इसमें हेत्वाभास का लक्षण नहीं है । (हेत्वा भास ५ प्रकार का होता है । व्यभिचार, विरोध, असिद्ध, सत्प्रति बाध, इसमें साध्याभाव के अधिकरण में हेतु रह जाय तो व्यभिचार कहलाता है । जैसे पर्वत वह्नि वाला है, प्रमेयत्व

वान होने से। यहाँ वह्न्यभाव को अधिकरणसे प्रमेयत्व की वृत्तिता हैं। साध्याभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध कहलाता है। "अयं गौरश्वत्वात्" यहाँ अश्वत्व हेतु गोत्वाभाव से व्याप्त है। हेतु पक्ष में नहीं रहे तो असिद्धि दोष होता है, जैसे सं-शब्द गुण है, चाक्षुष होने से। यहाँ चाक्षुषत्वाभाववान् शब्द है। विरोधी हेतु विद्यमान हो तो प्रकृत हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है। जैसे श्रावण होने से शब्द नित्य हैं, कार्य होने से शब्द अनित्य है। पक्ष में साध्याभाव रहे उस स्थल में बाध दोष होता है, जैसे ह्रदो वह्निमान् धूमात्। यहाँ वह्न्य भाववत् ह्रद है बाध। एक नियम है कि विशिष्ट बुद्धि के प्रति बाध निश्चय विरोधी होता है। जिस समय में वह्न्य भाव प्रकारक ह्रद विशेष्यक निश्चय रहेगा, उस समय में ह्रद धर्मिक वह्नि प्रकारक अनुमति रुक जाती हैं। इस प्रकार से हेत्वाभास दूषण कहलाता है। प्रकृत अनुमान में कोई भी हेत्वाभास नहीं है अतः कार्यत्व हेतुक ईश्वरानुमान निर्दुष्ट है, इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि होती है। इस विषय पर ज्यादा विचार मत्कृत न्यायदीपिका में देखें। विस्तार के भय से यहाँ अधिक विचार नहीं किया जा रहा है।

इस प्रकार से नैयायिक द्वारा अनुमान को स्थिर करने के पीछे अनुक्तग्राह्य अनुच्यमानग्राह्य आभास बहिरुक्त

स्थापितेऽनुक्तग्राह्योच्यमानग्राह्याभासबहिरुक्तग्राह्याणां यथायथम-नुसन्धीयमानानामनवतारे उक्तग्राह्यविशेषेण हेत्वाभासेन मीमांसकः स्थापनां दूषयति । तथाहि कर्ता शरीरावच्छिन्न एवात्मा घटादौ दृष्टः स च पक्षे बाधितः । न हि शरीरी क्षित्यादि

ग्राह्यादि दोष का अनुसन्धान करने पर भी प्रकृत में कोई भी दोष देखने में नहीं आता है। अर्थात् सामान्यतः देखने में कोई भी दोष नहीं, तथापि अनुक्त ग्राह्य विशेष हेत्वाभास हेत्वाभास लक्षण दोष को लेकर के मीमांसक स्थापनानुमान में। क्षितिः सकर्तृकाकार्यत्वात् घटवत्। इस अनुमान में दोष देते हैं। तथाहि इत्यादि प्रकरण से जो आत्मा शरीर से युक्त होता है वही घटादि कार्य का कर्ता कहलाता है, जैसे कुलालादिक। तब एतादृश शरीर विशिष्ट कर्ता प्रकृतानुमान में बाधित है, क्योंकि शरीर वाला कोई व्यक्ति क्षित्यादि कार्य का निर्माण करता है ऐसा तुम नैयायिक भी नहीं कहते हो। "अपाणिपादो जवनोग्रहीता" इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि ईश्वर शरीर वाला नहीं है "न तस्य कार्यं करणं च दृश्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च।" ईश्वर को कार्य अर्थात् शरीर नहीं है, न वा करणं ज्ञान का साधन चक्षुरादि करण हैं, उस ईश्वर के तुल्य कोई नहीं है,- उस ईश्वर से

निर्मातीति तत्रमपि ब्रूपे इति । प्रत्यक्षेणोपाधिना वा यद्यपि नात्र शरीरजन्यत्वमुपाधिः साधनाव्यापकत्वात् । क्षित्यादेरप्य-

---

बड़ा कोई नहीं है, उसकी शक्ति बहुत बड़ी है, ऐसा सुनने में आता है । उस ईश्वर में ज्ञान तथा बल स्वाभाविक है । इस श्रुति में स्पष्ट बताया गया है कि ईश्वर के शरीर तथा इंद्रियां नहीं हैं । यदि कदाचित् कोई ईश्वर के भी शरीर इन्द्रियाँ मान लें तब तो अस्मदादिक के समान उसका ज्ञान भी शरीरेन्द्रिय साध्य होने से ईश्वर में सर्वज्ञत्व को बाध हो जायगा, अतः ईश्वर के शरीर नहीं है ऐसा मानना ही उपयुक्त है । अब देखिये दृष्टानुसार ही अदृष्ट की कल्पना होती है । इस न्याय से यदि ईश्वर को जगत् का कर्ता मानते हैं तब तो घटादि स्थलीय कर्ता का शरीर देखने में आता है और ईश्वर का शरीर नहीं है तब ईश्वर जगत् का कर्ता कैसे होगा ? यह अभिप्राय मीमांसक का है । इस अभिप्राय को लेकर मीमांसक दोष दे रहे हैं । यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा उपाधि लक्षण के बल से प्रकृत स्थल में शरीर जन्यत्व उपाधि नहीं है क्योंकि जो उपाधि होता है सो साध्य का व्यापक और साधन हेतु का अव्यापक होता है, जैसे 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थल में आर्द्र इन्धन संयोग उपाधि है तो जहाँ धूम साध्य है वहाँ सर्वत्र आर्द्र इन्धन संयोग रहता ही है और हेतु है वह्नि, सो

वह्नि अयो गोलक में वहाँ आर्द्र इन्धन संयोग नहीं रहता है, इसलिये उपाधि साधन का अव्यापक होता हुआ उपाधि कहलाता है, तो प्रकृत में कार्यत्व हेतु का शरीर जन्यत्व व्यापक है जहाँ जहाँ कार्यत्व हेतु है वहाँ वहाँ सर्वत्र शरीर जन्यत्व भी रहता है। इसलिये साधन कार्यत्व का अव्यापक नहीं होने से शरीर जन्यत्व उपाधि नहीं है। कार्यत्व क्षित्यादिक में है तो क्षित्यादिक में होने से वहाँ भी अदृष्ट द्वारा शरीर जन्यत्व है ही। ईश्वर निर्मित जगत् प्रकरण में कहा है कि "कर्मणा जनयत् पिता" कर्म के द्वारा जीव ने भी बताया है, इससे सिद्ध होता है कि जीवादृष्ट से क्षित्यादिक कार्य होता है। जब अदृष्ट जन्यत्व है तब जीव जन्यत्व अर्थतः आजाता है। क्योंकि अदृष्ट जीव को ही होता है, ईश्वर को नहीं। और जब जीव जन्यत्व क्षित्यादिक में है तब शरीर जन्यत्व भी सिद्ध होता है, क्योंकि शरीरावच्छिन्न आत्मा को ही जीव कहते हैं। वह जीव शरीर विशिष्ट है। तो एक नियम है कि जो विशिष्टि रूप से जिस कार्य को बनावेगा उस कार्य के लिये विशेषांश भी कारण होता है, जैसे आँख वाला देखता है, यहाँ दर्शन क्रिया में जब चक्षु-विशिष्ट देव दत्त कारण है, तो विशेषण जो चक्षु उसको भी दर्शन क्रिया में जनकत्व होता है। इसी प्रकार जब

दृष्टद्वारा शरीरजन्यत्वादिति। तथाप्यदृष्टाद्वारकचेष्टाश्रयजन्यत्वं सः। न च लाघवात् तादृशचेष्टाजन्यत्वमेवास्तूपाधिः चेष्टाया-मेव साध्याव्याप्तेः। न हि चेष्टापि चेष्टाजन्याऽनवस्थापत्तेः।

शरीर विशिष्ट कारण है तब विशेषणीभूत शरीर में भी जनकत्व होने से अदृष्ट द्वारा क्षित्यादिक कार्य में शरीर जन्यत्व सिद्ध होता है। तथापि अदृष्टाद्वारकचेष्टाश्रय जन्यत्व प्रकृत में उपाधि है। नहीं कहो कि अदृष्टाद्वारक जो चेष्टा, तादृश चेष्टा जन्यत्व को ही उपाधि मानो, क्योंकि चेष्टाश्रय जन्यत्व को उपाधि मानने की अपेक्षा चेष्टा जन्यत्वमें लाघव है, इसमें आश्रय पद नहीं देना पड़ता है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस उपाधि में साध्य व्यापकत्व नहीं है। साध्य जो उक्त सकर्तृकत्व है सो चेष्टा में भी है परन्तु भवदुक्त चेष्टा जन्यत्व नहीं है क्योंकि चेष्टा चेष्टा जन्या नहीं होती है। ऐसा मानने से अनवस्था दोष हो जायगा। हिताहित प्राप्ति परिहार के अनुकूल जनक जो क्रिया उसका नाम होता है चेष्टा। उस चेष्टा में सकर्तृकत्व साध्य है किन्तु चेष्टा जन्यत्व उपाधि नहीं है, इसलिये लाघव होने से भी अनवस्थादि दोष ग्रस्त होने के कारण से चेष्टा जन्यत्व उपाधि नहीं है किन्तु तादृश चेष्टाश्रय जन्यत्व ही ईश्वरानुमान में उपाधि है।

स्थापनां निरस्य स एव स्वपक्षे प्रमाणमाह क्षित्यादीनि नादृष्टाद्वारकोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यानि शरीराजन्यत्वात् । यद्यत् शरीराजन्यं तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यं न भवत्येव यथा व्योमेति महार्णववत्सेश्वरमते । नरसिंहहरिशर्ममते तु तदि न वीप्सेति । कण्टकोद्धारस्तु क्वापि मते नास्ति ॥

इस प्रकार उपाधि दोष के उद्भावन द्वारा स्थापनानुमान (सकर्तृकत्वानुमान) को निरास करके मीमांसक स्वपक्ष में अनुमान प्रमाण बतलाते हैं। क्षित्यादि नीत्यादि, क्षित्यादिक पक्ष में अदृष्टाद्वारक उपादान विषया परोक्षज्ञान चिकीर्षा कृतिमत् जन्यत्व नहीं है, क्योंकि शरीराजन्यत्व होने से। जो जो शरीर से अजन्य होता है तत्तत् वह सब उपादान गोचर अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृतिमान से जन्य नहीं होता है, जैसे व्योम (आकाश) अथवा ईश्वर वादी के मत से महार्णव (महा समुद्र) नरसिंह हरी शर्मा के मत से साध्यांश में तत् तत् ऐसी वीप्सा नहीं है, किन्तु जो जो यथोक्त हेतुमान हैं सो यथोक्त साध्य के अभाव वाले हैं। दूषणोद्धार तो किसी के भी मत में नहीं है।

इस प्रकार से शरीराजन्यत्व लक्षण उपाधि का उद्भावन करके प्रकृतानुमान को दूषित करके जब मीमांसक उपरत

हुए तब स्वकीयानुमान से कंटकोद्धार करने के लिये प्रकृतानुमान वादी उतर देते हैं। नहीत्यादि–कर्तृत्व शरीर घटित नहीं है जिससे कि शरीराजन्यत्व उपाधि बने। कर्ता के स्वरूप में शरीर का प्रवेश नहीं है किन्तु अदृष्टा-द्वारक उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञानवान चिकीर्षावान हो तथा कार्यानुकूल कृति मान हो सोकर्ता कहलाता है। इतना ही कर्तृत्व का लक्षण है न तू शरीर घटित कर्तृत्व है जिससे आपका दोष सफल बने। ईश्वर को कार्य विषयक अपरोक्ष ज्ञान है इसमें–

"यः सर्वज्ञः स सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।

तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते। यह श्रुति प्रमाण है। (जो सर्व विषयक ज्ञानवान है वह सभी पदार्थों को विशेष रूप से जानता है, जिसका विचार भीं ज्ञानमय है, उस सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीराम से कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है, नाम रूप उत्पन्न होता है तथा अन्न सर्वाधिष्ठान पृथिवी पैदा होती है। ईश्वर में चिकीर्षा है इसमें "तदैक्षत बहुस्यां प्रजयेय" (उसने इच्छा की कि मैं बहुत रूप से हो जाऊं) यह श्रुति प्रमाण है। ईश्वर में कार्यानुकूल प्रयत्न रहता है इसमें "तन्मनोऽकुरुत"। उसने मन को बनाया, यह श्रुति प्रमाण है। न्याय से भी सिद्ध होता है कि कर्ता में

एवं प्रयुज्य विरतवाचि मीमांसके स्थापकः । न हि शरीर-घटितमपि कर्तृत्वं गौरवात् । किं त्वदृष्टाद्वारकोपादानगोचराप-रोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वमात्रम् । यत्तु कुलालादेः शरीरित्वं तज्ज्ञानादिनिष्पत्तये क्षित्यादिकर्ता त्वजन्यज्ञानादिमानेवेति किं तस्य शरीरेण । तथा च कर्तृस्वरूपे शरीराननुप्रवेशात् ।

ज्ञानादिक हैं, पहिले जानता है तब इच्छा करता है तब कर्म के लिये प्रयत्न करता है । इस प्रकार श्रुतिन्याय से यही सिद्ध होता है कि अदृष्टाद्वारक उपादान विषयक अपरोक्षज्ञान चिकीर्षा कृतिमान् जो हो सो कर्ता है । इस कर्तृत्व में शरीर का प्रवेश नहीं है अतः शरीरा-जन्यत्व उपाधि नहीं है ।

पुनः मीमांसक पूछते हैं कि घटकर्ता कुलाल को तो शरीर होने से ही घट के प्रति कर्तृत्व है, तब क्यों कहते हैं कि शरीरी कर्तृत्व घटक नहीं है । इसका उत्तर देते हुए नैयायिक कहते हैं कि आप जो कुलाल को शरीरी देखते हैं सो तो कुलाल का ज्ञान अनित्य है, उस ज्ञान की उत्पत्ति के लिये शरीरेन्द्रियादि की आवश्यकता है । प्रकृत में जो कर्ता है भगवान् श्रीराम, उनका ज्ञान तो नित्य है तो किसलिये शरीरादिकी आवश्यकता है ? अर्थात् नित्यज्ञान के लिये भगवान् को शरीरेन्द्रियादि की आवश्यकता नहीं है ।

ज्ञानेच्छाप्रयत्नवतश्च कर्तुः परं प्रति नित्यपरोक्षत्वान्न प्रत्यक्ष-बाधः । यत्तु शरीराजन्यत्वादिकं हेतूकृतम् । तत्र शरीरं नार्थे विशेषणम् प्रतियोगिनि वा । आद्ये स्फुटं व्यर्थविशेषणम् अजन्यत्वमात्रस्यैव कर्त्रजन्यत्वसिद्धिक्षमत्वात् । अन्त्ये यदपि शरीरं हेतूकृताऽभावं न विशिनष्टि । तथापि जन्यत्वं विशिंषत्

इस स्थिति में कर्ता के स्वरूप में शरीर का प्रवेश नहीं है। ज्ञान इच्छा प्रयत्नवान जो कर्ता है सो मीमांसक के मत से नित्य परोक्ष है, इसलिये प्रकृत अनुमान में प्रत्यक्ष बाध नहीं होता है।

नैयायिक का प्रश्न—आपने कर्त्रजन्यत्व सिद्धि के लिये जो शरीराजन्यत्व को हेतु बनाया है उसमें शरीर किस का विशेषण है, अर्थ (अभाव) का विशेषण है अथवा प्रतियोगी जो जन्यत्व उसका विशेषण है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि कर्त्र जन्यत्व की सिद्धि में अजन्यत्व मात्र ही समर्थ है, तव शरीर पद व्यर्थ विशेषण हो जाता है । न वा दूसरा पक्ष ही ठीक है क्योंकि जो यह शरीर पद है सो हेतुकृत जो अभाव उसमें तो विशेषण नहीं है, किन्तु जन्यत्व रूप प्रति-योगी का विशेषण होता हुआ विशिष्टाभाव में पर्यवसित होता है। अर्थात् शरीर विशिष्ट जो जन्यता उसका अभाव

विशिष्टाभावस्य हेतुतायां पर्यवस्यति । तथा च लाघवाद्विशेष्याभावमात्रस्यैव कर्तृजन्यत्वाभावव्याप्यत्वम् । न तु विशिष्टाभावस्य गौरवादिति शरीरजन्यत्वाभावो व्याप्यत्वासिद्धः । एवं च हेत्वाभासेन मीमांसके पराजितेऽव्याहतहेतुप्रयोक्ता नैयायिको विजयी । तदिदमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वमागमोऽपि संवदति । तद्यथा "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव

रूप हेतु होता है । तो विशिष्टाभाव घटक जो विशेष्याभाव, अर्थात् जन्यत्वाभाव है वह जब कर्तृ जन्यत्व के सिद्ध करने में समर्थ है तब लाघवात् उसी को हेतु बनाइये । गुरु भूत शरीर विशिष्ट जन्यता के अभाव को हेतु बनानें से विशिष्टाभाव हेतु व्याप्यत्व सिद्ध हो जाता है तब यह आपका विशिष्टाभाव रूप हेतु सिद्धि रूप हेत्वाभास से दुष्ट हेतु हो जाता है । इस प्रकार हेत्वाभास से जब मीमाँसक पराजित हो गये तब अव्याहत रूप से हेतु का प्रयोग करने वाले नैयायिक विजयी होते हैं । अर्थात् कार्यत्व हेतु के द्वारा परमेश्वर की सिद्धि करने में नैयायिक सफल होते हैं । यह जो परमेश्वर भगवान् श्रीराम में अनुमान सिद्ध जगत्कर्तृत्व है उसको आगम भी अनुमोदित करता है । तथा हिं अनेक चक्षुवाला अनेक मुख वाला अनेक हाथ और अनेक पैर वाला एक कोई देव ऐसा है

जिसने इस पृथिवी तथा अन्तरिक्ष लोक को बनाया। इस मंत्र में भूमिपद जन्य मात्र का उप लक्षण है। इससे यह सिद्ध होता है कि जन्य मात्र के उत्पादन करने में भगवान् कारण हैं। ईश्वर में जो कारणता है सो कर्तृत्व रूप कारणता है, न कि शांकरवेदान्ती की अभिमत उपादान कारणता है। क्योंकि यदि भगवान् जगत् के उपादान कारण हों तब भगवान में रहने वाली चेतना जगत् रूप कार्य में भी आ जायगी। क्योंकि कारण में रहने वाला जो गुण होता है सो कार्य में समान जातीयक गुणान्तर को पैदा करता है। जैसे तन्तु में जो शुक्ल रूप है उससे पट रूप कार्य में शुक्ल ही रूप उत्पन्न होता है इसी कारण ईश्वर में जो चेतना है उससे कार्य जगत में चेतनान्तर की उत्पत्ति हो जायगी, सो तो प्रत्यक्ष बाधित है घटश्चेतयति यह व्यवहार नहीं होता है। अतः ईश्वर जगत् का कर्ता है और कर्ता में जो गुण हैं सो कार्य में नहीं आता है। "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" कारण गत गुण कार्यगत गुण का उत्पादक होता है, इस नियम में कारण पद समवायिकारण परक है। कार्य कारण भाव का विशेष विचार मन्निर्मित कार्यकारणमाला एवं जिघ्रिक्षुमाला नामक ग्रंथों में देखें।

प्रश्न—जब नैयायिक ईश्वर के जगत्कर्तृत्व में आगम को प्रमाण मान लेते हैं तब तो शांकरवेदान्ती के समान

वेद प्रमाण से ही ईश्वर में जगत्कर्तृकत्व हो ही जाता है तब अनुमान द्वारा ईश्वर की अस्तितता स्थिर करने के पीछे पुनः अगम का अनुसरण करने का प्रयास द्रविड प्राणायाम के तुल्य होता है सो क्यों ?

उत्तर–इस द्राविड प्राणायाम में कुछ अभिप्राय विशेष है, इसलिये प्रकृत में नैयायिकों ने ऐसा किया है। अभि-प्राय यह है कि यदि आगम मात्र से ईश्वर सिद्ध करना चाहें तो नहीं होगा। क्योंकि वेद में जो प्रामाणिकत्व है सो ईश्वरोच्चरित होने से, अर्थात् परमेश्वर द्वारा वेद का उच्चारण किया गया है। भगवान में भ्रम प्रमाद प्रभृति दोष नहीं हैं, अतः ईश्वर के गौरव से ही वेद प्रमाण है। तव ईश्वर की सिद्धि हो जायगी तभी तो आगम की प्रामाण्यता सिद्ध, होगी, और आगम प्रमाण होगा तब ईश्वर की सिद्धि होगी, तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है (ईश्वरसिद्धौ सत्यां तदुच्चरितत्वेन वेदे प्रामाण्यम् वेदप्रामाण्यसिद्ध्यनन्तरं प्रामाणिकादागमात् परमेश्वर सिद्धिः) इसलिये नैयायिक ने प्रथमतः परमेश्वर की सिद्धि अनुमान द्वारा करने के बाद भगदुवच्चरित वेद से भी उसी तत्व का निर्णय किया, न कि वेदान्ती की तरह 'वेदैक गम्य' कहा। वे लोग तर्क को अन्त्यस्थित मानते है और नैयायिक सत्तर्क को धर्मादि सूक्ष्म तत्व में सहायक मानते है। इसलिये कहा है–

एकः ।" नन्वेवमीश्वरविपयकं प्रतिपत्तिचतुष्टयमपवर्गजनकमिति निर्गलितम् । "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति" श्रुतिरप्येवमाह । एतच्चायुक्तम् । तत्त्वज्ञानस्य हि समानाधिकरणमिथ्याज्ञानध्वंसद्वारोपयोगात् दुःखजन्येत्या-

---

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" इति ।

शंका—इतने प्रकरण से यह सारांश निकला कि परमेश्वर विषयक जो प्रतिपत्तिचतुष्टय (श्रवण मनन निदिध्यासन साक्षात्कार) अप वर्ग (मोक्ष) का जनक है । श्रुति भी कहती है—'तमेवेत्यादि' उस परमेश्वर को जान कर के ही 'अतिमृत्यु' मृत्य के अतिक्रमण को अथवा मोक्ष को प्राप्त करता है । ज्ञान व्यतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग मोक्ष के लिये नहीं है ।

उत्तर—परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि तत्व ज्ञान समानाधिकरण मिथ्या ज्ञान के नाश द्वारा मोक्ष में उपयोगी होता है । अर्थात् जिस अधिकरण में मिथ्याज्ञान है उसी अधिकरण में जब तत्वज्ञान आयेगा तब मिथ्या ज्ञान नष्ट होगा । तत्वज्ञान मिथ्याज्ञान में सामानाधिकरण्य से बाध्यबाध भाव होता है, नतु वैयधिकरण्य से । अन्यथा देवदत्त के तत्वज्ञान से चैत्रादिका जो मिथ्याज्ञान है उसका भी नाश हो जायगा, परंतु ऐसा देखने में नहीं आता है । "दुःखजन्यप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञाना-

दिसूत्रे तथैव सिद्धान्ताच्च । ईश्वरविषयकं तु मिथ्याज्ञानं न जीवस्य संसाराय । किं तु स्वविषयकमहं गौरोऽहं स्थूल इत्यादिना शरीरविषयकेण जीवाभेदभ्रमेण तदनुकूले रज्यते तत्प्रतिकूलं च द्वेष्टीति तदीयरागद्वेषमोहैरेव संसरति उच्यते तद्विषयकदोषत्रयोच्छित्तिद्विषयकतत्त्वज्ञानादेवेति । सत्यम् ।

नामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" इस सूत्र में समानाधिकरण तत्व ज्ञान से समानाधिकरण मिथ्याज्ञान का नाश होता है ऐसा सिद्ध भी किया है । ईश्वर विषयक जो मिथ्याज्ञान है सो जीव के संसार का कारण नहीं है, किन्तु जीव विषयक मैं गोरा हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं अन्धा हूँ इस प्रकार से जीव के साथ जो शरीर विषयक अभेद भ्रम है सो ही जीव के संसार का कारण है । शरीर के साथ अभेद भ्रम वाला जीव शरीर के अनुकूल प्रिय वस्तु में अनुराग करता है तथा प्रतिकूल (दुःख जनक रूपादिक) से द्वेष करता है, इसलिये शरीरादि विषयक जो राग द्वेष मोह हैं उसी के कारण से जीव संसार में आता है तथा दृढ़ संस्कार से संसक्त होकर घटीयंत्रवत संसार में मनुष्य देव, पशु, पक्षी आदि योनियों में घूमता रहता है । उसमें कहते हैं कि तद्विषयक जो दोषत्रय (राग, द्वेष, मोह) उसका विनाश तद्विषयक तत्वज्ञान से ही होता है । ठीक है किन्तु वही तत्त्वज्ञान क्रमिक श्रवण मनन निदिध्यासन

तदेव तु श्रवणमनननिदिध्यासनैः क्रमादुच्छ्रितैरुत्पन्नेनेश्वर-साक्षात्कारेण जन्यते। तथा च श्रुतिः। स हि तत्वतो ज्ञातः स्वात्मसाक्षात्कारस्योपकरोतीति। अस्त्वेवम्। तथापि शतपथे आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इति श्रूयते। शाखान्तरे; साक्षात्कर्तव्य इति। तच्चोभयमप्ययुक्तम्। निदिध्यासनप्रवृत्त्यैव साक्षात्कार-सम्भवे तस्य प्रयत्नान्तरासाध्यत्वेन फलैकरूपतया च विधाना-योगात्। कृतिसाध्येष्टसाधनत्वस्य च विध्यर्थत्वात्। अत एव

द्वारा क्रमिक ऊपर उठने से उत्पन्न जो ईश्वर साक्षात्कार उससे होता है। श्रुति भी कहती है "परमार्थ रूप से ज्ञात जो परमेश्वर वह स्वात्म साक्षात्कार को उपकृत करता है। भले ऐसा रहे परंतु शतपथ ब्राह्मण में तो "आत्मा को देखो" ऐसा सुनने में आता है। दूसरी शाखा में कहा है "आत्मा का साक्षात्कार करो" यह दोनो ही अयुक्त है, क्योंकि जब निदिध्यासन में प्रवृत्त होगा तब उसी से साक्षात्कार हो जायगा। उस साक्षात्कार को प्रयत्नान्तर से असाध्य होने से तथा निदिध्यासन और साक्षात्कार का समान फल वाला होने से प्रथक से साक्षात्कार का विधान करने की आवश्यकता नहीं है। कृतिसाध्यत्व और इष्ट साधनता ही तो विधि का अर्थ होता है। अत एव "स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य से यागका विधान करने के बाद पुनः अपूर्व का विधान नहीं किया गया है। क्योंकि याग के विधान से

यागविध्यनन्तरं नापूर्वविधिः यागानुष्ठानेनैव तत्सिद्धेरिति । मैवम् । आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्येव दर्शनस्येष्टसाधनत्वमाह । कृतिसाध्यत्वं तु कथं तस्य दर्शनस्येत्याकांक्षायां निदिध्यासितव्य इति । निदिध्यासनं च आसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियमनियमरूपाष्टाङ्गयोगेन चिरनिरन्तरादरसेवितेन परममुमुक्षुरुपीयचित्तसन्तानरूपम् । एतच्च सङ्कसु कस्य नाश्रद्धामलक्षालनं विना सम्भवतीति तदर्थं श्रुत्यात्मस्थिरीकरणाय मन्तव्य इति द्वितीयप्रतिपत्तेरानुमानिक्या विधानम् । सापि च धर्मिज्ञानसाध्येति । श्रवणसाक्षात्कृतवेदप्रभवायाः प्रथमप्रति-

---

ही अपूर्व का विधान गतार्थ होजाता है ।

समाधान—मैवमित्यादि "अत्मा वा रे इष्टव्यः" इस वाक्य से ही आत्म दर्शन में इष्टत्व की सिद्धि होती है । आत्म दशन में कृति साध्यत्व किस प्रकार से है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर "निदिध्यासितव्यः" कहा गया । निदिध्यासन क्या है ? तो आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि यम नियम लक्षण अष्टांग योग से जो चिर निरन्तर आसेवित जो परम पुरुष के चित्त सन्तान तद्रूप निदिध्यासन है । एतादृश जो निदिध्यासन वह श्रद्धारहित पुरुष को शंका रूप मल के प्रक्षालन के बिना प्राप्त नहीं हो सकता है । इसलिये शंका मल का प्रक्षालन करने क लिये अनुमानिकी मनन लक्षण द्वितीय प्रतिपत्ति का

पत्तेर्विधानं श्रोतव्य इति । तथा चेष्टसाधनत्वं प्रतिपत्तिचतुष्टयस्यैव । कृतिसाध्यत्वं तु चतुर्थप्रतिपत्तेस्तृतीयप्रतिपत्तिद्वारेति तदुपपत्तये तत्साधनसमाधौ तृतीयप्रतिपत्तौ च तत उत्पन्नायांसाक्षात्काराय चिन्तामेवं तनोतीति सर्वं सुस्थम् ॥

ननु भेदधीः श्रुतिबाधिकेति यदुक्तं तत्र को भेदः ? स्वरूपमन्योन्याभावो वैधर्म्यमन्यद्वा । आद्ये घटः पटो

विधान "मन्तव्यः" इससे किया गया है । यह जो द्वितीय ज्ञान है सो तो धर्मिज्ञान से होगा, अतः श्रवण श्रोत से साक्षात् क्रियमाण वेद जनित जो प्रथम प्रतिपत्ति उसका विधान 'श्रोतव्य' इस से होता है । चारों प्रकार की प्रतिपत्ति (श्रवण मनन निदिध्यासन साक्षात्कार) लक्षण में इष्ट साधनत्व है ऐसा सिद्ध होता है । कृतिसाध्यत्व तो चतुर्थ प्रतिपत्ति साक्षात्कार में तृतीय प्रतिपत्ति निदिध्यासन द्वारा से है और तृतीय तथा द्वितीय प्रतिपत्ति में साक्षातरूप से ही है । निदिध्यासन की हेतुभूत समाधि में तथा मनन में साक्षात् ही कृति साध्यत्व हैं ।

वेदान्ती का पूर्व पक्ष–भेद विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान अद्वैत श्रुति का बाधक होता हैं, इसलिये अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है, ऐसा जो आप (नैयायिक) ने कहा था, उस भेद ज्ञान का विषय भेद वस्तु क्या है ? भेद चार प्रकार का होता है, स्वरूप भेद, अन्यो-

नेत्यत्र पटः स्वभेदे विशेषणमुपलक्षणं वा ? अत्र नाद्यः । पटविशेषितभेदात्मकत्वे घटस्य स्वात्मकभेदविशेषणीभूतपटात्मकता वज्रलेपायितैवेति । घटपटयोरभेद एव पटाद्भेदो घटस्य स्वरूपमिति धियाऽभावः प्रमित इति तद्विरोधेन पटा-

---

न्याभावात्मक भेद, वैधर्म्यात्मक भेद और प्रथक्त्व रूप भेद प्रथम पक्ष में घट पट नहीं है (यहां पट भेद का प्रतियोगी है और घट अनुयोगी है) जिसमें भेद वैठता है सो अनुयोगी कहाता है और जिसका भेद होता है सो प्रति योगी कहा जाता है । प्रकृत स्थल में घट में पट का भेद है, तो पट स्वकीय भेद में जो प्रतियोगी है सो विशेषण है अथवा उपलक्षण है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो पट से युक्त जो भेद उसका स्वरूप घट हुआ, तब घट से अभिन्न जो भेद, उस भेद में विशेषणी भूत जो पट तदात्मक घट हो जायगा (अर्थात् अभाव अधिकरण स्वरूप होता है ऐसा नियम है, तो पट प्रतियोगिक भेद घटरूप अधिकरण में रहने से भेद और घट का तादृश तादात्म्य हुआ और भेद में पट प्रतियोगिता सम्बन्ध से विशेषण होने से पट भेदात्मक हुआ, तब पट से अभिन्न भेद और भेद से अभिन्न घट है तब पट घट में भी अभेद हो जाता है । विशेषण रूप से पट से अभेद भेद को होता है और तादृश पट विशिष्ट भेद घट में बैठने से घटात्मक है, तब घट पट

दुम्भिन्नो घट इति धिया विशेषणीभूतभेदजन्यया घटपटयोर्भेदो न प्रमापणीयः उपजीव्यविरोधात् । तदुक्तम् ।

अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा ।

में एकत्व हो जाता है। इस प्रकार से प्रतियोगी में तथा अनुयोगी घट में प्रत्यक्ष ने अभेद का ही प्रतिपाद किया है भेद तो उड़ जाता है। इस प्रकार से घट में एकता बज्रलेपायित हो जाती है) घट और पट का अभेद ही पट से अभिन्न घट का स्वरूप है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञान भेदाभाव को प्रमित करता है। तो इस ज्ञान से विरोध होने से 'पटाद् भिन्नो घटः' इस ज्ञान से विशेषण रूप भेद से जन्य होने के कारण घट पट का भेद प्रमा विषय नहीं होगा। क्योंकि उपजीव्य विरोध हो जाता है। अर्थात् अभेद ग्रह है उपजीव्य और भेद ग्रह हो गया उपजीवक, इस प्रकार अभेद ज्ञान रूप उपजीव्य से विरोध होने से प्रत्यक्ष घट पट के भेद को नहीं बतला सकता है। ऐसा कहा भी है। "अभेदं नो" इत्यादि—अभेद का उल्लेखन (ग्रहण) नहीं करने वाली बुद्धि भेद को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रथम पक्ष में अर्थात् अभेद ग्रहण पक्ष में ज्ञान प्रमा कहलावेगा, और अन्तिम पक्ष में (भेद ग्रहण पक्ष में) प्रमा रूप नहीं होगा, क्योंकि भेदज्ञान का उपजीव्य जो अभेदज्ञान

तथा चाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात् ॥ इति

आद्येऽभेदे । अन्त्ये भेदे । अथ घटो भेदमात्रात्मक एव । किं तु तेन तेन पटादिना प्रतियोगिना निरूप्यमाणः स्वस्मिंस्तत्तद्भेदधियं जनयतीति चेत् । पटप्रतियोगिकत्वं घटस्य स्वरूपं चेत् तदा पूर्ववद्घटपटयोरभेदः स्यात् । यदि

उससे विरोध होता है । पद्य में जो आद्ये पद है उसका अर्थ है–प्रथम पक्ष अर्थात् अभेद पक्ष में और अन्त्ये इसका अर्थ है द्वितीय पक्ष में अर्थात् भेद पक्ष में ।

प्रश्न–घट तो भेद मात्र स्वरूप ही है । किन्तु तत्तत् घटादिरूप प्रतियोगी से जब निरूपित होता है तब स्व में (घट में) तत्तत् पटादि भेदज्ञान को उत्पन्न करता है, अर्थात् घटादि पदार्थ भेदात्मक हैं परन्तु जब तक वह पटादि रूप प्रतियोगी से निरूपित (साकांक्ष) होने से जिस प्रतियोगी से निरूपित होता है उसका भेद घटादि अधिकरण में स्पष्ट रूप से 'पटाद्भिन्नोघटः' इस रूप से प्रतिभासित होता है ।

उत्तर–इसमें तो प्रट प्रतियोगित्वक ही घट का स्वरूप हुआ, यह सारांश निकला, ऐसा होनेपर पुनः पूर्ववत् पट प्रतियोगिकत्व घट में मानने से घट पट का अभेदही सिद्ध हो जाता है, तब तो जो ज्ञान घट पट का भेद साधन रूप से आया वह भेद को सिद्ध न कर के घट पट के अभेद का ही साधक बन गया तब तो 'कन्योद्वाहो वरघात्ताय संवृत्तः'

तु तद्धर्मस्तदा घटः पटवान् स्यात् पटघटितपटप्रतियोगिकत्वव-त्त्वात्। एवं पटोऽपीति। किञ्च स्वरूपस्यावधिशून्यत्वेन घटो घटाद्भिन्न इत्यवधिघटितार्थधीर्न स्याच्च भिन्न इति। न हि स एव तद्वान् भवतीति। न च पटप्रतीतेर्विशिष्टघटप्रतीति-कारणतया पटादिति पञ्चमी। पटाद्भिन्न इत्यत्र हि भेदा-वधौ पञ्चमी। न तु विशिष्टधीहेतुभूतविशेषणधीविषये। अन्यथा विशिष्टधीहेतुर्निर्विकल्पकविषयतया घटत्वाद्घट

यह न्याय प्रकृत में आजाता है। यदि पट प्रतियोगित्व को घट का स्वरूप न मानें अपितु घटका धर्म माने तब तो धर्म धर्मी का अभेद होने से घट पटवान् होगा, पट घटित पट प्रतियोगिकत्व होने से। एवं घट भी घट घटित घट प्रतिकत्ववान् होने से घटवान हो जायगा। और भी देखिये स्वरूप के अवधि रहित होने से पट घट से भिन्न है, इस प्रकार से अवधित ज्ञान नहीं होगा और भिन्नः यह भी ज्ञान नहीं होगा। स्व ही स्व वान् नहीं होता है। नहीं कहो कि पट ज्ञान विशिष्ट ज्ञान का कारण है इस लिये पटात् यह पांचवी विभक्ति है। पटाद्भिन्नः यहां भेद का अवधिमें पंचमी विभक्ति है न कि विशिष्ठ ज्ञान में कारणी भूत जो विशेषण ज्ञान, उसका विशेषण जो विषय, उसमें। यह न मानो तब तो विशिष्ठ ज्ञान में कारण जो निर्विकल्पक ज्ञान उसका विषय जो घटत्व उसमें पांचवीं विभक्ति को लगा करके घटत्वात् घटः यह भी ज्ञान हो जायगा। पट स्वभेद में उपलक्षण है, यह जो द्वितीय पक्ष

इत्यपि स्यात् । उपलक्षणपक्षस्त्वतिप्रसङ्गान्निरस्तः । अन्योन्याभावस्तु भेदो दुर्निर्वचः । तथाहि स हि घटपटोभयतादात्म्यप्रतियोगिको न सम्भवति अत्यन्तासत्प्रतियोगिकत्वापत्तेः । नापि घटे पटतादात्म्यप्रतियोगिक एवं पटेऽपीति घटे पटतादात्म्याभावस्य व्यधिकरणाभावत्वेन संसर्गाभावत्वात् । वैधर्म्य-

---

है सो तो अतिप्रसंग से ही परास्त हो जाता है। इसलिये स्वरूप भेद है यह पक्ष खंडित हो जाता है और अन्योन्या भाव रूप भेद है यह जो द्वितीय पक्ष है उसका भी निर्वचन नही हो सकता हैं। तथा हि वह जो अन्योन्याभाव सो घट पट उभय का जो तादात्भ्य तत्प्रतियोगिक नहीं बन सकता है, क्योंकि घट पट का तदात्म्य बिलकुल असत् है, तो यह भाव असत्प्रतियोगिक हो जायगा। नहीं कहोगे कि घट में पट तादात्म्य का निराकरण हो जाता है तथा पट में घट तादात्म्य का निराकरण होता है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट में पट तादात्म्य का अभाव होगा सो तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव होगा। और व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव तो संसर्गीभाव में समाविष्ट है, तो प्रकृत अन्योन्याभाव नहीं कहावेगा किन्तु संसर्गीभाव हो जायगा। इसलिये द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है। घटत्व पटत्व रूप जो वैधर्म्य तत्स्वरूप भेद है यह जो तृतीय पक्ष है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि 'घटत्व पटत्व रूप जो वैधर्म्य है

मपि न भेदः तत्रापि वैधर्म्यान्तरस्य सत्त्वेऽनवस्थापत्तिरननु-
भवाच्च। असावे च वैधर्म्याणामभेदाद्विधर्मिणामप्यभेदे जग-
दभेद एव स्यात्। अपि चास्तु यः कोऽपि भेदः सोऽपि
नाभिन्ने निविशते विरोधात्। किञ्चाभिन्ने भेदप्रवेशे एका-

उसमें पुनः दूसरा वेधर्म्य रहता है कि नहीं ? यदि वैधर्म्य
में दूसरा वैधर्म्य है, ऐसा मानो प्रथम पक्ष को, तब तो
अनवस्था देष होता है (क्योंकि घट पट का भेदक वैधर्म्य
है और वैधर्म्य का भेदक वैधर्म्यान्तर। उसका भेदक भी
वैधर्म्यान्तर इस प्रकार से अप्रामाणिक वैधर्म्य प्रवाह रूपा-
नवस्था आती है) और नाना वैधर्म्य है ऐसा अनुभव
भी किसीको नहीं होता है। यदि घटत्व पटत्वात्मक वैधर्म्य
में वैधर्म्यान्तर नहीं ही हैं ऐसा मानो तब तो वैधर्म्य में
परस्पर भेद नहीं रहेगा अपितु सभी वैधर्म्य अभिन्न हुआ
तब तो वैधर्म्य का आश्रय जो विधर्म घट पटादिक वह
भी अभिन्न होने से जगत में अभेद हो जायगा
(घट पट घटत्व पटत्व रूप भेदक के बल से भिन्न होता
था। और घटत्व पटत्व तन्दत भेदक के बल से भिन्न होता
था। अब जब आप घटत्व पटत्व में अनवस्थाभयात् भेदक
को नहीं मानते हो तब तो घटत्व पटत्व एक हो गया, तब
उसका आश्रय जो घट पट वह भी एक हुआ। एवं रूप
से सर्वत्र अभेद का साम्राज्य होने से अद्वैतवाद विजयी

भावेनानेकमपि न स्यात् तस्यैकसमूहत्वात्। नापि भिन्ने। एवं सति हि सोऽपि भिन्ने सोऽपि च भिन्ने इत्येकस्मिन्नेव घटे नियतायुपि क्रमेण तत्तद्भेदालिङ्गनमयुक्तम्। किञ्च विधेयीभूतभेदफलमधिकरणावच्छेदकीभूतभेदेनैव स्यादिति विधेयीभूतभेदधाराविलोपः स्यात्। अयमेव प्राग्लोप इहोक्तः। अथानन्ता भेदा अपि क्रमेणैव घटमालिङ्गन्ति तदा किं भेद

होता है) और भी देखिये, कोई भी भेद नामक वस्तु रहो, परन्तु वह भेद अभिन्न आश्रय मैं तो बैठ नहीं सकता है, क्योंकि अभेद में भेदका विरोध है। और भी अभिन्न में यदि भेद प्रविष्ट होगा तव तो एक वस्तु का अभाव हो जायगा तथा एक का समुदाय रूप अनेक भी नहीं होगा। न वा भिन्न अधिकरण में भेद रहता है, यह भी पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि पहला भेद भेद विशिष्ठ में बैठेगा, वह भी भेद भेद विशिष्ट में रहेंगा, इस प्रकार नियत आयु वाले एक पट में सभी भेद का समावेश नहीं होगा। और विधेय रूप जो भेद उसका फल है अधिकरण को अलग करना, सो तो उद्देश्यतावच्छेदकीभूत भेद से ही सिद्ध हो जायगा तव आगे आगे भेद को मानते जायेंगे और पीछे पीछे वाला भेद विलुप्त होता जायगा। इसी का नाम है प्राग् लोप, जो खण्डन में कहा गया है। यदि कहों कि भेद अनन्त हैं, वह क्रमेण घट में प्रविष्ट होता है, तव तो किस भेद

विशिष्टे किं भेदवृत्तिरित्यशक्यावधारणम् । इदमेव चाविनिगम्यत्वम् । अपि च भिन्नबुद्धेरेकेनैव भेदेनोपपत्तावनन्तभेदकल्पने मानाभावः । अयमेव प्रमाणापगमः । तदुक्तम् ।

प्राग्लोपाऽविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् ।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्यत्रिदोषता ॥ इति ।

अथानवस्थाभयात् द्वितीयो भेदो धर्मिस्वरूपमेवोच्यते ।

विशिष्ट में किस भेद की व्यवस्था होगी ? इसका निर्णय नहीं होगा । इसी का नाम है अविनिगम्यत्व । और भी देखिये—'इमौभिन्नौ' यह जो भेद ज्ञान है उसका उपपादन एक भेद से ही हो जाता है, तब अनन्त भेद के स्वीकार करने में कोई कारण नहीं है, इसी का नाम है प्रमापगम । खण्डन ग्रंथ में कहा है कि—प्राग्लोपेत्यादि—अनवस्था दोष दोषास्वीकारवादी वादी को प्राग्लोपाविनिगम्यत्व । प्रमाणापगम से होने वाला जो त्रिदोष ज्वर विशेष, उसका समाधान अशक्य हो जाता है, अर्थात् वात कफादि दोषत्रय से जायमान सन्निपातज्वर असमाधेय होजाता है, उसी प्रकार से प्रकृत में त्रिदोष का समाधान नहीं हो सकता है ।

अथ यदि कहो कि विधेय भेद से भिन्न उद्देश्यतावच्छेदक जो द्वितीय भेद है सो घटादि रूप धर्मीका स्वरूप ही है, अतः पूर्वोक्तदोष नहीं होता है । तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तबतो धर्मी जो घटादिक है सो निःस्वरूप

तदा धर्मिस्वरूपं निःस्वरूपमेव स्यात् स्वरूपव्यावृत्त्यात्मकभेदात्मकत्वात् । अथ धर्मात्मको भेदः स्वरूपविशेषव्यावृत्तिर्न तु स्वरूपसामान्यव्यावृत्तिः तदा द्वावपि घटपटादिरूपौ भेदिनौ स्वरूपसामान्यरूपतयाऽभिन्नौ स्याताम् । किंच् भेदः स्वप्रति-

---

हो जायगा । क्योंकि जब घडा भेद स्वरूप हुआ तथा भेद तो स्वरूप की प्रवृत्ति रूप ही है। अब यदि कहो कि धर्मात्मक जो भेद है सो स्वरूप विशेष की व्यावृत्ति रूप है न तु स्वरूप सामान्य की व्यावृत्ति रूप है, हयभी ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो घट पट रूप जो भेदवान् दोनो पदार्थ है उसमें सामान्य स्वरूपतया अभेद हो जायगा । विशेष स्वरूप की व्यावृत्ति रहने पर भी सामान्य स्वरूप से तो अभेद ही है । × और भी देखिये—यह जो भेद है सो स्वकीय जो

× अनवस्थितिमनवस्थादोषयास्थातुः स्वीकुर्वतः पुरुषस्य, एषा त्रिदोषता, प्राग्लोप अविनिगम्यत्वप्रमाणापगमप्रयोज्या । प्रमाणापगमैरित्यत्र यातृतीया विभक्तिस्तस्याः प्रयोज्यत्वमर्थः तया च प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणाप-निष्ठप्रयोजकता निरूपित-प्रयोज्यतावती त्रिदोषतेत्यर्थः तथा चैभिः कारणैर्जा-यमाना त्रिदोषूता अचिकित्स्या चिकित्सितुमयोग्या । अथवा प्रमाणापगमैरित्य-त्रया तृतीया तस्या अभेदोर्थः धान्येन धनवानित्यत्र धान्याभिन्न धनवनयमर्थो-भवति तद्वत्प्रकृते प्राग् लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमाभिन्ना या त्रिदोषता सा अचिकित्स्या चिकित्सतुमयोग्यैव। यथा लोके मृत्यु प्रेरितवातकफपित्तजन्यः सन्निपातज्वरोऽकुशलैर्भिषग्वरैः समाहितो न भवति। तद्वत्प्रकृते पूर्वोक्त-कारणप्रयुक्त पूर्वोक्तप्राग्लोपाद्यभिन्ना त्रिदोषता समाधानरहितैवेति। खण्डनिकानामुद्धारः ।

रामेश्वरानन्दाचार्यः ।

योगिस्वानुयोगिस्वधर्मस्वसम्बन्धैः समं यदि भेदान्तरेण भिद्येत तदानवस्था न चेत्तर्हि अद्वैतमेव ।

तदद्वैतश्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः ।
नानुमानादि तं कर्तुं तवापि क्षमते मते ॥
अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान् ।
सेवामेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा ॥

प्रतियोगी स्व का जो अनुयोगी स्व का धर्म अर्थात् प्रतियोगितावच्छेदक अथवा भेदत्व तथा स्व का जो सम्बन्ध उससे भिन्न है या अभिन्न है ? यदि प्रथम पक्ष कहो तो अवस्था दोष होता है । यदि द्वितीय पक्ष कहो तो अद्वैत में पर्यवसान होता है । तदद्वैतश्रुते दित्यादि प्रत्यक्ष से अद्वैत श्रुति का बाध हो जाता है । यह नहीं घट सका । और अनुमान से आगम का बाध तो आपके मत में भी इष्ट नहीं है, अन्यथा नरः शिरः कपाल में शुचित्वानुमान भी सत् हो जायगा (अद्वैतागम के आगे आगे चलती हुई अर्थापत्ति परपक्ष का खण्डन करती हुई पदाति सेनाकी तरह अद्वैतागम की सेवा ही करती है । ×

× तदद्वैतश्रुतेरित्यादि प्रत्यक्षेण सहागमस्य समानविषयत्वाभावात् प्रत्यक्षबाधो न भवतीत्युपसंहरन्नाह तदद्वैतश्रुतेरिति यत एव भेदग्राहकप्रत्यक्षमपि यथोक्तरीत्या अभेदकप्रतिपादकमेव न तु भेदमावेदयति तस्मात् प्रत्यक्षतः घटपटौ भिन्नावित्यादिप्रत्यक्षप्रमाणेन संभावितो बाधः क्षतः

अद्वैतश्रुतयश्च वर्णपदादिभेदेनाविद्यकेनाद्वैतं पारमार्थिकं प्रतिपादयन्त्योऽपि न तेन दुर्बलेन बाध्यन्ते । तस्मात्

पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः ।
बाधनादुपजीव्येन बिभेति न मनागपि ॥

अद्वैतागम के आगे चलने वाली अर्थापत्ति प्रमाणान्तर का निराकरण करती हुई पदाति सेना की तरह अद्वैतागम की सेवा करती है ।×

आविद्यक जो वर्ण पद आदि का भेद उसको लेकर के स्वीकार करके पारमार्थिक त्रिकालाबाध्य अद्वैतात्मक अर्थ का प्रतिपादन करने वाली अद्वैत श्रुति दुर्बल प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित नहीं होती है, इसलिये श्रुति पारमार्थिक अद्वैत की शरण में प्रवेश करके उपजीव्यके बाध से थोडी

परिप्लुतो विगतो विनष्ट इति यावत् । अनुमानादि–अनुमानप्रमाणं तं बाधं शब्दस्य बाधे प्रतिबन्धं कर्तुं सम्पादयितुं तवापि मते न क्षमते नोपयुक्तं भवति । यदा तवापि अनुमानेनागमबाधो नेष्टस्तदा आगमस्य सर्वप्रमाणापेक्षया बलवत्त्वं मन्यमानस्य मम तु कथैव का अर्थादनुमानापेक्षया आगमस्य सर्वथैव-बलवत्त्वात् । अन्यथा नरः शिरः कपालम् शुचिप्राण्यंगत्वादित्याद्यनुमानमपि नारास्थि स्पृष्ट्वा सचैलं जलमाविशेदित्यागमम बधू याप्यवकाशमासादयेति । तस्मान्न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतेर्बाध इति कृतमनवसरप्रसंगेनेति ।

रामेश्वरानन्दाचार्यः ।

× आविद्यकमप्यर्थापत्तिप्रमाणमद्वैतागमस्यताद्वैतं कुर्वाणस्यागमस्यानुकूलमेवेति पूर्वोक्तं स्मारयन् आह अद्वैतागमेत्यादि अद्वैतागमस्यैकमेवाद्वितीयम् अथात आदेशो नेति । अतोन्यत्सर्वमार्तमित्यादिवाक्यजातस्याविद्या समये-प्रमाणभूतस्य । नासीरेपुरस्तोग्रे सा अर्थापत्तिः साधु यथा स्यात् तथा परान्

श्रुतिजन्यत्वस्याप्याविद्यकत्वान्न ब्रह्माद्वैतधियो नित्यत्व-विरोधः । तस्मात्

आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्
अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम् ।
तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा
निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात् ॥ इति ।

भी नहीं डरती है । अद्वयरूप अर्थ प्रतिपादक श्रुति का आपात रूप से जो अद्वैत रूप अर्थ जाना गया है, वही अद्वैत रूप अर्थ परिशोधित विचार के बाद निर्वहित होता है, प्राप्त होता है । अद्वैत अर्थ कैसा होकर के प्राप्त होता है ? तो पारमार्थिक प्रकाशात्मक चित् रूप हो करके इति ॥

पूर्व प्रकरण से विकल्पजाल द्वारा जो भेद का खंडन किया गया है अब उसका समाधान सिद्धान्ती करते हैं ।

विरोधिप्रमाणान्तरान् आभासतया भाज्ञमानान् छुन्नती निराकरण कुर्वन्ती अद्वैतागमस्यसेवामेवानुकूलतामिवार्जयति [1] [2] सेवां साहाय्यमेव संपादयतिमुखतः साक्षादेव सेवामेव करोति नतु प्रातिकूल्यमेव भजते इतरप्रमाणवदितिभावः ।

श्रुतिः एकमेवाद्वितीयमथात आदेशो नेति नेति वाक्यसमुदायः पारमार्थिकं त्रिकालाबाध्यलक्षणम् अद्वैतं शरणं प्रविश्य तत्सहायतामासाद्य उपजीव्येन प्रत्यक्षादिना प्रमाणादिना बाधनाद् बाधभयात् मनागपि ईषदपि न बिभेति भय न प्राप्नोति । उपजीव्यविरोधकरणेन न भयमासादयति किन्तु विरोधि-भूतान् तान् सर्वानेव निराकरोति ।

अत्रोच्यते । यथायथं तावत्त्रयो भेदाः । तथाहि स्वरूपं तावद् भेदः भिद्यते व्यावर्त्त्यते अभेदधीविरोधिधीविषयीक्रियते ऽनेनेति व्युत्पत्तेः । स्वात्मना च पटस्तथाक्रियत एव अतो न स्वरूपस्य भेदत्वं पारिभाषिकं वैधर्म्यान्योन्याभाववत् स्वरूपे

अत्रोच्यते इत्यादि प्रकरण से । विचार से तीनो प्रकारक वा भेद सिद्ध होता है । तथाहि स्वरूप भेद को मानता हूँ, भिद्यमान हो व्यावर्त्यमान हो धर्मी जिसके द्वारा अर्थात् अभेदज्ञान का विरोधी जो ज्ञान, तादृश ज्ञान का विषय बनाया जावे धर्मी जिससे, उसका नाम है स्वरूप भेद । इस प्रकार से स्वरूप भेद की व्युत्पत्ति होती है । पट अपने स्वरूप से अपने को बनाता ही है, अर्थात् पट अपने को इतर से व्यावृत्त अवश्य बनाता है, इसलिये स्वरूप में भेदत्व पारिभाषिक नहीं है, वैधर्म्य अन्योन्याभाव की तरह से । अर्थात् वैधर्म्य भेद में अन्योन्याभावात्मक भेद में

अद्वैतवादिनीनाम् अद्वैतात्मकं अर्थं बोधयन्तीनां श्रुतीनाम् एकमेवेत्यादिकानाम् यदिदमद्वैतम् अद्वैतात्मकमर्थं आपाततः बोधानन्तरम् यथा तथा अर्थं तया अर्थरूपेण आकलितमविचारितम् तत् विचारानन्तरम् तत् स्वप्रकाशपरमार्थचिद्रूपमेव भूत्वा, निष्पीडितात् शोधितात् विचारात् निर्वहते निर्वाहं प्राप्नोति । यद्वस्तु पूर्वमापाततोऽर्थतयाज्ञाते तदेव वस्तु शोधितविचारादनुस्वप्रकाशचिद्रूपतयैवावस्थितमिति भावः ।

—रामेश्वरानन्दाचार्यः

ऽपि व्युत्पन्नत्वात् । अत एवात्मतत्त्वविवेके । त्रीनपि भेदा-
नाचार्या आहुः । ननु स्वरूपभेदवत्ता स्वरूपस्य न सम्भवत्य-
भेदात् । न हि स एव तद्वांस्तेनैव भवतीति चेत् । माभूत् । न
हि स्वरूपभेदवतस्तेन भेदवत्त्वं ब्रूमः । किं तु प्रतियोग्यपेक्ष-
विलक्षणधीविषयतामात्रम् । प्रतियोगित्वाभिमताभेदारोपविरो-
धिधीपर्यालोचननिबन्धनस्तत्र घटाद्भिन्नः पट इत्यादिः प्रति-

तत्व परिभाषिक नहीं है किन्तु स्वाभाविक है। इसी
प्रकार से स्वरूप भेद में भी भेदत्व है व्युत्पत्तिबललभ्य।
अतएव आत्मतत्व ग्रंथ में भी तीनो प्रकार के भेद को
आचार्य उदयन ने स्वीकार किया है तथा उसका निर्वचन
भी किया है। नहीं कहो कि स्वरूप भेद का अधिकरण
स्वरूप कैसे होगा ? क्योंकि अभिन्न होने से। क्या स्व स्व
वान् होता है ? (अर्थात् घट घटवान् नहीं होता, अभेद होने
से) उसी तरह से भेद जब स्वरूपात्मक है तब स्व में स्व
कैसे बैठेगा ?

उत्तर—न होवे। स्वरूप में भेदवान् को उसी भेद से
मैं भेदवान् नहीं कहता हूँ, किंतु प्रतियोगी सापेक्ष जो
विलक्षणज्ञान, तादृश ज्ञान विषयत्वमात्र से भेदवत्व
कहता हूँ। प्रतियोगी रूप से अभिमत में जो अभेद का
आरोप, उसका विरोधी जो ज्ञान उसका जो पर्यालोचन
अर्थात् विचार मूलक घट से भिन्न पट है ऐसा प्रतिभास

मासः । तथा च स्वरूपभेदस्थले अभेदं नोल्लिखन्ती धीरित्यादि यदुक्तम् । तदयुक्तम् । न हि तत्र भेदो वा भिन्नता वा चकास्ति । किं तु भेदान्तरमन्तरेणैव विलक्षणधीमात्रं तत्रोदेति । तदुक्तम् । किञ्चिद्धि वस्तु स्वत एव विलक्षणमिति । यद्वा घटादिव्यक्तेः पटादिसाकाङ्क्षत्वमेव तद्भेदत्वम् । यद्यपि घटादिव्यक्तिर्न स्वरूपेण पटादिसाकाङ्क्षा । तथापि तत्प्रतियोगिको भेदो भवन्तीति तत्साकाङ्क्षैव । प्रतियोगित्वं च

होता है । इस प्रकार से स्वरूप भेदको व्यवस्थित होने से स्वरूप भेद स्थल में जो अभेद का उल्लेखन नहीं करने वाला ज्ञान भेद का उल्लेखन करने में समर्थ नहीं हो सकता है, ऐसा जो कहा था, सो ठीक नहीं है । क्योंकि तादृश स्थल में भेद वा भिन्नता का प्रकाशन नहीं होता है, किन्तु भेदान्तर के बिना ही विलक्षण ज्ञानमात्र ही उदयिमान होता है । ऐसा कहा कि कोई पदार्थ स्वत एव विलक्षण होता है, अर्थात् कोई पदार्थ तो परापेक्ष विलक्षण होता है और कोई इतरानपेक्ष ही स्वत एव विलक्षण होता है । अथवा घटादि व्यक्ति में पटादि साकांक्षत्व है, उसी का नाम है पट भेद । अर्थात् घट में जो पट को साकांक्षता उसी को पटप्रतियोगिक घटानुयोगिक भेद कहते है । यद्यपि घटादि व्यक्ति स्वरूपतः पट साकांक्ष नहीं है, तथापि पट प्रतियोगिक भेद के होने से वह पट साकांक्ष ही है ।

पटादेः भेदत्वप्रकारकपटादिधीकारणीभूतधीविशेषविषयत्वम् ।
अन्योन्याभावस्तु यद्यपि तदात्मीभवतोर्घटपटयोर्नाभावो न
नापि तयोस्तादात्म्यस्याभावोऽसौ येनात्यन्तासत्प्रतियोगिकः
स्यात् । नाप्यतदात्मीभवतोः । येन स्तम्भः पिशाचो न भव-
तीत्यत्र तस्यैकस्यैकमेव ज्ञानं स्तम्भे प्रत्यक्षं पिशाचे चाप्रत्य-
क्षमापद्येत । नापि घटे पटतादात्म्यस्याभावो येन संसर्गा-

"घटः पटो न" इत्याकारक पटनिष्ठ प्रतियोगिता तो भेदत्व प्रकारक घटादि ज्ञान कारणीभूत जो ज्ञान विशेष तद्विषयता रूप ही प्रतियोगिता पट में है (पटाद् भिन्नो घटः) इस स्थल में भेदत्व प्रकारक जो घट ज्ञान पट विषयक ज्ञान । क्योंकि पट के रहने से ही तादृश घट ज्ञान होता है । उस ज्ञान का कारणीभूत ज्ञान पट ज्ञान विशेष तद्विषय पट है, विषयता पट में रहती है तो यही प्रतियोगिता हुई पट में । इस प्रगार से पट में प्रतियोगित्व लक्षण का समन्वय होता है) अन्योन्याभाव यद्यपि तादात्म्यापन्न घट पट का अभाव नहीं है । न वा घट पट का जो तादात्म्य उसका अभाव भी नहीं है, जिससे कि अत्यन्त असत् प्रतियोगिकत्व अन्योन्याभाव को होवे । न वा अतादात्म्यापन्न वस्तुद्वयका अभाव अन्योन्याभाव है । जिससे कि स्तंभ पिशाच नहीं है, 'इस स्थल में उस एक अभाव का एक ही ज्ञान स्तंभा से प्रत्यक्ष हो और

भावः स्यात् । किं तु घटः पटे इत्यारोपरूपशरीरम् । एष च घटे पटत्वारोपः तथैवानुभवात् । निषेधस्तु पटस्यैव तस्यैव सामानाधिकरण्येनान्वयात् । वैयधिकरण्येन तु तदन्वये घटे पटो न घटे पटत्वं नेति बाधधीः स्यात् । तस्मादभावाधिकरणे प्रतियोगितावच्छेदकं धर्ममारोप्य यो निषेधः प्रतीयते सोऽन्योन्याभाव इति विज्ञेयम् । ननु धर्म आरोप्यते धर्मी निषिध्यत इति दुर्घटम् । आरोपितस्यानिषेधान्निषेध्यस्य चानारोपादिति

पिशाचांश में अप्रत्यक्ष हो जाय । न वा अन्योन्याभाव घट में पट तादात्म्य का अभाव रूप है जिससे कि अन्योन्याभाव संसर्गाभाव कहलाजाय । किन्तु घटः पटः यह आरोप शरीर शरीर है, यह घट में पटत्व का आरोप है, क्योंकि ऐसा ही अनुभव होता है । निषेधतो पट का ही होता है, क्योंकि पट का हो सामानाधिकरण्य रूप से अन्वय होता है । वैयधिकरण्य रूप से अन्वय माने तब तो घट में पट नहीं है, घट में पटत्व नहीं है, एतादृश बाध ज्ञान हो जायगा । इसलिये अभाव के अधिकरण में प्रतियोगितावच्छेदकीभूत धर्म का आरोप करके जो निषेध (अभाव) प्रतीयमान होता है उस अभाव का नाम अन्योन्याभाव होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

शंका—आरोप तो धर्म का होता है और निषेध होता है धर्मी का, यह तो बन नहीं सकता है । (यह दुर्घट है ।)

धेन । आरोपे निषेधबुद्ध्या च घटपटयोर्भानमित्यनुभवसिद्धम् किं त्वनुभववैचित्र्यादारोपो धर्मप्राधान्येन । निषेधस्तु धर्मिप्राधान्येन तथैवानुभवादिति दिक् वैधर्म्येषु वैधर्म्योपगमेऽनवस्था न दोषाय प्रामाणिकत्वात् । तत्र स्वरूपभेदेन भिन्नधीसम्भवाद्वेति ॥

यत्तु भेदो भिन्ने निविशत इत्यादि । तत्तुच्छम् । तस्य

क्योंकि जिसका आरोप हुआ उसका तों निषेध नहीं किया गया, तथा जो निषेध्य होता है उसका तो अरोप नहीं होता है ।

उत्तर—आरोप में निषेध्र बुद्धि से घट पट का भान होता है ऐसा अनुभव सिद्ध है, परन्तु ज्ञान के विचित्र होने के कारण धर्म के प्राधान्य से आरोप होता है और निषेध होता है धर्मी की प्रधानता से, क्योंकि अनुभव ऐसा ही होता है । वैधर्म्य में दूसरे वैधर्म्य को मानने से अनवस्था होती है, ऐसा नहीं कहना । क्योंकि यह अनवस्था प्रामाणिक है । अप्रामाणिक अनवस्था ही दोषाधापक है। अथवा घट पटादि में वैधर्म्यात्मक भेद रहता है और वैधर्म्य में स्वरूपात्मक भेद रहता है। इसी से वैधर्म्य भिन्न व्यवहार होता है। अतः भेद व्यवहार के उपपादन करने के लिए वैधर्म्यकी धारा नहीं मानते हैं स्वरूप भेद से ही निर्वाह हो जाता है।

भेद भेद विशिष्ट में रहता है अथवा अभेद विशिष्ट

नित्यसमाप्रपञ्चत्वात् । न हि तद्भेदविशिष्टे तद्भेदवृत्तिं नाप्यभिन्ने भेदवृत्तिं ब्रूमः । किं तु भेदोपलक्षिते भेदवृत्तेर्मयोपगमात् । किञ्च यदा यत्र भेदो वर्तते तत्तदा तद्भेदवदेव तत्पूर्वं तु नास्त्येव । न हि गौर्गोत्वादिशून्यः क्षणमपि

में रहता है ? इस प्रकार से प्रश्न करके उभय पक्ष में दोष बताकर जो भेद के खण्डन करने का खंडनकार ने प्रयास किया था सो ठीक नहीं है, क्योंकि वह कथन तो नित्य समजाति रूप दोष का प्रकार मात्र है, वस्तुतः दोष नहीं है । क्योंकि मैं न तो तद्भेद विशिष्ट अधिकरण में तद्भेद कोमानता हूँ न वा अभेद विशिष्ट अधिकरण में ही भेद की वृत्ति को मानता हूँ । ऐसा में कहता हूँ । (अत एव पूर्व पक्षी का प्रश्न निराधार है) तब भेद की वृत्तिता अधिकरण में किस प्रकार से है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं । किन्तु इत्यादि—किन्तु भेद से उपलक्षित जो अधिकरण तादृश अधिकरण में भेद की वृत्तिता होती है, ऐसा मैं मानता हूँ । और भी देखिये जिस काल में जिस अधिकरण में भेद रहत्ता है वह अधिकरण उस काल में उसी भेद से विशिष्ट होकर के भिन्नः इस प्रकार के व्यवहार को सम्पादन करता है । इस भेद की वृत्तिता से पूर्व काल में वह अधिकरण ही नहीं होता । क्या गाय गोत्वजाति से शून्य होकर के एक क्षण भी रहती है ? । क्योंकि

जातेर्जातसम्बन्धत्वात् अन्योन्याभावस्य स्वरूपभेदस्य च तत्समत्वात् स्वरूपभेदस्य पिण्डे निवेशानुपगमाद्वा । एतेन प्राग्लोपेत्यादि खण्डितम् अप्रसक्तत्वात् । नूनं किं गवि गोत्वमुतागवीति वदता धर्मधर्मिभाववैरिणा बौद्धेन शिचि-

---

पदार्थ की उत्पत्ति तथा जाति के साथ संबन्ध एक ही काल में हो जाता है। उत्पन्न होते ही जाति से संबन्ध हो जाता है ऐसा नियम है। अन्योन्याभाव तथा स्वरुप भेद जाति के समान ही हैं। (जैसे जाति से शून्य घटादि व्यक्ति एक क्षण भी नहीं होता है। उसी प्रकार से जाति के समान जो अन्योन्याभाव वा स्वरूप भेद से शून्य पदार्थ एक क्षण भी नहीं नहता है। पैदा होते ही अन्योन्याभावात्मक भेद से विशिष्ट हो जाता है। नतो भेद संबन्ध रहित काल में उस वस्तु की आस्तिता ही है और जब आस्तिता होती है तब से भेद विशिष्ट हो करके ही व्यवहार होता है।) अथवा स्वरूप भेद का निवेश पिण्ड व्यक्ति में नहीं माना जाता है (अर्थात् यदि स्वरुप भेद को व्यक्ति में वृत्तिता मानते हैं तब तो वह भेद भेदान्तर सापेक्ष होकर के ही रहेगा, तब अनवस्था प्रभृति दोष हो जाते हैं। अतः स्वरूप भेद जो व्यक्ति में रहता है सो इतर भेद सापेक्ष नहीं है किन्तु स्व स्वभावात इतर भेदानपेक्ष होकर के ही रहता है यह अभिप्राय 'पिंडेनिवेशानुगमात्' इस पंक्ति

तोऽसि यदीदृशान्यसाराणि प्रलपसि । धर्मधर्मिभाव एव मह्यं न रोचत इति चेत् । नूनमज्ञोऽसि यदभिन्नं प्रतिजानीषे धर्मधर्मिभावं त्वपजानीषे इति । अभेदधर्मो हि धर्मी अभिन्न इति धर्मधर्मिभावाभावे क्वप्यभिन्नमिति । किञ्च भेदाभावे

का प्रतीत होता है) अनन्तर पूर्व कथित उत्तर से प्राग् लोपादिक जो दोष दिया था सो भी खंडित हो जाता है, क्योंकि प्राग् लोपादिक दोष की प्राप्ति ही नहीं होती । अर्थात् जाति के समान जब भेद का स्वभाव है तब भेद की धारा ही नहीं चलती है । तब द्वितीय भेद के मानने से प्रथम भेद का जो कार्य था सो सिद्ध हो जाता है तो प्रथम भेद की क्या आवश्यकता रहती है ? इससे प्राग् लोपादिदोष कहा था । अनेक भेद मानें तो कौनसा भेद उद्देश्यतावच्छेदक होगा और भेद विधेय बनेगा ? ऐसा जो अभिनिगम्यत्व कहा था और अनेक भेद के स्वीकार करने में प्रमाण नहीं है ऐसा जो प्रमाणापगम कहा था सो सब अरण्यरोदनके समान हो जाता है । क्या गो में गोत्व है या अगो में गोत्व है । यदि प्रथम पक्ष हो तब तो 'गावे गविगोत्वं' यह वचन निरर्थक और यदि गोभिन्न में गोत्व है तो आपमें भी गोत्व को रहना चाहिये । ऐसा कहने वाला धर्म धर्मि भाव का शत्रु जो बौद्ध उससे आपने शिक्षा प्राप्त की है जो कि ऐसा असम्बन्ध प्रलाप करते हो ।

कथमभिन्न इति। न हि धर्मिमात्रम् नाप्यभेदमात्रमभिन्न इति। किं त्वभेदवानभिन्न इति एवञ्चाभिन्नतापि भिन्नमुपजीव्यैव प्रवर्तते अभेदधर्मिणोर्भेदधियमन्तरेणाभिन्नताधियोऽसम्भवादिति। तस्मात्

प्रश्न—धर्म धर्मी भाव हमको अच्छा नहीं लगता है, ऐसा कहो तो वह भी ठीक नहीं है, आप निश्चित अनभिज्ञ जान पड़ते हो क्योंकि अभिन्न है ऐसी तो प्रतिज्ञा करते हो और धर्म धर्मी भाव का अपलाभ करते हो। अरे! अभेद लक्षण वाला जो धर्मी है उसी का नाम तो अभिन्न होता है। यदि धर्म धर्मी भाव नहीं मानो तो 'अभिन्नम्' इत्याकारक प्रयोग कहां होगा तथा किस प्रकार से होगा? और भी देखिये—यदि भेद को न मानें तब अभिन्न कैसे होगा? क्योंकि अभिन्न तो न धर्मी मात्र है न अभेदमात्र है, किन्तु जो अभेदवान् हो उसका नाम है अभिन्न। ऐसा हुआ तब तो अभिन्नता भी भिन्नतोजीवनी होती है, तब अभेद तथा धर्मी भेद ज्ञान के बिना असंभवित है। (अभाव ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान के बिना नहींहोता है, यह नियम है। प्रकृत में अभेद है भेद का अभाव, तो वह भी भेदात्मक प्रतियोगी ज्ञान के बिना कैसे होगा? अतः अभेदान्यथानुपपत्ति से भी भेद को स्वीकार करना गलेपादुका न्यायात उचित है) तस्मात् भेद का उल्लेख न

अनुल्लिखन्ती भेदं धीर्नाभेदोल्लेखनक्षमा ।
तथा चाद्ये प्रमा सा स्यादन्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात् ।। इति ।।

त्वदुत्थापिता कृत्या त्वामेवाधाक्षीदिति । अथ निर्वच-नानां सर्वेषामेव दोषवत्वे निर्वचनासिद्धावनिर्वचनतारूपो मत्पक्ष एव सिध्यतीति चेत् । निर्वचनमुपक्रम्य दोषमवेक्ष्यत्व-

---

करने वाला ज्ञान अभेद का उल्लेख न करने में समर्थ नहीं है । ऐसा होने से आद्यपक्ष (भेद ग्राहिता पक्ष) में ज्ञान प्रभा रूप कहलायेगा । अन्त्य पक्ष (अभेदोल्लेखित्व पक्ष) में प्रमा नही होगा । क्योंकि स्व अभेद उसका जो उपजीव्य भेद उसके साथ विरोध होने से । अतः "अभेदं नो लिखन्ती धीः" इत्यादिक प्रकरण द्वारा आप से उठाई गई कृत्या ने आप को ही जला दिया ।

शंका—सभी निर्वचन के दोषवान् होने से निर्वचन की सिद्धि नहीं होती है, अतः अनिर्वचनीयता रूप मुझ वेदान्ती का पक्ष सिद्ध होता है । निर्वचन के प्रतिक्षेप से सभी पदार्थ में अनिर्वचनीयत्व सिद्ध हो जाता है ।

समाधान—निर्वचन का उपक्रम करके उसमें दोष को देखकर अनिर्वचनीयता का आश्रय करते हुए व्याघात दोष हो जाता है । यदि उस व्याघात दोष से भय नही है तब तो आप उपेक्षणीयता को प्राप्त करते हो । अतः हे जड ! आपको ऐसा नहीं बोलना चाहिये । अर्थात् निर्वचन में दोष

पेक्षणीयतामाप्नुवानो जड मैवं पुनर्वोचः। अन्योन्याभावा-त्यन्ताभावोऽभेदः तद्वति च तादात्म्यं वर्तत इति क्वात्माश्रय इति चेन्न। अन्योन्याभावात्यन्ताभावो हि घटत्वादिकं तदेव तादात्म्यं तथा चात्माश्रय एव। अथ नाभेदेनावच्छिन्नेऽन्यो

देखकर अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हैं तब क्या अनिर्वचनीयता के मानने में व्याघात से नहीं डरते हैं ? अर्थात् सभी वस्तुओं में अनिर्वचनीयता मानने में व्याघात दोष होता है।

प्रश्न—अन्योन्या भाव का जो अत्यन्ताभाव सो अभेद है और अभेदवान् में तादत्म्य रहता है तब हमारे मत में आत्माश्रय दोष कहां होता है ?

उत्तर—अन्योन्याभाव का जो अत्यन्ताभाव, सो है घटत्वरूप और वही है तादात्म्य, तब तो आत्माश्रय दोष होता ही है। (अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव प्रतियोगी का स्वरूप होता है और अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि का स्वरूप है और वही तादात्म्य है। अथवा अन्योन्य शब्द का अर्थ है तादात्म्य, तद्भावाभाव पुनः तादात्म्य में ही पर्यवसित होता है, तब आत्माश्रय दोष है ही)

शंका—अभेदावच्छिन्न में अर्थात् अभेद विशिष्ट अधि-करण में अन्य भेद नहीं रहता है। अभेद रहता है।

भेदो वर्तत इत्युच्यते तदा प्राग्लोपादिकं त्वदुक्तं त्वयि प्रहरतीति। अथाभेदो न धर्मिणो विशेषणम् किन्तु धर्मिणः स्वरूपमेव त्वन्मते स्वरूपभेदवत्। तदा न हि स एव तद्वांस्तेनैव भवतीति स्वरूपभेदवत्रापि दोषः। अथाभेदपक्षे धर्मितदभेदयोरप्यभेद एव। अन्यथा शतेनापि प्रमाणैरभेदे

उत्तर—यदि ऐसा कहो तब तो अभेद विशिष्ट में अभेद के रहने से भवदुक्त जो प्राग्लोप अविनिगम्यत्व प्रमाणापगम रूप दोष वह आप पर ही प्रहार करता है। (भेद पक्ष में जो दोषत्रय कहे थे सो दोषत्रय आपके ही मास्तक पर पड़ते है।)

प्रश्न—अभेद रूप जो धर्म है सो धर्मी जो घटादि पदार्थ उसमें विशेषण नहीं है जिससे कि धाराचलने से प्राग्लोपादि दोष हो। किन्तु धर्मी घटादि पदार्थ का स्वरूप ही अभेद है जैसे नैयायिक के मत में स्वरूपभेद धर्मी का स्वरुप होता है वैसे ही।

उत्तर—तब तो घट घट से ही घटवान् नहीं होता है अर्थात् स्व में स्व का विधान नहीं होता है, ऐसा दोष स्वरुप भेद पक्ष में दे आये हैं सो ही दोष आपके मत में भी होता है। अथ यदि कहो कि अभेद पथ में धर्मी तथा अभेद रूप धर्म में परस्पर अभेद ही है, अन्यथा सैकड़ों प्रमाणों से अभेद का साधन करने से उसकी सिद्धि नहीं

साध्यमानेऽप्यभेदो न स्यात् । अभेदतद्धर्मिणोर्वज्रलेपत्वादिति चेत् । मासैत्सीदभेदः किन्नश्छिन्नम् । अभेदोपलक्षितेऽभेदो वर्तत इति चेत् । क उपलक्षणार्थः । गवि गोत्वमित्यत्रयः तत्रैव कः । न हि गोत्वेनोपलक्षणानन्तरं गोत्ववृत्तिस्तत्र भवतीति चेत् । मैवम् । यो हि पिण्डो गोत्वेनैव विशिष्यते

होगी । अभेद रुप धर्म तथा उसका जो धर्मी है उन दोनों का भेद बज्र लेपित हो जाता है ।

वेदान्ती—धर्म धर्मी का अभेद न सिद्ध हो, हमारा क्या जाता है ? जब मैं पदार्थ मात्र का अनिर्वचनीयता दोष से निराकरण करता हूँ, किंतु अभेद से उपलक्षित धर्मी में अभेद रहता है, ऐसा मैं कहता हूँ । यह भी ठीक नही है क्योंकि उपलक्षण शब्द का क्या अर्थ है ? गो में गोत्व है, यहाँ जो उपलक्षणार्थ है वही यहां भी है । गवि गोत्वम् यही उपलथणार्थता है गोत्व से उपलक्षण से उपलक्षण के पश्चात् गो में गोत्व की वृत्तिता नहीं होती है ।

उत्तर—जो व्यक्ति गोत्व से विशेषित किया जाता है अर्थात् गोत्वरूप विशेषाण के द्वारा विशिष्ट बनता है वहां विशिष्ट स्थल में दो अंश होता है, एक विशेषण अंश और दूसरा विशेष्यांश दोनो मिलित्त का नाम होता है विशिष्ट । तब इसमें जो विशेष्य भाग है व्यक्ति रूप ।

तत्र विशेष्यभागे गोत्ववृत्तिरित्येवोपलक्षितवृत्त्यर्थः । एवमभेदे चेदेवं भेदेऽपीति । यदपि च किञ्च भेद इत्यादि । तदप्यसत् । अनवस्थायाः प्रामाणिकत्वात् । एवञ्च भेदप्रत्ययस्य भेदावलम्बनत्वे समर्थिते तदद्वैतश्रुतेरित्याद्यपि निरस्तम् । अर्थोपचे स्त्वद्वैतागमोपकारकता प्रागेवापास्ता । यत्तु पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्येत्यदि कं पूर्वमुक्तं तदप्यसत् । पारमार्थिकत्वे बीजाभावात् । अत एवापातो यदिदमित्याद्युपसंहारो व्यपास्तः अद्वैतस्य

उसमें विशेष्य भाग जो व्यक्ति है उसी में विशेषण गोत्व उसकी जो वृत्तिता है उसी को उपलक्षितवृत्ति शब्द से कहते हैं। न कि विशिष्टांश में वृत्तिता को उपलक्षित वृत्तिता कही जाती है। यदि इस प्रकार से अभेद को अभेदोपलक्षित वृत्तिता मानते हो तब तों भेद में भी इसी प्रकार से भेदोपलक्षित वृत्तिता मान लीजिये । अर्थात् अभेद की वृत्ति अभिन्न में मानने से जैसे अभेद धारा बन जाती है और प्राग् लोपादि दोष हो जाते हैं, तब आपने इन दोषों को हटाने के लिये अभेदोपलक्षित में अभेद की वृत्तिता का स्वीकार किया है। और उपलक्षित वृत्तिता का विलक्षण अर्थ वतलाने का कौशल दिखाया, तो इसी प्रकार से भेद पक्ष में भी दोष का उद्धार और पक्ष का निर्वाह हो सकता है तब केवल मेरे पक्ष में ही दोष देना ठीक नहीं है। कहा है कि "यश्चोभयो समो दोषः परिहारोपि तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थ विचारणे"

योग्यताज्ञानविरहेण श्रुत्यापि प्रतिपादनायोगादिति । यत्तु-तर्केण नैषा बुद्धिरपनेयेति श्रुतिराहेत्युक्तम् । तदपि नाद्वैतसिद्धौ प्रमाणं स्त्रियश्च धर्मप्रसेविका इतिवत् । तादृशभावनस्य मोक्षानुकूलत्वेऽपि तादृशवस्तुतत्त्वस्यासिद्धेरभेदधीप्रतिपालनमात्रस्य श्रुत्युपदिष्टत्वात् ॥

विचारणौ ।।" जो दोष उभय पक्ष में समान हो तथा जिसका उत्तर दोनों के लिये समान हो तादृश स्थल में एक के ऊपर ही अतिभार देना अनुचित है । अतः निरस्त सर्व दोष होने से भेद पक्ष बहुत समीचीन है । जिस किसी ने कहा था कि भेद भेदविशिष्ट में रहता है कि अभेद विशिष्ट में रहता है ? यदि भेद विशिष्ट में वृत्तिता हो तब तो भेद पुनः भेद पुनरपि भेद इस प्रकार से अनवस्था होती है । ऐसा कहा था सो ठीक नहीं है, क्योंकि अनवस्था को प्रामाणिक होने से । अर्थात् अप्रामाणिक अनन्त प्रवाह रूप अनवस्था दोष है, प्रामाणिक अनवस्था दोषाधायक नहीं होतो है । वस्तुतस्तु भेदोपलक्षित में भेद की वृत्तिता मानने से अनन्त प्रवाह की आवश्यकता ही नहीं होती है तब अनवस्था दोष कहां होता है ? न वा आत्माश्रय प्रागलोप अविनिगम्यत्व प्रमाणापगम दोष ही होता है । इस प्रकार से जब भेद ग्राहक प्रत्यक्ष को सालंबनत्व व्यवस्थित हो जाता है तब 'तदद्वैतमतेस्तावद्बाधः

प्रत्यक्षतः क्षतः' जो कहा था सो भी परास्त हो जाता है। अर्थात् जब भेदात्मक विषय को लेकर के व्यवस्थित है तब तो उस प्रत्यक्ष से अद्वैतागम का बाध होना आवश्यक हैं। अब जब तक बाधक बैठा है तब तक अद्वैतागम अभेद का प्रतिपादन नहीं कर सकता है। इस स्थिति में अद्वैतागम का प्रत्यक्ष से बाध नहीं है, ऐसा कहना मदारी के ढोल वजाने के जैसा होता है। और अर्थापत्ति प्रमाण अद्वैतागम का उपकारक है, इसका निराकरण पूर्व में किया जा चुका हैं। "अद्वैतागमनासोरे" इत्यादि गाथा से जो अद्वैतागमोपकारकत्व बतलाया था सो ठीक नहीं है, क्योकि आगम का भेद प्रत्यक्षबाधित होने से। अर्थापत्ति प्रमाण का उत्थान ही असंभवित है। उपचारार्थक मानने पर भी अद्वैतागम का निर्वाह हो जाता है। भेद प्रत्यक्ष का निर्वाह नहीं होता है, अन्यथा 'अदितिर्द्यौः आदित्यो यूपः' वाक्य भी प्रामाणिक होगा, अर्थवाद नहीं कहायेगा। एवं तत्त्वमादि पद में आपको भी लक्षणा की आवश्यकता नहीं होगी। अतः प्रत्यक्ष विरोध का समाधाम करने के बाद ही इतर प्रमाण फलवान् होता है। परन्तु प्रकृत में अद्वैतागम प्रत्यक्ष का जो विरोध उसके निराकरण करने में असमर्थ होता हुआ स्वयमेव प्रत्यक्ष से बाधित हो जाता है। अतः अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है, न वा अर्थापत्ति

प्रमाण अद्वैतागमका सहायक है अन्यथोपपत्ति से अन्यथानु-पपत्ति का समाधान हो जाता है।

'पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः' इत्यादि ग्रन्थ से अद्वैतनिष्ठ पारमार्थिकता को लेकर के अद्वैतागम उपजीव्य बाध से नहीं डरता है, ऐसा जिसने कहा है सो ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वैत की पारमार्थिकता में कोई प्रमाण नहीं है। और यह पारमार्थिकत्व वस्तु क्या है ? यदि प्रमाण द्वारा जो जाना जाय उस को पारमार्थिक कहैं तब तो चक्षुरादिद्वारा ज्ञायमान घटादिक भी पारमार्थिक कहावेगा। यदि श्रुतिमात्र गम्यत्व रूप को पारमार्थिकत्व कहैं तो श्रुतिमात्र गम्य धर्मादिक में भी पारमार्थिकत्व हो जायगा। क्योंकि धर्मादिक भी केवल श्रुतिमात्र गम्य हैं। यदि त्रिकालाबाधात्व रूप पारमार्थिकत्व कहो तो मैं पूछता हूँ कि अबाध्यत्व शब्द का क्या अर्थ है ? यदि बाधा-विषयत्वक हैं तब तो नेदं रजतम् इस ज्ञान का प्रतियोगी रूप से विषय है उसी प्रकर से अनुयोगिता संबन्धेन शुक्ति-का है, तो शुक्तिका में भी लक्षण नहीं जाता है तथा जगद-ध्यास का अधिष्टान ब्रह्म में भी लक्षण नहीं जायगा, क्योंकि उसमें भी अनुयोगिविधया बाधक ज्ञान विषयता होने से बाधाविषयत्व नहीं है। यदि ब्रह्म- भिन्नत्व को बाध्यत्व कहैं, तद्भाव को अबाध्य कहैं, तब तो गगन कुसुम में ब्रह्म

भिन्न है किन्तु बाध्यत्व नहीं हैं तदभाव पारमार्थिकत्व उस में भी हो जायगा। अतः पारमार्थिकत्व का कुछ भी निर्वचन नहीं हो सकता है। अत एव 'आपाततो यदिदमद्वयवादिनीना-मित्यादि' प्रकरण से जो उपसंहार करते हुए अद्वैत का निर्णय किया था सो भी परास्त हो जाता है ? क्योंकि योग्यता ज्ञान रूप कारण के अभाव होने से अद्वैत रूप अर्थ का प्रतिपादन श्रुति से नहीं हो सकता है (शाब्द बोध में योग्यता ज्ञान को कारणत्व माना गया है। यदि कदाचित योग्यता ज्ञान को कारणता न मानें तो "अग्निना सिंचति" अग्नि से सेचन करता है, इस अयोग्य वाक्य से भी शाब्द बोध हो जायगा। परन्तु प्रत्यक्ष बाध है, इसलिये योग्यता ज्ञान जहां रहेगा उसी स्थल में शाब्द बोध होता है, ऐसा निश्चय है। अब प्रकृत में जीव और ईश्वर की एकता रूप जो अद्वैतात्मक अर्थ है। सो तो "नाहमीश्वरः" मैं ईश्वर नहीं हूँ इस प्रत्यक्ष से "जीवः परमेश्वराद्भिद्यते विरुद्ध-धर्माश्रयत्वात्" जीव परमेश्वर से भिन्न है विरुद्ध धर्म का आश्रय होने से। जो विरुद्धधर्माश्रय होता है उसमें परस्पर भेद रूप साध्य रहता है जैसे घट में विरुद्ध धर्माश्रय होने से पट से भिन्न है, इसी प्रकार से अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व रूप विरुद्ध धर्माश्रय होने से जीव और परमेश्वर भिन्न है इस अनुमान से तथा

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥"
(शोभन पक्ष वाले दो पक्षी जो परस्पर अपने में मित्र भाव रखते है सो शरीर रूप एक वृक्ष पर बैठे हैं उन दोनों में से एक तो शरीर में रहता हुआ कर्मफल—सुख दुःख का भोग करता है तथा दूसरा बिना कुछ खाते हुए ही सुशोभित हो रहा है। इसमें कर्मफल भोक्ता जीव को पृथक् और अभोक्ता केवल साक्षी रूप परमेश्वर को पृथक् बताया है। धर्माधर्म की सहायता से जीव फल भोक्ता है और पाप पुण्य से रहित होने के कारण ईश्वर अभोक्ता साक्षी अन्तर्यामी कहाता है) इत्यादि अनेक श्रुतियों से तथा "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" (इस लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं एक तो क्षर पद वाच्य है और दूसरा अक्षर पद वाच्य है। उसमें क्षरपद से जीव राशि का निर्देश है तथा अक्षर पद से परमात्मा का ग्रहण होता है) इस गीता वचन से विरोध होता है। अतः अद्वैत अर्थ का प्रतिपादन तत्त्वमस्यादि श्रुति से होने में बाधक है। नहीं कहो कि 'मम कर्णकुहरे प्रविश्य सिंहो गर्जति' "अंगुल्याग्रे करिशतं विहरति" मेरे कान में प्रवेश करके सिंह गर्जन करता है और अंगुली के अग्रभाग पर सैंकड़ों हाथी विहार करते हैं,

इत्यादि स्थलों में तो योग्यता नहीं है फिर भी तो शब्दबोध होता है इसलियो योग्यताज्ञान शब्द बोध में कारण नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रदर्शित स्थल में प्रदर्शित वाक्य वाधितार्थका प्रतिपादन करते हैं अतः अप्रामाणिक कहलाते है। इसी प्रकार से तो आपका तत्त्वमस्यादि वाक्य भी अप्रामाणिक हो जायगा, सो तो आपको इष्ट नहीं है। नहीं कहो कि अद्वैतागम प्रतिपादित अर्थ अबाधित है इसलिए वाक्य अप्रामाणिक नहीं है – यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि एकता रूप अर्थ में प्रत्यक्ष अनुमान श्रुतिस्मृति प्रमाण को बतला आया हूँ। और "नैषा तर्केण मतिरपनेया" इस अद्वैत बुद्धि का निराकरण तर्क द्वारा नहीं करना ऐसा श्रुति कहती है, यह जो आपने कहा था सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कि यह कथन अद्वैत की सिद्धि में प्रमाण नहीं है। स्त्री धर्मसेविका है। इसके समान होने से। अर्थात् श्रुत पदार्थ का त्याग अन्यत्र श्रुत से होता है, जैसे स्त्री धर्म सेविका है "न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्" इस प्रकार से जब सामान्यतः वेदाध्ययन का निराकरण है तब धर्म सेवकत्व कैसे वन सकता है? इसी तरह से अद्वैत भावना मोक्ष के अनुकूल है एतत्परक श्रुति है। न नु वस्तु की सिद्धि होतीं है। अभेदज्ञान मात्र श्रुति से किया जाता है, न कि श्रुति का

अथेयता प्रबन्धेन प्राधान्येन स्वमतं व्यवस्थाप्येदानीं तैर्थिकमतानि खण्डयितुं खण्डनयुक्तीः प्रयोक्ष्यमाणः जल्पे तु स्थापनाघटिते तदवतारं कर्तुमशक्नुवानः जल्पस्त्वेका कथा न भवत्येव वितण्डाद्वयशरीरत्वात् । अन्यथा जल्पद्वयेनाप्येका कथा किमिति न भवतीति जल्पमेव खण्डनकृत् प्रत्यादिदेश । यद्यपि जल्पे प्रथमकक्षायां स्थापनाकण्टकोद्धारः द्वितीयकक्षा-

---

अद्वैतात्मक वस्तु के प्रतिपादन में तात्पर्य है प्रत्युत श्रुति तो तर्क को मोक्ष में सहायक बताती है 'मन्तव्यः' इस श्रुति से श्रुत आत्म वस्तु के स्थिरीकरण को मनन द्वारा श्रुति बतलाती है, तब तो तर्क का निराकरण बतलाया सो केवल शिवद्रोह में तात्पर्य है।"

शंका—उपर्युक्त प्रकरण से प्रधानतया स्वमत का व्यवस्थापन करके तदनन्तर अन्य शास्त्रकारों का मत खंडन करने के लिये खंडनयुक्ति प्रयोग करने के वास्ते स्थापना सहित जल्प कथा में खण्डनयुक्ति का प्रयोग करने में असामर्थ्य का अनुभव करते हुए जल्पनाम वाली एक कथा तो नहीं हो सकती है किंतु जल्प तो वितण्डाद्वय शरीरक है अर्थात् दो वितंडा का नाम ही जल्प है। यदि दो वितंडा का नाम जल्प न मानै किन्तु जल्प नामक अतिरिक्त एक कथा मानै

यान्तु प्रथमस्थापनाखण्डनं प्रतिस्थापना वेति न वितण्डाद्वय-सम्भवः। तथापि अजहत्स्वार्थलक्षणया स्थापनैव स्वपक्षसिद्धि-परपक्षप्रतिषेधोभयधीपरा सत्प्रतिपक्षवदिति खण्डनार्थ इति प्राञ्चः॥

आदौ प्रथमः स्थापयति ततो द्वितीयः खण्डयतीत्येका

तब तो दो जल्प से मिलित एक कथान्तर ही क्यों न माना जाय? इस प्रकार से खण्डनकार ने जल्प को ही उडा दिया। यद्यपि जल्प में तो प्रथम कक्षा में पक्ष को स्थापना और उसके दोष का उद्धार किया जाता है और द्वितीय कक्षा में प्रथम स्थापना का खण्डन तथा दूसरी स्थापना की जाती है। इससे जल्प में दो वितण्डा की सम्भावना नहीं होती है। तथापि स्थापना शब्द अजहद्स्वार्थलक्षणा के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि तथा परपक्ष का निराकरण एतद् उभयविषयक ज्ञान परक है। सत्प्रतिपक्ष के समान। जैसे सत्प्रतिपक्षस्थल में द्वितीय हेतु स्वकीय साध्य साधन के लिये तथा प्रथम हेतुक साध्य के निराकरण के लिये होता है। तथा प्रथम भी। इसी तरह प्रकृत में भी जानना। ऐसा अर्थ खण्डन प्रकरण का है सो प्राचीन कहते है। नवीन तो इस विषय में ऐसा कहते हैं कि आदि में एक पक्ष वाला अपने मत का स्थापन करता है तथा दूसरा प्रतिपक्षी उसका खण्डन करता है, इस प्रकार से यह एक

वितण्डा । ततो द्वितीयः स्थापयति ततः प्रथमः खण्डयतीत्यपरा वितण्डेति तु नव्याः ।

अत्राहुः । परपक्षहननशक्तिमात्रजिज्ञासायां वितण्डा स्वपक्षरक्षणपरपक्षहननशक्तिजिज्ञासायां जल्प इत्यनयोर्भेदः । इतोऽधिका तु जिज्ञासैव न सम्भवति येन जल्पद्वयेनापि कथान्तरं स्यात् ॥

अथ खण्डनकृत् षोडशपदार्थीं खण्डयिष्यन् तत्र मूर्धन्यं

वितण्डा कथा हुई । उसके पीछे द्वितीय प्रतिपक्षी अपने मत का स्थापन करता है तदनन्तर प्रथमवादी उसका खण्डन करता है । यह हुई दूसरी वितण्डा कथा ।

समाधान—परपक्षका विनाशन शक्तिमात्र विषयक जिज्ञासा में वितण्डा कथा होती है और स्वपक्ष रक्षण और पक्ष का निराकरण शक्ति की जिज्ञासा में जल्प होता है । यही दोनों में भेद है । इस दो प्रकार की जिज्ञासा से अधिक जिज्ञासा ही नहीं होती है जिससे कि दो जल्प को मिला करके तृतीय कथान्तर की शंका होवे ।

इसके बाद षोडश पदार्थी का महामुनि गौतम ऋषि प्रणीत न्यायशास्त्र का खण्डन करने के लिए उस न्याय शास्त्र में सर्वापेक्षया महत्त्वशाली× प्रमाण के खंडनार्थं खण्डनकार

× प्रमाण प्रमेयादिक षोडश पदार्थों में प्रमाण इसलिये सर्वश्रेष्ठ माना जाता है कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के द्वारा ही होती है । कहा है कि

प्रमाणं खण्डयितुं तदुपधायिकां प्रमामादौ खण्डयति स्म तत्त्वानुभूतिः प्रमेत्ययुक्तम् । तद्यथा । तत्त्वपदं यौगिकं रूढं वा । नाद्यः । तद्धि प्रकृतं न चात्र तदस्ति भवितुस्तवशब्दार्थत्वा-

श्रीहर्ष प्रमाणघटक प्रमा का प्रथमतः खण्डन करते हैं । जो आप प्रमा का लक्षण करते हो कि प्रमा तत्त्व विषयक ज्ञान का नाम है, सो ठीक नहीं है । क्योंकि 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' यह जो आचार्य शिवादित्यका प्रमा का लक्षण है तत्घटक जो तत्त्व पद है वह यौगिक है अथवा रूढ है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि तब तो "तस्य भावः तत्त्वम्" घटादि धर्मी का जो भाव अर्थात् असाधारणधर्म उसका नाम होगा तत्त्व । तो तत्शब्द है प्रक्रान्त अर्थवाला सो यहां पूर्व में क्या प्रकृत है ? जिसको कि आप तत्शब्द से ग्रहण करेंगे ? तब तो घटत्वरूप जो तत्व तद्विषयक ज्ञान का नाम होगा प्रमा । किन्तु घटत्व का आश्रय जो घट उसमें तो तत्त्व शब्दार्थता है नहीं, तब घटत्वादि ज्ञान प्रमा होगा और घटादि धर्मी का जो ज्ञान है उसमें प्रमा लक्षण

— "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि:" (प्रमेय की सिद्धि प्रमाण द्वारा होती है) यदि प्रमाण न हो तो किस के द्वारा होगी ? चक्षुरादि प्रमाण से ही घट पटादि प्रमेय सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं । अतः सर्व प्रथम प्रमाण के खंडन को ही उपक्रम में लिया गया है । इसमें 'प्रमीयते अतेनेति प्रमाणम्' (प्रमाण प्रमासे घटित है यह उक्त व्युत्पत्ति से सिद्ध होता है ।) इसी से प्रथम प्रमा खण्डन के अर्थ ग्रन्थ का प्रयास है । यदि प्रमा सिद्ध नहीं होगी तो तद्घटित प्रमाण सुतरामेव असिद्ध हो जायगा । प्रमाण के विशेषण देने में यही मूर्धन्य आशय है ।

भावेन तत्प्रमायामव्याप्तेः । नान्त्यः । स्वरूपपर्यायतया भ्रान्तावतिव्याप्तेः । यत्र यदा यत् स्वरूपसत् तत्र तदा तदनुभूतिः प्रमेति चेन्न । देशकालप्रमयोरव्याप्तेः । देशे देशत्वं काले कालत्वमनुभूयत इति सापि धीः प्रमेति चेन्न । धर्मिप्रमा-

---

की अव्याप्ति हो जाती है । तत्त्व पद रूढ है, यह जो द्वितीय पक्ष है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि तब तो तत्त्व शब्द का अर्थ होगा स्वरूप । ततः स्वरूप विषयक जो ज्ञान उसका नाम होगा प्रमा । तब जैसे घट विषयक घट यह ज्ञान प्रमा है उसी तरह शुक्तिका में रजत विषयक 'इदं रजतम्' यह ज्ञान भी प्रमा हो जायगा । अर्थात् रजत रजतत्व समवाय, ये सब तो स्वरूप ही है, इस प्रकार से भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति हो जाती है ।

शंका—जिस स्थल में जिस काल में जिसका जो स्वरूप है, तादृश स्वरूप विषयक जो ज्ञान, उसका नाम है प्रमा । अब भ्रम में शुक्तिका रूप अधिकरण में रजतत्व का स्वरूप नहीं है इसलिये शुक्ति में रजतत्व विषयक ज्ञान प्रमा नहीं है ।

उत्तर—यहे जो देश तथा काल घटित लक्षण प्रमाका कारते हैं तों देशकाल की प्रमा में अव्याप्ति होती हे । क्योंकि देश में देश की तथा काल में काल की वृत्तिता नहीं होने से देशकाल का स्वरूप स्वरूप नहीं कहलावेगा । तब उस (देश काल) की प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी ।

शंका—देश में देशत्व एवं काल में कालत्व धर्म तो अनुभूयमान होता है तब तद्विषयक ज्ञान प्रमा होगा ।

यामव्याप्तेः । सा हि देशकालयोर्धीर्न तु तत्त्वयोः । अनुभवत्वमपि न जातिः आगमेनानुमानेन वा भविष्यतोः सुखदुःखयोः प्रत्ययेऽपि सुखं दुःखं वानुभवामीति प्रतीतेरनुत्पत्तेः । नापि स्मृत्यन्यत्वमुपाधिः तयोरेव स्मृत्यन्यत्वप्रत्ययेऽप्यनुभवामीतिप्रत्ययानुदयात् । स्मृत्यन्यत्वे च लक्षणान्तरेण सिद्धे तेनैवेतरभेदसिद्धावस्य वैयर्थ्यात् । इत एव तत्सिद्धावात्मा

उत्तर—एतावता देशत्वादि धर्म विषयक ज्ञान प्रमा होगा नकि धर्मीविषयक ज्ञान प्रमा होंगा, क्योंकि धर्म तत्वपद वाच्य है, धर्मी तो नही, तब धर्मी की प्रमा में अव्याप्ति हो जायगी । उक्त ज्ञान तो देश काल का ज्ञान हुआ न कि तत्त्व का ज्ञान । एवम् 'अनुभवामि अनुभवामि' इत्यादि प्रतीति सिद्ध अनुभवत्व जाति नहीं है क्योंकि अनुमान अथवा आगम के द्वारा होने वाला (भविष्यत्) जो सुख दुःख तद्विषयक ज्ञान में 'इदानीं सुखमनुभवामि दुःखमनुभवामि' (सुखदुःख का अनुभव करता हूँ) ऐसी प्रतीति नहीं होती है। इसलिये अनुभवत्व जाति की सिद्धि नहीं हो सकती है, और जब अनुभवत्व सिद्ध नहीं हो सकता हैं तब तद्घटित प्रमा का लक्षण भी नहीं बन सकता है। न वा स्मृति भिन्नत्व रूप अनुभवत्व हो सकता है। अर्थात् स्मृति भिन्न जो ज्ञान उसका नाम है अनुभव । क्योंकि भविष्यत् सुख दुःख विषयक ज्ञान में स्मृतिभिन्नत्व प्रत्यय में सुख का अनुभव करता हूँ दुःख का अनुभव

श्रयात्। असिद्धौ च स्वरूपासिद्धेरिति। उच्यते। यद्यस्य पारमार्थिकं रूपं तत्तस्य तत्त्वम्। यथा घटस्य घटत्वम्। तथा च तद्धर्मिणि तद्धर्मधीः प्रमेति लक्षणार्थः। तेन यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमेति निर्विकल्पकसविकल्पकोभयसङ्ग्राहकं

करता हूं एतादृश ज्ञान किसी को भी नहीं होता है। यदि किसी लक्षणान्तर के द्वारा स्मृतिभिन्नत्व की सिद्धि हो जाय तब तो लक्षणान्तर से ही इतरभेद सिद्ध हो जायगा। इतरभेदसिद्धि के लिये प्रकृत प्रमा का लक्षण निरर्थक हो जाता है। यदि इसी लक्षण से स्मृत्यन्यत्व की सिद्धि करें तो आत्माश्रय दोष हो जायगा। यदि सिद्धि नहीं होगी तो लक्षण का स्वरूप ही असिद्ध हो जायगा।

समाधान–जो जिसका पारमार्थिक रूप है वह उसका तत्व कहलाता है। जैसे घटका घटत्व पारमार्थिक रूप है इससे घटत्व घटका तत्व है और तत्व विषयक ज्ञान प्रमा है। ऐसा नहीं कि घटत्व का जो धर्मी घट उसमें घटत्व धर्म प्रकारक जो ज्ञान सो प्रमा रूप है। इस प्रकार का अर्थ "तत्वानुभूतिः प्रमा" इस लक्षण का होता है। इसलिये जिसमें जो है उसमें उसका जो अनुभव सो प्रमा है। घट में जो रहता है–वस्तुतः घटत्व रूप धर्म रहता है–उसमें उस अर्थात् घट रूप धर्मी में उसका अर्थात् घटत्व का जो 'अयंघट' इत्याकारक अनुभव सो प्रमा है। घटत्व-वशिष्ट विशेष्यता निरूपित घटत्वनिष्ट प्रकारताशाली जो अनुभव सो प्रमा है। इस प्रकार से प्रभा लक्षण निकृष्ट

लक्षणं पर्यवस्यति । यद्वा व्यवहारानङ्गत्वेन निर्विकल्पकं

लक्षण कहलाता है । इस तरह निर्विकल्पक सविकल्पक दोनों ज्ञान का संग्रह करने वाला यह लक्षण पर्यवसित होता है । यद्वा निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहारोपयोगी नहीं होता, इसलिये निर्विकल्पक का तिरस्कार करके (छोड़ करके) केवल व्यवहार में उपयोगी अतएव व्यवहाररागविशिष्ट प्रमा अर्थात् सविकल्पक ज्ञान को लक्ष्य में रख करके तद्वान् में तत्प्रकारक अनुभव को प्रमा लक्षण कहा गया है । (तद्वान् अर्थात् घटत्वान् में तत् प्रकारक अर्थात् घटत्व प्रकारक जो अनुभव सो प्रमा है, ऐसा लक्षण बनाया गया है । यह लक्षण सविकल्पक में घटेगा । जिस लिये प्रकारता विशेषता का भान सविकल्पक में होता है निर्विकल्पक में नहीं होता ।

प्रश्न—यह लक्षण तो अननुगत हो गया अर्थात् जब प्रकार तथा विशेष्य से लक्षण नियन्त्रित है तो प्रकार विशेष्य तो एक नहीं है अपितु अनेक है तब लक्षण भी अनेक होता है, नहीं कहो कि लक्षण अनुगत अर्थात् अनेक हो जायगा तो क्या दोष होगा, भले अनेक हो । तो इसका उत्तर यह है कि लक्षण को इतर भेदानुमापक कहते हैं जैसे 'पृथिवी स्वेतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् ।' इसी प्रकार प्रकृत में भी यह लक्षण लक्ष्य को इतर से भेद का अनुमापक होगा । प्रमा स्वेतर से भिन्न है । तद्वत् में तत्प्र-

तिरस्कृत्य तदङ्गं विशिष्टप्रमामात्रं पुरस्कृत्य तद्वति तत्प्रकार-कानुभवत्वमिति । न चाननुगमः । न ह्येकत्र प्रमा सर्वत्र प्रमा । किन्तु काचित् क्वचित् । तथा च किं ज्ञानं कुत्र प्रमेति जिज्ञासा-यामस्योत्थितावननुगमस्यादोषत्वात् । आकाशकालादिप्रमापि आकाशादौ तत्त्वधीत्वात् प्रमैव । ननु भविष्यद्रागे इदानीं

कारक अनुभव रूप होने से । अब यदि यहां लक्षण अनेक प्रकार विशेष्य घटित होने से अनेक हैं, तो एक प्रकार विशेष घटित हेतु अमुक पक्ष में ही जायगा किन्तु सकल पक्ष में नहीं । तो पक्ष के एक भाग में जो हेतु न रहे उसका नाम है भागासिद्धि तब यह लक्षण भागासिद्धि होने से अनुमापक नहीं हो सकेगा । अतः लक्षण को अनुगत अर्थात् एक होना चाहिये नहीं तो इतर भेदानुमान में भागासिद्धि हो जायगी । विशेष मत्कृत असिद्धि विचारक ग्रंथ में देखिये ।

उत्तर—जो ज्ञान एक जगह प्रमा रूप है सो सभी जगह प्रमा रूप होवे ही ऐसा कोई नियम नहीं है । किन्तु कोई ज्ञान किसी ही स्थान में प्रमा रूप होता है तो कौन ज्ञान किस जगह प्रमा है ? ऐसी जिज्ञासा जब होती है तो एतादृश जिज्ञासा होने के पीछे ही इस लक्षण का प्रणयन हुआ है, इसलिये प्रकार विशेष्य नियन्त्रित इस लक्षण में अननुगम दोषाधायक नहीं है । आकाश कालादि विषयक प्रमा भी आकाशादिक विषय में तत्व ज्ञान होने से प्रमा रूप है ही ।

श्यामे रक्तधीः प्रमा स्यात् । नैवम् । सा हीदानीं रागालम्बना वा भविष्यद्रागालम्बना वा कालास्पृष्टरागालम्बना वा । आद्ये इदानीं कालविशिष्टे रागो नास्तीति कुतः सा प्रमास्तु एतत्कालविशिष्टस्याधिकरणत्वात् तत्र च रागाभावात् । अन्त्ययोस्त्वनुमतिरेव । नन्वाद्यलक्षणे मूलावच्छेदेन तरौ

प्रश्न—जिसमें भविष्यत् कालिक राग (लाल) है और वर्तमान में श्याम है उस द्रव्य में रक्तत्व प्रकारक ज्ञान को प्रमा रूप होना चाहिये ।

उत्तर—यह जो ज्ञान होता है सो वर्तमान कालिक राग विषयक है अथवा काल से अस्पृष्ट राग विषयक है ? प्रथम पक्ष में अभी वर्तमान काल विशिष्ट घटादिक में राग नहीं है ऐसा ज्ञान होने से उस ज्ञान को प्रमा कैसे कह सकते हैं ? एतत् काल विशिष्ट पदार्थ को अधिकरण होने से और एतत् वर्तमान काल में तो राग नहीं हैं अतः अन्तिम दोनों पक्ष में तो स्वीकार ही समझें, अर्थात् भविष्यत् कालिक रागावलंबन पक्ष में एवं कालास्पृष्ट रागावलम्बन पक्ष में उक्त ज्ञान को प्रमा मानने में कोई क्षति नहीं है ।

प्रश्न—प्रथम जो लक्षण है 'तत्वानुभूतिः प्रमा' इसमें मूलावच्छेदेन वृक्ष में 'वृक्षः कपिसंयोगी' इस ज्ञान को प्रमा होना चाहिये क्योंकि शाखावच्छेदेन कपिसंयोग वृक्ष में है ।

कपिसंयुक्तधीः प्रमा स्यात्। न स्यात्। सा हि तरुः कपिसंयोगीति वा मूलावच्छिन्नस्तरुः कपिसंयोगीति वा। आद्ये इष्टापत्तिः। अन्त्ये तत्र लक्षणमेव नास्ति। द्वितीयलक्षणस्थं तत्प्रकारकत्वन्तु न तद्रूपविशेषणज्ञानजन्यत्वमीश्वरप्रमायामव्याप्तेः। किन्तु तद्वैशिष्ट्यावगाहित्वम्। न च समवायस्यातीन्द्रियतया घटः पट इत्यादिप्रमायामव्याप्तिः न्यायमते

उत्तर—नहीं होगा। क्योंकि वृक्ष में जो कपिसंयोग प्रकारक ज्ञान में प्रमात्व का आरोप करते हैं सो वृक्ष कपिसंयोगी है ऐसा आपादन करते है अथवा मूलावच्छिन्न वृक्ष कपिसंयोगी है ऐसा आपत्ति का आकार हैं ? प्रथम पक्ष में तो इष्टापत्ति है, क्योंकि यत्र कुत्रचित् वृक्ष में कपिसंयोग रहने पर वृक्ष कपिसंयोगी है, यह ज्ञान प्रमा रूप ही है। द्वित्तीय पक्ष में तो लक्षण ही नहीं है। क्योंकि मूल में कपिसंयोग का प्रत्यक्ष बाध है। द्वितीय जो प्रमा का लक्षण है तद्वत् में तत्प्रकारकत्व तद्घटक जो तत्प्रकारकत्व विशेषण है, उसका अर्थ घटत्वादि रूप जो विशेषण तज्ज्ञानजन्यत्व नहीं है, क्योंकि नित्य ईश्वर ज्ञान में प्रमा लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी, किन्तु तद्वैशिष्ट्यावगाहित्व ही अर्थ है।

प्रश्न—समवाय सम्बन्ध तो अतीन्द्रिय है तब घट पटादि प्रत्यक्ष में लक्षण समन्वय कैसे होगा ? अर्थात् प्रमा लक्षण

की अव्याप्ति होती है। न्याय के मत में अर्थात् नवीन न्याय के मत में समवाय को भी प्रत्यक्ष ही माना गया है। समवाय प्रत्यक्ष है सम्बन्ध होनेसे, संयोग की तरह। केवल संयोग सम्बन्ध के साथ समवाय में भेद इतना ही है कि संयोगादिक सम्बन्ध संयोगादिक सन्निकर्ष यथा संभव गृहीत होता हैं। समवाय तो इन्द्रिय संबद्ध विशेषणता सन्निकर्ष से होता है।×

× जो नित्य हो तथा संबन्ध हो अर्थात् विशिष्ट बुद्धि का नियामक-हो उसको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। उसमें प्राचीन नैयायिक के मत से समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि सम्बन्ध प्रत्यक्ष के प्रति यावत संबन्धी का प्रत्यक्ष कारण होता है। जैसे घट भूतल का जो संबन्ध सयोग है वह तब हो प्रत्यक्ष होता है। विशेषण घट और विशेष्य रूप ज़ो भूतल तदात्मक आश्रय वह प्रत्यक्ष हो लेता है, इन दो में से एक भी अप्रत्यक्ष रहे तब घटप्रतियोगिक भूतलानुयोगिक संयोग प्रत्यक्ष नहीं होता है। प्रकृत में लाघवात् समवाय को एक मानते हैं तब उसका यदि प्रत्यक्ष मानेंगे तब तो उसका जितना आश्रय है सबका प्रत्यक्ष पहले ही अपेक्षित होगा, सो तो असंभवित है। असर्वज्ञ से तीनों काल में रहने वाला जो आश्रय उसका प्रत्यक्ष मादृश असर्वज्ञ को नहीं होता है। अतः समवाय प्रत्यक्ष नहीं है। तब समवाय संबन्ध से विशिष्ट बुद्धि होगी, क्योंकि प्रमाण न रहने से उसकी अस्तितता संदिग्ध हो जाती हैं, तो इस प्रश्न के समाधान में प्राचीन ने अनुमान प्रमाण कहा है। "गुण क्रियादि के द्वारा होने वाली जो विशिष्ट बुद्धि, (गुणवान् घटः क्रियावान् घटः इत्यादिक) वह विशेषण और विशेष्य

उत्तर—यदि स्वरूप सम्बन्ध मानेंगे तब तो स्वरूप अनेक हैं तब अनन्त स्वरूप को संबन्ध कल्पना में गौरव हो जायगा। अतः लाघवात् एक समवाय ही प्रकृतानुमान से सिद्ध होता है। नवीन नैयायिक तो संयोग सम्बन्ध के समान समवाय को भी प्रत्ज्ञक्ष ही मानते हैं और कहते हैं कि सम्बन्ध प्रत्यक्ष में यावदाश्रयप्रयोजक है, इस नियम को अप्रयोजक बनलाते हैं, समवाय का प्रत्यक्ष इन्द्रिय

—घटादिक की सवन्ध विपयक है, विशिष्ट बुद्धि होने से। जो विशिष्ट बुद्धि होती है सो अवश्यमेव विशेपण विशेष्य के संबन्ध विपयक होती है। दण्डी पुरुप इस विशिष्ट बुद्धि की तरह। प्रकृत में विशेपण जो गुणादिक और विशेष्य जो द्रव्य उसमें संयोग संबन्ध नहीं बन सकता है क्योंकि संयोग द्रव्य द्वय में ही होता है, न कि अन्यत्र। ऐसा नियम होने से। न वा इन दोनों का तादात्म्य संबन्ध हो सकता है। भिन्न वस्तु में तादात्म्य नहीं होता है। न्याय के मत में द्रव्य तथा गुण में भेद माना गया है। अन्यथा गुण के प्रति द्रव्य समवायी कारण नहीं हो सकेगा। न वा द्रव्य गुण में कालिक संबन्ध बन सकेगा। अनित्याधिकरण कालिक कदाचित हो भी सकता है "नित्येपु कालिकायोगात्" इस नियम से नित्यानुयोगिक कालिक नहीं होने से पार्थिव परमाणु में गन्ध का क्या संबन्ध होगा? अतः कालिक सम्बन्ध द्रव्य गुण का नहीं। नहीं कहो कि द्रव्य गुण का संबन्ध स्वरूप हो सकता है, तो ऐसा मानने पर नैयायिक के मत से प्रकृत अनुमान (समवाय-साधक) में अर्थान्तर तथा मीमांसक के मत से सिद्ध साधन हो जाता है।

तस्यापि प्रत्यक्षत्वोपगमादिति । न च चलद्बलाहकसन्निहिते वस्तुतश्चलति चन्द्रे चन्द्रश्चलतीति धीः प्रमा स्यादिति वाच्यम् । चन्द्रादिकर्मणोऽतीन्द्रियत्वेन सतोऽपि तस्यास्मदा-

---

सम्बन्ध विशेषणता संनिकर्ष से होता है। यद्वा समवाय प्रत्यक्ष नहीं है इस प्राचीनोक्ति का तात्पर्य संयोगादि पंचविध संनिकर्ष की निवृत्ति मात्र में है, अर्थात् संयोगादि की तरह समवाय पंचविध संन्निकर्षग्राह्य नहीं है। विश्वनाथ ने कहा है "प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतयाभवेदिति" समवाय का प्रत्यक्ष विशेषणता संनिकर्ष से होता है। इस विषय पर अधिक विचार मत्कृत समवाय प्रकाश में देखे। यहां थोड़ा प्रसंगात वतला दिया है।

प्रश्न—चलन क्रिया विशिष्ट मेघ के समीप वर्ती वस्तुतः चलन बिशिष्ट चन्द्रमा में चन्द्रमा चलता है ऐसा जो ज्ञान उसको प्रमा रूप होना चाहिये।

उत्तर—चन्द्रमा तथा सूर्य प्रभृति की क्रिया है सो अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होने से। यद्यपि चन्द्रमा में क्रिया है भी परन्तु अस्मदादि से उसका ग्रहण नहीं होता है, किन्तु मेघ में रहने वाली जो चलन क्रिया है उसी का चन्द्रमा में आरोप माना जाता है, इसलिये चन्द्रमा चलता है ऐसा जो ज्ञान होता है सो प्रमा रूप नहीं है, किन्तु भ्रम रूप है। मैं अनुभव करता हूँ (एतादृश जो

दिभिरग्रहणे वलाहककर्मण एव तत्रारोपाभ्युपगमात् । अनुभवत्वञ्च जातिरनुभवामीत्यनुगतमतिबलात् । न चैवं भविष्यत्सुखादावपि शब्दाद्यवगते सुखमनुभवामीति धीः स्यात् । इष्टापत्तेः । एवमपरीक्षकस्यापि स्यादिति चेत् । शब्देन भविष्यत्सुखं जानामीति तस्यापि प्रतीतिरेव । सुखदुःखानुभवो भोगमात्ररूप एवेति । मिथ्याधीदूषितान्तःकरणस्य तु दोषवशात् सुखमनुभवामीति धीर्नोदेतीति ॥

अनुगत व्यवहार उसके बल से सिद्ध अनुभवत्व जाति है ।

प्रश्न–यदि अनुभवत्व को जाति मानते हैं तब तो शब्द अनुमानादि से अवगत जो भविष्यत् कालिक सुखादिक है उसमें मैं सुख का अनुभव करता हूँ ऐसा ज्ञान प्रमात्मक होंना चाहिये ।

उत्तर–इष्टापत्ति है अर्थात् तादृश ज्ञान होता ही है ।

प्रश्न– तबतो सर्वसाधारण पुरुष को भी तादृश ज्ञान होगा ।

उत्तर–साधारण पुरुष को भी शब्द द्वारा 'भविष्यत् सुख को मैं जानता हूँ' ऐसा ज्ञान होता ही है । सुख दुःख का अनुभव भोग मात्र रूप है । परन्तु मिथ्या ज्ञान से जिसका अन्तःकरण दूषित है तादृश व्यक्ति को दोष बल से मैं सुखानुभव करता हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं होता है ।

शंका–जिस किसी ने कहा था कि अनुभवत्व जाति

यत्तु अनुभवत्वं न जातिः प्रत्यभिज्ञायां धर्म्यंशे संस्कारेन्द्रिययोर्व्यापारात् तदंशज्ञाने स्मृतित्वानुभूतित्वयोः सङ्करादिति । तन्न । संस्कारेण स्मृत्योपनीयमानायास्तत्ताया धर्मीदन्ताग्राहिणेन्द्रियेण भानोपगमेनांशत्रयेऽपि प्रत्यभिज्ञायाः

नहीं है, क्योंकि 'सोयंघट' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा में धर्मी घटादि अंश में संस्कार तथा इन्द्रिय इन दोनों के व्यापार होने से धर्मिक विषयक ज्ञान में स्मृति तथा अनुभवत्व दोनों के बैठने से सांकर्य दोष हो जाता है। (परस्पर अत्यन्ताभावसमानाधिकरण धर्म का एक अधिकरण में समावेश हो जाना, इसका नाम है। जैसे भूतत्वाभाव का अधिकरण मन में मूर्तत्व रहता है तथा मूर्तत्वाभाव के अधिकरण में आकाश में भूतत्व रहता है और दोनों का पृथिव्यादि चतुष्टय में समावेश होने से सांकर्य होता है, इसलिये भूतत्व मूर्तत्व जाति नही है, तद्वत्प्रकृत में अनुभूतित्वाभाव का अधिकरण 'सामेमाता' इस स्मृति में स्मृतित्व है और स्मृतित्वाभाव का अधिकरण 'अयं घट' इस अनुभव में अनुभूतित्व है और दोनों का समावेश प्रत्यभिज्ञा में है क्योंकि धर्मी अंश में घटांश में इन्द्रिय सन्निकर्ष भी है। तथा स्मारक संस्कार भी है, अतः उस सोयंघट इस प्रत्यभिज्ञाघटक धर्मांश में उभय का समावेश होने से संकर दोष अनिवारित हो जाता है, ऐसा पूर्व पक्षी का अभिप्राय है।)

साक्षात्वोपगमात् । न हि प्रत्यभिज्ञा ज्ञानद्वयमभेदासिद्ध्यापत्तेः । नापि ग्रहणस्मरणकरम्बिताकारमेकमुक्तसङ्करापत्तेः नापि परोक्षापरोक्षानुभवाकारमेकं साक्षात्वस्यानुगतिमतिसिद्धाया जातेरव्याप्यवृत्तित्वापत्तेः । नापि स्मरणमात्राकारमेकमिदन्तायां संस्काराभावात् तस्मादुपनीततत्तासन्निकृष्टेदन्ता-

---

समाधान—'तन्न इत्यादि' यह आपका कथन उचित नहीं है, क्योंकि संस्कार जनित स्मृति द्वारा उपनीयमान तत्ता का भी धर्मी तथा इदंताग्राहक जो इन्द्रिय है उसी के द्वारा भान की सम्भावना होने से तीनों अंश में (तत्ता इंदता तथा इदमंश में) प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष ही मानते है। इन्द्रिय सन्निकर्श द्वारा जायमान ज्ञान का नाम है प्रत्यक्ष, तो तत्ता इदंता तथा इदमंश तीनो अंश में प्रत्यक्ष भिज्ञा को प्रत्यक्ष ही माना जाता है। इसलिये अनुभवत्व को जाति होने में सांकर्य बाधक नहीं है। प्रत्यभिज्ञा ज्ञानद्वय रूप नहीं है क्योंकि दो होगा तब दोनों में अभेद की सिद्धि नही होगी। न वा प्रत्यभिज्ञा ग्रहणस्मरण-मिलित एकाकार ज्ञान रूप है। एकाकारक यही मानने से सांकर्य हो जायगा। न वा प्रत्यक्ष परोक्ष मिलित एक ज्ञान है। अनुगत प्रतीति बल सिद्ध जो प्रत्यक्षत्व जाति उसको अव्याप्यवृत्तित्व हो जायगा और जाति अव्याप्यवृत्ति नहीं होती है। न वा प्रत्यभिज्ञा स्मरणमात्राकारक एक ज्ञान है, क्योंकि इदंता अंश में संस्कार के अभाव होने से। अर्थात् जो ज्ञान स्मरणात्मक होता है उसमें संस्कार

विशिष्टधर्मि ग्राहीन्द्रियकरणकं साक्षात्कारीन्द्रियकरणकमेकं तदिति पश्यामः। तत्तायान्तु संस्कारघटिता इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्तिरिति निबंधकृतः। तज्जनितस्मरणघटितेति वार्त्तिककृतः। अत्र तद्धेतोरेवेति न्यायात् प्रथम एव कल्पः श्रेयानिति केचित्। चिरध्वस्तानुभवस्य क्रमिकस्मरणं

अवश्य रहता है। यतः संस्कार के बिना स्मरण नहीं होता है। प्रत्यभिज्ञा में इदंता अंश है उसमें तो संस्कार नहीं है। इसलिये ज्ञान संनिकर्ष द्वारा प्राप्त जो तत्ता तत्संनिकृष्ट इदंता विशिष्ट धर्मि घटादि तद्ग्राहक इन्द्रिय से जायमान साक्षात्कारी प्रत्यक्षज्ञान जनक करण द्वारा होने वाला एक ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है, ऐसा हम लोग देखते हैं। निबन्धकार तो कहते हैं कि तत्ता अंश में संस्कार घटित इन्द्रिय संबन्ध विशेषता संनिकर्ष है। इसी सन्निकर्ष के बल से तत्ता विषयक ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। संस्कार से जायमान जो स्मरण उससे घटित इन्द्रिय संबन्ध विशेषणता सन्निकर्ष से तदंशविषयक ज्ञान होता है। यहां तद्धेतोरेव, इस न्याय से संस्कार घटित सन्निकर्ष को मानना ही युक्त है। नतु स्मरण घटित इन्द्रिय सम्बंध विशेषता को सन्निकर्ष मानना उपयुक्त है। ऐसा कोई कहते हैं अतः प्रथम कल्प ही अच्छा है।× चिरध्वस्त अनुभव को (व्यतीत अनुभव को)

×एक पक्ष में संस्कार घटित इन्द्रिय सम्बद्ध विशेषणता संनिकर्ष है।

प्रति व्यापारत्वेन संस्कारकल्पनमिति धर्मिग्राहकप्रमाणेन स्मरणार्थमेव तस्य कल्पनात् । यथार्थोऽनुभवः प्रमेत्यपि निरवद्यं यथाशब्दोऽयमनतिवृत्तिवचनः । तेनानतिवृत्तो अर्थो यस्ये-

---

क्रमिक स्मरण के प्रति कारणता होने के लिये जो व्यापार रूप से संस्कार की कल्पना करते हैं तदपेक्षया धर्मि ग्राहक प्रमाण बल से स्मरण के प्रति कारणता रूप से संस्कार की कल्पना की जाती है । जिस प्रकार से "तत्वानुभूतिः प्रमा" यह प्रमा लक्षण निर्दुष्ट सिद्ध हुआ उसी प्रकार से "यथार्थानुभवः प्रमा" यथार्थ जो अनुभव उसका नाम है प्रमा, यह लक्षण भी निर्दुष्ट है । एतल्लक्षण घटक यथा शब्द सादृश्यार्थक है या किसी दूसरे अर्थ को कहता है ? इत्यादि विकल्प जाल के द्वारा जो प्रकृत प्रमा लक्षण खण्डन करने का प्रयास किया है, उसके उत्तर में कहते हैं । यथाशब्देत्यादि—लक्षण घटक जो यह यथा शब्द है उसका अर्थ है अनतिवृत्ति, इससे अनतिवृत्ति अर्थ है

दूसरे पक्ष में स्मरण घटित सन्निकर्ष है । अब कार्य घटित संनिकर्ष हो या कारणघटित सन्निकर्ष हो ऐसे विवाद स्थल में कारण की ही प्रधानता मानें यही उचित है । क्योंकि कार्य जो स्मरण उसको सन्निकर्ष घटक मानेंगे, स्मरण कारण संस्कार अवश्य रहेगा, अतः आवश्यक होने से तथा प्रथमोपस्थित होने से संस्कार की ही प्रधानता होना ठीक है । यही 'तद्धेतोरेव' इस न्याय का अभिप्राय है । एक स्थल में कार्य कारण उभय का कारणत्व विचार में होता है सर्वत्र नही होता ।

त्यर्थः । भ्रमार्थो ह्यतिवृत्तो भवति । प्रमार्थस्तु न तथा तस्मिन् घटत्वादौ घटादिषु सत्येव प्रमोदयात् । तेन घटत्ववति घटत्व-प्रकारकोऽनुभवो घटप्रमेति तत्तत्प्रमितीनां लक्षणं तद्वति तत्प्रकारकत्वमिति तत्तत्सर्वलक्षणसूचनाय सामान्यलक्षणं तत्त्वस्यैकस्याभावात् प्रमात्वस्यापि विषयप्रकारभेदेन प्रतिव्य-

---

जिसका ऐसा जो ज्ञान उसका नाम है प्रमा । यह लक्षणार्थ निष्पन्न होता है । भ्रम ज्ञान का जो अर्थ (विषय) होता है सो तो अतिवृत्त व्यभिचारी वा वाधित होता है और प्रमाज्ञान का अर्थ मानें विषय तो अतिवृत्त नहीं होता है । घटनिष्ठ घटत्व में सत्यज्ञान का ही उदय होता है । इस-लिये घटत्वाधिकरण घट में घटत्व प्रकारक अनुभव प्रमा रूप ही उत्पन्न होता है ? इसलिये घटत्ववत् घट में घटत्व प्रकारक जो अनुभव सो घट का प्रमाज्ञान कहलाता है । इस प्रकार से तत्तत्प्रमा का लक्षण होता है । तद्वत् में तत्प्र-कारक जो अनुभव तद्रूप ही प्रमा लक्षण निष्पन्न हुआ । इस प्रकार सभी लक्षण को बतलाने के लिये तत्तत् इस प्रकार से सामान्य लक्षण होता है, वस्तुतः एक तत्वका अभाव होने से प्रमात्व भी विषय अर्थात् विशेष्य तथा प्रकार के भिन्न भिन्न होने से प्रति-व्यक्ति में भिन्न भिन्न ही होता है । अर्थात् प्रमात्व विशेष प्रकार से नियन्त्रित है और प्रकार एक नहीं है किन्तु अनेक हैं इसलिये प्रमा लक्षण

क्तिभिन्नत्वादिति । यत्तु द्यूतकारेण पाणौ पञ्च वराटकान् कृत्वा पृष्टस्य पञ्च वराटकास्त्वत्पाणौ सन्तीति अजाकृपाणी-यन्यायेन संवादिवचनं तत्सम्भावनायोनि विप्रलिप्सायोनि

भी एक नहीं है किन्तु व्यक्ति भेद से भिन्न भिन्न ही है, परन्तु तद्वति तत्प्रकारकत्व रूप सामान्य लक्षण से सभी का संग्रह किया जात्ता है, वस्तुतः एक नहीं है । जब घटत्व पटत्वादि लक्षण तत्व एक नहीं है तब तद्धटित प्रमात्व भी एक नहीं है, किन्तु विषय तथा प्रकार के भिन्न होने से प्रमात्व भी प्रति क्यक्ति में भिन्न भिन्न ही होता है ।

यत्तु इत्यादि—खण्डनकार ने दोष दिया था कि मदारी अपने हाथ पर पांच कौडी रखकर के पूछता है कि मेरे हाथ में कितनी कौडियां है ? जिससे पूछा वह आदमी उत्तर देता है कि अजा कृपाणी न्याय से तुम्हारे हाथ में पाँच कौडी है, तो यह उत्तर ठीक है । अब इस ज्ञान को भी प्रमा कहना चाहिये किन्तु निश्चायक कोई प्रमाण नहीं है, कि इस ज्ञान को क्या कहना चाहिये । तो इसके उत्तर में उद्धारकर्ता कहते हैं कि अजा कृपाणी न्याय से यह संवादी वचन तो है, परन्तु इसका कारण है संभावना अथवा विप्रलिप्सा । अर्थात् यह संवादो वचन संभानामूलक वा विप्रलिप्सा मूलक है, क्योंकि कारण के नहीं होने से

वा । कारणाभावेन तत्र निश्चयमात्रस्यैवानुत्पत्तेः । उत्प्रेक्षा-सहितमनोजनितप्रमायोनि वा अनुमातुस्तृतीयलीङ्गपरामर्शाभासात् । वस्तुतो वह्निमति या वह्न्यनुमितिः प्रमाभूता सापि तद्व्याप्तिपक्षधर्मतावैशिष्ट्यावगाहिनो भगवज्ज्ञानरूपात् प्रमा-

---

निश्चय उत्पन्न हो ही नहीं सकता है। अथवा उत्प्रेक्षा से सहकृत जो मन उससे जायमान जो प्रमा ज्ञान तन्मूलक पूर्व वचन है। अनुमान से तो निर्वाह नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुमाता पुरुष को उस स्थल में अनुमिति का कारण जो तृतीय लिंग परामर्श सो नहीं है। अजाकृपाणी न्याय कहते हैं जहां तलवार लटक रही हो उसके नीचे बकरे को बांध दिया जाय, अथवा स्वयमेव बकरा वहां आकर के उस तलवार से अपनी गरदन को घिसने लगै और उस घिसने से गला कट जाय। अकस्मात होनें वाले कार्य स्थल में अजाकृपाणी न्याय काकताली न्याय आदि का प्रयोग किया जाता है। जहां धूली पटल में धूमत्व का भ्रम हुआ और उस धूम से पर्वत में वह्नि का अनुमान किया गया और पर्वत में वस्तुतः वह्नि है। अब यहां वह्नि ज्ञान प्रमा रूप होगा या भ्रमरूप होगा ? क्योंकि विषय वाधित नहीं है इसलिये भ्रम नहीं कह सकते, और कारण असत् है इससे प्रमा नहीं कह सकते, इस प्रश्न के उत्तर में उद्धार कर्ता कहते हैं—

णादिति न प्रमायाः प्रमाणातिपातः । एवं सम्यक् परिच्छित्तिः प्रमा समीचीनानुभूतिः विशेष्यावृत्त्यप्रकारिकानुभूतिरिति यावत् । एतेनाव्यभिचार्यनुभवोऽविसंवाद्यनुभवो वा प्रमेति

... बस्तुतः इत्यादि—एतादृश स्थल में वह्नि व्याप्त धूमवान् पर्वत इत्याकारक परामर्श ईश्वर ज्ञान रूप प्रमाण से ही होता है, इसलिये किसी भी प्रमा में प्रामाण्य का अतिक्रमण नहीं होता है। इसी तरह से .सम्यक परिच्छित्तिः प्रमा (यहां परिच्छेद शब्द ज्ञान वाचक है तथा सम्यक् शब्द यथार्थ ज्ञान वाचक है, तव यथार्थ जो ज्ञान अथवा यथार्थ जो परिच्छेद घटत्ववत् में घटत्व प्रकारक ज्ञान उसका नाम है प्रमा) यह जो उदयनाचार्य का प्रमा लक्षण है सो भी ठीक ही है। एवं समीचीन जो अनुभव उसका नाम है प्रमा। यह लक्षण भी ठीक ही है। यहां भी सम्यक् शब्द यथार्थता बोधक है इसलिये समीचीन ज्ञान घटत्ववत् (घटत्व प्रकारक ज्ञान) सो प्रमा है, यह भी प्रमा का लक्षण निर्दुष्ट है अर्थात् विशेष्य घटमें अवृत्ति पटत्वादिक तद प्रकारिका जो अनुभूति—अयंघट इत्याकारिका—उसका नाम है प्रमा ? फलितार्थ यह होता है कि "स्वव्यधिकरण प्रकार निष्ठ प्रकारता निरूपिता माया विशेष्यता तत्तदनिरूपक ज्ञानत्वं प्रमावत्वं" यहां स्व पद से घट निष्ठा विशेष्यता को लीजिये। उस घट निष्ठा विशेष्यता का जो व्यधिकरण

व्याख्यातम् । न चात्र भ्रमांशभूतप्रमायामव्याप्तिर्दोषः असङ्कीर्णप्रमाया एवात्र लक्ष्यत्वात् । अन्यथा अनुभूतिः प्रमेत्येतावतैव निर्ब्रूयादिति । अनुगतैस्तु तैस्तैस्तत्तत्प्रमितीनां लक्षणैस्तास्ताः प्रमितय इतरेभ्यो भिद्यन्ते न तु सर्वा

विभिन्नाधिकरण पटादि वृत्ति प्रकार पटत्वादि प्रकार, उस पटत्वादि रूप प्रकार में रहने वाली प्रकारता पटत्व निष्ठा उस पटत्वनिष्ठ प्रकारता से निरूपिता जो जो विशेषता पटादिनिष्ठा विशेष्यता उन उन विशेषताओं से अनिरूपक जो ज्ञान सो 'अयं घट' यही ज्ञान होगा । 'अयं पटः दण्डोवा' यह सब ज्ञान नहीं है, इस प्रकार से लक्षण समन्वय होता है । पूर्वोक्त कथन से अव्यभिचारी जो ज्ञान सो प्रमा है । अविसंवादी जो अनुभव सो प्रमा है । यह सबलक्षण भी प्रमालक्षण रूप से व्याख्यात होता है । लक्षणसमन्वय तथा कण्टकोद्धार प्रकार स्वयं समझ लेना । विस्तार के भय से पल्लवित नहीं करता हूँ ।

प्रश्न—आंशिक भ्रम संवलित जो प्रमा ज्ञान उसमें अव्याप्ति होती है, जैसे 'इदं रजतम्' यह जो ज्ञान है सो रजतत्व अंश में भ्रमरूप है क्योंकि तदंशवाध हो जाता है और धर्मी जो शुक्तिका उस अंश में तो प्रमा ही है । कहा है कि "सर्वं ज्ञानं धर्मिण्य भ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः" सभी ज्ञान धर्म्यंश में तो प्रमा ही है, केवल प्रकारांश में विपर्यय होता

प्रमितिरेकदैव तत्तल्लक्षणानां प्रत्येकं भागासिद्धत्वात् ॥

ननु लक्षणमेव पक्षतावच्छेदकमिह रूपान्तरस्यानभिधानात्। तथा च हेतुसाध्ययोः सामानाधिकरण्यबुद्धिरेव पक्षतावच्छेदकसाध्ययोः सामानाधिकरण्यधीः सा चानुमानफलमित्यनुमानमफलं स्यादिति चेन्न। अत्र व्यतिरेकसम्बंधो

है। अब इस भ्रम संवलित प्रमा में लक्षण कैसे होगा ? अर्थात् लक्षण में अव्याप्ति दोष हो जायगा।

उत्तर–यहां जो प्रमा का लक्षण किया गया है सो असंकीर्ण प्रमा का अर्थात् शुद्ध प्रमा का। असंकीर्ण प्रमा ही लक्ष्य है, नकि संकीर्ण प्रमा को भी लक्ष्य में रखकर के लक्षणका निर्माण हुआ है, इसलिये अव्याप्ति प्रभृतिक दोष की कोई आशंका नहीं होती है। अन्यथा यदि संकीर्ण असंकीर्ण सभी लक्ष्य हो, तब तो अनुभूति का नाम है प्रमा। एतावन् मात्र प्रमा का लक्षण किया जाता है। आखर सभी ज्ञान तो धर्मी अंश में प्रमा रूप ही रहता है। अतः असंकीर्ण प्रमा का यह लक्षण है और इस लक्षण में अव्याप्ति अति व्याप्ति असंभव कोई भी दोष नहीं है, सब ठीक है। नैयायिक के अभिप्राय को न समझ करके हीं वाग् जाल बिछाया है। तत्तत् प्रमिति का अनुगत तत्तल्लक्षण के द्वारा तत्तत्प्रमिति का इतरभेदानुमान किया जाता है न कि एक ही समय में सभी प्रमा का इतरभेदानुमान होता है। क्यों

गमकोऽन्वयसम्न्धो गम्यत इति भांत्सद्धान्तात् । अत एवात्र व्यभिचारसम्बन्ध एवोपदर्श्यते ॥

एवं प्रमायां व्यवस्थितायां प्रमाणमपि स्ववचनम् । प्रमायाः करणं हि प्रमाणं करणञ्च साधकतमं तमबर्थश्चातिशयः स च कारकान्तराचरितार्थकारकत्वम् । तथा हि कर्ता

कि प्रत्येक लक्षण भागासिद्धि दोष हो जायगा । तथाहि "घटप्रमास्वेतरेभ्यो भिद्यते घटत्ववति घटत्व प्रकारकत्वात्" घट की प्रमा स्वेतर से भिन्न है । घटत्ववत् में घटत्व प्रकारक प्रमा होने से । जो घटत्व प्रकारक प्रमा नहीं है सो घटत्ववत् घटत्व प्रकारक रूप नहीं है । जैसे घटत्व प्रकारक प्रमा । इसी प्रकार से घटादि प्रमा की भी तत्तत्लक्षण से भेदानुमिति समझना चाहिये । सभी प्रमा को यदि एक ही समय में पक्ष बना करके इतरभेदानुमान करेंगे तब तो एक हेतु एक ही पक्ष में वृत्ति रहैगा पक्षान्तर में नहीं जायगा । तब पक्ष को एक देश में हेतु के अभाव का नाम है भागासिद्धि सो भागासिद्धि रूप दोष हो जायगा । लक्षणमें यदि अव्याप्ति दोष रहैगा और लक्षण से इतर भेदानुमान करेंगे तो इतर भेदानुमिति में भागासिद्धि दोष होगा । अतिव्याप्ति दोष रहैगा तब इतर भेदानुमान में व्यभिचार होगा । असम्भव दोष रहने से स्वरूपासिद्धि दोष होता है । ऐसा विभाग का विचार पुनः प्रकरणान्तर में किया जायगा ।

प्रश्न—प्रमा को पक्ष बनाकर के जो इतरभेदानुमान करते हैं उसमें तो लक्षण ही पक्षतावच्छेदक है क्योंकि रूपान्तर का कथन तो किया नहीं गया है । ऐसा हाने से हेतु साध्य के समानाधिकरण्य ज्ञान से पक्षतावच्छेदक तथा साध्यका सामानाधिकरण्य ज्ञान होता है और पक्षता-वच्छेदक तथा साध्य का सामानाधिकरण्य ज्ञान हो अनुमान का फल माना जाता है, तो प्रकृत इतर भेदानुमति में क्या फल होगा ?

उत्तर—व्यतिरेक संबन्ध अनुमापक होता है और अन्वय संबन्ध साध्य (अनुमेय) होता है ऐसा मेरा सिद्धान्त हैं । अतएव यहां व्यभिचार संबन्ध का ही उपदर्शन किया गया हैं । इस प्रकार से जब प्रमा की व्यवस्था हो गई तब प्रमाण भी स्व वचन होता है, अर्थात् करण का निर्वचन भी अशक्य नहीं होता है । क्योंकि प्रमा का जो करण है उत्पादक है उसी का नाम तो प्रमाण होता है । और करण उसको कहते हैं जो क्रिया की सिद्धि में साधकतम हो "साधकतमं करणम्" ऐसा पाणिनि का अनुशासन है । यहां 'तमप्' प्रत्यय का अर्थ है अतिशय । और अतिशय का अर्थ होता है कारकान्तर में अचरितार्थ होकर के जो कारक क्रिया जनक हो । जो अन्य किसी कारक में चरितार्थ न होता हुआ क्रिया का साधक हो, उसका नाम है करण

तावत् करणं हस्तपरश्वादि व्यापारयन् लिङ्गपरामर्शादिकञ्चोत्पादयंस्तत्र चरितार्थः। एवं कर्मापि करणस्य व्यापारमुत्पादयत्तत्रैव। न हि कर्म विना निरालम्बनः करणव्यापार उदेति। अधिकरणमप्येवं न हि तेन विना कर्ता निरालम्बनः करणं व्यापारयितुमीष्टे। सम्प्रदानापादाने तु क्वाचित्के एव। तथा च कारकान्तराचरितार्थं क्रियामात्रान्वयि करणमिति व्याख्यायामन्तरपदार्थकल्पनया खण्डनम्। तदसत्। अन्तर-

---

कारक। कर्तादि कारक करणादिक में चरितार्थ होता हुआ क्रियासिद्धि में उपयोगी होता है। करण जो कुठारादिक है सो अन्यत्र अचिरतार्थ होकर के ही छिदादिक क्रिया का जनक होता है। इसी बात का स्पष्टीकरण तथाहि इत्यादि प्रकरण से करते हैं—कर्ताकारक तो करण (हाथ वा परशु) को व्यापारित करता हुआ एवं लिंग परामर्श को उत्पादित करता हुआ उस हस्त परशु में तथा लिंग परामर्श में चरितार्थ है। एवं कर्म कारक भी करण के व्यापार को उत्पन्न करता हुआ तत्र उस करण में चरितार्थ होता है। क्योंकि कर्म के बिना निरालम्बन करण का व्यापार उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। अधिकरण कारक भी ऐसा ही है। क्योंकि आधार के बिना कर्ता निरालम्बन होकर के करण को व्यापारित करने में समर्थ नहीं हो सकता है। स्थिति के लिये आधार तो परम आवश्यक है।

पदार्थो हि समभिव्याहृतपूर्वपदप्रवृत्तिनिमित्तवत्त्वे सति प्रक्रान्तप्रवृत्तिनिमित्तसाक्षाद्व्याप्योपाधिभिन्नतादृशोपाधिमान् । यथाहि कठ उपस्थिते ब्राह्मणान्तरमानयति शब्दः कठभिन्नं कण्वादिब्राह्मणमेवाह तत्रैव च प्रयुज्यते । न तु घटादिकमाह

सम्प्रदान चतुर्थी कारक तथा अपादान पंचमी कारक क्वाचित्क है अर्थात् जितनी क्रिया होती है सभी में सम्प्रदान अपादान नहीं रहता है। संप्रदान् तो दानादि क्रिया विशेष में तथा अपादान पर्णादिक की पतन क्रिया विशेष में ही नियत रहता है। तब कारकान्तर में अचरितार्थ होकर के क्रिया साध्यांश मात्र में अन्वयी हो उसका नाम होता है करण। जैसे छिदादि क्रिया में कुठार गिरे। इस प्रकार से करण के लक्षण की व्याख्या करने पर अन्तर पदार्थ का नाना विकल्प करके जो खंडन करने का प्रयास किया है सो ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तर पद का अर्थ होता है समभिव्याहृत जो पूर्व पद तत्प्रवृत्ति निमित्तवान होकर के प्रकान्त पद के प्रवृत्ति निमित्त के साक्षात् व्याप्य जो उपाधि तद्भिन्नतादृश उपाधिमत्व। इस लक्षण का समन्वय स्वयमेव उदाहरण द्वारा यथा इत्यादि ग्रन्थ से बतलाते हैं। जैसे कठ शाखाध्यायी ब्राह्मण के उपस्थित रहने पर भी 'ब्राह्मणान्तरमानय' (ब्राह्मणान्तर को बुलाओ) यह शब्द कठभिन्न काण्वादि शाखाध्यायी ब्राह्मण को बुलाने को कहता

तत्र प्रयुज्यते वा तथा करणे प्रक्रान्ते कारकान्तरपदं करण-कारकभिन्ने कर्मादौ कारके प्रयुज्यते तदेव चाहेति । अत एव हस्तः परशौ चरितार्थीभवन्नपि कारकान्तराचरितार्थ एव

है तथा उसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है । न कि घटादिक अर्थ का आनयन होता है । न वा घटादिक अर्थ के आनयन में 'ब्राह्मणान्तरमानय' शब्द का प्रयोग होता है । (अर्थात् ब्राह्मणत्व रूप व्यापक धर्म का आश्रय करके पूर्व सजातीय तथा व्याप्य धर्म कठत्व को लेकर के तद्भिन्न-काण्वादिक का आनयन प्राप्त तथा बुद्ध होता है, न कि अ-ब्राह्मण पूर्व प्रकान्त भिन्न पदार्थ के आनयन का बोध होता है । व्याकरण भाष्यकार ने भी एतादृश स्थल में कहा है "अस्य गौर्द्वितीयोन्वेष्टव्यः" । यह कहने से उपस्थित गौ के सजातीय तथा तद्भिन्न का ही अन्वेषण होत्ता है, न तु घोडा हाथी का अन्वेषण किया जाता है) तो जिस प्रकार से कठ की उपस्थिति में ब्राह्मणान्तरमानय, यह शब्द कठेतर ब्राह्मणानयन का ही प्रतिपादन करता है न तु विजातीय घटादि के आनयन का प्रतिपादन करता है । उसी तरह करण के प्रकृत में प्रक्रान्त होने पर कारकान्तर यह जो है सो करण कारक से भिन्न कर्मादि कारण में प्रयुज्यमान होता है तथा कर्मादि कारक का ही बोध कराता है, अत एव "हस्तेन परशुना काष्ठं छिनत्ति" यहां छेदन क्रिया में हाथ

उभयोरपि करणत्वात् । एवञ्चान्तरपदस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य यद्दूषणवचनम् । तच्छलं कल्पितदूष्यत्वादिति ॥

ननु करणप्रक्रमे करणभिन्नं कारकं कारकान्तरमित्यात्थ । तथा च करणज्ञानाधीनं कारकान्तरज्ञानं तदधीनं च करणज्ञानमि-

---

तथा परशु दोनों करण है, और हाथ रूप करण परशु व्यापार में चरितार्थ है, तथापि कारकान्तर में अर्थात् करणातिरिक्त में कर्मादिक में अचरितार्थ ही करण जातीय में चरितार्थता होने पर भी कारकान्तर में अचरितार्थ ही कहलाता है, क्योंकि हाथ परशु दोनों तो प्रकृत में करण ही है। जब ऐसी वस्तु स्थिति है तब करण लक्षण घटक अन्तर पद के अर्थान्तर की कल्पना करके खण्डनकार ने जो दूषण वचन कहा है सो छल वचन है। "नवकम्बलोयं माणवकः" के समान कल्पित दूष्य होने से। वस्तुस्थिति के ऊपर ध्यान न देकर शाखोपशाखासंक्रमण न्याय से दूषण वचन अयुक्त ही है।

शंका—यहां करण का लक्षण प्रक्रान्त है, उसमें करण से भिन्न जो कारक कर्मादिक उसका नाम है कारकान्तर। किमपेक्षया अन्यत्व कहते हैं? तो करण की अपेक्षा से भिन्न कारक का कारकान्तर शब्द से ग्रहण होगा। इस स्थिति में करण ज्ञान के अधीन कारकांतर ज्ञान होगा और कारकांतर के ज्ञानाधीन करण ज्ञान होगा, तो इस

त्यन्योन्याश्रय इति चेत् । नूनं शब्दवदर्थेऽप्यव्युत्पन्नोऽसि । तथाहि न लक्ष्यस्य लक्षणान्वयात् प्राक् प्रकारान्तरेणापि ज्ञानं न भवतीति सचेताः प्राह तथासति लक्षणविधिरपि तत्र न स्यात् उद्देश्यापरिचयात् उद्देश्यं ह्यनूद्य लक्षणं विधीयते

प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा । तब किस प्रकार से करण का लक्षण बताते हैं ?

समाधान–निश्चित रूप से तुम शब्द की तरह अर्थ में भी अव्युत्पन्न हो ! अर्थात् शब्द तथा अर्थ विषयक व्युत्पत्ति शून्य हो । शब्दार्थ ज्ञानाभाव में युक्ति बताने के लिये कहते हैं । तथा हीत्यादि–लक्षण सम्बंध से पूर्व में प्रकारान्तर से भी लक्ष्य का ज्ञान नहीं होता है, ऐसा कोई भी विद्वान नहीं कहते हैं । अर्थात् लक्षण सम्बंध से पूर्व में लक्षणवत्व रूप से लक्ष्य का ज्ञान न भी होता है किंतु अन्य प्रकारेण तो ज्ञान होता ही है । यदि ऐसा मानो कि लक्षण का ज्ञान नहीं होता है तब तो किसी भी लक्ष्य में लक्षण विधान नहीं होगा । क्योंकि उद्देश्य का ज्ञान तो हुआ नहीं तब किस अधिकरण में विधान किया जायगा ? अज्ञात उद्देश्य में विधान नहीं होता है । उद्देश्य का अनुवाद करके ही लक्षण का विधान होता है ।× इसी प्रकार से अवधिका

×"उद्देश्यवचनं पूर्वं विधेयं च ततः परम्" उद्देश्य वचन पूर्व में होता है तदनन्तर विधेय का वचन होता है ऐसा नियम है । अर्थात् जब किसी स्थल

एवमवधेरपि सामान्यमुखं तन्त्रम् । तथा च प्रक्रान्तकारकत्वेन कारकान्तरसाधारणेन करणस्य ज्ञानादन्तरपदार्थज्ञानं तज्ज्ञानाच्च तस्यैव प्रक्रान्तस्य करणत्वेन ज्ञानं फलं वदेति । यथा

ज्ञान भी सामान्य रूप से विवक्षित है नतु विशेष रूप से, क्योंकि विशेष रूप से लक्षण सम्बंध द्वारा ही ज्ञात होता है। ऐसा हुआ तब प्रक्रान्त कारक रूप से कारकांतर कर्मादि कारक साधारण रूप से करण का ज्ञान होता है तथा तादृश करण ज्ञान से अन्तर पदार्थ ज्ञान होता है, तब अन्तर पदार्थ ज्ञान से प्रक्रांत उसी करण का करणत्व रूप से जो ज्ञान है वही फलीभूत करण ज्ञान है

—में किसी का विधान करेंगे तो उसके पूर्व में उद्देश्य का ज्ञान हो जाना चाहिये, अन्यथा अज्ञात अधिकरण में विधान असंभवित होता है। देवदत्तः सुखी, इस वाक्य से देवदत्त रूप अधिकरण में सुख का विधान तब होगा जब पूर्व ही प्रमाणान्तर द्वारा देवदत्त ज्ञान रहेगा। हां इतना अवश्य है कि विधान के पूर्व सुखविशिष्ट रूप से देवदत्त ज्ञान नहीं है। किन्तु स्वरूपतः भी ज्ञान नहीं हैं सो बात नहीं हो सकती। अतः प्रकारान्तर से उद्देश्य के ज्ञात रहने पर ही उसमें लक्षण का विधान होता है। इसलिये लक्षण संबन्ध से पूर्व में लक्षणवत्त्व रूप से कारण ज्ञात नहीं भी है तो येन केनचित् रूप से तो ज्ञात है ही। इस स्थिति में अन्योन्याश्रय का उद्भावन करना शब्दार्थ शून्यता का ही द्योतक है। इसलिये खण्डनोद्धार कर्ता का जो कथन है "शब्दर्थेप्यव्युत्पन्नोसि" सो बिलकुल ठीक हैं।

वा बहिः सत्वेन विना जीविनो गृहासत्वमनुपपन्नमिति सामान्य-मुखाद्बहिः सत्त्वावलम्बिनोऽनुपपत्तिज्ञानाद् देवदत्ते पक्षे प्रवृत्ता-द्देवदत्तो बहिः सन्निति विशेषमुखीधीफलं वदेति। अत एव यतोऽन्यत्वं तत्सिद्धेरग्रे तदसिद्धेरिति यत्प्रलपिष्यसि तदपि निरस्तम्। ननु किमिदं चरितार्थत्वं अन्यथा सिद्धत्वं वा

ऐसा समझो। यह वद धातु बोलने अर्थ में नहीं है, किंतु ज्ञानार्थक है। तादृश करण ज्ञान फल है ऐसा कहो अर्थात् समझो। अथवा जब बोलेगा तब समझेगा अवश्य "ज्ञात्वा वदति" जान करके बोलता है, ऐसा नियम है।

यथा वा अर्थापत्तिस्थल में जीवी देवदत्त का गृह में जो असत्व है सो बहिःसत्व के बिना अनुपपन्न है। इस प्रकार के बहि सत्वावलम्बी सामान्याकारक अनुपपत्तिक ज्ञान से पक्ष देवदत्त में प्रवृत्त पुरुष को देवदत्त बाहर में है, इत्याकारक विशेष ज्ञानात्मक फल होता है, ऐसा समझो। अतएव जिसको भेद कहते हैं उसकी सिद्धि के पहले वह असिद्ध है, ऐसा प्रलाप जो आप करेंगे सो भी परास्त हो जाता है। विशेषतः ज्ञान नहीं रहने पर भी सामान्य ज्ञान से निर्वाह हो जाता है।

शंका—कारकान्तर में अचरितार्थ हो, यहां अचारितार्थ घटक चारितार्थ क्या है ? क्या अन्यथा सिद्धत्व रूप है वा

परम्पराकारणत्वं वा । नोभयं कर्त्रादेरप्यतथात्वादिति । उच्यते । तत्तन्निष्ठान्यतरजनकत्वं तत्र चरितार्थत्वं कर्तुः कर्मणश्च करणनिष्ठव्यापारजनकत्वं मनसो हस्तादेः करणे चरितार्थत्वे-

---

परम्परा कारणता रूप हैं ? इसमें दोनो पक्ष ठीक नहीं हैं, क्योंकि कर्ता में भी अन्यथासिद्धत्व वा परम्परा कारणत्व नहीं है ।

समाधान–तत में वा तन्निष्ठ अन्यतर जनकत्व का नाम ही है उसमें चरितार्थता । कर्ता तथा कर्म कारक को करण में रहने वाला व्यापार तादृस व्यापार का जनकत्व है । यद्यपि मन को हस्तरूप करण व्यापार जनकता है, तथापि मन को हस्तरूप करणापेक्षया कारकान्तरत्व नहीं हैं, क्योंकि दोनो ही करण हैं । अथवा कर्ता का जो व्यापार उसका जो विषय हो उसी का नाम होता है करण । यही करण का लक्षण है । जैसे छेत्ता पुरुष का जो व्यापार उद्यमन निपातन रूप उसका विषय परशु है तो छिदि क्रिया में परशु व्यापार विषय होने से करण कहलाता है । नहीं कहो कि फल भी तो कर्ता का व्यापार विषय होता है, तो फल में करण विषय की अतिव्याप्ति होती है । तो ऐसा मत कहना, क्योंकि जिसको अधिकृत उद्देश करके (बना करके) कर्ता का व्यापार उत्पन्न होता है वही वस्तु कर्तृ व्यापार विषय कहलाता है । जैसे हाथ परशु आदि, क्योंकि परसु को अधिकृत करके ही कर्ता (छेत्ता पुरुष) का व्यापार

ऽपि न तस्य करणापेक्षया कारकान्तरतेति । कर्तृव्यापारवि-
षयत्वं वा तत्त्वम् । न च कर्तृव्यापारफलेऽतिव्याप्तिः यद-
धिकृत्य हि कर्तृव्यापार उदेति स एव तद्विषयतयोक्तो यथा
हस्तादि । गोचरता हि द्वयी उद्देश्यतयान्यपरकृतिव्याप्यतया
चेति मत्सिद्धान्तात् । पिपक्षोर्हि पाकानुकूलो यत्नस्तत्क-
रणं हस्तमधिकृत्योदेति । अथ शरीरचालनाय प्रयत्नः शरीर-

समुत्पन्न होता है अतः हाथ परशु उस व्यापार का विषय होता हुआ करण कहलाता है । फल को अधिकृत करके कर्ता का व्यापार नहीं हुआ है, अतः फल में अति व्याप्ति नहीं होती है । यहां विषयता दो प्रकार से होती है, एक तो उद्देश्यता रूप से अर्थात् जिसको उद्देश्य करके जो व्यापार होगा सो उस व्यापार का विषय कहावैगा । दूसरी विषयता होती है अनन्य पर कृति व्याप्यता रूप । ऐसा मेरा सिद्धान्त है । जैसे पाक करने वाले पुरुष का पाकानुकूल यत्न, पाक का कारण जो हाथ उसको अधिकृत करके ही उत्पन्न होता है, तो तादृश पाक क्रिया में करण हाथ बनता है ।

शंका—शरीर को चलाने के लिये आत्मा में प्रयत्न होता है, सोतो शरीर को अधिकृत करके ही उत्पन्न होता है, तब तो शरीर चालन क्रिया में शरीर भी कारण हो जायगा । किन्तु शरीर तो कर्म है, ऐसा मानने पर 'शरीरं चालयति' यह प्रयोग जैसे होता है उसी प्रकार से 'शरीरेण चालयति'

मधिकृत्योदेतीति शरीरं करणं स्यात् तथा च शरीरं चालयतीतिवच्छरीरेण चालयतीत्यपि स्यात् । भवत्येव दध्ना जुहोति पयसा जुहोतीति श्रौतप्रयोगदर्शनात् । अपौरुषेयत्वादयमपर्यनुयोज्य इति चेत् । मांसेन भुक्त्वा तृप्तो भवतीति मैत्रेयप्रयोगस्यापि दर्शनात् । सर्वेषामस्तीदृशः प्रयोग इति चेत् । किमतः प्रयोगे सति बीजानुसरणं न तु निमित्तवत्वादेव प्रयोगापादनं

यह प्रयोग भी हो जायगा ।

उत्तर—अरे ऐसा प्रयोग तो होता है ।

प्रश्न—दधि से होम करता है, दूध से होम करता है, ऐसा प्रयोग वेद में भी देखता हूं "दध्नो जुहोति" यहां हवन रूप क्रिया में दधि है कर्म, किंतु करण रूप से वैदिक प्रयोग होता है । इसी प्रकार से प्रकृत में 'शरीरेण चालयति' ऐसा प्रयोग होने में क्या क्षति है । नहीं कहो कि वेद तो अपौरुषेय है इसलिये यहां ऐसा कहना ठीक नहीं है ।

उत्तर—मांस (अन्न) भोजन करके तृप्त होता है "अन्नेन भुक्त्वा तृप्तो भवति" इस प्रकार से मैत्रेय (लौकिक) प्रयोग भी देखने में आता है, अर्थात् केवल वेद में ही कर्मस्थल में करण का प्रयोग होता है सो नहीं लौकिक प्रयोग में भी कर्म स्थान में करण का व्यवहार किया जाता है ।

प्रश्न—क्या सभी का प्रयोग ऐसा हैं ?

उत्तर—इससे क्या ? यदि प्रयोग होता है । तब उस

तस्य प्रयोगसमनियमाभावात् । अतएवारोपे सति निमित्ता-नुसरणं नहि निमित्तमस्तीत्यारोप इत्या-चार्याः । कथमीदृशः प्रयोगसङ्कर इति चेत् । निमित्तसमावेशा-

---

प्रयोग का जो कारण उसका अनुसरण अर्थात् अन्वेषण करना चाहिये, न कि निमित्त है तो प्रयोगापादन होना चाहिये, क्योंकि निमित्त को प्रयोग समनियतत्व का अभाव होने से ।× अत एव आरोप (कार्य) हो तब निमित्त का अनुसरण होना चाहिये न कि निमित्ता है एतावता आरोप होगा ही, ऐसा आचार्य ने कहा है ।

शंका–तब इस प्रकार से प्रयोग में सांकर्य कैसे ?

उत्तर–निमित्ता के (कारण के) समावेश होने से, ऐसा समझिये । जिस समय में जिसमें कर्ता के व्यापार विषयत्व का समवेश रहता है उस समय में उसका करण रूप से व्यवहार होता है जब कि उसी में करण व्यवहार विषयत्व का पुरस्कार रहेगा तब उसमें कर्मत्व का व्यवहार होगा ।

×कार्य होता है तब कारणका अन्वेषण होता है, क्योंकि कारण जो वह्नि उसके बिना धूम कार्य कथमपि नही हो सकता है। यदि हो, तब तो वह्नि धूम का कारण कार्य भाव ही विलुप्त हो जायगा। परन्तु कारण रहने से कार्य होगा ऐसा नियम नहीं है । कारण के र ने पर भी कार्य नहीं होता है, अयोगोलक में व्यभिचार है । कारण कार्य निमत्त नही होता है किन्तु सामग्री कार्य निमित्ता होती है । सामग्री रहेगी तो कार्य अवश्य होगा । न कि कारण होगा तो कार्य अवश्य होगा ।

दिति गृहाण ।। तथा च यदा कर्तृव्यापारविषयतापुरस्कार-
स्तदा करणतया यदा तु करण व्यापार विषयत्व पुरस्कार-
स्तदा कर्मतया प्रयोग इति । अत एवाधिकरणीभूतेऽपि देशे
समेन देशेन यजेतेति । ननु करणत्वं कारकान्तराचरितार्थत्व-
गर्भं अधिकरणे तच्चरितार्थे कथमस्तु । तदुक्तं खण्डनकृता ।
अधिकरणस्यापि कर्मण इव करणे चरितार्थत्वमतः कर्मण्य-
धिकरणे च न कारकान्तराचरितार्थत्वरूपस्य करणत्वस्य समा-

प्रकृत में यदि शरीर में आत्म व्यापार प्रयत्न विषयता है
तब तो शरीर में कर्मत्व है, इस अपेक्षा में शरीरेण चाल-
यति, यह होता है और करण जो मन, तदीय-व्यापार
विषयता को लेकर के यदि विचार करें तो शरीरं चाल-
यति, यह भी प्रयोग होता है, अर्थात् शरीर कर्म कहलाता
है। अत एव देश को अधिकरण रूप होने पर भी
"समेन देशेन यजेत" सम देश में यज्ञ करता है, ऐसा
वैदिक प्रयोग भी उपपन्न होता है।

शंका—अधिकरण में जब करण चरितार्थ है तब
अधिकरण में करण लक्षण कैसे गया ? और देशादिक
अधिकरण में करणार्थक तृतीया का प्रयोग कैसे ? क्योंकि
आपने तो करण के लक्षण में, कारकान्तर में अचरितार्थ
हो, ऐसा विशेषण दिया है। और अधिकरण तो करण में
चरितार्थ है। खण्डनकार ने भी कहा है कि "कर्म कारक

वेश इति। मैवम्। न ह्यधिकरणं विना करणं परश्वादि तद्वि-
शेषणमुद्यमनादि वा नोदेतीति। एतेन कर्मापि निरस्तं तयोर-
सार्वत्रिकत्वात् तेन विनापि परशुतदुद्यमनयोरात्मलाभात्। एवं
कर्तृव्यापारविषयत्वमप्यधिकरणकर्मणोर्नासम्भवि। आद्ये प्रच-
रणादेव अन्त्ये प्रक्षेपणादेः कर्तृव्यापारस्य सम्भवात्। क्रिय-

---

की तरह अधिकरण कारक भी करण में चरितार्थ है। अतः कर्म और अधिकरण में कारकान्तर में अचरितार्थत्व रूप करणत्व का समावेश कैसे होता है? अतः "शरीरेण चालयति देशेन यजेत" यह प्रयोग कैसे करते हैं?

समाधान—अधिकरण के बिना करण जो कुठारादिक अथवा कुष्ठारादि करण का विशेषण जो उद्यमन निपातन सो नहीं होता है ऐसा नहीं किन्तु होता ही है। अतः अधिकरण वा कर्म करण में चरितार्थ नहीं होता है तो अधिकरण में भी निमित्त का समावेश होने से करणत्व की सम्भावना है ही। एतेन कथित उत्तर से कर्म भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि अधिकरण तथा कर्म सार्वत्रिक नहीं है। अधिकरण तथा कर्म के बिना भी वस्तु तथा तद्विशेषण उद्यमन निपातन का समुत्पाद हो जाता है। इसी प्रकार से कर्तृ व्यापार विषयत्व भी अधिकरण तथा कर्म में असम्भवित नहीं है। क्योंकि अधिकरण में प्रचरणादि द्वारा तथा कर्म में प्रक्षेपण द्वारा कर्ता का व्यापार

याऽयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धित्वं वा तत्त्वम् । अत्र क्रिया प्रधानक्रियोक्ता तस्या एवोद्देश्यत्वेन वाग्बुद्धिस्थत्वात् । एवञ्च प्रधानक्रियासम्बन्धित्वमात्र उक्ते करकमात्रेऽतिव्याप्तिः परम्परयापि तेषां तत्सम्बन्धित्वादतस्तद्वारणायायोगेत्यादि । तृतीया चेयं लक्षणे । अयोगश्चेह प्रधानक्रियाया असम्बन्धः

संभवित है। क्रिया से अयोगव्यवच्छेदेन जो संबंधी हो उसका नाम है करण। यह भी करण का लक्षण बनता है। (यहां योग शब्द का अर्थ है संबंध, अयोग का अर्थ होता है संबंधाभाव और व्यवच्छेद शब्द का अभाव। तब संबंधाभावाभाव अर्थात् संबंध। तब क्रिया के सम्बंध से सम्बंधी जो हो सो करण है। भाव द्वारा सम्बंध को न कह कर अभावाभाव द्वारा कथन करने से क्रिया का नैरन्तर्य व्यक्त किया गया है) यहां क्रिया पद से प्रधान क्रिया का ग्रहण किया जाता है। क्योंकि प्रधान क्रिया ही उद्देश्य है, इसलिये प्रधान क्रिया ही वाणी तथा बुद्धि का विषय होती है। अब यदि प्रधान क्रिया का सम्बंधी जो हो उसका नाम है करण, एतावन् मात्र लक्षण करें तब तो सभी कारक में अति व्याप्ति होगी, क्योंकि साक्षात् वा परम्परया सभी कारक प्रधान क्रिया से संवद्ध रहता ही है। अतः करण भिन्न कारक में अतिव्याप्ति वारण करने के लिये अयोगव्यवच्छेद विशेषण दिया गया है। उत्त

तस्य व्यवच्छेदकरणेनाव्यवहितोत्तरकाले प्रधानक्रियाया अभावः। तेनेदमुक्तं भवति यत् करणे सव्यापारे सति प्रधानक्रियायास्तत्र क्षणमप्ययोगो नास्ति किन्तु नैरन्तर्यमेव तेन प्रधानक्रियाकारकत्वे सति प्रधानक्रियया सममव्यवधानेन सम्बन्धित्वं करणत्वम्। काञ्चनेन धनीतिवदभेदे वा तृतीया।

विशेषण देने से कारकान्तर में अतिव्याप्ति नही होती हैं। क्योंकि करणेतर कारक को मुख्य क्रिया का कदाचित कअ्रोग भी रहता है। यह तृतीया जो है सो लक्षण अर्थ में है। और यहां अयोग शब्द का अर्थ है प्रधान क्रिया के साथ असम्बंध। उस असंबंध का व्यवच्छेद करने से अव्यवहितोत्तर काल में प्रधान क्रिया का अभाव। इससे यह सारांश निकला कि व्यापार विशिष्ट जब करण रहेगा तव उस स्थल में प्रधान क्रिया का असम्बंध क्षणमात्र भी नहीं रहेगा। किंतु नैरन्तर्य रहैगा। इसलिये प्रधान क्रिया का जनक होता हुआ प्रधान क्रिया के साथ अव्यवधान से जो संबंधी हो उसका नाम करण है। यह करण का निर्दुष्ट लक्षण बनता हैं। अथवा जैसे "कांचनेन धनो" (सोने से धनवान है।) यहां कांचनेन में जो तृतीया है उसका अर्थ है अभेद, अर्थात् कांचन से अभिन्न (कांचनात्मक) धनवान है, ऐसा अर्थ होता है, उसी प्रकार से प्रकृत में "क्रियया" यहाँ अभेदार्थक तृतीया है।

तेनायोगव्यवच्छेदात्मकं प्रधानक्रियासम्बन्धित्वं तत्त्वमिति
अत एव कृत्तिकोदयं प्रति रोहिण्यासत्तेः करणत्वमपास्तं

जिस प्रकार से "कांचनेन धनी" यहां कांचन पदोत्तर तृतीया विभक्ति का अर्थ है अभेद। तव कांचन (सुवर्ण) से अभिन्न जो धन तादृश धनवान् देवदत्त है यह अर्थ होता है। यथा वा धान्येन धनवान् में तृतीयार्थ अभेद मानकर धान्य से अभिन्न जो धन तादृश धन वाला देवदत्त है, ऐसा अर्थ होता है। उसी प्रकार से "अयोगव्यवच्छेदेन क्रियया" यहां भी जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ है अभेद। जब अभेदार्थक मान लिया तब अयोग व्यवच्छेद रूप प्रधान क्रिया संबंधित्व ही करणत्व होगा। जैसे "कुठारेण छिनत्तिकाष्ठम्" से छेदन रूप क्रिया के साथ कुठार को अयोग व्यवच्छेदात्मक संबंध, एक क्षण भी कुठार का तादृश क्रिया से असम्बंध नहीं है अपितु सर्वदैव सम्बंध रहता है। अतएव कृत्तिका नक्षत्र के उदय के प्रति रोहिणी नक्षत्र का जो सम्बंध उसमें करणत्व लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, ऐसा जो कहते थे सो भी परास्त हो गये। कारण कि रोहिणी की जो आसत्ति अर्थात् संबंध सो तो कृत्तिका का जो उदय उसमें कारक ही नहीं है, और कारक विशेष का नाम ही करण है। तब जो कारक नहीं बनता है सो कारकत्व व्याप्य करणत्व लक्षण युक्त नही होता

तस्यास्तं प्रत्यकारकत्वात् कारकविशेषस्य करणत्वात्। एवञ्च सामग्र्यामपि नातिव्याप्तिः तस्या अकारकत्वात्। तथाहि सा हि कारणसमाहारः स च यदि कारणं स्यात्तदा तं समाहारमन्त-

---

है। क्या पट के प्रति अकारण जो दण्ड उसमें कभी पट करणत्व की शंका भी होती है ? नहीं होती। तद्वत कृत्तिका के उदय में अकारणी भूत रोहिण्यासत्ति में कारकत्व करणत्व की आपत्ति नहीं होती है। जहां व्यापकाभाव रहता है वहां व्याप्याभाव रहता है यह सर्वानुमत है। ऐसा क्रिया से अयोगव्यवच्छेदेन जो सम्बंधी है उसका नाम है करण। यह जब करण का लक्षण हुआ तब कार्य जो सामग्री उसमें करण लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि सामग्री कार्य के प्रति कारक (करण) ही नहीं है, जब कारण नहीं है तब करणत्व की संभावना किस प्रकार से होगी ? और कारक 'विशेष का नामहीतो करण होता है। सामग्री में कारणत्व क्यों नहीं ? यत्प्रयुक्त करणत्व के भी अभाव को कहा जाता है। इस आशंका के निराकरण करने के लिये कहते हैं—तथाहीत्यादि—तथाहि। सामग्री क्या चीज है इसके उत्तर में कहेंगे कि कारण का समाहार (समुदाय) (जैसे दंड चक्र मृत्तिका जल तंतु कुलाल घटप्रागभाव ईश्वरेच्छादि धर्मादिक के समुदाय को ही घट सामग्री कहते हैं) उस समुदायात्मक सामग्री को यदि

र्भाव्य कारणसमाहारो वाच्यः सोऽपि च समाहारः पूर्ववत् कारणमिति कारणसमाहारात्मिका सामग्री न निर्वहेत् कारणञ्चापरिसङ्ख्येयं स्यात् । अथ कारणप्रागभावानाधारः कार्यप्रागभावाधारः

कारण कहैंगे (अथवा समुदायात्मक सामग्री यदि कारण हो) तब तो समाहार को अन्तर्भावित करके ही समाहार को कारण कहैंगे । यह समाहार भी पूर्ववत् कारण कहावेगा । तब इस प्रकार से कारण के समुदाय रूप सामग्रो का स्वरूप ही नहीं बन सकेगा । कारण अपरि संख्येय हो जायगा । अर्थात् कारण समुदाय रूप सामग्री है सो भी तो कारण ही हुआ । तब पुनस्तद् समुदाय को सामग्री कहैंगे । पुनः वह कारण कहावेगा तब पुनः तद्घटित को सामग्री कहैंगे, इस प्रकार से अनवस्था हो जायगी । इसलिये सामग्री कारण नहीं है, तब कारण व्याप्य कारक नहीं है और जब कारक नहीं तब कारक विशेष रूप करण भी नहीं है, इसलिये सामग्री यद्यपि कार्योत्पत्ति व्याप्य मानी जाती है किन्तु उसमें कारणत्व लक्षण की अति व्याप्ति नहीं होती है, व्यायकाभाव से व्याप्याभाव होने के कारण से ।

शंका—कारण का जो प्रागभाव उसका अनाधार हो और कार्य प्रागभाव का आधार हो ऐसा जो क्षण, उसी का नाम है सामग्री । एतादृश सामग्री लक्षण बनाने में क्या

क्षणः सामग्री कः क्षणः उपाधिर्वा उपधेयो वा उपहितो वा। आद्ये नही रवेः स्यन्दो विशेषं कारणम्। अस्तूपधेयः कालो विश्वाधारतया विश्वकारणमिति चेत्। बाढम्। स तु न

क्षति है ?

उत्तर—अब यहां क्षण का विकल्प द्वारा खण्डन करते हुए समाधान करते हैं। क्षण वस्तु क्या है ? जिसको सामग्री कहते हैं ? क्या क्षण उपाधि है ? वा उपधेय है, अथवा उपहित रूप है ? इसमें प्रथम पक्ष उपाधि रूप ठीक नहीं है, क्योंकि सूर्य का जो स्पन्द अर्थात् क्रिया, सो कोई, विशेष कारण नहीं है। तब द्वितीय पक्ष उपधेय को मान लीजिये, क्योंकि काल विश्व का आधार होने से विश्व का कारण हो सकता है। कहा है कि 'जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः" काल जन्य मात्र का जनक है और कालिक सम्बन्ध से सभी का आधार है, ऐसा कहो तो ठीक है परन्तु सर्वदा अविलक्षण (एक स्वभाव वाला) काल सामग्री रूप नहीं हो सकता है। नवा अन्तिम (उपहित) पक्ष ही ठीक है, क्योंकि हजारों उपाधि से कालका भेद नहीं हो सकता है, आत्मा की तरह। जैसे उपाधि भेद मानने पर भी आत्मा का भेद नहीं होता है उसी तरह से उपाधि भेद से काल में भेद नहीं हो सकता है। अतः उपहित काल को सामग्री नहीं कह सकते हैं।

सामग्री अविलक्षणैकरूपत्वात्। नान्त्यः न ह्युपाधिसहस्रेणापि कालो भेत्तुं शक्यते आत्मवत्। अन्यथा जितमौपनिषदैरुपाधिभेदवादिभिः। तस्मात् कारणान्येव समाहारः। स च न कारणम्। न हि कारणान्येव कारणमिति। हन्तैवमपि

अन्यथा उपाधि भेद से उपधेयांश में भेद मान लिया जाय तब तो उपाधि भेदवादी औपनिषद वेदान्ती की ही विजय होगी। इसलिये कारण समुदाय का नाम ही समाहार है। वह समाहार कारण नहीं है, क्योंकि कारण समुदाय ही कारण है ऐसा नहीं है। किन्तु कारण समुदाय रूपा सामग्री कारण नहीं है इसलिये सामग्री में करण लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती हैं।

शंका–जो क्रिया के प्रति कारण हो तथा प्रधान क्रिया के साथ नैरन्तर्य रहै, उसको यदि करण कहते हैं तब तो कर्म (क्रिया) विभागात्मक कार्य में करण होगा, क्योंकि कर्म से विभाग होता है, तब कर्म कारण भी है, विभाग, में तथा विभाग के साथ कर्म का नैरन्तर्य भी है, एवं विभाग पूर्व संयोग ध्वंस में करण हों जायगा। यहां भी विभाग से पूर्वसंयोग ध्वस्त होता है तो विभाग ध्वंस का जनक है तथा पूर्व संयोग ध्वंस के साथ विभाग का नैरन्तर्य भी है, एवं पूर्व संयोग ध्वंस उत्तर संयोग में करण हो जायगा, क्योंकि यहां भी पूर्व संयोग ध्वंस से उत्तर संयोग का

कर्म विभागे स च पूर्वसंयोगध्वंसे स चोत्तरसंयोगे करणं स्यात् तत् कारणत्वे सति तन्नैरन्तर्यादिति चेत् । बाढम् । यदि च करणे व्यापारवत्त्वनियमस्तदात्र निर्व्यापारे करणत्वशङ्का नास्त्येव । हन्तैव हस्तश्छिदाकरणं न स्यात् छिद्या समं

उत्पादन होता है तथा नैरन्तर्य भी है। तत्तत् कार्य के प्रति कारणत्व होकरके तत्तत्के साथ कर्मादिक का नैरन्तर्य भी है, इस प्रकार से विभागादि कार्य के प्रति कर्मादिक करणत्वापत्ति हो जाती है।

समाधान—बाढम् इत्यादि—आपका कहना ठीक है कि उक्त स्थल में अतिव्याप्ति होती है। परन्तु जो व्यापारवान् कारण को ही करण मानते हैं उनके मत से व्यापार रहित कर्म में करणत्व की शंका नहीं होती है ("व्यापार-वंत् कारणं करणम्" जो कारण व्यापारवान् हो उसका नाम है करण। जैसे भ्रमि रूप व्यापार विशिष्ट दण्ड घट के प्रति करण होता है, इस नियम को मान करके व्यापार रहित कर्म में अतिव्याप्ति का वारण होता है। अव्यवहित कारण का नाम है करण, इस मत से पूर्व पक्ष किया गया है, ऐसा जानना चाहिये ।)

शंका—प्रधान क्रिया के साथ नैरन्तर्य रहै तभी करण कहलावेगा, ऐसा मानने पर छिदादि क्रिया में हाथ करण नहीं होगा, क्योंकि छिदादि क्रिया के प्रति हाथ का नैरन्तर्य

नैरन्तर्येण सम्बन्धाभावात् । तथा च हस्तेन परशुना वृश्चतीति न स्यात् हस्तस्याकरणत्वादिति चेत् । न । न हि परशुं व्यापार्य हस्तो विरमति यदि तु स विरमेत्तदा परशुः पतेत् । नतु स पात्येत यत्र तूत्तरकरणं व्यापार्योत्पाद्य वा प्रथमं करणं विरमति तत्समद्रव्ये च प्रधानक्रियायामाद्यं तद्वितीकरण-

---

से सम्बन्ध नहीं है । तब हस्तेन परशुना वृश्चति, हाथ से परशु द्वारा लकड़ी को काटता है, ऐसा प्रयोग नही होगा, क्योंकि हाथ तो करण नहीं है, नैरन्तर्यं संबन्धाभाव से ।

उत्तर—हाथ परशु को व्यापारित करके विरमित नहीं होता है, यदि विरमित हो जाय तब तो कुठार को हाथ से गिर जाना चाहिये । परंतु कुठार हाथ से गिरता नहीं है, इसलिये यावत्पर्यन्त छेदन रूप कार्य चलता रहता है तब तक हाथ का व्यापार विरत नहीं होता है, इसलिये हाथ का नैरन्तर्य रूप से क्रिया के साथ यावत्कार्य होता है तब तक रहता ही है, इसलिये अव्याप्ति की शंका नहीं होती है ।

जिस स्थल में प्रथम करण उत्तरण में व्यापार का उत्पादन करके अथवा उत्तर करण को ही उत्पादन करके विरमित हो जाता है उस स्थल में प्रथम करण को प्रधान क्रिया में करणत्व होता है, और द्वितीय करण क्रिया में प्रथम करण व्यापारित द्वितीय करण करण होता है, जैसे अनुपात और प्रयाज (दर्श पूर्णमास के प्रकरणस्थ

क्रियायां करणं यथा अनुयाजप्रयाजौ। अत एव प्रधाने रागादङ्गे वैधी प्रवृत्तिरन्यथोभयत्रापि रागजैव सा स्यात् द्वयोः स्वर्गसाधनत्वाविशेषादिति। हन्तैवमपि सुखदुःखयोः

अवान्तर यज्ञ विशेष) दर्श पूर्णमास प्रधान याग है उसका प्रधान क्रिया में अन्वय होता है, नतु अंग अंगी दोनों को प्रधान क्रिया के साथ अन्वय नहीं है, अतः एव प्रधान यज्ञ में स्वर्गराग से प्रवृत्ति होती है और अंगयाग प्रयाजादिक में वैधी अर्थात् विधिजनित प्रवृत्ति होती है। अन्यथा यदि ऐसा न मानोगे तब तो प्रधान तथा अंग मैं उभयत्रापि राग जनित ही प्रवृत्ति होगी, क्योंकि अंग प्रधान दोनो में स्वर्ग साधनत्व समान है। अभिप्राय यह है कि प्रधान याग में जो प्रवृत्ति होती है सो मुख्य जो स्वर्ग फल है उसकी इच्छा से, और अंग याग में जो पुरुष की प्रवृत्ति होती है सो प्रधान याग की इच्छा से। यह तो दर्श पूर्ण मास प्रकरण की वस्तु स्थिति है। परन्तु यदि दोनों को मुख्य फल का हीं साधन मानलें तब तौ दोनों अंग प्रधान में उभयत्र मुख्य फलेच्छा से प्रवृत्ति हो जायगी, तब यह प्रधान है, यह इतिकर्तव्य रूप है एतादृश भेद व्यवहार नहीं होगा।

शंका—जब नैरन्तर्य संबंध वाला करण होता है, ऐसा मानते हैं तब तो सुखदुःख के उपभोग में दुखदुःख भी

स्वभोगे करणता स्यात् ताभ्यामव्यवधानेन स्वभोगस्यावश्य-मुत्पादनादिति चेन्न। तादृशव्यापारवत एव कारणस्य मया करणत्वोपगमात् सुखदुःखयोश्च तादृशव्यापाराभावात्। आस्तां वा ते अपि तत्र करणे अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धात्।

करण होगा, क्योंकि अव्यवधान से सुखदुःख स्वकीय उप-भोग का उत्पादक होता है (उपभोग शब्द का अर्थ होता है सुखदुःखान्यतरका यह ज्ञान है, तो ज्ञान विषय के बिना हो नहीं सकता हैं)

उत्तर—मैं व्यापारवान् कारण को ही करण मानता हूँ और सुखदुःख में ऐसा कोई व्यापार नहीं हैं, जैसे घटोत्पत्ति में दंड करण है तो उसका व्यापार दंड जन्य घट का जनक चक्र भ्रमि को मानता हूँ, किन्तु प्रकृत में सुखदुःख में स्व जन्य साक्षात्कार में मध्यवर्ती व्यापार नहीं हैं, अतः करणत्व सुखदुःख में नहीं होता है। अथवा मान लिया जाय सुख-दुखः के उपभोग में सुखदुःख को करणत्व मान लिया जाय अयोग व्यवच्छेद से सम्बन्ध होने से।×

×व्यापारवान् कारण करण होता है, इस मत को लेकर स्वोपभोग में स्व को करणत्व नहीं हो सकता है, व्यापार के अभाव से। यदि पूर्व नियम को न मानें अर्थात् निर्व्यापार भी करण होता है। जो करण लक्षण से आक्रान्त हो सो करण है. करण का लक्षण है "क्रियया अयोग्य व्यवच्छेदेन संबन्धित्व" इस अभिप्राय को लेकर के "आस्तां वातेऽपि तत्र करणे" ऐसा कहा है।

न चैवं सुखेन भुङ्क्ते इत्यपि स्यात् । ईदृशसूक्ष्मेक्षिकावतां भवत्येव । अत एव मांसेन भुक्त्वा तृप्तो भवतीति मैत्रेय-प्रयोगो घटते । व्यापारश्च तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः ।

शंका—तब तो 'सुखं भुंक्ते' की तरह 'सुखेन भुंक्ते' ऐसा भी प्रयोग होना चाहिये ।

उत्तर—एतादृश सूक्ष्म बुद्धि वाले को 'सुखेन भुंक्ते' प्रयोग होता ही है । अत एव मांस का भोजन करके तृप्त होता है, एतादृश मैत्रका प्रयोग भी घटित होता है । जो तत् से जन्य हो और तज्जन्य का जनक हो उसको व्यापार कहते हैं जैसे चक्रभ्रमि दंड से जन्य है और दण्ड जन्य जो घट है उसका जनक होने से भ्रमि में व्यापार लक्षण का समन्वय होता है । इस लक्षण में व्यापारी अर्थात् दण्ड यागादि में अतिव्याप्ति वारण करने के लिये "तज्ञन्यत्वे सति" यह विशेषण दिया गया है । अन्यथा तज्जान्य-जनकत्व याग में भी है, अतः विशेषण देने से याग में जन्यत्व नहीं है, तज्ञन्यत्व मात्र कहैं तब तो याग जन्य स्वर्गादिक में भी लक्षण चला जायगा, क्योंकि स्वर्ग यागजन्य है । जब तज्ञन्य जनकत्व कहते हैं तब स्वर्ग रूप फल में अतिव्याप्ति नही होती है, क्योंकि याग जन्य अपूर्व का जनक नहीं है । अतः विशेषण तथा विशेष्य दोनों अंश को लक्षण घटक बनाया गया है । जैसे याग

अत्र व्यापारिवारणायाद्यं फलवारणाय त्वन्त्यं विशेषणं यथा यागस्यापूर्वमनुभवस्य संस्कारः। तृतीयलिङ्ग परामर्शस्तु न करणं किन्तु व्याप्तिस्मृत्यात्मकस्य करणस्यासौ व्यापारः।

का व्यापार है अपूर्व, अर्थात् धर्माधर्म तथा अनुभव का व्यापार है संस्कार। यह अपूर्व और संस्कार यथा संख्य से याग तथा अनुभव जन्य है, तथा याग और अनुभव से जाय मान स्वर्ग और स्मरण का जनक भी है।

यह जो तृतीय लिंग परामर्श है सो अनुमिति में करण नहीं है, किन्तु व्याप्ति स्मृत्यात्मक जो करण उसका यह परामर्श व्यापार है । अर्थात् वह्निमान इस अनुमिति स्मृत्यात्मक व्याप्ति का ज्ञान है करण। करण वही होता है जो व्यापारवान् हो। तब उस व्याप्ति ज्ञान रूप करण का व्याप्ति विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही ज्ञानात्मक 'वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वत' इत्याकारक ज्ञान व्यापार होता है। यदि अनुमिति और परामर्श के बीच में कोई तीसरा होता तब उसको व्यापार बना करके परामर्श को करण बनाने के लिये श्रम किया जाता। सो तीसरा तो कोई है नहीं। इसलिये परामर्श के व्यापारवान नही होने से करणत्व नहीं है किन्तु परामर्श स्वयमेय व्यापार है और तादृश परामर्शात्मक व्यापारवान् व्याप्ति स्मरण करण है। व्यापारवान कारण को ही करण माना गया है। परामर्श

यत्राप्याप्तोक्तशब्दयोनिस्तृतीयलिङ्गपरामर्शस्तत्रापि व्याप्ति-स्मृतिरादौ पदार्थज्ञान विना वाक्यार्थधियोऽनुदयनियमात् ॥

तो व्यापार रहित होने से करण नहीं होता है, अपितु परामर्श रूप व्यापार को लेकर के व्याप्ति ज्ञान करण है। जैसे घटात्मक कार्य में अव्यवहित फलक होने पर भी चक्र भ्रमण करण नहीं होता है, क्योंकि चक्र भ्रमिका कोई व्यापारान्तर नहीं है, किन्तु चक्र भ्रमि को व्यापार बना करके दंड ही करण होता हैं। व्यापारवान कारण को ही करण माना गया है। अब यहां शंका होती है कि जिस स्थल विशेष में व्याप्ति स्मरण नहीं है, वहां तो तृतीय लिंग परामर्श को ही करण बनाना पडैगा। इस शंका के उत्तर में ग्रंथकार कहते हैं "यत्राप्याप्तप्रोक्तेत्यादि" जहां भी आप्तोक्त शब्द मूलक तृतीय लिंग परामर्श होता है उस स्थल में भी व्याप्ति स्मरण को अवश्य मानना। क्योंकि प्रथमतः पदार्थज्ञान के विना वाक्यार्थ रूप शाब्द बोधात्मकज्ञान हो ही नहीं सकता है। कहा भी है—"पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थ धीः। शाब्द बोधः फलमिति" शाब्द बोध रूप कार्य में पद ज्ञान करण है और पदार्थ ज्ञान अवान्तर व्यापार है, इत्यादि। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द मूलक तृतीयलिंग परामर्शस्थल में भी पदार्थ ज्ञानात्मक व्यापार तथा पदज्ञान रूप करण रहता है।

ननु लिङ्गाभासजन्या यत्र प्रमाभूतानुमितिस्तत्र तत्प्रामाण्यमीश्वरतृतीयलिङ्गपरामर्शरूपानुमानात् गुणजन्यत्वमिति तावदास्थ तत्र हि स व्यापारभूतो न भवति नित्यत्वादिति चेत्। सत्यम्। जगत्कारणत्वात्तदत्रापि कारणं तत एव चानुमानक-

---

प्रश्न—जिस स्थल में लिंगाभास से प्रमा रूपा अनुमिति होती है (वस्तुतः पर्वत में वह्नि है किन्तु धूली पटल में धूमत्व भ्रम के अनन्तर वह्निव्याप्यधूमवानयम् एतादृश असत्परामर्श से वह्निमान् अनुमिति होती है, उस अनुमिति को लिंगाभास से जायमान प्रमा अनुमिति कहते है। हेतु तो असत् है किन्तु पक्ष में साध्य का बाध नहीं है) उस अनुमिति को परमेश्वरीय तृतीयलिंग परामर्श से जायमान होने के कारण से गुणजत्वेन प्रमाण रूप है, ऐसा आप नैयायिक लोग कहते हैं परन्तु इस स्थल में परमेश्वरीय तृतीय लिंग परामर्श व्यापार कैसे होगा ? क्योंकि परमेश्वर ज्ञान तो नित्य है और व्यापार तो करण जन्य होने से अनित्य ही होता है। तब स्थल में व्यापार का लक्षण नही बैठ रहा है।

समाधान—परमेश्वर जगत् का कारण है। "सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चित् जनिता" वह परमेश्वर सभी का कारण है, सभी करण का स्वामीहै, उसका उत्पादयिता कोई नहीं है, इत्यादि आगम तथा न्याय से

तु स्तस्य गुणादनुमितिः प्रमा । करणस्तु तत्रापि अनुमितिमाज एव तृतीयलिङ्गपरामर्शंजननी व्याप्तिस्मृतिरिति । शब्दसाक्षात्कारे तु यद्यपि इन्द्रियसन्निकर्षो न व्यापारो नित्यत्वात् । तथापि

सिद्ध होता है कि परमेश्वर जगत् का कारण है । तब यहां लिंगाभास से जायमान प्रमानुमिति में भी कारण है, यह अनुमिति भी जगदन्तर्गत है । ईश्वरीय गुणजन्य होने से अनुमान कर्ता पुरुष की अनुमिति गुणजन्य होने से प्रमात्मिका होती है । करण तो इस अनुमिति में भी परामर्श को पैदा करने वाला व्याप्ति स्मरण ही है । शब्द के प्रत्यक्ष में यद्यदि इन्द्रिय सन्निकर्ष व्यापार नहीं है क्योंकि नित्य होने से । तथापि प्रथम जो शब्द है वही वहां श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार है । अर्थात् प्रकृत में शब्द प्रत्यक्ष में समवाय सन्निकर्ष को व्यापार माना है, और श्रोत्र को करण माना जाता है, तो समवायतो नित्य है, तब उसमें श्रोत्र जन्य होकर श्रोत्रजन्य शब्द ज्ञान का जनकता रूप व्यापारत्व नहीं घटता है, ऐसा पूर्व पक्षी का आशय है । उत्तर कर्ता ने समवाय को व्यापार न मान करके प्रथम शब्द को ही व्यापार मान लिया (परन्तु समवायत्व रूप से समवाय नित्य है । यहां तो श्रोत्रावच्छिन्न समवाय सन्निकर्ष है तव अवच्छेदक वैशिष्टय रूप से भेद मानलें तो क्या क्षति है ? जैसे समवाय को एक मानते है तो जो

आद्यः शब्द एव तत्र श्रोत्रस्य व्यापारः। ननु कर्मणः कथं करणकोटौ प्रवेशः उपाधिसमाधिवेशादित्युक्तं प्राक्। यत्तु चक्षुर्घटसंयोगं व्यापारमुदाहृत्य घटस्य कारणकोटिप्रवेशमाशङ्क्य तदपि माभूदित्याशयेन बाधेऽन्यसाम्यादित्युक्तम्। तदयुक्तम्। नहि घट इन्द्रियसंयोगे तद्व्यापारभूते निविशते

समवाय का रूप घट में है वही समवाय स्पर्श का वायु में भी है। यह कहकर रूपवान वायुः विलक्षण स्पर्शवान घटः, इस आपत्ति को हटाने के लिये नव्य नैयायिक ने रूप प्रतियोगिकत्व विशिष्ट समवाय को अलग मान करके रूपवान वायुः इस आपत्ति का समाधान किया है, उसी प्रकार से श्रोत्रावच्छिन्नत्व रूप से विशिष्ट समवाय को व्यापार मानलें तो क्या आपत्ति है ? किन्तु इस विषय पर तत्वग्राही लोग स्वयं विचार करलें) आप शब्द को इन्द्रिय का व्यापार मानते हैं, सो शब्द तो कर्म कोटिका है, वह करण कोटि में समाविष्ट कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं "उपाधि समावेशात्" अर्थात् उपाधि के भेद से एक ही शब्द कर्म तथा करण उभय कोटि में समाविष्ट है। अर्थात् जिस रूप से कर्म है उस रूप से करण कोटि में नहीं जाता है, तथा जिस रूप से करण कोटि में प्रविष्ट है उस रूप से कर्म कोटि में नहीं जाता है। ऐसा मैं पहले कह चुका हूँ। जिस किसी ने कहा है कि चक्षु तथा घट का जो

इन्द्रियाजन्यत्वात् किन्तु घटबहिर्भावेणैवेन्द्रियसंयोग इन्द्रिय-व्यापार इति ब्रूमः ॥

नन्ु करणस्य प्रधानक्रियया समं नैरन्तर्यमुक्तं तद्यागे नास्ति अपूर्वेण स्वर्गव्यवधेरिति चेन्न । स्वाङ्गस्याव्यवधायक-

---

संयोग वह्न घट प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष है, यह कहकरके संयोग रूप व्यापार द्वारा घट का समावेश करण कोटि में हो जाता है,ऐसी शंका करके घट संयोग भी सन्निकर्ष न बने तो क्या है ? इस आशय से "बाधेऽदृढेऽन्यासाम्यात् किं दृढे तदपि बाध्यताम् । क्वममत्वं मुमूक्षाणामनिर्वचन वादिनाम्" ×यह कहा है सो ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय का व्यापार जो इण्द्रिय संयोग उसमें घट का समावेश नहीं, किस लिये कि घट तो इण्द्रिय से उत्पद्य मान नहीं है । संयोग तो इन्द्रियसे पैदा होता है। किन्तु घट से बहिर्भूत संयोग इन्द्रिय का व्यापार होता है । इन्द्रिय घटका संयोग व्यापार कहलाता है । उसमें संयोग द्विष्ट होता है अर्थात् दो में

×यदि बाधक प्रमाण दृढ नहीं है तब उसमें अन्यका दृष्टांत देना ठीक नहीं है, दृष्टान्त मात्र से कार्य सिद्धि नहीं होती है और बाधक दृढ होने से कार्यक्षम नहीं होता है। अथ यदि बाधक प्रमाण दृढ हैं तब उसको भी बाधित कर दीजिये, क्योंकि सभी वस्तु को अनिर्वचनीय मानने वाले मुमुक्षु को ममत्व किसके साथ है ? अर्थात् किसीके साथ नहीं । देखिये ममत्व रहित मुमुक्षु मिथिलानाथ जनकजी ने मिथिला के दहन समय में कहा था कि मेरा कुछ नहीं जलता है । इसी प्रकार से बाधक की दृढता में सभी बाधित हो जोवे तो होने दीजिये ।

त्वात् प्रथमग्रहीततत्कारणतानिर्वाहार्थमेवापूर्वस्यतन्निर्वाहकस्य यागव्यापारत्वेनापेक्षणात् । यत्र तु निरन्तरयोः सम्बन्धग्रहे

रहता हैं तो प्रकृत में प्रतियोगिता संबम्ध से संयोग इन्द्रिय में और अनुयोगिता संबंध से घट में है, तो प्रतियोगित्व विशिष्टत्व रूप से कारण है, संयोग व्यापार है और अनुयोगिता विशिष्टत्व रूप से इन्द्रिय जन्य ज्ञान विषय कोटि में जाता है, इसलिये घटादिक पदार्थ कर्म कोटि में ही रहता है करण कोटि में नहीं जाता है । इस स्थिति में करण कोटि में प्रवेश की शंका निरालम्बन है ।

शंका–प्रधान क्रिया के साथ करण को नैरन्तर्य रहता है, अर्थात् प्रधान क्रिया और करणके बीच में कोई व्यवधायक नहीं रहता है ऐसा आपने कहा है, परन्तु याग में तो ऐसा देखने में नही आता है । यहां तो याग और स्वर्ग के बीच में अपूर्व धर्माधर्म व्यवधायक है ।

समाधान– स्व का अंग व्यवधायक नहीं होता है । प्रथम गृहीत जो यागादि में कारणता उस कारणता का निर्वाह अर्थात् संपादन का याग कारणता निर्वाहक अपूर्व को याग के व्यापार रूप से अपेक्षा किया जाता है । "स्वर्गकामो यजेत" स्वर्ग की कामनावान् यज्ञकरे । अर्थात् याग द्वारा स्वर्ग का संपादन करें । इस विधायक वाक्य को श्रवण करने के बाद अधिकारी पुरुष विचार करता है कि

संस्कृत अग्नि में पुरोडासादि प्रक्षेपात्मक याग क्रिया क्षण प्रध्वंसी है, तब इसके क्षण प्रध्वंसी होने से परलोक में प्राप्त होने वाले स्वर्ग में यह याग कारण कैसे होगा। क्योंकि कार्य के अव्यवहित पूर्वकाल में रहने वाला ही कारण होता है। याग तो चिरातीत हो जाता है। कदाचित् कहो कि याग निरर्थक हैं, सो ठीक नहीं है। प्रमाण का मूर्धन्य वेद कहता है कि याग से स्वर्ग का सम्पादन करो, सो निरर्थक कैसे होगा ? अतः याग करने से एक अपूर्व उत्पन्न होता है, अधिकारी समवेत हो करके बैठा रहता है, वह कालान्तर में भावी स्वर्ग फल का अव्यवहित पूर्ववती हो करके कारण होता है और इसी अपूर्व के द्वारा याग भी कारण होता है। यही याग का व्यापार है, तो जो अपूर्व वाक्य से अवगत याग में स्वर्ग कारणता का निर्वाहक है सो याग का अंग रूप अपूर्व, याग तथा स्वर्ग में व्यवधायक नहीं होता है। आप शांकर वेदान्ती लोगो ने भी तो महान् प्रयास से याग को करण बतलाया है तथा अपूर्व को व्यापार मान करके भी फल तथा करण में व्यवधायक नहीं माना है। आचार्य उदयन ने भी कहा है "चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना" चिरध्वस्त यागादिक कर्म क्रिया अतिशय के बिना स्वर्गात्मक फल के उत्पादन में समर्थ नहीं हो सकता है अतः याग क्रिया से जायमान स्वर्गान्यवहित वर्ती स्वर्ग के

सति पश्चात्तद्वारा पूर्वतमस्यापि सम्बन्धो गृह्यते तत्र मध्यमजं

जनक याग के अंग भूत याग में वेद सिद्ध कारणता को ग्राहक माना गया है। नहीं कहो कि अपूर्व से ही स्वर्ग की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है तो अपूर्व जनक याग को स्वर्ग में कारणता क्यों मानें ? प्रत्युत घट के जनक कुलाल का उत्पादक कुलाल पिता अन्यथा सिद्ध है, उसी प्रकार से याग भी स्वर्ग के प्रति अन्यथा सिद्ध है। ऐसा मत कहो। ऐसा कहने से तो आप वरघाताय कन्योद्वाहन न्याय को लगाते है, अर्थात् जैसे वर राजा को मारने के लिये कन्या का विवाह नहीं किया जाता है, किन्तु वर के सुखोत्पादन के लिये ही किया जाता है, उसी प्रकार से स्वर्ग के प्रति याग की कारणता सिद्ध हो इस लिये तो मध्यवर्ती अपूर्व माना गया है, यदि यह अपूर्व याग की कारणता को नष्ट कर दे तो इसकी क्या आवश्यकता थी ? "हन्यतां हन्यतां बालो नानेनार्थोस्ति जीवता। स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद् यः कुलांगारतां गतः" इस न्यायता का अतिक्रमण यह अपूर्व नहीं करैगा। इष्टापादान तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि इष्टापत्ति कहने से 'स्वर्गकामो यजेत" वाक्य अप्रामाणिक हो जायगा सो तो किसी को भी इष्ट नहीं है। जहां निरन्तर दो में संबंध रहने पर पश्चादुत्तर कालिक द्वारा कार्य के साथ पूर्वतम का संबन्ध गृहीत होता है वहां मध्यम

प्रत्येव पूर्वतमस्योपयोगः। तेनैव च तस्य व्यवधिर्यथा पुत्र-जन्ये घटे तत्पितुः। एतेन फलाव्यभिचारिव्यापारकत्वं करणत्वं करणत्वमित्यपि समर्थितम्।,यद्वानेन करोति तत्करणमिति।

के प्रति (द्वितीय के प्रति) पूर्वं तम का उपयोग होता है और उसी से उसका व्यवधान भी होता है। जैसे पुत्र जन्य घट में तत्पिता का अर्थात् घटात्मक कार्य के प्रति कुलाल को कारणता प्राप्त है और कुलाल पिता को पुत्र द्वारा कारणता आती है तो यहां कुलाल व्यवधायक माना जाता है, अन्यत्र नहीं। उपर्युक्त कारणत्व का प्रतिपादन करने से फल के प्रति अव्यभिचारी जो व्यापार, वह व्यापार जिस कारण में हो उस कारण विशेष को कारण कहते हैं। एतादृश कारण लक्ष्य भी समर्थित होता है। अर्थात् जिस व्यापार के अनन्तर में नियमतः कार्य होता ही है तादृश व्यापारवान् कारण को करण कहते हैं।

यद्वा नेवेत्यादि–जिससे विशिष्ट होकर के कर्ता कार्य का उत्पादन करता है उसका नाम है करण। जैसे दण्ड विशिष्ट होकर के कुलाल घटादिक कार्य को करता है तो पुरुष विशेषणी भूत जो दण्ड है सो घट कार्य के प्रति करण है, इसी का स्पष्टीकरण करते है।

कर्ता स्व इत्यादि–स्वकर्तृजन्य सभी क्रियाओं में कर्ता जिस कारक विशेष की अपेक्षा करता है तत्कारक विशेष

कर्ता स्वजन्यासु सर्वास्वेव क्रियासु यत्कारकमपेक्षत एव तत् करणम्। कर्मादिचतुष्कन्तु नैवं तेषां सर्वत्रानपेक्षणात् । करणमेव तथा तेन विना कर्तुः क्रियाप्रचयानुदयात् । एवं यद्वानेव प्रमिमीते तत्प्रमाणं केन प्रमितिकारकेण सहित एव कर्ता प्रमिमीते करणेनेति ब्रूमः । तथा हि प्रमितौ सम्प्रदाना-पादाने तावदसम्भाविते एव । अधिकरणन्तु प्रमितेः प्रमातैव ।

का नाम ही करण होता है। कर्म संप्रदान अपादान अधिकरण ये चारों कारक ऐसे नहीं हैं कि यदपेक्ष होकर के कर्ता क्रिया का संपादन करे, क्योंकि कर्मादिक चारों कारक सर्वत्र अपेक्षित नहीं होते हैं, करण ही ऐसा है। करण सापेक्ष हो करके ही मात्र क्रिया को करता है। इसी प्रकार से करण के विना कर्ता की कोई भी क्रिया पैदा नहीं होती है। यद्वा नहीं प्रमाता प्रमा को कर्ता है उसका नाम है प्रमाण। जैसे चक्षुरादि को विशेषण रूप से लेकर के ही चाक्षुष प्रमा को देवदत्त उत्पादन करता हैं इसलिये चक्षुरादि प्रमाण है। किस प्रमिति का कारक से युक्त होकर के ही देवदत्तादिक कर्ता प्रमा ज्ञान को करता है? इसके उत्तर में कहते हैं "करणनेतिब्रूमः" करण को लेकर के ही प्रमाता प्रमा को करता है ऐसा मैं कहता हूं। इतरकारक को लेकर के प्रमा को क्यों नहीं करता है? करण से युक्त होकर के ही क्यों करता है? इसके स्पष्टीकरण के लिये कहते हैं। तथा हीत्यादि–

न च स एव तद्वान् भवति मेयस्य चाधिकरणं नावश्यकम् आत्मादेर्निरधिकरणस्यापि प्रमेयत्वात् । यत्राप्यस्ति तत्रापि न नियतभानं घटः पट इत्यादिप्रमितेरपि दर्शनात् । कर्म तु प्रमितौ पाक्षिकं अनागतादेरपि प्रमितेः । विषयमात्रन्तु न कर्म

प्रमा की उत्पत्ति में सम्प्रदान तथा अपादान चतुर्थी पंचमी कारक तो असम्भवित है। अधिकरण तो प्रमा का प्रमाता ही है। प्रमाता ही प्रमातावान् नहीं हो सकता है। प्रमेय का अधिकरण कोई आवश्यक नहीं है, क्योंकि आत्मादि अधिकरण रहित है फिर भी वह प्रमेय है, इस लिये प्रमेय को अधिकरण सापेक्षत्व अत्यावश्यक नहीं है। जहां अधिकरण है उस स्थल में अधिकरण का नियमतः भान होता ही है, ऐसा नहीं है। क्योंकि "अयं घटोऽयंपट" यह घट है यह पट है इत्यादि ज्ञान होता है परन्तु उसमें अधिकरण का भान कहां होता है ? अर्थात् अधिकरण का भान नहीं होता है। कर्म कारक तो प्रमा में पाक्षिक है अर्थात् होता भी है नहीं भी होता है, नियत नहीं है। क्योंकि अतीत अनागत विषयक ज्ञान भी होता है उसमें कर्म कारक विद्यमान कहां रहता है, अतीत होने से। ज्ञान का जो विषय हो सो कर्म है, ऐसा नहीं, विषय हो अकारक भी होता है अर्थात् कर्म कारक भी प्रमा में नियत नहीं है। करण कारक तो प्रमा में नियमतः क्रिया मात्र में रहता

अकारकसाधारण्यात्। करणन्तु प्रमितौ नियतमेव तेन विना प्रमित्यर्जनासम्भवादिति। अत एव करणस्य यश्चरमो व्यापारः स न करणं न वा प्रमाणं तस्य निर्व्यापारत्वेनाकारकत्वात् व्यापारवत्कारणस्यैव मया कारकत्वोपगमात् तद्विशेषस्य च करणत्वात्॥

नन्वन्यथासिद्धनियतप्राक्सत् कारणं तदेव सव्यापारं

ही है।

क्योंकि कारण के बिना प्रमिति रूप कार्य का अर्जन (उत्पादन) असंभवित होने से। अत एव करण का जो चरम व्यापार है (यदनन्तर कार्योत्पत्ति नियत है उसी को चरम व्यापार कहते हैं) वह तो न कार्य का करण है न वा प्रमाण है (प्रमिति रूप कार्य का करण है) क्योंकि चरम व्यापार निर्व्यापार है उसका कोई व्यापारान्तर नहीं होने, से चरम व्यापार कारक नहीं है। व्यापारवान् कारण को ही हम लोग कारक मानते हैं तथा कारक विशेष का ही नाम करण होता है। इसलिये चरम व्यापार व्यापार रहित होने से न कारक है न वा करण है। कारणत्व की निवृत्ति से कारकत्व की निवृत्ति होती है। और कारकत्व की निवृत्ति से चरम व्यापार में करणत्व की निवृत्ति होती है। व्यापकाभाव व्याप्याभाव का प्रयोजक होता है।

शंका—जो अन्यथासिद्ध रहित से रहित हो करके

कारकं तदेव साधकतमं करणमिति तावन्न्यायमतम् । तथा च व्यापारविशिष्टस्य करणतां गतस्य व्यापारान्तरान्वयाभावात् करणमपि करणं न स्यात् । मैवम् । यत्र रूपं तत्र स इतिवत्

नियमतः कार्य के अव्यवहित पूर्ववर्ती हो उसका नाम है कारण । अनियत पूर्ववृत्ति रासभादिक का निराकारण करने के लिये नियत पद दिया गया है । घटोत्तर वर्ती पदार्थ में कारणत्व लक्षण की अतिव्याप्ति वारण करने के लिये पूर्ववत्ती पद है, व्यवहित । पूर्ववर्त्ती पदार्थ के वारण करने के लिये अव्यवहित पददिया गया है ।× और जब यही कारण व्यापार विशिष्ट होता है तब उसी का नाम कारक होता है । जब साधक तम जो होता है तब वही कारक करण कहाता है, ऐसा नैयायिक का मत है । तब जब व्यापार विशिष्ट हुआ तब वह कारणता को प्राप्त होता है । अब मैं पूछता हूँ कि व्यापार विशिष्ट में व्यापा-रान्तर का तो अन्वय नहीं होगा, तो जो करण है वह भी करण नहीं होगा । जैसे दण्ड विशिष्ट में पुनः दण्ड का सम्बन्ध नहीं होता है वैसे ही व्यापार विशिष्ट में व्यापारा-न्तर का अन्तर तो होगा नहीं,तब करण भी करण कैसे होगा ?

×अन्यथा सिद्धि शून्य हो, नियमतः कार्य के पूर्ववती हो, उसको कारण कहते है । अन्यथा सिद्ध पांच होते है । एक तो वह जो कारण सहभूत होता

हो, अर्थात् कारण की पूर्ववृत्तिता जिस रूप से गृहीत हो वह रूप अन्यथा सिद्धि है, जैसे घट कार्य के प्रति दन्ड रूप कारण की पूर्व वृत्तिता दण्डत्व रूप से गृहत होती है तो दण्डत्व अन्यथा सिद्ध है। द्वितीय अन्यथा सिद्ध यथा जिसका अन्वय व्यतिरेक कार्य के साथ स्वतन्त्र रूप से न हो किन्तु कारण को लेकर के ही अन्वय व्यतिरेक घटता हो सो अन्यथा सिद्ध है। जैसे घट के प्रति दण्ड में रहने वाला नील पीतादिक रूप रूपसत्वे घट सत्वम् और रूपाभावे घटाभावः इस प्रकार का स्वतंत्र रूप से रूप का अन्वय व्यतिरेक घट के साथ नही है किन्तु दण्डरूप सत्वे घटसत्वम् दण्डरूपाभाव घटाभावः इस प्रकार से अन्वय व्यतिरेक होने से दण्डका जो नील पीतादिक-रूप है सो घटके प्रति अन्यथा सिद्ध है। तृतीय अन्यथा सिद्ध यथा जिसको अन्य कि प्रति कारणता ग्रहण होने के वाद ही विवक्षित कार्य के प्रति पूर्व वृत्तित्व गृहीत होता है वह उसके प्रति अन्यथा सिद्ध है। जैसे घट के प्रति आकाश। आकाश को शब्द के प्रति कारणता ग्रहण करने के पीछे ही घट के प्रति पूर्व वृत्तित्व गृहीत होता है, क्योंकि आकाश है शब्द समवायि कारण, तो शब्द के प्रति जनकत्व ग्रहण करने के वाद ही घट के प्रति जनकत्व गृहीत होता है, इसलिये आकाश घटके प्रात तृतीय अन्यथा सिद्ध होता है। चतुर्थ अन्यथा सिद्ध यत्कार्य जनक के प्रति पूर्व वृत्तित्व ग्रहण करने के वाद ही जिसकों जिसके प्रति जनकत्व गृहित होता है वह उसके प्रति अन्यथा सिद्ध कहलाता है, जैसे घट के प्रति कुलाल का पिता। घट जनक कुलाल के प्रति कुलाल पित को पूर्व वृत्तित्व गृहीत होने के वाद ही घट के प्रति पूर्व वृत्तित्व गृहीत है अतः कुलाल का पिता

पुत्रोत्पाद्य घट के प्रति अन्यथा सिद्ध है। पंचम अन्यथा शिद्ध अवश्य क्लृप्त नियत पूर्व वृत्ति से ही जब कार्य की संभावना होती है तब तत्सहभूत और सब अन्यथा सिद्ध है। जैसे घट के प्रति रासभ। अवश्य क्लृप्त नियत पूर्व वृत्ति दण्डादि कारण से ही जब घटोत्पत्ति सम्भवित है तब रासभ अन्यथा सिद्ध होता है। यद्यपि यत्किचिचित् घट व्यक्ति के प्रति रासभ को भी नियत पूर्ववृत्तित्व है, तथापि घट जातीय के प्रति सिद्ध है, कारणभाव है जिसको ऐसा जो दण्डादिक उसी से जब उस घट को भी उत्पत्ति हो सकतो है तब रासभ अन्था सिद्ध ही है। पांचों अन्यथा सिद्ध में यह जो पांचवां अन्यथा सिद्ध है सो आवश्यक है, क्योंकि इससे सभो अन्यथा सिद्धों को चरितार्थता हो जाती है। यह कारण तीन प्रकार का होता है, समवायिकारण, असमवायि-कारण और निमित्त कारण। उनमें समवायिकारण तो द्रव्य ही होता है, और असमवायिकारण जब होगा तब गुण कर्म ही होगा। निमित्त कारण यथा योग सातों पदार्थ होते हैं। घट के प्रति कपाल द्रव्य समवायिकारण है, कपालद्वय का संयोग असमवायिकारण है और दण्ड चक्रादि निमित्त कारण होते हैं। कुलाल कर्ता होता है, घट कर्म है, दण्ड करण है। विशेष रूप से देखना हो तो मत्कृत कारणतावाद में देखें, यहां संक्षेप से कह दिया है।

:o:—

यस्य करणं तस्य व्यापारान्वय इति व्याप्त्युपगमात् । पटमु-द्यम्य निपात्य प्रत्याच्चालयतः पटः कर्मैव करणं स्यात् तद्वा-नेव हि तं चालयति नातद्वानिति चेत् । अबोधात् । न हि यद्वानित्यत्र यत्पदेन वस्तुमात्रमुक्तं प्रमेयत्वादावतिव्याप्तेः । नापि कारकमात्रं तत एव । नापि प्रकृतक्रियाकारकमात्रं पट-

---

समाधान–"यत्ररूपं तत्रसः" जिसमें रूप है सो वह है, इस प्रयोग की तरह जो करण है उसमें व्यापार का अन्वय होता है, ऐसी व्याप्ति मैं मानता हूँ । न तु व्यापार विशिष्ट में व्यापार के सम्बन्ध को मानता हूँ जिससे कि आपकी आपत्ति घटित हो ।

प्रश्न–जहां पट को ऊपर उठाकर नीचे गिराकर के धोता है, उस स्थल में क्षालन क्रिया का कर्म जो पट है सो करण हो जायगा । क्योंकि पटवान् पुरुष ही तो पट का प्रक्षालन करता है अपटवान नही । इस स्थिति में 'यद्वान् करोति तत्कारणम्' यह जो करण लक्षण है उसकी अति-व्याप्ति होती है कर्म में ।

समाधान–आपका यह प्रश्न अज्ञान मूलक है आपने अभिप्राय को नहीं समझा । यद्वानेवकरोति एतल्लक्षण घटक यत् पद से वस्तु मात्र का ग्रहण करना, ऐसा नहीं कहागया है । क्योंकि ऐसा कहने से प्रमेयत्वादिक व्यापक धर्म को लेकर अतिव्याप्ति हो जायगी । न वा यद्वान् यहां

स्यापि स्वक्षालने करणतापत्तेः। नापि प्रकृतक्रियाकरणमात्मा-श्रयादननुगमाच्च। किन्तु कर्तुः स्वक्रियायां क्रियात्वेनावश्या-पेक्षणीयं कारकमुक्तं क्रियात्वेन हि रूपेण क्रियाभिः करणमे-वापेक्ष्यते करणं विना क्रियामात्रस्यैवानिष्पत्तेः। कर्मादि तु

यत्पद से कारक मात्र का ग्रहण किया जाता है, पूर्वोक्त दोष से ही न वा प्रकृत क्रिया में जो जो कारक है उन सव का ग्रहण नहीं है, क्योंकि पट प्रक्षालन में कर्म जो पट उसमें भी कारणत्व हो जायगा। न वा प्रकृत क्रिया में जो करण हो उसका यत् पद से ग्रहण होता है क्योंकि करण के लक्षण में करण का प्रवेश होने से आत्माश्रय दोष हो जायगा और अननुगम दोष भी हो जायगा। किन्तु कर्ता से स्व की क्रिया में क्रियोत्पादकत्व रूप से अवश्य अपेक्षणीय जो कारक सो यद्वान यहां यत् पट से लिया जाता है ऐसा मैं कहता हूँ। क्रियात्व रूपेण क्रिया में करण कारक ही अपेक्षित होता है, इतर कारक नहीं। क्योंकि करण के बिना क्रियामात्र अनिष्पन्न हो जाती है। अर्थात् करण के बिना क्रिया की निष्पत्ति नहीं होती है। कर्म प्रभृति कारक ऐसा नहीं है, कर्मादि कारक का सभी क्रिया में सम्बन्ध रहना ही चाहिये। ऐसा नियम नहीं है। कर्म संप्रदान अपादान अधिकरण कारक रूप चार कारकों के विना भी क्रिया का उदय देखने

नैवं तेषां सर्वासु क्रियास्वन्वयनियमाभावात् । कर्त्रादिकं चतुष्कं विनापि क्रियोदयदर्शनात् । एवं कर्मणि पटे कः प्रसङ्गः । न हि स क्षालनेन क्रियात्वेनापेक्ष्यते किन्तु क्षालनत्वेनेवेति विद्धि ॥

ननु चक्षुरादेः परस्परव्यभिचारितया यद्वानेव प्रमिमीते

में आता है, करण के विना क्रिया का उदय देखने में नहीं आता ।

इस प्रकार से जब करण लक्षण का स्पष्टीकरण किया गया तब आप ही कहिये पट का उद्यमन निपातन पूर्वक संपाद्यमान प्रक्षालन क्रिया में कर्मात्मक पट के करणत्व की आपत्ति किस प्रकार से होगी ? वह पट क्रियात्वेन रूपेण-क्षालान से अपेक्षित नहीं होता है किन्तु क्षालनत्व रूप से ही अपेक्षित हैं ऐसा जानिये ।

शंका—चक्षुरादि प्रत्यक्ष प्रमा करण के परस्पर व्यभिचारी× होने से यद्वान् प्रमा ज्ञान करता है, ऐसा कथन

×परस्पर व्यभिचारितयेति । चक्षु रसना घ्राण श्रोत्र त्वक् ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । इनमें जहां चक्षु करण रहता है उस स्थल में चाक्षुप प्रत्यक्ष प्रमा होती है । और जहां रसना रहती है वहां रासन प्रत्यक्ष प्रमा होती है । इसी प्रकार से घ्राणादिक स्थल में भी होता है । अत्र जहां चक्षु है वहां तो प्रत्यक्ष प्रमा रूप विषयक होती है, परन्तु प्रत्यक्ष प्रमा का करण रसना आदिक नहीं है, तब रसनादिक प्रमाण के अभाव में भी प्रत्यक्ष प्रमा हो गई । एवं जहां घ्राण है लेकिन चक्षु नही है, वहां भी तो प्रत्यक्ष प्रमा हुई । लेकिन घ्राण तो नहीं है तब कारणाभाव में भी कार्य हो गया । यही परस्पर व्यभिचारिता का अभिप्राय है । अर्थात् जहां अनेक कारण हों परन्तु एक के नहीं रहने पर भी कार्य हो जाय, उस स्थल में परस्पर व्यभिचारित्व होता है । विशेष निवरण अन्यत्र देखें ।

इति न घटत इति चेत् । भ्रान्तोऽसि । प्रमया फलेन परिचा-यितं करणं प्रमाणमित्युच्यते । तथा च प्रकृतां प्रमारूपां क्रियां यद्वानेवार्जयतीति वचोभङ्गयापि प्रमाकरणमेव प्रमाणमुक्तं भवति । प्राक् करणे लक्षिते प्रमाणलक्षणाय तत्र प्रमान्वयमात्रस्य विधित्सितत्वात् प्रमाकरणवत एव प्रमार्जनं नातद्वत इति नियमाच्च । ननु किं करणत्वं साधकतमत्वं तच्च निरुक्तम् । अथ करणत्वेन यानि लक्षयसि तेषां किमेकं रूपं लक्ष्यतावच्छेद-

---

उपयुक्त नहीं लगता है ।

समाधान—हे मूर्ख तुम भ्रान्त हो । प्रमा रूप फल से परिचायित (परिचय को प्राप्त किया हुआ) जो करण है वही प्रमाण है, यह मैं कहता हूँ । ऐसा होने से प्रकृत प्रमा रूप क्रिया को यद्वान् अर्जित (संपादित) करता है, इस वचन प्रकार से प्रमा करण को ही प्रमाण कहा जाता है । पहिले जब करण का लक्षण (क्रिया का जनक करण है) कर लिया, तब प्रमाण का लक्षण करने के लिये उस करण में प्रमा के सम्बन्ध मात्र का विधान किया जाता है । और प्रमाणवान् पुरुष से ही प्रमा का अर्जन (उत्पादन) होता है, न कि अप्रमाणवान् से प्रमा का अर्जन होता है । ऐसा नियम भी है ।

प्रश्न—यह करणत्व वस्तु क्या है ?

उत्तर—जो साधकतम हो उसको करण कहते हैं । उसका निर्वचन कर दिया गया है ।

प्रश्न—करणत्व रूप से जिन जिन को लक्षित करते हैं

कमिति चेत्। धिङ् मूर्खं समनियतयोरेवैकं लक्ष्यतावच्छेदकं अपरं लक्षणं पृथिवीत्वगन्धवत्ववत् स्वबोधमेवैतत्। नापि साधकतमत्वं करणत्वमित्यादौ पौनरुक्त्यमर्थाभेदादिति देश्यं विवरणरूपत्वात् विवरणत्वेनैव विशेषात्। नाप्यात्माश्रयः पिकः कोकिल इत्यत्र। यथा कोकिलः पिकपदार्थ इत्यर्थस्तथा

उन सब में कौन एक अनुगत रूप है जो लक्षणतावच्छेदक होता है? अर्थात् अनुगतलक्ष्यतावच्छेदक रूप क्या है?

उत्तर–धिङ् मूर्ख! समनियत जो धर्मद्वय, उनमें से एक धर्म लक्षणतावच्छेदक होता है और दूसरा धर्म लक्षण होता है। जैसे पृथिवी में पृथिवीत्व तथा गन्धवत्त्व। जितने में पृथिवीत्व रहता है उतने में ही गन्धवत्त्व भी रहता है, इसलिये यह दोनों धर्म सम नियत हैं। इनमें से पृथिवीत्व धर्म पृथिवी लक्ष्य का लक्ष्यतावच्छेदक है और गन्धत्त्व लक्षण है। यह वस्तु स्वबोध है अर्थात् स्वबुद्धिमात्रगम्प है।

शंका–साधकतम को करण कहते है तो जो ही साधकतम है सो ही करण है, इस प्रकार से दोनों को समादार्थक होने से घटकत्व के समान लक्षण में पुनरूक्ति दोष हो जाता है, अर्थ के अभिन्न होने से।

उत्तर–यहां साधकतम का विवरण रूप करण पद है तो विवरण होने से ही विशेषता है। तदर्थक पदान्तर से तदर्थ कथन का नाम ही विवरण होता है। न वा आत्माश्रय दोष भी होता है 'पिक कोकिलः' यहा कोयल जो है

साधकतमत्वं करणपदार्थं इत्यत्रापि पदार्थान्तर्भावेनात्माश्रया-पनोदनात्। यदभावात् कर्तृकर्मणी न क्रियां जनयतः तत्त्वं करणत्वमिति वा। कर्त्रा क्रियात्वावच्छिन्नकार्ये कर्तव्ये स्वसहकारितया यदवश्यमपेक्ष्यते तत् करणम्। कर्मादिचतुष्कं नैवं तस्य क्रियासामान्येऽनावश्यकत्वात्। कर्त्रा च करणेन च विना कापि क्रिया नोदेतीति। एवं प्रमातृप्रमेये यदभावात् प्रमां न जनयतस्तत् प्रमाणं प्रमात्रा हि प्रमात्वावच्छिन्ने कार्ये

सो ही पिक पदार्थ हैं, यह अर्थ होता है। इसी तरह साधक तम करण पदार्थ है यहां भी पर्दान्तर का अन्तर्भाव करके आत्माश्रय दोष का निवारण किया जाता है। जिसके अभाव से कर्ता और कर्म अपनी क्रिया का उत्पान न करसके सके, उसका नाम है करण। यह लक्षण भीं करण का होता है। क्रियात्वावच्छिन्न क्रियात्मक कार्य का उत्पादन करने में कर्ता स्व सहायक रूप से जिसकी अवश्य मेव अपेक्षा करता है उसका नाम होता है करण। कर्मादिक जो चार कारण हैं सो ऐसे नहीं हैं, क्योंकि क्रिया सामान्य में कर्मादिक की आवश्यकता नहीं होती है। करण के बिना तो कोई भो क्रिया नहीं होती है, इसलिये कर्ता के सहायक रूप से करण नितान्त अपेक्षित है। कर्ता और करण के विना कोई भी क्रिया नही होती है। एवं जिसका अभाव रहने से प्रमाता तथा-प्रमेय प्रमा का .उत्पादन न कर सके उसका नाम होता है प्रमाण। प्रमात्वावच्छिन्न प्रमात्व कार्य

कर्तव्ये स्वसहकारितया यदवश्यमपेक्ष्यते तत् प्रमाणम् । प्रमेयाधिकरणे तु नैवं तयोः प्रमासामान्येऽनावश्यकत्वात् प्रमात्रा च प्रमाणेन च विना क्वापि प्रमानोदेतीति कर्मप्रमेयपदे त्वत्र निरुक्तिद्वये सम्पातायाते न कर्तृवत् कर्मापि क्रियासामान्येऽपि प्रमातृवत् प्रमेयमपि जन्यप्रमासामान्ये हेतुर्येनोक्तिसम्भवोऽपि स्यात् । यच्च द्विकर्तृके चैत्रज्ञस्य करणत्वमापादितं

के उत्पादन करने में प्रमाता सहकारी रूप से जिसकी अपेक्षा अवश्य करे वह प्रमाण है । प्रमेय तथा अधिकरण तो ऐसा नहीं है । क्योंकि प्रमेय और अधिकरण की प्रमा सामान्य में आवश्यकता नहीं होती है, उन दोनों के बिना भी प्रमा हो जाती है । प्रमाता और प्रमाण के बिना तो कोई भी प्रमा उत्पन्न नहीं होती है । कर्म पद तथा प्रमेय पद दोनों, दोनों लक्षण में संपातापात हैं अर्थात् भ्रमात आ गया है । (यद भाव से कर्ता और क्रिया को उत्पादन नही करता है, इत्यादि करण लक्षण में कर्म पद तथा जिसके अभाव से प्रमाता प्रमेय प्रमा का उत्पादन नही कर सकते हैं इस प्रमाण के लक्षण में प्रभेय पद अधिक है, इन पदद्वय की दोनों लक्षणों में प्रवेश करने कीं आवश्यकता नहीं है ।) करण लक्षण में जिस प्रकार से कर्ता के समान कर्म भी क्रिया सामान्य में हेतु नहीं है, तथा प्रमाण लक्षण में प्रमाता की तरह प्रमेयजन्य प्रमा सामान्य में कारण

तदवबोधात् । न हि भगवता क्रियासामान्योत्पत्तये क्षेत्रज्ञोऽपेक्ष्यते अङ्कुरोत्पत्त्यादावनपेक्षणात् । करणन्तु तत्राप्यपेक्षित एवेति । चरमव्यापारवत्त्वं वा तत्त्वम् । कारकव्यक्त्यन्तरा-

---

नहीं है। यदि ये दोनों उभय स्थल में यथाक्रम आवश्यक कारण होते तो इन दोनों का कथन कथंचित सम्भवित होता भी, परन्तु ऐसा तो है नहीं। अर्थात् कर्म क्रिया सामान्य में आवश्यक कारण नहीं है। तथा प्रमेय जन्य प्रमा सामान्य में आवश्यक नहीं है। इसलिये करणलक्षण में कर्म पद तथा प्रमाण लक्षण में प्रमेय पद का प्रवेश अनावश्यक ही प्रतीत होता है। जिस किसी ने कहा था कि क्रिया को यदि द्विकर्तृक (ईश्वर कर्तृक तथा जीव कर्तृक) मानेंगे तब जीव में करणत्व का आपादन किया था सो अबोध विजृंभित मात्र है, क्योंकि भगवान् क्रिया मात्र के उत्पादन करने में क्षेत्रज्ञ जीव की अपेक्षा नहीं करता है। देखिये अंकुर रूप कार्योत्वापादन में अपेक्षा नहीं रखता ही है। अतएव जीव में करणत्वापादम अबोध विजृंभित ही है यह सिद्ध होता है।

चरम अन्तिम व्यापारवान् जो हो उसका नाम है करण, यह भी करण का लक्षण होता है। कर्ता का तथा करणेतर कारक का ज्यो व्यापार है सो चरम व्यापार नहीं है।

पेक्षया करणस्यैव चरमो व्यापारः । न च हस्ताद्यव्याप्तिः तद्व्यापारस्यापि परशुकाष्ठसंयोगपर्यन्तमनुवृत्तौ हस्तेऽपि लक्षणसत्त्वात् । अनुवृत्तौ तु छिदायां हस्तस्य न करणत्वं

जिस व्यापार के बाद पुनर्व्यापारान्तर न हो और कार्य निष्पन्न हो जाय उसका नाम है चरम व्यापार । कर्तादि कारक का व्यापार करण व्यापार से व्यवहित रहता है और करण व्यापार का कोई व्यवधायक नहीं होता है, इसलिये करण का व्यापार ही चरम व्यापार है, तदनन्तर कार्य हो ही जाता है, अतः चरम व्यापारवान् कारण करण है, यह भी करण का एक लक्षण होता है । अन्य कारक व्यक्ति की अपेक्षया करण का ही व्यापार चरम होता है । नहीं कहो कि इस लक्षण का समन्वय हाथ में तो होता नहीं है, क्योंकि हाथ का व्यापार तो चरम नहीं है, चरम व्यापार तो परशु का होता है, तदनन्तर ही छिदा रूप कार्य होता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि हाथ का भी व्यापार परशु तथा काष्ठ संयोग पर्यन्त रहता हीं है, अन्यथा परशु का पतन हो जाना चाहिये, सो तो होता नही है, इसलिये कार्य पर्यन्त हाथ के व्यापार का अनुवर्तन होने पर भी छिदात्मक कार्य में हाथ को करणत्व नहीं है, किन्तु परशु के व्यापार में ही हाथ को करणत्व है, ऐसी मेरी मान्यता है । व्याप्ति स्मरणात्मक अनुमान-

किन्तु परशुव्यापार एवेति मदुपगमात् । अनुमानस्य तु व्याप्तिस्मृत्यात्मकस्य चरमो व्यापारो विशिष्टपरामर्श एव । ईश्वरज्ञानजन्येऽपि घटपटादौ क्षेत्रज्ञस्य यत्नादिर्न चरमः किन्तु तत्रापि तज्जन्यो दण्डवेमादिव्यापार एव तथेति । ननु पटक्षालनेनिर्णेजकस्य व्यापारो जलरूपो यद्यपि न चरमस्तथापि काष्ठपटसंयोगरूपश्चरम एव स च हस्तवत्पटस्या-

---

कत्व चरम व्यापार विशिष्ट परामर्श ही होता है, अर्थात् वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत, इत्याकारक जो विशिष्ट वैशिष्ट्या-वगाही तृतीय लिंग परामर्श है वही व्याप्ति स्मरण रूप कारण का चरम व्यापार होता है, इसलिये चरम व्यापार-वत्व लक्षण करण का लक्षण व्याप्तिस्मरणात्मक अनुमान में रहने से करण लक्षण का समन्वय होता है । परमेश्वर ज्ञान से जायमान घट पटादिक में जो जीव का प्रयत्नात्मक व्यापार है सो चरम व्यापार नहीं है, किन्तु जीव प्रयत्न जनित जो दण्ड वैमादिक का व्यापार है वही चरम व्यापार है । इसलिये चरम व्यापारवान् होने से दण्डादिक ही करण होते हैं न कि प्रयत्नवान् जीव ।

शंका—पट के प्रक्षालन रूप कार्य में धोनेवाले पुरुष का जल रूप जो व्यापार है सो यद्यपि चरम व्यापार नहीं है तथापि काष्ट पट का जो संयोग वह संयोगात्मक

पीति पटः कर्मवत् स्वक्षालने करणमपि स्यादिति चेत् । न । क्रियात्वेन क्रियया कर्तृकरणे एवापेक्ष्येते इति नान्यत्र प्रसङ्गगन्धोऽपीति तत्रापि करणस्यैव चरमो व्यापारः कर्तृव्यापारेण प्रयत्नेन चेष्टाया एव निर्माणात् । तथा च क्रियात्वेन क्रियया

व्यापार जैसे हाथ में है उसी प्रकार से पट में भी है, क्योंकि संयोग दो में रहने वाला होता है। तब जैसे पट क्षालन क्रिया में कर्म है, वैसे ही स्व क्षालन क्रिया में पट भी करण हो जायगा।

समाधान—क्रियात्व रूपेण क्रिया से जो कारक अपेक्षित होता है वही करण है, यह में पहिले कह आया हूँ। उस (चीज) को चरम व्यापारवान् होकर के करण कहाजाता है इस बात को अभी कहता हूँ। अथवा मांस की तरह पट में भी तृतीया विभक्ति को मान लें, अर्थात् "मांसेन भुक्त्वा तृप्तो भवति" इस मैत्रेय प्रयोग में जिस तरह से कर्म जो मांस उसमें तृतीया विभक्ति होती है उसी तरह पट प्रक्षालन क्रिया में कर्मी भूत जो पट है उसमें भी तृतीया विभक्ति लगे। अथवा अनन्तर फलक जो हो उसका नाम है करण, यही करण का लक्षण है (जिसके बाद में अव्यवधान रूप से फलोत्पत्ति हो सो अनन्तर फलक कहाता है) एतल्लक्षण घटक फल शब्द का अर्थ है। प्रधान क्रिया, वह जो प्रधान क्रिया है सो क्रियात्व रूपेण कर्ता तथा करण की ही अपेक्षा

यत्कारकमपेक्षते तत्करणमिति प्रागुक्तं तदेव चरमव्यापारकं सत्करणमित्यधुनोच्यते । अस्तु वा मांसवत्पटेपि तृतीया अनन्तरफलकत्वं वा तत्त्वम् । फलं हि प्रधानक्रिया सा च क्रियात्वेन रूपेण कर्तृ करणे एवापेक्षते न तु कर्मादि चतुष्कं तस्य क्रियामात्रे व्यभिचारात् । तत्रापि करणस्यैव व्यापारोऽनन्तरफलको भवति कर्तृव्यापारस्य यत्नादेः करणव्यापारेणैव व्यवधायितत्त्वात् । करणस्य तु करणव्यापारेण न व्यवधा-

---

करती है, किन्तु कर्मादि चारों कारकों की अपेक्षा नहीं करती, क्योंकि कर्मादि चार कारक क्रिया सामान्य में व्यभिचरित हैं। उसमें भी करण का जो व्यापार होता है सो ही अनन्तर फलक होता है, न कि कर्ता का व्यापार अनन्तर फलक हैं, क्योंकि कर्ता का व्यापार जो यत्न रूप है सो करण व्यापार से व्यवहित रहता है। अर्थात् करण व्यापार कर्तृ व्यापार यत्न का व्यवधायक है। करण के व्यापार का व्यवधान करण व्यापार से नहीं होता हैं, स्वांग होने से।

प्रश्न—परामर्ष रूप व्यापार के द्वारा चक्षु अनुमिति में करण बनै।

उत्तर—जव चक्षु को अनुमिति के प्रति कारणता नहीं है क्योंकि उन्मीलित नयन वाले पुरुष को शब्दात् परामर्श होने से अनुमिति देखने से, अतः व्यभिचार हो

पनम् स्वाङ्गत्वात् । नन्वेवं लिङ्गपरामर्शेण व्यापारेण चक्षुरा-दिकमप्यनुमितौ करणमस्त्विति चेत् । न । व्यभिचारेण हि तेषामनुमितौ कारणतापि नास्ति दूरे तु करणताशङ्केति । हंत तर्ह्यव्यभिचारितया अनुमितौ मनः करणमस्तु बाढम् । तर्ह्यनुमितिरिन्द्रियजन्यतया साक्षात्कारिणी स्यादिति चेत् । नूनं स्मृतावप्येवं वक्ष्यसि । तत्रापि मनोजन्यतया साक्षात्त्व-

---

जाता है तब कारण विशेष रूप करणत्व की शंका भी नही होती है । अर्थात् यदि अनुमिति कारणत्व की चक्षु में सम्भावना रहती तब कदाचित करणत्व की शंका भी की जाती, परन्तु जब कारण नहीं होता है तब कारण विशेष करणत्व की शंका कैसे कर सकते है । व्यापकाभाव से व्याप्याभाव की सिद्धि हो जाती है ।

प्रश्न—यदि व्यभिचारितया चक्षु में अनुमिति कारणता नहीं होने से अनुमिति कारणत्व नहीं हुआ तो भले चक्षु करण न बनै, किन्तु मन को तो व्यभिचार नहीं है ? तब अव्यभिचारितया मन को ही अनुमिति के प्रति करण मान ने में क्या क्षति है ?

उत्तर—ठीक है तब तो अनुमिति इन्द्रियजन्य होने से साक्षात्कारिणी प्रत्यक्ष रूपा होगी, ऐसा कहो तो निश्चित आप स्मृति को भी इस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप ही कहोगे, क्योंकि स्मृति भी मनोजन्य है । नहीं कहो कि स्मृति में भी

मप्यस्त्वित्यपि ब्रूम इति चेत् । नूनमज्ञोसि यत आत्मा वः अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति शातपथी श्रुतिश्चतस्रः प्रतिपत्तीः प्रत्यक्षपरोक्षप्रस्थानाः प्राह लोकोऽप्येवमेव व्यवहरति त्वं पुनस्तदुभयविरोधी प्राज्ञम्मन्यः कथमुत्पथं यासि । मनोजन्यत्वाविशेषेपि कथं

मनोजन्यत्व होने से प्रत्यक्षत्व रहै, यह भी मैं कहता हूँ। ऐसा कहतेहैं तब तो आप निश्चित ही अनभिज्ञ है, क्योंकि "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" हे मैत्रेयीः आत्मा देखने योग्य है श्रवण करने योग्य है मनन करने योग्य है निदिध्यासन करने योग्य है, यह जो शातपथी श्रुति है सो तो प्रत्यक्ष परोक्ष रूपी जो चार प्रकार का ज्ञान है उसका प्रतिपादन करती है तथा लोक भी इसी प्रकार से व्यवहार करते हैं जो कि प्रत्यक्ष परोक्षात्मक ज्ञान चार भेदों से विभक्त है। तुम तो लोक और वेद दोनों का विरोध करते हुए अपने को पंडित मानते हुए भी कुमार्ग में क्यों चलते हो ?

प्रश्न—जब मनोजन्यत्व सर्वत्र समान है, अर्थात् एक रूप से सभी ज्ञान में मनोजन्यत्व है, तब भवदुक्त विलक्षणत्व कैसे है ? अर्थात् एक को प्रत्यक्ष और दूसरे को परोक्ष कहते हो, यह निलक्षणता कैसे है ? जब कारण समान है तब कार्य को भी समान (एक रूप) ही होना चाहिये। यदि आप

त्वदुक्तं वैलक्षण्यमिति चेत् । इत्थं इन्द्रियजन्यत्वेनेन्द्रियजन्या-

---

ऐसा कहैं तो ज्ञान की विलक्षणता के कारण को सुनो× अर्थात्

×यद्यपि ज्ञान मात्र की उत्पत्ति में मन ही कारण होता हैं। आत्म मनः संयोग होने पर ही ज्ञान मात्र की उत्पत्ति होती हैं। वह ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष रूप हो, अनुमिति रूप हो, उपमिति रूप हो शाब्दात्मक हो, स्मरण हो या जैसा भी ज्ञान हो। जब ज्ञान होगा तब मनो जन्यत्व होगा ही। तथापि जिस ज्ञान में मन को इन्द्रिय का सहकार रहैगा सो प्रत्यक्ष होगा। परामर्श का सहकार रहैगा तो अनुमिति, सादृश्य ज्ञान का सहकार रहैगा तब उपमिति, वाक्य का सहकार रहैगा, तब शब्द, और संस्कार का सहकार रहैगा तब स्मरण होगा। तो सहकारी के भेद से ज्ञान में भेद व्यवहार होता है, जैसे भेद्व सभी जन्य के कारण है किन्तु बीज के भेद से अथवा आश्रय के भेद से पौधा में भेद हो जाता है, उसी तरह से ज्ञान में भी होता है। वेदान्ती भी मन को इत्तोन्द्रियध्यक्ष बतलाते हैं और चक्षुरादि सहकारी भेद से ज्ञान में भेद कहते है। मन का कारणत्व सर्वत्र समान है। ऐसी स्थिति में खण्डनकार का एतादृश कथन कहां तक समीचीन है ? सो विद्वान लोग विचार करें। वेद लोक तथा स्व सम्प्रदाय सिद्ध पदार्थ का अपलाप करने वाला कहां तक श्रद्धेय है सो विचारणीय है ? व्याख्यान ऽवृ नानामस्माकं वस्तुमात्र विवेचनमेवावश्यकं तथ्यातथ्यविनेचनं पर विदुषामिति ।

साक्षाद्धीः लिङ्गपरामर्शजन्यानुमितिः वाक्यजन्या शाब्दी सादृश्यवैसादृश्यान्यतरधीकरणिका उपमितिः संस्कारजन्या स्मृतिः । इयं च याचितमण्डनमिव याथार्थ्यं दधत्यपि न प्रमेति चतस्र एव प्रमाः चत्वार्येव तत्करणानि प्रमाणानीति ।

सभी ज्ञान में मनोजन्यत्व समान होने पर भी वक्ष्यमाण हेतु विशेष से वैलक्षण्य होता है। इन्द्रिय चक्षुरादिजन्यत्व रूप से इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और लिंग परामर्श से जन्य होने से अनुमिति होती है । वाक्य जन्य ज्ञान शाब्द बोध कहलाता है, सादृश्य वैसा दृश्य अन्यतर ज्ञानजन्य ज्ञान उपमिति रूप होता है, संस्कार से जायमान ज्ञान स्मरण कहलाता है । यह जो स्मृति है सो याचित मण्डन की तरह याथार्थ्यता को धारण करती हुई भी प्रमा नहीं है, इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द, चार ही प्रमा है । तथा उन चार प्रमा का करण चार ही प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, रूप प्रमाण हैं । जैसे दूसरे के आभूषण मांग करके विवाहादि कार्य को संपादन किया जाता है, वैसे ही है । प्रकृत में स्वतः प्रमात्व नहीं है, किन्तु स्मृति जन्य अनुभव यदि यथार्थ हो तो अनुभव के याथार्थ्य से स्मृति यथार्था होती हुई भी प्रमा नहीं है, क्योंकि स्मृति में स्वरूप से याथार्थ्य नहीं है किन्तु अनुभव से याचित है, अन्यथा यदि स्मृति को प्रमा कहें तब तो स्मृति का जनक जो

हन्तेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति तावन्मु-निनोक्तं तदिदं न प्रत्यक्षप्रमामात्रलक्षणमीश्वरप्रत्यक्षाव्याप्तेः। नापि लक्षणोपलक्षणमाधिक्यात् इन्द्रियोत्पन्नमित्येतावतैव

संस्कार उसको प्रमाण मानना पडेगा, सो उचित नहीं है। ऐसा मानने से महामुनि ने जो प्रमाण को चातुर्विध्य कहा है सो बाधित हो जायगा, सो उचित नहीं है। इसलिये प्रमा चार ही तत्करण जाय माना तथा चार प्रमा का करण प्रमाण भी उपरोक्त चार ही है, यह सिद्ध हुआ।

शंका—इन्द्रिय और अर्थ (विषय घट पट आदि) का जो सन्निकर्ष संयोगाद्यन्यतम उससे उत्पद्यमान भ्रम रहित जो ज्ञान उसका नाम है प्रत्यक्ष। यही प्रत्यक्ष का लक्षण महामुनि अक्षपाद ने कहा है, परन्तु यह लक्षण अव्याप्त है, प्रत्यक्ष सामान्य में नहीं जाता है। क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष भी तो प्रत्यक्ष ही है, और ईश्वर को इन्द्रिय नहीं होने से पारमेश्वर ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य नहीं है। ईश्वर ज्ञान तो नित्य है। अतः उस ईश्वर ज्ञान में लक्षण नहीं जाने से उसमें अव्याप्ति होती है। अव्याप्ति दोष होने से महामुनिकृत लक्षण अलक्षण है। न वा लक्षण को उपलक्षण (परिचायक) कहते हैं, क्योंकि सन्निकर्ष जन्यत्व भ्रम भिन्नत्वादिक पद लक्षण में अधिक है। इन्द्रिय जन्यत्व

तत्सम्भवादिति चेत् । उच्यते । साक्षात्त्वं प्रत्यक्षधीमात्रलक्षणं तदेव प्रमात्वेन विशेषितसाक्षात्कारिप्रमितीनां एतदुपलक्षणाय विभागाय तद्विशेषलक्षणाय च सूत्रम् । साक्षात्त्वं तु जातिः साक्षात्करोमीत्यनुगतमतिसाक्षिका अतो न लक्षणस्य दुर्ज्ञेयता

मात्र हो परिचायक हो सकता है, तब अधिक का कथन निरर्थक है ।

समाधान–साक्षात्व ही प्रत्यक्ष प्रमा मात्र का लक्षण है और उसी लक्षण में प्रमात्व विशेषण देने से साक्षात्कारी प्रमा का लक्षण होता है इसी वस्तु को कहने के लिये और विभाग के लिये तथा प्रत्यक्ष विशेष के लक्षण के लिये महर्षि का सूत्र है "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षेत्यादि । साक्षात्व यह जाति है प्रत्यक्ष ज्ञान वृत्ति, और साक्षात्करोमि साक्षात्करोमि" इत्याकारक जो अनुगत ज्ञान उससे सिद्ध है इसलिये लक्षण में दुर्ज्ञेयत्व नहीं होता है । और लक्षणतावच्छेदक धर्म है ज्ञाना कारणक ज्ञानत्व×

×प्रकृत में ज्ञानाकरणक ज्ञान को प्रत्यक्ष का लक्ष्य रूप से निर्देश किया, इसका अर्थ होता है कि ज्ञान नहीं है करण जिस ज्ञान में, ऐसा जो ज्ञान उसका नाम है प्रत्यक्ष । अनुमिति ज्ञान व्याप्ति ज्ञान करणक है । तथा उपमिति ज्ञान सादृश्य ज्ञान करणक होता है, शाब्द बोधात्मक ज्ञान पद ज्ञान करणक होता है, इसलिये ये सब ज्ञान- करणक हैं । ज्ञानाकरणक ज्ञान केवक साक्षात्कारी होता है । इसमें अस्मदादिक का ज्ञान इन्द्रियकरणक होने से

लक्ष्यतावच्छेदकं तु ज्ञानाकरणकज्ञानत्वमतो न लक्ष्याणामसंग्रहः। तथा च ज्ञानाकरणकानि ज्ञानानि साक्षात्त्ववन्ति तेभ्यो भिद्यन्ते साक्षात्कारित्वादिति व्यतिरेकी। एवं च प्रत्यक्षं लक्ष्येतरेभ्यो भिद्यते इत्यत्र साध्येऽनुमेयाभावः

इसलिये लक्ष्य का असंग्रह नहीं होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष का लक्ष्य है ज्ञानाकरणकज्ञान और लक्ष्यतावच्छेदक धर्म है ज्ञानाकरणक ज्ञानत्व और साक्षात्व है लक्षण। इस प्रकार से निर्वाचन करने से लक्ष्य का असंग्रह अथवा लक्षण में दुर्ज्ञेयत्वादिक दोष नहीं होते हैं। ऐसे लक्ष्य लक्षण के व्यवस्थित हो जाने से ज्ञानाकरण ज्ञान साक्षात्वविशिष्ट इतर से भिन्न है, साक्षात्कारित्व होने से। एतादृश व्यतिरेकी अनुमान से प्रत्यक्ष में इतर भेद रूप साध्य की सिद्धि भी होती है। ऐसा होने से जिस किसी ने कहा था कि प्रत्यक्ष लक्षेतर से भिन्न है, इस साध्य में अनुमेय का अभाव

ज्ञानाकरणक कहलाता है। तथा ईश्वर का ज्ञान अजन्य होने के कारण ज्ञानाकरणक कहलाता है। ईश्वर ज्ञान का कोई करण नहीं है, नित्यत्वात्। और "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" "नतस्य कार्यं करण चविद्यते" इत्यादि श्रुति से भी ईश्वर ज्ञान में अकरणकत्व सिद्ध होता है। इसलिये ज्ञानाकरणक कहने से जीव पारमेश्वर उभय ज्ञान का संग्रह होता है। दुर्ज्ञेयत्व असंग्रहादिक दोष नहीं होता है।

लक्ष्यादन्येषां लक्ष्यादन्यत्वे प्रतीयमाने लक्ष्यागामपि तेभ्योऽन्यत्वं तदैव प्रतीतमित्यपास्तं साक्षात्त्वरहितेभ्यो भिद्यत इत्यस्य साध्यत्वात् । जन्याजन्यविभागतल्लक्षणाप्तये च सौत्रो निर्देशः । तथाहि तच्च प्रत्यक्षं द्वेधा अजन्यं जन्यञ्च तत्राजन्यं भगवज्ज्ञानं तस्य तु साक्षात्त्वं च धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धम् । जन्यमपि द्वेधा षोढासन्निकर्षान्यतमजन्यं तदजन्यञ्च । तत्राद्य-

---

है, लक्ष्य से भिन्न जो अनुमित्यादिक उन अनुमित्यादिक को लक्ष्य से भेद ज्ञान होने पर ही लक्ष्य को भी उन सभी से भेद की सिद्धि उसी समय में प्रतीत होती है, ऐसा जो कहा था सो भी परास्त हो गया । क्योंकि "ज्ञानाकरणकानि ज्ञानानि साक्षात्वरहितेभ्यो भिद्यन्ते" इस प्रकार से साक्षात्व रहित से भिन्नत्व को मैं साध्य कहता हूं, जन्य अजन्यत्व का विभाग तथा लक्षण प्राप्ति के लिये सौत्र सूत्रकारका निर्देश होता है "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नमित्यादि" । तथा हि यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, एक तो अजन्य प्रत्यक्ष और दूसरा जन्य प्रत्यक्ष । उसमें अजन्य प्रत्यक्ष तो भगवत् ज्ञान है । भगवत् ज्ञान में जो प्रत्यक्षत्व है सो धर्मि ग्राहक प्रमाण से सिद्ध होता है । अर्थात् जिस प्रमाण से भगवान (ईश्वर) की सिद्धि होती है उसी प्रमाण से भगवत् ज्ञान में अजन्यत्व (नित्वत्व) की सिद्धि होती है । पुनः जन्य प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है । संयोग, संयुक्त-

स्यार्थत्वेनार्थजत्वं लक्षणम् आत्मानुमितिस्मृतिशाब्दास्तु यद्य-
प्यात्मना तासामनुभूतेन जन्यत्वे तथापि न तत्रात्मनोऽर्थत्वेन
जनकता किन्तु समवायित्वेन अन्यथा जन्यत्वाविशेषात् सर्वा

समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय, विशेषण, विशेष्यभाव, यह जो छै प्रकार का लौकिक सन्निकर्ष है×इसमें से अन्यतम यत्किंचित् सम्बन्ध से जन्य और उपर्युक्त सम्बन्ध से अजन्य, उसमें भी प्रथम जो लौकिक षड्विध सन्निकर्षान्यतम जन्य ज्ञान उसका लक्षण होता है अर्थत्वेन रूपेण अर्थजनितत्व, (अर्थ से उत्पद्यमान को ही अर्थजत्व कहते हैं) प्रत्यक्ष में अर्थ करण सम्बद्ध रहता है, अनुमित्यादिक में अर्थ तो व्यवहित रहता है, इसलिये अर्थजत्व प्रत्यक्ष ज्ञान में ही है। इसलिये अर्थजत्व यह प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण होता है। यद्यपि आत्म विषयक अनुमिति स्मृति शाब्दज्ञान की आत्मा से सम्बद्ध होकर के ही उत्पत्ति होती है, तथापि पूर्वोक्त ज्ञान में अर्थत्व रूप से आत्मा को तादृश ज्ञानजनकत्व नही हैं, किन्तु आत्मा में ज्ञान मात्र समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसलिये आत्मा

×लौकिक सन्निकर्ष छै प्रकार का होता है। संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय, विशेषण विशेष्य भाव। उसमें संघटादि द्रव्य के प्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष होता है। चक्षु घट का सयोग होने पर ही प्रत्यक्ष होता है। घट गत गुण कर्म जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। चक्षु

संयुक्त होता है घट। उस घट में गुण कर्म सामान्य का समवाय हैं। घट गत जो रूपायिगुण त गद्त जो रूपत्व जाति उसके प्रत्यक्ष में संयुक्त समेव सम-वाय सन्निकर्ष है चक्षुः संयुक्त घट तत्समवेत है रूप और रूप में समवाय से रहता है रूपत्व। शब्द के प्रत्यक्ष में समवाय सन्निकर्ष है। करण विवर वर्ती आकाश का नाम है श्रोत्र, उस श्रोत्रात्मक आकाश आकाश गुण शब्य का समवाय है। शब्द गत शब्दत्वजाति के प्रत्यक्ष में समवेत समवाय सन्निकर्ष है, आकाश समवेत है शब्द, और शब्द में शब्दत्व का समवाय है। समवाय रूप संबन्ध के प्रत्यक्ष में तथा अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषण विशेष्य भाव सन्नकर्ष होता है। विशेषण विशेष्य भाव सनिकर्ष होता है। विशेषण विशेष्य भाव से दो संवन्ध निकलते हैं इन्द्रिय संवद्ध विशेषणता तथा इन्द्रिय संवद्ध विशेष्यता। जैसे समवायवान घटः घटाभाव वद् भूतलम्। यहां इन्द्रिय संवद्ध है घठ तथा भूतल, उसमें विशेषण है समवाय तथा अभाव, तो विशेषणता बैठी समवाय और अभाव पर। अतः विशेषण संवन्ध से यथा क्रम दोनों का का प्रत्यक्ष होता है। एवं "घटे समवाय" घठ में समवाय है. भूतले घटाभावः (भूतल में घटाभाव है) यहां इन्द्रिय संवद्ध रिशेष्यता सन्निकर्ष है। यहां इन्द्रिय संवद्ध हैं घट तथा भृतल तद्विशेष्यता है. समवाय तथा अभाव में। प्रथमा विभत्तयन्त विशेष्य कसलाता है। तथा इतर विभत्तयन्त इतर विभत्त-यन्व विशेषण तों मूतले घाटा भावः यहां आधेयता संवन्ध से भूतल है प्रकार और घटाभाव है विशेष्य, इन्द्रिय संवद्ध है भूतल, तन्निप्ठ प्रकारता निरुपित विशेष्यता हैं अभाव में अतः इन्द्रिय संवद्ध विशेष्यता सन्निकर्ष अभाव का प्रत्यक्ष होता है।

एवात्मांधयः परोक्षा एव वा प्रत्यक्षा एव वा स्युः । अर्थत्वेनार्थजन्यधियां तु षोढासन्निकर्षान्यतमजन्यत्वं लक्षणं जन्यसाक्षाद्धीमात्रस्य तु इन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यत्वं एता अपि द्वेधा षोढान्यतमजन्यास्तदजन्याश्च तत्राद्या गन्धादिधियः अन्त्यास्तु योगिधियः तथाहि योगजधर्मसंस्कृतेन मनसा चक्षुरादिना वा

को तादृश ज्ञान में समवायित्व रूप से जनकता हैं । अन्यथा आत्म जन्यत्व सभी ज्ञान में समान है तब आत्म विषयक सभी ज्ञान चाहें परोक्ष रूप कहावें चाहें प्रत्यक्ष रूप कहावें न तु कोई ज्ञान प्रत्यक्ष रूप और कोई ज्ञान परोक्ष रूप नहीं हो सकता । अर्थत्व रूप से अर्थजन्य ज्ञानों का लक्षण तो छै प्रकार के सन्निकर्षान्यतम जन्यत्व ही है। और जन्य साक्षात्कारी ज्ञानमात्र का लक्षण तो इन्द्रियत्वेन इन्द्रियजन्यत्व है । इन्द्रियत्वेन इन्द्रियजन्य ज्ञान भी दो प्रकार का है । छै प्रकार के सन्निकर्षान्यतमजन्यत्व ही है । और जन्य साक्षात्कारो ज्ञान मात्र का लक्षण तों इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय जन्यत्व है । इन्द्रिय जन्यत्वेन इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी दौ प्रकार का है । छै प्रकार के सन्निकर्षान्यतम जन्य और तादृश सन्निकर्ष से अजन्य, उसमें षड्विध सन्निकर्ष सहकृत इन्द्रिय जन्य ज्ञान गत्यादि विषयक होता है और सन्निकर्षाजन्य योगी का ज्ञान है तथाहि योगज धर्म सहकृत मन से अथवा योगज धर्म सहकृत चक्षुरादिक इन्द्रिय से व्यवहित

व्यवहितेषु विप्रकृष्टेषु चक्षुषा रूपवत् स्वपरमाणुष्वपि जन्यते । तदुक्तम् ।

तत्राप्यतिशयो दृष्टः सस्वार्थानतिलङ्घनात् ।

दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ हि न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ।। इति ।

तथा च भगवज्ज्ञानं योगजप्रत्यक्षं च द्वयमलौकिकमेव सामान्यलक्षणया तु यद्धूमादिप्रत्यक्षं तच्चक्षुःसन्निकृष्टांशे लौकिकं शेषे त्वलौकिकम् । एवं सर्वे व्यवसायानुव्यसाया लौकिका व्यत्यये त्वलौकिका इत्युभयेऽप्यमी लौकिकालौकिकरूपा इति ।

विप्रकृष्ट वस्तु विषयक ज्ञान होता है चक्षु से रूप के समान। इसी तरह स्व परमाणु विषयक भी ज्ञान होता है, ऐसा कहा है जहां भी अतिशय देखने में आता है वहां भी स्वार्थ लंघन पूर्वक नहीं, किन्तु दूर सूक्ष्मादि विषयक ज्ञान में न कि रूप में श्रोत्र वृत्तित्व है, अर्थात् योगी भी योगज धर्म के सहकार से जो देखते है सो दूर सूक्ष्म व्यवहिदादि विषय को ही, न कि चक्षु द्वारा शब्द का अथवा श्रोत्र द्वारा रूप का ग्रहण होता है । ऐसा होने से भगवान का ज्ञान और योगज धर्म से जायमान योगी का ज्ञान यह दोनों अलौकिक ज्ञान है । और सामान्य लक्षणा जो धूमादि का प्रत्यक्ष होता है सो चक्षुः सन्निकृष्ट अंश में लौकिक प्रत्यक्ष है और चक्षु से असन्निकृष्ट अंश में तो लौकिक है ही । इसी प्रकार से सभी व्यवसाय और अनुव्यवसाय चक्षुः सन्नि-

एवञ्चानागतगोचरसाक्षात्कारहेतुप्रत्यासत्त्यजन्यप्रत्यक्षत्वं लौकिकप्रत्यक्षाणां लक्षणं लक्ष्यतावच्छेदकं तु तेषां सामान्यप्रत्यासत्त्यजन्ययोगजधर्माजन्यस्वविषयकसविकल्पकाजन्यजन्यप्रत्यक्षत्वं सन्निकृष्टे हि धूमे संयोग एव प्रत्यासत्तिः न तु धूमत्वमेवं व्यवसाये संयुक्तसमवाय एव मनसः प्रत्यासत्तिः न तु ज्ञानलक्षणा अतस्तेऽपि ज्ञाने तयोरंशयोर्ज्ञानसामान्यप्रत्यासत्त्यजन्ये एवेति तदंशे लौकिकप्रत्यक्षे एवेति तदिन्द्रियजन्यत्वं

कृष्टांश में तो लौकिक है और चक्षु के असन्निकृष्ट में अलौकिक है, इसलिये यह दोनों व्यवसाय अनुव्यवसाय लौकिक अलौकिक उभय रूप होता है। ऐसा हुआ तब अनागत विषयक साक्षात्कार का कारण जो प्रत्यासत्ति उससे अजन्य प्रत्यक्षत्व यही लौकिक प्रत्यक्ष का लक्षण होता है। उस समस्त लक्ष्य में रहने वाला लक्ष्यतावच्छेदक धर्म तो सामान्य प्रत्यासत्ति से अजन्य योगज धर्म से अजन्य स्वविषयक सविकल्पक से अजन्य जन्य प्रत्यक्षत्व है, सो ही लक्षणतावच्छेदक है। चक्षुः सन्निकृष्ट धूम में तो संयोग रूप ही सन्निकर्ष है न कि धूमत्व धर्म सन्निकर्ष होता है, न तु ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष होता है। अतः यह दोनों ज्ञान उन दोनों अंशों में ज्ञान सामान्य प्रत्यासत्ति से अजन्य ही है। इस लिये उस अंश में लौकिक प्रत्यक्ष ही कहलाता है।

जन्यप्रत्यक्षस्य तावल्लक्षणमुक्तम् तदयुक्तम् प्रत्यक्षविशेषाणा-मनुगतैकरूपाग्रहे इन्द्रियजन्यत्वग्रहणासम्भवात् । हन्त जन्य-प्रत्यक्षमेव तेषामेकमवच्छेदकं रूपमित्यपि न जन्यत्वेऽप्य-वच्छेदकं रूपमित्यस्यापि मया सुवचत्वादिति मैवम् । जन्यत्वे प्रागभावप्रतियोगित्वमवच्छेदकमिन्द्रियजन्यहेतुजन्यप्रत्यक्षमिति मदुपगमात् । हन्तैवं जन्यप्रत्यक्षत्वमेव तेषामितरभेदकमस्तु न तु नियमतश्चरमवेद्यमिन्द्रिजन्यत्वमिति चेत् । न । उपाय-

---

शंका–जन्य प्रत्यक्ष का आपने क्या लक्षण बनाया तो यही कहियेगा कि इन्द्रियजन्यत्व । परन्तु इन्द्रिय जन्यत्व ज्ञानत्व लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष विशेषों का जब तक अनुगत रूप का परिचय नहीं होगा तब तक उसमें इन्द्रिय जन्यत्व का ग्रहण असम्भवित है । नहीं कहो कि जन्य एवं व्यवसाय से संयुक्त सम वायहि मन का सन्निकर्ष होता है । प्रत्यक्षत्व हो प्रत्यक्ष विशेषों का अवच्छेदक रूप है, सो भी ठीक नहों है, क्योंकि इन्द्रिय जन्यत्व में भी एक अनुगत अवच्छेदक रूप क्या है ? यह भो मैं पूछ सकता हूँ ।

समाधान–प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय जन्य हैं । यहां इन्द्रिय जन्यता में अनुगतैक रूप प्राग भाव प्रतियोगित्व ही अवच्छेदक है । इन्द्रिय जन्य हेतु से जन्य प्रत्यक्ष होता है, ऐसा मेरा सिद्धान्त है । तब तो जन्य प्रत्यक्षत्व को हीं

स्यानुपायतादोषो न तूपायान्तरसंभव इत्याचार्यवचसैव निरस्तत्वात् अभी प्रत्यक्षविशेषा इन्द्रियजन्या इत्यादिना आप्तोपदेशेन द्रागिन्द्रियजन्यत्वस्यैवावगमसम्भवाच्च। एवमर्थजन्यत्वादावप्यूह्यम्। ननु साक्षात्कारिविज्ञानं स्वाविषये साक्षात्कारि भवतु जातेः साधारण्यादिति चेत्। धिङ्मूर्ख यदि स्वाविषयः

प्रत्यक्ष विशेषों का इतर भेद नहीं, वे नियमतः चरम वेद्य इन्द्रिय जन्यत्व को इतर व्यावर्तक क्यों मानते हैं ? इसका उत्तर यह है कि उपाय (कारण) में अनुपायता दोष है, न कि उपायान्तर का संभव होता है। यह जो आचार्य का बंचन है उसो में इस प्रश्न का निराल हो जाता है, "अभी प्रत्यक्ष विशेषाः" वे प्रत्यक्ष विशेष इन्द्रियजन्य हैं, इत्यादि आप्तोपदेश से झटिति इन्द्रियजन्यत्व का ही अवगम (ज्ञान) हो जाता है। इसी प्रकार से अर्थ जन्य प्रत्यक्ष है, इस लक्षण में भी स्वयमेव अवच्छेदक को जानना चाहिये।

शंका—साक्षात्कारी विज्ञान स्व के अविषय में भी साक्षात्कारी बनें, क्योंकि जाति तो सर्वसाधारण है (जाति को कालिक व्यापकता मान करके प्रश्न है, उनका कहना है कि चाहे कोई भी जाति हो किन्तु वह सर्व गत हैं। इस अभिप्राय को लेकर के प्रश्न किया है—साक्षात्व जाति स्वाविषय में भी रहा व्यापकत्व होने से।)

कथं विषयसप्तमीयं स्वाविषय इति । अथ सोपि स्वाविषय एव कथन्तर्हि स्वाविषयो विरोधात् । ननूक्तिदोषोयं तथा च साक्षात्कारिज्ञानं स्वविषयमिव तदन्यपि प्रतिसाक्षात्कारि भवतु यथा गौः सर्वं प्रति गौरिति चेत् । बाढम् । साक्षात्त्वं हि जातिर्गोत्ववत् सर्वसाधारणी । यथा हि गौः सर्वं प्रति गौस्तथा साक्षात्कार्यपि सर्वं प्रति साक्षात्कार्येव सर्वं स्तथा

उत्तर–अरे मूर्ख ! यदि स्व अर्थात् साक्षात्कारी का अविषय है तब 'स्वाविषय' यह विषय सप्तमी कैसे हो सकती है ? यदि कहो कि परत्वेन विवक्षित भी स्व का विषय ही है, तब तो स्वाविषये, इसमें विरोध होता है । स्वविषय स्वविषय विरुद्ध वस्तु है ।

प्रश्न–स्व विषय स्व विषये यह तो केवल निर्वचन दोष है, तब जैसे साक्षात्कारी विज्ञान साक्षात्कारी ज्ञान हैं वैसे ही विष यान्तर के प्रति भी वह साक्षात्कारी होवे । जैसे गो सभी के प्रति गो ही है, न कि किस के प्रति गो है और किसी के प्रति अगो हैं, ऐसा कहो तो ठीक है, किन्तु साक्षात्य तो जाति है, गोत्व जाति की तरह सर्व साधारणी हैं । जैसे गो (गाय) सभी के प्रति गाय ही है उसी तरह ऐसे साक्षात्कारी भी सभी के प्रति साक्षात्कारी ही है, क्योंकि सभी व्ययहार करने वाला पुरुष साक्षात्कारी रूप से ही व्यवहार करता है । इसलिये जिस प्रकार से उस साक्षात्कारी ज्ञान का

व्यवह्रियमाणत्वादिति यथा तस्याः साक्षाद्धियो व्यवहर्तृषु साधारण्यं तथा विषयेष्वपि साधारण्यं ब्रूम इति चेत् । हन्त तस्याः साक्षात्त्वं नानानिरूप्यं जातित्वादिति साक्षात्कारिणी भवत्येव किन्तु विवक्षितविवेकेन सर्वविषया सा भवत्वित्यापादनार्थः । स चायुक्त आपादकाभावात् । न हि घटमात्र

व्यवहार करने वाले पुरुषों में समानता है, जैसे ही उस साक्षात्कारी ज्ञान को सभी विषयों में समानता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

उत्तर—हंत, साक्षात्बुद्धि का जो साक्षात्व है सो जाति रूप होने से नाना (अनेक) रूप है. इसलिये वह ज्ञान सव के प्रति साक्षात्कारी ही है, किन्तु विवक्षित विवेक से वह ज्ञान सर्व विषयक बनै यह आपके आपादन का अर्थ है, सो अयुक्त हे । क्योंकि आपादक कोई नहीं है । क्या घट मात्र विषयक ज्ञान को पर विषयता में कोई आपादक है ? अर्थात् नहीं हैं । साक्षात्व जाति साक्षात्करोमि इत्याकारक जो अनुग व्यवसाय ज्ञान उससे सिद्ध है इसलिये इसमें प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है । न वा निर्वाचन की आवश्यकता है । क्योंकि जाति रूप होने से गोत्वादि की तरह अखंड है । ऐसा होने पर साक्षात्कारी ज्ञानाकरणक ज्ञान का साक्षात्व धर्म (साक्षात्व जाति रहित) परोक्षज्ञान से भेद ज्ञान का जनक है यह सिद्ध हुआ । सूत्र में जो

विषयाया धिय पटविषयत्वे किमप्यापादकमस्तीति साक्षा-त्त्वञ्च साक्षात्करोमीत्यनुगताव्यवसायसाक्षिकमिति न तत्र मानान्तरापेक्षा नापि निर्वचनापेक्षा जातित्वेनाखण्डत्वात् गोत्वादिवत् । एवञ्च ज्ञानाकरणकानां ज्ञानानां साक्षात्कारित्वं तच्च जातित्वरहितेभ्यः साक्षात्कारिणां भेदधीजनकमिति सिद्धम् । इन्द्रियार्थेत्यादि तु तदुपलक्षणम् । न चात्राधिक्यं एकैकमेव तदुपलक्षणात् अवांतरलक्षणाच्च । अस्तु वा लक्षण

इन्द्रियार्थ सन्निकर्षादि पद हैं सो उपलक्षण है । उपलक्षण में आधिक्य नहीं है । क्योंकि एक उपलक्षण हैं. अथवा आवान्तर लक्षण है । अथवा सूत्रोक्त जो लक्षण है सो व्यवहार का साधक बनें । (इतर भेदानुमिति अथवा व्यव-हार यही लक्षण का कार्य है. ऐसा नियम है, तदनुसार यह प्रत्यक्ष का लक्षण प्रत्यक्ष व्यवहार का साधक बनो) तथा हि यह जो लक्षण वाक्य है सो वादो वाक्य से अप्रामाण्य शंका से आक्रान्त होने के कारण अप्रतिहत होकर के व्यवहार कराने में यद्यपि समर्थ नहीं है, तथापि न्याय प्रयोगवान अनुमान को उत्थापित करके व्यवहार कराया । जैसे उक्त जो ज्ञान अर्थात् ज्ञानाकरणक जो ज्ञान सो साक्षात्कारी होने के कारण प्रत्यक्ष रूपेण व्यवहार करने के योग्य है । यह अनुमान अन्वय व्याप्ति ग्राहक प्रमाण का अभाव होने से अन्वयी अनुमान नहीं है तथापि

स्य प्रत्यक्षव्यवहारसाधकत्वम् । तथाहि इदं हि लक्षणवाक्यं वादिवाक्यत्वाद्याप्यप्रामाण्यशंङ्काग्राहतया नाहत्य व्यवहारयति तथापि न्यायप्रयोगवदनुमानमुत्थाप्य व्यवहारयिष्यति । तद्यथा उक्तज्ञानानि प्रत्यक्षत्वेन व्यवहर्तव्यानि साक्षात्कारित्वात् । अयं च अन्वयी न सम्भवयन्वयाग्रहादिति व्यत्तिरेकितया परिणमत इति तावत् न्यायमतम् । तत्खण्डनन्तु व्यवहार-

---

यहीं अनुमान जो अन्वयी अनुमान रूप में प्रतिभासित होता है सो व्यतिरेकी अनुमानाकारेण परिणत हो जाता है, ऐसा न्याय का मत है। खण्डनकार ने इसका खण्डन वक्ष्यमाण प्रकार से किया है। तद्यथा–व्यवहार विशेष लक्षण साध्य होता है अथवा व्यवहार विशेष की कतव्यता लक्षण साध्य है ? इसमें अन्तिम पक्ष अर्थात् कर्तव्यता पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि जो जिस चीज को नहीं जानता है उसको उसकी कर्तव्यता नहीं जनाई जा सकती है। क्या वह्नि को जो नहीं जानता है उसको अनुमानादि द्वारा पर्वतादिक में वह्नि संबन्ध को समझाया जा सकता है ? अर्थात् नहीं। अर्थात् जो जिस वस्तु को जानता हैं उसी को उस वस्तु का ज्ञान लिंगादि द्वारा अन्यत्र कराया जा सकता है। अथ कहो कि वह व्यवहार विशेष को जानता है तब तो लक्षण का निर्माण निरर्थक होता है, क्योंकि लक्षण का फल जो व्यवहार विशेष सो तो स्वतः सिद्ध

विशेषो लक्षणसाध्यः तत्कर्तव्यता वा। नान्त्यः। न हि तदनभिज्ञः तत्कर्तव्यता ग्राहयितुं शक्यः न हि वन्ह्यनभिज्ञो वन्हिसम्बन्धं ग्राह्यते। अथ व्यवहारविशेषाभिज्ञ एवं लक्षणोद्देश्यो व्यर्थः कथन्तर्हिं लक्षणं तत्फलस्य व्यवहारविषस्य स्वतः सिद्धत्वात्। आद्येऽपि व्यवहारविशेषो लक्षणेनानुमेयो न तु जननीयो मानस्य मेयाजनकत्वात्। तथा च स ज्ञानविशेषजन्यो वाच्यः ज्ञानविशेषश्चर्थविशेषाधीनः ज्ञानस्य स्वतो

है। इसलिये अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह जो व्यवहार विशेष है सो लक्षण द्वारा अनुमेय मात्र है न कि अनुमान से व्यवहार जन्य हो सकता है, क्यों ? तो प्रमाण प्रमेय का ज्ञापक मात्र होता है जनक नहीं होता। अर्थात् जिस तरह दण्ड से घट पैदा होता है उस तरह प्रमाण से प्रमेय पैदा नहीं होता। किन्तु जैसे प्रदीप से घट ज्ञाप्य होता है वैसे ही प्रमाण से प्रमेय ज्ञाप्य होता है। हेतु दो प्रकार का होता है एक कारक और दूसरा ज्ञापक। दंडादिक कारक हेतु है और प्रदीप प्रमाण आदि ज्ञापक हेतु कहाता हैं। तब तो उस ज्ञान विशेष से जन्य कहना होगा (प्रमाण को प्रमेय जन्यता पक्ष में) और ज्ञान विशेष अर्थ विशेष के अधीन होता है, क्योंकि ज्ञान में स्वतः कोई भी विशेषता नहीं होती है। और अर्थ केवल ज्ञान से नही हो सकता है, अतिप्रसंग होने

विशेषाभावात् । अर्थविशेषश्च न प्रमामात्रात् सिध्यति अति-प्रसङ्गात् । न हि घटप्रमया पाटरूपेऽर्थविशेषः सिध्यति । नापि तत्तदर्थोपलक्षितप्रमया तत एव । नापि तत्तदर्थविशेषितप्रमया आत्माश्रयापत्तेः । तदुक्तम् ।

नात्यापत्त्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोदिताः ।
तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥

से । क्या घट की प्रमा से पट रूप अर्थ की सिद्धि होती है ? नहीं होती । न वा तत् तदर्थ विशेषोपलक्षित से अर्थ विशेष की सिद्धि हो सकती है, उक्त दोष से हो । अर्थात् घट प्रमा में पट रूप अर्थ की सिद्धि की आपत्ति हो जायगी । न वा तदर्थ विशिष्ट प्रमा से तत्तदर्थ को सिद्धि कह सकते हैं, आत्माश्रय दोष हो जायगा । अर्थात् अर्थविशिष्ट प्रमा से अर्थ की सिद्धि मानें तो अर्थोत्पत्ति में विशेषण रूप से अर्थ की जनकता होने से स्व को स्व में कारणता होने के आत्माश्रय दोष हो जायगा । ऐसा खण्डन ग्रन्थ में कहा भी है । केवल ज्ञान से तत्तदर्थ को सिद्धि को कहना उचित नहीं होगा । क्योंकि अर्थापत्ति होने से । श्लोकस्थ अत्या-पत्ति शब्द का अर्थ है अतिप्रसंग । अर्थात् घट प्रमा से पट प्रसिद्धि लक्षण अति प्रसंग है । यदि तदर्थ विषयक ज्ञान से तदर्थ की सिद्धि मानो तो स्वाश्रय आत्माश्रय दोष की चिकित्सा कौन कर सकेगा ? अर्थात् आत्माश्रय दोष का

न च तत्तदर्थाहितविशेषया प्रमया अर्थविशेषसिद्धिः ज्ञानस्यार्थाहितविशेषाङ्गीकारे हि साकारपक्षप्रवेशः स्यात् । तदुक्तम् ।

अथान्यः सविशेषश्चेत्तद्धीत्वं कश्चिदिष्यते ।
दत्तः साकारवादाय विष्टरः स्पष्टमेव तत् ॥

अथ तद्धीत्वमनुमात्वादिवदर्थादुत्थास्नुस्तदार्थमन्तरेणैव स्यादित्यर्थो विलीयेत । तदुक्तम् ।

अर्थादुत्थास्नवो धर्मा नानुमात्वादयो यथा ।
तद्धीत्वमपि तद्वत्स्या दित्यर्थोऽनर्थमाविशेदिति ॥

परिहार नहीं होता है । नहीं कहो कि तत्तदर्थ विशेष से आहित जनित (उपलक्षित) प्रमा से तत्तदर्थ विशेषण सिद्धि को मानो तब तो ज्ञान में अर्थाहित विशेषता का स्वीकार करने से साकारवाद पक्ष में प्रवेश हो जायगा । खण्डनग्रंथ में कहा भी है, अथान्य इत्यादि—अर्थ शब्द जो श्लोकघटक है सो पक्षान्तर बोधक है, यदि ज्ञान में अन्य प्रकार का तद्धीत्व रूप विशेषता कहोगे तब तो साकार वाद के लिये स्पष्ट रूप से आसन देंगे । अर्थात् ज्ञान में अर्थ रूप विशेषता को मान लें तब तो साकार विज्ञान वादी के मत में आपका प्रवेश अनिवार्य रूप से हो जाता है । उस ज्ञान विशेष में तज्ज्ञान विषयक ज्ञानान्तर को प्रमाण कहेंगे, पुनः उस ज्ञानान्तर में ज्ञानान्तर विषयक ज्ञानान्तर को

तस्मिन्नपि तद्धीविशेषे तद्विषयकस्तद्धीविशेषः प्रमाणमेवं तत्राप्येवं तत्रापि । तथा चानन्तायां तद्धीविशेषधारायां तद्धीनिर्वचनोक्तदूषणानि प्रसज्जतीत्याशयेन

सोऽपि वा धीविशेषः किं स्वीकार्यस्तद्धियं विना ।
एवञ्च सोऽपि सोऽपीति नान्तः सोपानधावने ॥

एवमेव दोषो मन्मतानुसारेण परन्न लगतीति प्रश्नपूर्वकमाह

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदस्तुगतिस्तद्वद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥

प्रमाण कहेंगे तो इस प्रकार अनन्त ज्ञान धारा को मानने से ज्ञान के निर्वचन में कथित अनवस्था दोष होता है, इस आषय से खण्डनकार ने कहा है कि सोपि वाधी विशेष इत्यादि, सोपि वह भी पट विषयक ज्ञान विशेष घट ज्ञान विषयक ज्ञान के बिना स्वीकार्य होगा? अर्थात् नहीं स्वीकार्य होगा । ऐसा होने पर भी वह घट ज्ञान विषयक विशेष ज्ञान भी स्व स्वविषयक ज्ञान के बिना स्वीकार्य होगा । अर्थात् तब तो ज्ञान का सोपान परम्परा होने से अनवस्था हो जाती है । इस प्रकार का यह दोष मेरे मतानुसार दूसरे को नहीं लगता है । इस बात को प्रश्न पूर्वक कहते हैं । समस्तलोकेत्यादि—तत्तस्मात् समस्त लोक तथा शास्त्र के ऐक्य मत को लेकर के चलने वाला तत्तद्वस्तुका व्यवहार तथा तत्तद्धी व्यवहार की क्या गति होगी । उत्तर में द्वितीय

उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशकनीययोः ।
अनिर्वचनतावादपादसेवा गतिस्तयोः ॥

अत्र ब्रूमः । यो हि तास्ताः प्रत्यक्षव्यक्तीः प्रत्यक्षतया व्यवहरति व्यवहारः सनिमित्तक इति च जानाति अप्रत्यक्ष-व्यवहारे किं निमित्तमिति बुभुत्सते तं प्रति साक्षात्कारित्वं लक्षणमुपतिष्ठते । तच्च साक्षात्कारित्वमनुमानच्छायामवलम्ब्य व्यवहारयति तत्रापि साक्षात्कारित्वव्यवहारयोः पक्षादन्यत्रा-

---

श्लोक कहते हैं तत्तात्मत को लेकर के उपपादन करने में अशक्त उन दोनों वस्तु के व्यवहारधी व्यवहार को अनिर्वच-नीयता वाद की पद सेवा ही शरण है। अर्थात् किसी के मत से उपपादन नहीं हो सकने से अनिर्वचनीयता मत का अनुसरण कर लें तभी कल्याण है अन्यथा नहीं ।

समाधान—जो व्यक्ति विशेष तत्तत्प्रत्यक्ष व्यक्ति का प्रत्यक्षत्य रूप से व्यवहार करता है तथा यह भी जानता है कि जो व्यवहार होता है सो सनिमित्ताक (कारण मूलक) होता है अर्थात् व्यवहार का कारण कोई अवश्य होता है तथा प्रत्यक्ष व्यवहार में निमित्त क्या है ? इस बात को जानने की इच्छा रखता है, उस व्यक्ति विशेष के लिये साक्षात्कारित्व रूप प्रत्यक्ष लक्षण उपस्थित होता है । वह साक्षात्कारित्व अनुमान छाया का अवलंबन करके व्यवहार करता है । इसमें भी पक्ष से अतिरिक्त स्थान में

सतोरन्वयव्याप्त्यनवधारणात् लक्षणं व्यतिरेक्यनुमानमिति पर्यवस्यति । ननूक्तव्यवहारोत्पत्तये ज्ञप्तये वा नानुमितिः व्यवहर्तरि तयोः सत्त्वादेवेति चेत् । मैवम् । प्रत्यक्षधियां प्रत्यक्षत्वेन व्यवहारः साक्षात्कारित्वनिबन्धनः निबन्धनान्तराभावे सति सनिबन्धनत्वात् साक्षात्कारित्वान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्धेत्यस्य मानार्थत्वात् । एतेन प्रत्यक्षत्वेन व्यवहारः प्रत्यक्षपदप्रयोगरूपः सोऽपि तत्प्रयोगे साक्षात्कारित्व-

---

नहीं रहने वाले साक्षात्कारित्व तथा उनके व्यवहार में अन्वयव्यापिका का निश्चय नहीं होने से यह लक्षण व्यतिरेकी अनुमान में पर्यवसित होता है । (पक्षव्यतिरिक्त स्थल में साध्य साधन का जहां सामानाधिकरण्य अवगत रहता है वहीं अन्वय व्याप्ति होती है, जैसे धूम और वह्नि का महानस में सहचार देखने के पीछे ही जहां जहां धूम रहता है वहां वहां वह्नि रहती है, एतादृश निश्चय से धूम में वह्नि की अन्वय व्याप्ति गृहीत होती है । जहां हेतु साध्य का सामानाधिकरण्य पक्ष व्यतिरिक्त स्थल दृष्टांत में नहीं रहता है, वहां अन्वय व्याप्ति नहीं होती है किन्तु व्यतिरेक व्यप्ति होती है । प्रकृत में हेतु साध्य पक्षातिरिक्त में नहीं रहता है इसलिये अन्यव व्याप्ति नहीं होती किन्तु व्यतिरेक व्याप्ति होने से प्रकृतानुमान व्यतिरेकी कहलाता है ।)

प्रश्न—प्रत्यक्ष व्यवहार की उत्पत्ति के लिये अथवा

स्यान्वयव्यतिरेकितयैव सेत्स्यति किं तदर्थं लक्षणप्रणयनेने- त्यपास्तम् । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामपि प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वा- दिकमपि यदवगन्तव्यं तदपि व्यतिरेकव्याप्तिबलेनैव न त्वेतद्व्यतिरेकयोः सामानाधिकरण्यमात्रबलेन अप्रयोजकत्वात् । तस्माच्चतुर्थविकल्पोऽयं नानिष्टाय । एवञ्च जन्नगडदशादि- शब्दवाच्यतानुमानमप्यपास्तं व्यतिरेकव्याप्तिविरहात् । एवं युक्तो व्यतिरेक्यनुमानात्मकस्य लक्षणस्य प्रयोगः । व्यवहा-

---

ज्ञान के लिये अनुमिति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व्यवहार और ज्ञान तो व्यवहार करने वाले पुरुष में है ही । जब प्रत्यक्षादि प्रमाण से पर्वत रूप अधिकरण में वह्नि ज्ञात नहीं रहतो है तब पर्वत में वह्नि को जानने के लिये अनुमिति की जाती है और पर्वत में वह्नि ज्ञात रहती है तब अनुमान को आवश्यकता नही होती । अनुमान में सिद्ध साधन दोष हो जाता हैं । उसी तरह प्रकृत में जब व्यवहर्ता पुरुष को व्यवहार है तथा उसका ज्ञान है तब अनुमान की क्या आवश्यकता है ? प्रत्युत इस स्थिति में अनुमान करने से अनुमान में सिद्ध साधन दोष होता है, ऐसा पूर्व पक्षी का अभिप्राय है ।

समाधान–प्रत्यक्ष बुद्धि का प्रत्यक्ष बुद्धि रूप से जो व्यवहार होता है । इयं प्रत्यक्ष बुद्धि इयं प्रत्यक्ष बुद्धिः इत्याकारक, । सो साक्षात्कारित्व निबंधन है, अर्थात् साक्षा-

रविशेषश्च प्रत्यक्षत्वेन व्यवहारः तद्धेतुश्च ज्ञानगतो विशेषः स च साक्षात्कारिलक्षणजातिरूपः। एवञ्च स जातिविशेषो यस्मिन् ज्ञानेऽस्ति स ज्ञानविशेषस्तज्जातियोगेन हेतुना

त्कारि रूप कारण से जायमान है। व्यवहार में व्यवहर्तव्य पदार्थ को कारणत्व होने से। निबंधान्तर के अभाव पूर्वक होकर के सनिबंधन होने से। अर्थात् एतादृश व्यवहार में अन्य कोई कारण नही है। और सकारणक होने से और कोई कारण नहीं है और सकारणक है इससे साक्षात्कारित्व प्रयोज्यत्व सिद्ध होता है। अथवा साक्षात्कारित्व का जो अन्वय व्यतिरेक तदनु-विधायी होने से। जो यदनुविधीयो होता है सो तन्मूलक होता है। जैसे घट व्यवहार, घटान्वयव्यतिरेकानुविधायी होने से घट कारणक होता हैं। उसी प्रकार से प्रत्यक्ष बुद्धि में भी जो इयं प्रत्यक्ष बुद्धिः इयं प्रत्यक्ष बुद्धिः इत्याकार व्यवहार है सौ अवश्य साक्षात्कारित्व का अन्वय व्यतिरेकानु विधायी होने से सांक्षात्कारत्व मूलक है। यही अनुमान प्रकृत में प्रमाण होता है।

एतेनेत्यादि–इससे प्रत्यक्षत्व रूप से होने वाला व्यवहार, प्रत्यक्ष पद प्रयोग रूप है, वह भो प्रत्यक्ष पद के प्रयोग में

प्रत्यक्षत्वेन प्रकारेण व्यवह्रियते । न च साध्यप्रसिद्ध्यर्थप्रासिद्ध्यादोंषः घटप्रत्यक्षादौ प्रसिद्धस्य प्रत्यक्षयत्वव्यवहारस्यान्वयव्याप्त्यप्रतिसन्धाने ज्ञानाकरणकज्ञानत्वावच्छेदेन साक्षात्कारित्वेन व्यतिरेकिणा साधनात् । इतरभेदानुमाने न्यायाचार्या अप्येवमिति सर्वं सुस्थम् ॥

साक्षात्कारित्व के अन्वयव्यतिरेक रूप से ही सिद्ध होगा । तब वाद्दश व्यवहार के लिये लक्षण निर्माण करने का जो प्रयास है सो निरर्थक है। जिनका एताद्दश कथन था सो भी परास्त हो गये । क्योंकि अन्वय व्यतिरेक के द्वारा भी जो प्रत्यक्ष शब्द वाच्यत्व को जानेंगे सो भी व्यतिरेक व्याप्ति के बल से ही जान सकेंगे नतु इन दोनों व्यतिरेक के सामानाधिकरण्य मात्र के बल से, क्योंकि सामानाधिकरण्य मात्र के अप्रयोजक होने से । तस्मात् इसलिये ये जो चतुर्थ विकल्प है सो अनिष्टाधायक नहीं होता है । इससे जबगडदशादि शब्द वाक्यत्व का जो अनुमान किया सो भी परास्त हो गये । क्योंकि जबगड्दश इत्यादि स्थल में व्यतिरेक व्याप्ति का अभाव होने से । प्रत्यक्ष में जो प्रत्यक्ष शव्द वाच्यता का साक्षात्कारित्व हेतु से अनुमान किया गया है । उस अनुमान में व्यतिरेक द्वय की व्याप्ति है, किन्तु जवगडदशादि ताद्दश व्यवहार करने के हेतु में व्यतिरेक व्याप्ति उपलब्ध नहीं होती है । ऐसा होने से व्यतिरेकी अनुमान रूप लक्षण का जो प्रयोग किया गया सो अत्यन्त उपयुक्त ही है । प्रत्यक्ष

का व्यवहार विशेष क्या है ? तो इदं प्रत्यथ-मिदं प्रत्यम् इत्याकारक ही है। अर्थात् इदं प्रत्यक्षम् इस व्यवहार का नाम हो व्यवहार विशेष है इस व्यवहार का हेतु अर्थात् कारण ज्ञान में रहने वाला विशेष है, वह विशेष क्या है ? तो साक्षात्कारित्व लक्षण जाति रूप है। ऐसा होने से वह साक्षात्कारित्व लक्षण जाति विशेष जिस ज्ञान में समवाय सम्बन्ध से रहता है सो ज्ञान विशेष (अर्थात् साक्षात्कारि लक्षण) उस साक्षात्कारित्व जाति के सम्बन्ध रूप हेतु से प्रत्यक्षत्व प्रकार से व्यवह्रियमाण होता है। अर्थात् वह ज्ञान यथोक्त जाति के सम्बन्ध से प्रत्क्षय रूपेण व्यवहृत होता है। नहीं कहो कि प्रकृत में प्रत्क्षत्व व्यवहार रूप साध्य प्रसिद्ध है कि अप्रसिद्ध ? यदि प्र सिद्ध है तब उसका साधन हो ही कैसे सकता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योकि घट प्रत्यक्ष में प्रसिद्ध जो प्रत्यक्षत्थ व्यवहार है, उस प्रत्यक्षत्व व्यवहार को अन्वय व्याप्ति का अननुसन्धान दशा में ज्ञानाकरणक ज्ञानत्वावच्छेदेन अर्थात् सफल ज्ञानाकरणक ज्ञान रूप पक्ष में साक्षात्कारित्व रूप व्यतिरेक व्याप्ति विशिष्ट व्यतिरे की हेतु द्वारा सिद्ध किया जाता है। अन्वय व्याप्ति काल में व्यतिरेक व्याप्ति विशिष्ट धूम रूप हेतु से जो कि उस समय में व्यतिरेकी कहाता है, उससे पक्ष पर्वता-दिक में वह्नि की सिद्धि होती है इतर भेदानुमान स्थल में। जैसे कि पृथिवी पृथिवीतर से भिन्न है गन्धवती होने

ननु भवत्वेवं तथापि प्रमामात्रेण वा अर्थविशेषः स्वीकार्यः तदर्थविषयकप्रमया वा तदर्थाहितविशेषया वा । प्रमयेत्यत्र न किञ्चिदुक्तमिति चेत् । त्वयापि न किञ्चिदुक्तम् । तथाहि न हि प्रमया स्वीकारोऽभेदात् किन्तु प्रमाणेन अर्थार्थान्विताभ्यु-

---

से । इत्यादिक में जो इतर भेदानुमान होता है वहां न्याया-चार्य उदयन प्रभृतिक की मान्यता भी इसो प्रकार की है। यह सब बात ठीक ही है। इस स्थिति में केवल प्रतिवादियों का धूली प्रक्षेप मात्र है, खण्डन में वास्तविकता नहीं है। जो भी खण्डन प्रतीत होता है सो आपाततः छल है।

शंका—ऐसा ही होवे। फिर भी प्रमा मात्र से अर्थ विशेष को स्वीकार करते हैं अथवा तदर्थ विषयक प्रमा से अर्थ को स्वीकार करते हैं ? अर्थात् तदर्थोपलक्षित प्रमा से तदर्थ को स्वीकार करते हैं ? अथवा तदर्थाहित प्रमा विशेष से अर्थात् तदर्थ विशिष्ट प्रमा से तदर्थ को मानते हैं ? इस विषय में तो आपने कुछ नहीं कहा ?

उत्तर–आपने भी तो इस विषय में कुछ नही कहा, तथाहि प्रमा से प्रमा का स्वीकार हो नहीं सकता है क्योंकि ऐसा मानने से आत्माश्रय दोष हो जायगा। किन्तु प्रमाण से अर्थ विशिष्ट ज्ञान का स्वीकार किया जाता है।

प्रश्न–तो उसी में पूछता हूँ कि उपर्युक्त जो तीन विकल्प हैं, उननें से किस को निमित्त मानते हैं ? यह

पगमस्वीकारः । तत्र यथोक्तत्रितयमध्ये किं निमित्तमिति मद्वाक्यार्थं इति चेत् । तेनार्थेन समं स्वभावसम्बन्धेन यथार्थ-बोधेन स स्वीकार्यं इत्यवेहि । तथा चार्थो ज्ञाने विशेषणम् । ज्ञानस्य तु तदर्थकस्य तदर्थव्यवहारजनने उपलक्षणं रूपवति रस इत्यत्र यथा धर्मिणि रूपं विशेषणं रसवृत्तौ तूपलक्षणं

मेरे पूछने का अभिप्राय है ।

उत्तर—तत्तादर्थ के साथ यथार्थ ज्ञान का जो स्वभाव सम्बन्ध है तादृश सम्बन्ध के बल से तदर्थ को स्वीकार करना, ऐसा उत्तर समझो । इससे यह सिद्ध हुआ कि अर्थ ज्ञान में विशेषण है और तदर्थक ज्ञान जब तदर्थ विषयक व्यवहार का समर्थन करता है उस समय में वह अर्थ उस ज्ञान का उपलक्षण है । जैसे रूपवान में रस रहता है. यहां धर्मी आम्रादिक फल में रूप विशेषण है । और रस वृत्तिता में वही रूप उपलक्षण होता है । क्योंकि रूप स्वाश्रय अधिकरण को इतर अर्थात् अरूपी से व्यवच्छिन्न करता है (फल रूपवान होने से अरूपी से भिन्न है । इस प्रकार अनुमान से इतर भेद की सिद्धि करता है) तथा क्रिया में अन्वयी नहीं होता हैं तो रूप विशेषण भी हैं और कार्य विशेष में उपलक्षण हो जाता है । इसी प्रकार से ज्ञान में अर्थ विशेषण भी है और अर्थ विषयक व्यवहारोप-पादन समय में ज्ञान का उपलक्षण भी होता हैं ।

आश्रयव्यवच्छेदकत्वे सति क्रियानन्वयित्वात् । न हि ज्ञानं विशिषन्नप्यर्थो व्यवहारं जनयत्यतीतादिसःधारण्यात् । नापि व्यवहारं विशिषन्नप्यर्थो ज्ञानेन जन्यते ज्ञानस्य तत्प्राक्सत्त्वनियमाभावात् । नाप्यर्थो ऽर्थेन जन्यते आत्माश्रयादित्यर्थगत्यैवार्थस्योपलक्षणतेति तदेव तत्रैव तदैव विशेषणञ्चोपलक्षणञ्चेति महद्वैशसमिति चेत् । न । अबोधात् तत्र हि तद्विशेषणमेव घटे

अर्थ विषयज्ञान को यद्यपि विशिष्ट बनाता है तथापि व्यवहार का उत्पादन नही करता है, क्योंकि अतीतादिक में अर्थ नहीं रहता है। न वा अर्थ व्यवहार को विशिष्ट बनाता हुआ भी ज्ञान से अर्थ जन्य नहीं होता है। क्योंकि नियमतः अर्थ के पूर्व वृत्ति ज्ञान नहीं रहता है। न वा अर्थ अर्थ से जन्य होता है क्योंकि आत्माश्रय हो जायगा। इसलिके अगत्या अर्थात् प्रकारान्तर का अभाव होने से अर्थ ज्ञान का उपलक्षण है।

प्रश्न—वह अर्थ उसी में उसी काल में विशेषण भी है और उपलक्षण भी है, यह दोनों विरुद्ध होने से बड़ा विलक्षण मालूम होता है।

उत्तर—अबोधादिति—आप इस बात को समझ नहीं सके। उस ज्ञान में अर्थ विशेषण ही है, जैसे घट में रूप विशेषण होता है। ज्ञान से जब प्रत्यक्ष व्यवहार का उत्पादन होता है, उस व्यवहारार्जन में अर्थ को अनंग

रूपवत् ज्ञानस्य तु प्रत्यक्षव्यवहारार्जनेऽनङ्गत्वादुपलक्षणं शेष-मशेषं प्रत्यक्षखण्डनं कल्पितदूष्यत्वादुपेक्षितमिति । ननु साक्षात्त्वं जातिरव्याप्यवृत्ति तथा च परमाणौ । ननु व्यव-सायो व्यवसाय इव परमाणोरपि साक्षात्कारी स्यादिति चेत् । बाढं किन्तु स व्यवसेयांशे त्वलौकिको ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति-

---

अर्थात् अनुपयोगी होने से उपलक्षणत्व होता है । इसके अतिरिक्त जो कुछ प्रत्यक्ष का खण्डन किया है सो कल्पित दूष्य होने के कारण से उपेक्षणीय है ।

शंका–जो यह साक्षात्व जाति है सो अव्याप्य वृत्ति है, क्योंकि घट प्रत्यक्ष में साक्षात्व है और परमाणु ज्ञान में साक्षात्व नहीं है ।

उत्तर–जाति व्याप्य वृत्ति ही होती है, अव्याप्य वृत्ति नहीं, घटत्वादि जाति में ऐसा ही देखने में आता है । इसी बात को शंका समाधान पूर्वक अग्रिम प्रकरण से बताते है । "ननु व्यवसायोव्यवसेय इत्यादि"

शंका–जैसे व्यवसाय ज्ञान व्यवसेय अंश में अर्थात् पटादि अंश में साक्षात्कारी होता हैं उसी तरह से परमाणु अंश में साक्षात्कारी होना चाहिपे ।

उत्तर–ठीक है, किन्तु व्यवसाय ज्ञान व्यवसेय अंश में तो अलौकिक है, ज्ञान लक्षणासन्निकर्ष से जायमान होने से । और व्यवसायांश में तो लौकिक है मनः संयुक्तात्म-

जन्यत्वात् । व्यवसाये तु लौकिकः संयुक्तसमवायजन्यत्वात् । हन्तैव लिङ्गबुद्धिलक्षणया प्रत्यासत्त्या वह्निरपि मानसो ऽस्त्विति चेत् । केयं लिङ्गबुद्धिः । वह्निनिरूपितव्याप्त्युपहित-पक्षधर्मधीविंशेषणं वह्निमपि स्पृशन्ती भवति वह्निमनसोः प्रत्यासत्तिरिति ब्रूम इति चेत् । तर्हि तादृशलिङ्गधीर्मानान्तर-

---

समवाय संनिकर्ष से जायमान होने के कारण ।

प्रश्न—यदि लौकिकालौकिक साधारण सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान का समर्थन करते हैं तब तो लिंग ज्ञान लक्षणा सन्निकर्ष से पर्वत में वह्नि ज्ञान भी मानस प्रत्यक्ष होगा । नहीं कहो कि इष्टापत्ति है । सो कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानोगे तव तो प्रत्यक्ष धर्मिक अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा ।

उत्तर—यह लिंग बुद्धि क्या है ? जिसको मन का सन्निकर्ष कहते हो । वेदान्ती कहते हैं कि वह्नि निरूपित जो व्याप्ति, तदुपहित पक्ष धर्म धूम ज्ञान, वह धूम ज्ञान स्व धूम ज्ञान उसका विशेषण धूम, धूम का विशेषण व्याप्ति द्वारा वह्नि उस वह्नि को स्पर्श (ग्रहण) करने वाली बुद्धि ही वह्नि मन की प्रत्यासत्ति अर्थात् सन्निकर्ष है, ऐसा मैं कहता हूँ। इसका उत्तर नैयायिक कहते हैं कि तव तो एतादृश लिंग बुद्धि को अकामेनापि प्रमाणान्तर अवश्य मानना पड़ेगा, और उसी प्रमाणान्तर के बल से

मित्यकामेनाप्युपेयं तदवष्टम्भेन मनसो बहिः प्रवृत्तेश्चक्षुर्वत्।
एवं प्रत्यभिज्ञापि साक्षात्त्ववती तमिमं साक्षात्करोमीति प्रतीतेः।
ननु साक्षात्त्वस्य व्याप्याश्रयज्ञाने सतो योग्यत्वेनावधारणे
प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशे साक्षात्त्वपरोक्षत्वसंशयो न स्यात् विशेष-
दर्शने भ्रमानुदयादिति चेत्। स्थाणुपुरुषसंशयवन्नायं सार्ग-

चक्षु के समान मन की बाह्य प्रवृत्ति माननी पड़ेगी। अर्थात्
जैसे चक्षु संयोग रूप व्यापार के बल से घटादि बाह्य वस्तु
विषयक ज्ञान को उत्पादन करता है उसी तरह से मन भी
विलक्षण लिंग बुद्धि लक्षण सन्निकर्ष के बल से पर्वत में
वह्नि ज्ञान को पैदा करावेगा। उसको अवश्यप्रमाणान्तर
मानना पड़ेगा। इसी प्रकार से प्रत्यभिज्ञा ज्ञान भी प्रत्यक्ष
ही है, अर्थात् सोयंघट इत्याकारक जो ज्ञान सो प्रत्यक्ष है,
न तु ज्ञानान्तर है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के बाद तमिमंघटं
साक्षात्करोमि ऐसी प्रतीति होती है।

प्रश्न–यदि योग्यता के बल से प्रत्यक्षत्व को व्याप्या-
श्रय ज्ञान में भी वृत्ति मान लें तब तो प्रत्यभिज्ञा में तत्ता
अंश में प्रत्यक्षत्व परोक्षत्व का सन्देह नहीं होना चाहिये,
क्योंकि विशेषादर्शन सन्देह में कारण होता है, यहा
विशेषदर्शन है सो तो भ्रम (संशय) का विरोधी है तब
सन्देह कैसे होगा ?

उत्तर–स्थाणु पुरुष संशय की तरह तत्ता अंश में जो

लौकिकः किन्तु तत्तद्दर्शनप्रामाण्याभिमानिनां विप्रतिपत्तेः परीक्षकाणामेवायं नित्यानित्यसंशयवत् । ननु स्वात्मानुमितिरात्ममनोरूपेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् साक्षात्कारिण्यपि स्यादिति चेत् । न । तत्रात्मा नार्थत्वेन किन्तु समवायित्वेन मनोऽपि नेन्द्रियत्वेन किन्तु मनस्त्वेन जनकमिति मदुगणात् ।

सन्देह होता हैं सो सार्वलौकिक सन्देह नहीं है किन्तु तत्तद्दर्शन प्रामाण्याभिमानी व्यक्तियों का विप्रतिपत्ति मात्र है, शब्दगत नित्यत्व अनित्यत्व की तरह। अर्थात् जैसे शब्द में जो नैयायिक मीमांसकों का नित्यत्व अनित्यत्व विवाद मूलक संशय होता है न कि सर्व साधारण को संदेह होता है अपितु परीक्षकों को ही होता है। उसी तरह प्रकृत में तदंश में प्रत्यक्षत्व परोक्षत्व का सन्देह सर्व प्रसिद्ध नहीं है किन्तु परीक्षकों का विप्रतिपत्ति मात्र है।

प्रश्न—आत्मविषयक जो अनुमिति है सो भी तो आत्मामनो रूप इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के बल से ही होती है तव उसको भी प्रत्यक्ष ही कहना चाहिये। क्योंकि जब तक आत्मा और मन का संयोग नहीं हो तब तक तो कोई भी ज्ञान नहीं होता है। मनः संयोग सर्वत्र आवश्यक है। और अनुमिति ज्ञान को प्रत्यक्ष कोई भी नहीं मानता है।

उत्तर—अनुमिति शाब्दादिक परोक्षज्ञानस्थल में आत्मा अर्थ रूप से तथा मन इन्द्रिय रूप से ज्ञान का जनक नहीं

ननु भगवज्ज्ञानं कथं प्रत्यक्षं साक्षात्कारि इन्द्रियाजन्यत्वादिति चेत् । कार्यस्योपादानप्रत्यक्षजन्यत्वनियमादिति दिक् ॥

है, किन्तु आत्मा ज्ञान समवायित्व रूप से और मन मनस्त्व रूप से कारण होता है, ऐसा नैयायिक का सिद्धान्त है। अर्थात् एक ही आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान तथा परोक्ष ज्ञान उभय में कारण होता है किन्तु वह प्रत्यक्ष जब आत्मविषयक होता है उसमें अर्थत्वरूप से कारण होता है तब वह ज्ञान आत्मांश में प्रत्यक्ष कहलाता है, और वही आत्मा समवायित्व रूप से कारण होता है तब जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है। आत्मा के एक होने पर भी उस में कारणतावच्छेदक धर्म भिन्न भिन्न हो जाता है, इसी प्रकार से मन में भी इन्द्रियत्वेन मनस्त्वेन कारणता होने से अवच्छेदक धर्म के भेद से ज्ञान में भेद होता है। जैसे विद्यारण्य मुनिने जीव सृष्टि प्रकरण में कहा है कि एक ही स्त्री माता याता ननान्दा स्वसा दुहिता पत्नी अनेक रूप प्रतियोगी की अपेक्षा से कहलाती है तथा प्रतियोगी भेद से कार्य में भेद होता है, वस्तुतः स्त्री तो एक ही है, किन्तु जब वह पुत्र सापेक्ष होती है तव माता व्यवहार को संपादन करती है और जब पति सापेक्ष होती है तब पत्नी व्यवहार का सम्पादन करती हैं, अवच्छेदक भेद से। इसी प्रकार एक ही आत्मा प्रत्यक्ष परोक्ष व्यवहार करेगा। इसमें किसी को आश्चर्य क्यों होता है ?

ननु नियतव्यञ्जकाभावात् साक्षात्त्वं न जातिरिति चेत् । न तावन्नियतव्यञ्जकधीपूर्विकैव जातिधीरिति नियमः ज्ञानत्वेच्छात्वयत्नत्वादौ व्यञ्जकस्यैवाभावात् । किञ्च त्वदुक्तरीत्या

शंका–परमेश्वर ज्ञान साक्षात्कारी कैसे होगा ? क्योंकि ईश्वर के इन्द्रिय हीन होने से उसमें इन्द्रिय जन्यत्व नहीं है ।

उत्तर–कार्य उपादान प्रत्यक्षजन्य होता है ऐसा नियम होने से । अर्थात् जो ज्ञान जन्य होता है उसमें कारण की आवश्यकता होती है, भगवत्प्रत्यक्ष तो अजन्य है तब उसमें इन्द्रिय जन्यत्व की चिन्ता ही निरर्थक है, अथवा ज्ञानाकरणकत्व प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है, जो कि नित्यानित्य में समान है ।

शंका–उपर्युक्त क्रम से जब प्रत्यक्षत्व में कोई नियत व्यंजक नहीं है, तब साक्षात्त्र को जाति कैसे कहते हैं ? जैसे गोत्व के जाति होने में सास्नावत्व व्यंजक है, घटत्व को जाति होने में कम्बुग्रीवादिमत्व व्यंजक है, तब गोत्व घटत्व को जाति कहते हैं तद्वत् प्रकृत में जब कोई नियत व्यंजक नहीं है तब आपने साक्षात्व को जाति कैसे मान लिया ?

उत्तर–जाति ज्ञान नियमतः व्यंजक ज्ञान पूर्वक ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है । देखिये ज्ञानत्व इच्छात्व प्रयत्नत्व प्रभृति जो आत्म विशेष गुण वृत्तिज जातियां है

जातिर्न स्यादेव व्यञ्जकेनैवानुगतमतेरुपपत्तेः। अस्तु वा गोत्वे सास्नेवाननुगतमेव साक्षात्त्वे व्यञ्जकम्। तथाहि अस्मदादि-रूपादिप्रत्यक्षे चक्षुरादिव्यंजकत्वं योगिप्रत्यक्षे योगजधर्मजन्यत्वं भगवत्प्रत्यक्षे धर्मिग्राहकमानम्। एतदनवधारणदशायामेव साक्षात्त्वसंशयो विशेषादर्शनादिति। अस्तु वा ज्ञानाकरणक-

---

उनमें कोई भी नियत व्यंकज नहीं है और ज्ञानत्व इच्छात्व को सभी जाति मानते हैं। इसलिये जाति ज्ञान नियमतः व्यंजक ज्ञान जन्य है, यह जो नियम है सो व्यभिचरित है। किं च और भी देखिये, आपके कथनानुसार जाति तो कहीं भी नहीं होगी, क्योंकि व्यंजक का स्वीकार तो आवश्यक है, तब तो व्यंजक द्वारा ही अनुगत बुद्धि की सिद्धि होगी। फिर जाति मानने की क्या आवश्यकता है? अथवा जैसे गोत्व को जाति होने में सास्ना ("सास्ना तु गलकम्बलः" गले में रहने वाला जो कंवलाकार है उसको सास्ना कहते है) व्यंजक है उसी तरह प्रकृत में भी अननुगत वस्तु को व्यंजक मान लीजिये। जैसे अस्मदादि के रूपादिक प्रत्यक्ष में चक्षुरादि जन्यत्व ही व्यंजक है। योगी के प्रत्यक्ष में योगज धर्म जन्यत्व व्यंजक है और भगवत् प्रत्यक्ष में धर्मि ग्राहक प्रमाण ही व्यंजक है। इन व्यंजकों की अनिर्णय दशा में ही साक्षात्वका संशय भी होता है, विशेष धर्म का अदर्शन होने से संदेह होने में विशेष दर्शन प्रति बन्धक होता है

ज्ञानत्वमेव साक्षात्त्वस्य व्यञ्जकम्। न चैवमावश्यकत्वात्तदेव साक्षात्त्वधीविषयोऽस्त्विति वाच्यम्। साक्षात्त्वधीहि विधिमुखी सा कथं व्यतिरेकालम्बनास्तु गोत्वधीवत्। अन्यथा गोत्व-

---

और विशेष धर्म का दर्शनाभाव कारण होता है, जैसे स्थाणुत्व अथवा पुरुषत्व रूप एक कोटिका यदि निश्चय रहता है उस समय में स्थाणुर्वा पुरुषों वा यह सन्देह नहीं होता है, क्योंकि निश्चय संशय का विरोधी है। इसलिये जहां पुरुषत्व अथवा स्थाणुत्व का अनिश्चय एवं पुरो वर्तित्वादि सामान्य रूप से धर्मिज्ञान रहता है उसी स्थल में संषय होता है प्रकृत में यदि जहां जिस समय में इन्द्रिय जन्यत्व योगज धर्म जन्यत्वादिका ज्ञान नहीं रहता है 'इदं प्रत्यक्षं नवेति' संशय भी होता है अर्थात् संशय जनकत्व इन्द्रियादि जन्यत्व रूप विशेषाज्ञान को ही होता है। अथवा यदि व्यंजक ज्ञानाधीन ही जाति ज्ञान को मानें तो मानिये। तब प्रकृत में ज्ञानाकरणक ज्ञानत्व को ही साक्षात्व का व्यंजक मान लीजिये। नहीं कहो कि यदि साक्षात्व जाति का व्यंजक ज्ञानाकरणक ज्ञानत्व को मानते हो तब तो आवश्यकत्वात् उसी को (ज्ञाता के ज्ञानत्व को) ही साक्षात्व बुद्धि विषयता मान लीजिये। अतिरिक्त जाति मानने की क्या आवश्यकता है ? ऐसा कहो तो ठीक नहीं है। क्योंकि साक्षात्व ज्ञान विधिमुख होता है तब उसको

धीरप्यगत्रापोहालम्बना किन्न स्यादित्यपोहापातः । तदुक्तं त्वयैव ।

विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थनः ।
नैवञ्चेदपराद्धं ते किमन्यापोहवादिना ॥ इति ॥

व्यतिरेकावलम्बन कैसे मान सकते हैं ? गोत्वादि बुद्धि के समान । अन्यथा गोत्वादि के ज्ञान को भी गवेतर व्यावृत्त विषयक हो क्यों न मान लिया जाय । यदि इष्टापत्ति कहो तब तो बौद्धाभिमत अपोहका स्वीकार हो जायगा । अपने में भी ऐसा कहा है कि विधि मुखेन जायमान ज्ञान यह एक अन्य ही है जिसका समर्थन व्यतिरेक से नहीं हो सकता है । यदि ऐसा नहीं मानो तो अन्यापोह वादीं बौद्ध ने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? अर्थात् जाति एक पृथक वस्तु है जो कि इतर व्यावर्तक लक्षण ज्ञाना धीवों न कि इतर व्यावर्तक लक्षण रूप व्यंजक से गतार्थ नही हो सकती है, अन्यथा अपोहवादी बौद्ध से क्या भेद रहैगा ?

(इति प्रत्यक्ष खण्डनोद्वारः)

अतीतानन्तर प्रकरण से प्रत्यक्ष लक्षण को अधिकृत करके जो जो दोष खण्डनकारने कहे थे उन सब दोषों का निराकरण ग्रन्थकार ने किया । इसके पश्चात् अनुमान लक्षण का खण्डन जो किया है उसका निराकण करने को प्रथमतः खण्डन प्रकार को बतलाने के लिये अग्रिम प्रकरण को चलाते है–

अनुमानमपि किमुच्यते। लिङ्गपरामर्शो ऽनुमानं लिङ्गत्वं व्याप्तपक्षधर्मत्वमिति चेत्। पक्षता हि साध्यसन्देहः स च पर्वतस्य नोपलक्षणमनुमित्युत्तरमपि अनुमित्यापत्तेः पर्वतस्य तदापि साध्यसन्देहोपलक्षितत्वात्। नापि विशेषणम्। अनुमित्युत्तरं पर्वतः पक्षताविशिष्टः तावन्नास्तीति तत्राऽन्यर्थिनः

अनुमानमपिकिमुच्यते—अनुमान भी किसको कहते हैं? अर्थात् अनुमान का लक्षण क्या है? लिंग परामर्ष का नाम अनुमान है? अर्थात् हेतु विषयक जो विलक्षण ज्ञान उसी का नाम अनुमान होता है। तब वेदान्ती पूछते हैं, लिंग किस को कहते है? व्याप्ति विशिष्ट हेतु का जो पक्ष में वृत्तित्व इसी को लिंग कहते हैं। यदि ऐसा आप कहो तो पक्षता तो आप साध्य सन्देह को ही कहोगे? अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान् न वा' पर्वत में वह्नि है कि नहीं? इत्याकारक सन्देह को। तब उसमें मैं पूछता हूँ कि यह सन्देह पर्वत में विशेषरण है कि उपलक्षण है? अर्थात् सन्देह से सर्वदा पर्वत विशिष्ट रहता है अथवा यदा कदाचित सन्देह पर्वत में रहता है? तो वह संदेह पर्वत का उपलक्षण है, ऐसा कहो तब तो पर्वत में वह्निका अनुमान होने के वाद फिर भी पुनः अनुमिति× हो जायगी।

×अनुमिति में जो करण हो उसका नाम है अनुमान। उसमें व्याप्ति पक्ष धर्मता विशिष्ट जो ज्ञान उससे जायमान जो ज्ञान उसका नाम है अनुमिति। जो पुरुष वारंवार महान में वह्नि धूम के सहचार ग्रहण में वह्नि व्याप्ति का निर्णय कर लेता है, तदनन्तर वही पुरुष कालान्तर में जब पर्वत के समीप

प्रवृत्तिर्न स्यात् वह्नेः केवलपर्वतावृत्तित्वात् । धूमः पचवृत्ति र्वह्निस्तु केवलपर्वतवृत्तिरिति न सम्भवति वैयधिकरण्यापत्तेः ।

क्योंकि अनुमिति के उत्तर काल में भी पर्वत साध्य सन्देह से उपलक्षित है । तो कारण के रहने से कार्य को होना ही चाहिये । न वा साध्य सन्देह पर्वत रूप पक्षका विशेषण हो सकता है, क्योंकि अनुमिति हो जाने के पीछे पर्वत तो सन्देहात्मक पक्षता से विशिष्ट रहा नहीं, तब वह्न्यर्थी

में जाता है तब पर्वत में वन्हि है कि नहीं इस प्रकार का सन्देह होने से उस पर्वत मे अविच्छिन्न मूलक धूमरेखा को देखने के बाद पूर्वानुभूत वन्हिधूम के सामानाधिकरण्य लक्षण वन्हिव्याप्ति का स्मरण होता है, तदनन्तर व्याप्ति पक्ष धर्मता विशिष्ट वन्हि व्याप्य धूमवान् पर्वत इत्याकारक परामर्श होता है । इसी परामर्श को तृतोय लिंग परामर्श कहते हैं । पर्वत में धूम को देखता है धूमवान् पर्वतः, यह प्रथम धूम परामर्श है, तदनन्तर धूमो व्याप्य इत्याकारक जो स्मरण है, उसको द्वितीय लिंग परामर्श कहते हैं । तब व्याप्ति पक्ष धर्मता विशिष्ट जो धूम का ज्ञान होता है वन्हि व्याप्त धूमवाला यह पर्वत है, एतदर्थक जो वन्हिव्याप्यधूमवान्पर्वतः ज्ञान होता है, इसको तृतीय लिंग परामर्श कहते है । तदनन्तर पर्वतों वन्हिमान्, यह अनुमिति होती है । यहां अनुमिति है कार्य । और व्याप्ति ज्ञान है कारण । और परामर्श होता है व्यापार । अर्थात् परामर्श रूप व्यापार को लेकर के व्याप्ति ज्ञान अनुमिति रूप कार्य को उत्पादन करता है । यत्र यत्र धूमः तत्र व्याप्तिः यह है व्याप्ति—

धूमवान् पर्वतः यह पक्ष धर्मता है । उसमें साध्याभाव के अधिकरण में धूम को अवृत्तित्व को कोई व्याप्ति कहते हैं और कोई हेतु व्यापक सामानाधिकरण्य को व्याप्ति कहते हैं । साध्य सन्देह को पक्षता कहते हैं पर्वतो वन्हिमान् न वा के कोई लोग पर्वत में वन्ह्यनुमिति होवे, इच्छा को पक्षता कहते हैं, कोई तो सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्ध्यभाव को पक्षता कहते हैं । इसका विस्तृत विवेचन मत्कृत अनुमान बोद मे देखना चाहिये प्रकृत में अनुमान खण्डनोपयोगी मात्र बतलाया गया है ।

न चैवं वैयधिकरण्यं न दोषः सामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिविरोधित्वात्। विशेष्ये पर्वते द्वयोः सामानाधिकरण्यमस्त्येवेति चेत्। तर्हि साधनस्य पक्षधर्मता व्यर्था स्यात्। सा हि न साध्यसामान्यसिद्ध्युपयोगिनी व्याप्तेरेव तत्र सामर्थ्यात्।

पुरुष की प्रवृत्ति पर्वत में नहीं होगी। कारण कि वह्नि तो शुद्ध पर्वत में वृत्ति नहीं है, अनुमिति हुई है सन्देह विशिष्ट पर्वत में। तब पर्वत में वह्नि का निश्चव होने से सन्देहचला गया। तब उसमें वह्नचर्थी की प्रवृत्ति कैसे होगी? नहीं कहो कि धूम तो सन्देह विशिष्ट पर्वत में है. वह्नि शुद्ध पर्वत में है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर साध्य साधन को वैयधिकरण्य अर्थात् विभिन्नाधिकरण में वृत्तिता की आपत्ति हो जायगी। नहीं कहो कि एतादृश वैयधिकरण्य दोषाधायक नहीं है, सो ठीक नहीं, क्योंकि सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति का विरोध हो जायगा। अर्थात् साध्य सामानाधिकरंण्यरूपा व्याप्ति की सिद्धि हेतु में नहीं होगी। नहीं कहो कि विशेषण रहित पर्वत में अर्थात् शुद्ध विशेष्य पर्वत में दोनों का (हेतु साध्य का) सामानाधिकरण्य तो है ही। यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि तब तो साधन की पक्ष धर्मता निरर्थिका हो जायगी। अर्थात् हेतु में पक्ष धर्मता की क्या आवश्यकता रहेगी? वह पक्ष धर्मता साध्य सामान्य में सिद्धि की उपयोगिनी नहीं होगी। क्योंकि सामान्यतः साध्य सिद्धि तो व्याति के बल

नापि तद्विशेषसिद्‌ध्युपयोगिनी प्रतीत्यपर्यवसानस्यैव तत्र सामर्थ्यादिति। सिद्धिसाधनपरिहारमात्रार्थं सेष्टव्या। सिद्धसाधनञ्च न स्वार्थानुमाने दोषः आगमेनेत्यादेः। एतेन संशययोग्यतापि निरस्तेति खण्डनम् ॥

तन्न। हि साध्यसन्देहघटितां पक्षतामाचक्ष्महे प्रत्यक्ष-

से ही हो जायगी। न वा विशेष रूप से साध्य की सिद्धि में पक्ष धर्मता का उपयोग कह सकते है, क्योंकि विशेषतः साध्य की सिद्धि में प्रतीति का जो अपर्यवसान उसी को उसमें सामर्थ्य होने से। अर्थात् अनुमित्यथानुपपत्ति से ही तो साध्य विशेष की सिद्धि हो जायगी। तब तो केवल सिद्ध साधन दोष को हटाने के लिये पक्ष धर्मता का उपयोग होगा। और सिद्ध साधन तो स्वार्थानुमान में दोष है नहीं, क्योंकि आगम से अनुमान से प्रत्यक्ष से इत्यादि आगम से प्रमाण संप्लव को स्वार्थ कहा गया है। एतेनेत्यादि—एतेन संशय पक्षता का विशेषणोपलक्षण के विकल्प द्वारा निराकरण हो जाने से संशय योग्यता पक्षता है, यह जो किसी नैयायिक का पक्षता लक्षण था सो भी निरस्त हो जाता है। अर्थात् जब सन्देह पक्षता नहीं बना सका तब उसकी योग्यता की चर्चा तो दूर ही रहै। 'अनुमानमपि किमुच्यते' यहां से लेकर 'निरस्ता' एतत्पर्यन्त खण्डन ग्रंथ का उद्धरण किया तथा प्रश्न का उपपादन किया, अतः पर में उद्धार कर्ता वादि मत का खण्डन करते हैं, तन्नेत्यादि—

परिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका इति टीका-विरोधापत्तेः।

आगमेनानुमानेन ध्यानात् प्रत्यक्षेण च।

समाधान–साध्य सन्देह घटित पक्षता का लक्षण मैं नहीं हकता हूं, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात पदार्थ को भी अनुमान द्वारा जानने को तार्किक लोक इच्छा रखते हैं। एतादृश जो टीकाकारका वचन है उससे विरोध होता है। और "आगम से अनुमान से ध्यानोत्तर कालिक प्रत्यक्ष साक्षात्कार से" आत्मा में तीन प्रकार से जो प्रमाणों का संप्लव (सम्मिलन) उसको स्वार्थ कहते हैं। इस आगम का विरोध भी होता हैं। तथा आत्म को श्रुति द्वारा सुनो और श्रवण के बाद हेतु द्वारा आत्मा का अमुमान करो, इस श्रु ति से भी विरोध होता है (श्रु ति से जब आत्म विषयक निश्चय है तब सन्देह रूप पक्षता के नहीं रहने से मुमुक्षु को आत्मानुमान कैसे होगा ? क्योंकि अनुमिति का कारण रूप संशय पक्षता नहीं है। सन्देह के प्रति निश्चय विरोधो है और प्रकृत में श्रौत आत्मनिश्चय विद्यमान हैं अतः सन्देह रूप अथवा संशय घटित यद्वा संशययोग्यता रूप पक्षता नहीं है। और भी देखिये यदि सन्देह को पक्षता मानें तब घर में बैठे हुए को घन गर्जन से (जो आकाश में मेघ हैं उसकी गर्जन से) इस प्रकार · घन गर्जन से जो मेघानुमिति होती, सो नहीं होगी। क्योंकि वहां अनुमिति पूर्व में गगन मेघवान है कि नहीं ? ऐसा नहीं है। अत

त्रिधात्मनि प्रमाणानां संप्लवः स्वार्थमिष्यते ॥

इत्यागमविरोधापत्तेः श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रुतिविरोधापत्तेश्च । एतेन संशययोग्यतापि निरस्ता । न चैवं शास्त्रे संशयव्युत्पादनानर्थक्यम् । संकशुकतानिवृत्तये न्यायोपासने तदङ्गत्वोपगमात् । अत एव संशयाभावेऽपि मन्तव्य इति

एव साध्य विषयक इच्छा भी पक्षता नहीं है, उक्त हेतु से ही । यद्यपि पर्वतादिक स्थल में सन्देह के बाद अनुमिति में प्रवृत्ति होती है तथापि सन्देह पक्षता मूलक नहीं है किन्तु वक्ष्यमाण पक्षता मूलक ही प्रवृत्ति होती है। संशय की पक्षता का निराकरण हुआ तब संशय योग्यता का भी निरास हो जाता है ।

शंका—यदि आप सन्देह रूप पक्षता को नहीं मानते हो, तब शास्त्र में जो संशय का कथन है सो निरर्थक हो जायगा ।

उत्तर—संक शुकता अनियमितता की निवृत्ति के लिये न्याय का अनुसरण आवश्यक होगा तो उस न्याय के अंग रूप से संशय को माना गया है । अत एव संशय के अभाव में भी 'मन्तव्य' इत्याकारक विधि समभिव्याहृत वाक्य से जायमान जो इष्ट साधनता ज्ञान (आत्म ज्ञान मोक्षरूप इष्ट का साधक है इत्याकारक) उससे जायमान जो सिषाधयिषा उस सिषाधयिषा के बल से मुमुक्षुको भगवत् ज्ञान

विधिसमभिव्याहृतवाक्यजनितेष्टसाधनताज्ञानजसिषाधयिषया भगवदनुमानप्रवृत्तिरिति कुसुमाञ्जलावाचार्या अप्याहुः । अस्तु तर्हि सिषाधयिषाघटिता सा । हन्तानिष्टार्थायामनुमितौ सापि व्यभिचरतीति चेत् । बाढम् । तद्योग्यता तावदस्ति । सापि साधकबाधकमानाभावरूपा श्रुतिस्वरूपसाधकमानावरुद्धे भगवति नास्तीति । उच्यते । सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानस्याभावः सा । सा च सर्वत्रैवास्ति । शेषमनुमाननिर्णये-

---

में (अनुमित्यात्मक ज्ञान में) प्रवृत्ति होती है, ऐसा कुसुमांजाति ग्रन्थ में न्यायाचार्य ने भी कहा है ।

प्रश्न—तब सिषाधयिषा को ही पक्षता मान लिया जावे । नहीं कहो कि यदि इच्छा को पक्षता कहें तब तो अनिष्ट (अनमित) वस्तु विषयक अनुमिति नही होगी । क्योंकि अनिष्ट विषय में किसी की भी इच्छा नहीं होती है ।

उत्तर—ठीक कहते हो, अनिष्टार्थ विषयकानुमिति स्थल में भी सिषाधयिषा की योग्यता तो है ही है । वह योग्यता साधक बाधक प्रमाण की अभाव रूपा ही है ।

प्रश्न—तब तो श्रुति रूप साधक प्रमाण से अवरूद्ध तदभावरूप योग्यता ईश्वर में नहीं है तब परमेश्वर विषयक अनुमिति कैसे होगी ?

उत्तर—सिषाधयिषा विरह सहकृत जो साधक मान (सिद्धि निश्चय) उसका जो अभाव उसी का नाम है पक्षता ।

तादृशी पक्षता सर्वत्र ही है× इस प्रसंग में जो अवशिष्ट

×सिषाधयिषा विरह, यह विशेषण है और साधकमान विशेष्य है। साधकमान शब्द का अर्थ है सिद्धि निश्चय। सिषाधयिषा के अभाव से युक्त जो सिद्धि सो हुआ विशिष्ट। तदभाव रूप विशिष्टाभाव हं पक्षता। विशिष्टाभाव तीन प्रकार से होता हं–विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव, विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव, तथा उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव। जैसे दण्डी नास्ति, यहां जब दण्ड रूप विशेषण नहीं केवल पुरुष है वहां दण्ड रूप विशेषण के अभाव से दण्डी रूप विशिष्ट का अभाव होता है। जहां जब दण्ड तो है किन्तु पुरुष नहीं है, वहां पुरुष रूप विशेष्यका अभाव होने से तत्प्रयुक्त दण्डी का अभाथ होता है। और जहा दण्ड पुरुष उभय नहीं हैं वहां उभयाभाव विशेषणाभाव विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव होता है। प्रकृत में जहां अनुमितिर्जायताम् इत्याकारक इच्छा हैं और वन्हिमान निश्चय रूप सिद्धि है वहां विशेषण जो इच्छा विरह उसका प्रभाव होने से विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव रहने से पक्षता रहने से अनुमिति होगी। जिस स्थल में सिद्धि निश्चय नहीं हैं वहां सिषाधयिषा रहे वा न रहे तो भी विशेष्याभाव कारण से विशिष्टाभाव रूप पक्षता है तो अनुमिति होगी। जहां सिषा है और सिद्धि निश्चय नहो है वहां विशेषणाभाव विशेष्याभाव रूप उभयाभाव रहने से पक्षता है और अनुमि ति होगी। जहां सिषाधयिषा नहीं है किन्तु सिद्धि है वहां अनुमिति नहीं होगी। क्योंकि सिषाधयिषा विरह सङ्कृत सिद्धि निश्चय रूप प्रतिबन्धक विद्यमान है। अनुमिति में जैसे बाध निश्चय विरोधी होता है उसी तरह साध्य निश्चय भी विरोधी है। क्योंकि वन्हिमान् इस प्रकार का प्रत्यक्ष निश्चय रहैगा तब अनुमिति निरर्थक होती है। जहां भी निश्चय है और सिषाधयिषा है यहां यह जो सिद्धि निश्चय है सो ता सिषाधयिषा युक्त है। सिषाधयिषा विरहवती सिद्धि होगी देशान्तरीय कालान्तरीय, उस सिद्धि का अभाव बैठा है इसलिये सिद्धि काल में भी यथोक्ताभावात्मक पक्षता का सद्भाव होने से अनुमिति होती है। आत्मानुमिति स्थल में श्रौत आत्मनिश्चय रहने पर भी आत्मानुमिति र्जायताम् इत्याकारक इच्छा के सहकार से विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव रूप पक्षता के बल से मुमुक्षु को आत्मानुमिति होने में कोई बाधक नही है। इस सब अभिप्राय को लेकर के ग्रंथकार ने कहा है–"सा च सर्वत्रैवास्तीति" पक्षता के विषय में वस्तु स्थिति तो यह है तब सन्देह विशेषण है कि उपलक्षण है ? इत्यादि विकल्प करके ग्रन्थकार के अनभिमान पक्षता का निराकरण करने का श्रम हर्ष के अरण्य रोदन के समान हैं। इस विषय पर विद्वत्समाज ही विचार करे।

ऽध्यवसेयम् । अस्तु वा कापि पक्षता सा तावदनुमित्युत्तरं नास्तीत्यविवादम् । अन्यथा लिङ्गोपहितलैङ्गिकावगाहिन्यामनुमितौ व्याप्तिपक्षधर्मलिङ्गभानावश्यकत्वेऽनुमित्यविच्छेदः स्यात् । तथा चानुमित्युत्तरं तत्र पक्षता त्वयाभ्युपेया । तथा च विशेषणाभावाद्विशिष्टः पर्वतोऽपि नास्तीति तन्निष्ठोऽग्निरपि

विचारणीय विषय रह गया है उसको अनुमान निर्णय से जानें । रही यादृश तादृश पक्षता, जिस किसी प्रकार को पक्षता रहो परंतु वह पक्षता अनुमिति हो जाने के बाद नही रहती है, इसमें किसी को विवाद नहीं है । अन्यथा यदि अनुमिति के उत्तरकाल में भी पक्षता रहै तब तो लिंगोपहित लैंगिकापगा ही अनुमिति में व्याप्ति पक्षता विशिष्ट हेतु का ज्ञान मानना आवश्यक होने से अनुमिति का अव्यवच्छेद हो जायगा । अनुमिति की धारा हो जायगी ।(किसी का मन है कि अनुमिति में साध्य का अवगाहन होता है, उसी तरह हेतु का भी अवगाहन होता है। उनके मत में वह्निव्यधूनवान् पर्वतो वह्निमान, यही अनुमिति का आकार है । अब विचार करो कि यदि पक्षता का विनाश अनुमित्युत्तर काल में न मानें तो एतादृश स्थल में पक्षता तो बैठी रहैगी तव अनुमिति का विराम नहीं होगा । अतः अनुमित्युत्तार पक्षता का विनाश अवश्य मानों ।

प्रश्न—तव तो लिंगोपहित लैंगिकभान वादि के मत से

नश्येदिति चेत् । एवं सति हि क्षणभङ्गः स्यात् असद्विशेषणो-परागेण सतोऽपि विशेष्यस्यात्ययोपगमात् स च प्रत्यभिज्ञान-बाधितः । किञ्चानुमानेनाग्निनिश्चयं प्रप्य समूलकाषं कषितोऽग्निसंशये विरोधिविधूननान्निष्कम्पा वह्न्यर्थिप्रवृत्तिः स्यादेव । अपि च धूमः पक्षवृत्तिरग्निः पर्वतवृत्तिरतो वैयधिकरण्यान्न

अनुमिति के बाद भी आप पक्षता मानेंगे, तब तो विशेषणाभाव से विशिष्ट जो पर्वत उसका भी अभाव हो जायगा। और पवंत के विनाश होने से तद्गत वह्नि भी विनष्ट हो जाने से वह्न्यर्थी की प्रवृत्ति कैसे होगी ?

उत्तर– यदि ऐसा मानो तो क्षणभंगवाद की आपत्ति होगी । असत् जो विशेषण उसके सम्बन्ध से सत् भी जो विशेष्य है उसका विनाश मानते हैं । नहीं कहो कि प्रतिक्षण में तो सभी पदार्थ नष्ट हो ही जाते हैं उसमें विज्ञानाधारा को लेकर के व्यवहार चलेगा । विश्वमात्र क्षण भंगी है, इस प्रकार से सभी वस्तु को क्षणभंगी मानो तब तो सोंयं घटः, वही यह घडा है इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा से तो वस्तु में स्थिरता की सिद्धि होती है तो प्रत्यभिज्ञा विरोध होने से क्षणयुक्त नही । नहीं कहो कि "सैवेयं दीपकलिका" वही यह दीपकशिखा है यह प्रत्यभिज्ञा जिस प्रकार से जाति विषयक है उसी प्रकार से सोयं घटः,

व्याप्तिरनयोः तस्याः सामानाधिकरण्यरूपत्वादिति वदन् खण्डककृद्व्याप्तिपक्षधर्मतयोरबोधमबोधयत् । तथाहि व्याप्तिर्हि अव्यभिचरितसम्बन्धरूपा । सा च समानाधिकरणयोरिवा-

---

यह प्रत्यभिज्ञा भी जाति विषयक है, व्यक्ति विषयक नहीं है यह भी मानना ठीग नहीं है । क्योंकि व्यक्ति विषयता होने में प्रत्यभिज्ञा का कोई बाधक नहीं है, जिससे कि जाति विषयता मानें । और भी देखिये-अनुमान से जब अग्नि विषयक निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न हो गया, और निश्चय द्वारा समूल हन्देह नष्ट हो जाने से प्रवृत्ति में जो विरोधी था उसका अभाव होने से निष्कंप अर्थात् निश्चल प्रवृत्ति वह्नयर्थी पुरुष की निर्विरोध होगी ही । और भी देखिये— धूम तो पक्ष में अर्थात् सन्देह विशिष्ट पर्वत में रहती है और वह्नि तो शुद्ध पर्वत में रहती है, इस प्रकार से धूम वह्नि की विभिन्नाधिकरण वृत्तिता होने से व्याप्ति नहीं बनेगी, क्योंकि व्याप्ति तो सामानाधिकरण्य रूपा है। वह व्यधिकरण वान्हि धूम में नहीं होगा । इस प्रकार से बोलते हुए खण्डन कारते व्याप्ति पक्ष धर्मता का ज्ञान नहीं होगा. ऐसा अपने ग्रन्थ में समझाया है । तथाहि व्याप्ति अव्यभिचरित सम्बन्ध रूपा है ।× यह अव्यभिचरित सम्बन्ध

×अव्यभिचरित सम्बन्ध है व्याप्ति । अव्यभिचार शब्द का अर्थ होता है व्यभिचाराभाव । व्यभिचार का अर्थ होता है, तदभाववद्वृत्तित्व । तदभाव

जैसे समानाधिकरण वह्नि धूम में है उसी तरह असमाना-धिकरण हेतु साध्य में भी है। अन्यथा पृथिवीत्व हेतु द्वारा इतर वस्तुओं के अन्योथा भाव का अनुमान किस तरह होगा ? वहां इतर वस्तु है व्याप्य तथा पृथिवीत्व भाव है व्यापक। यहां इतर पृथिवीत्वा भाव समानाधिकरण नहीं है। क्योंकि अवृत्ति जो वस्तु है वह भी तो इतर ही है।

व्याप्ति है, इसका अर्थ हुआ साध्याभाववद् वृत्तित्व। वन्हिमान् धूम में साध्य है, वन्हिसाध्याभाव है वन्हयभाव, उस वन्हयभाव का अधिकरण है जलह्रदादिक, उस जलादिक में वृत्ति जाती है शेवल आदि का वृत्तित्वाभाव है धूम में, इस प्रकार लक्षण समन्वय होता है धूमवान् वन्हे, में साध्य है धूम, साध्याभाव धूमाभाव तदधिकरण अयोगोलक है, उसमें बन्हि हेतु की वृत्तिता ही है, अवृत्तित्व नहीं है' इस लिये अति व्याप्ति नहीं होंती है। लक्षण में साध्यता-वच्छेदक संवन्धावच्छिन्न साध्याभाव कहना चाहिये। अन्यथा समवाय संबन्धेन वन्हयभाव का अधिकरण पर्वतादिक में संयोग सबन्ध से धूम की वृत्तिता होने से। साध्याभाव का अर्थ है साध्यतावच्छेदकावच्छिन्ना प्रतियोगिता का भाव, न कि साध्यप्रतियोगिक अभाव ' अन्यथा महानीय वन्हयभाव, वन्हिघटोभाव रूप साध्यप्रतियोगिता का भावाधिकरण पर्वत में धूम की वृत्तिता होने से वन्हिमान् धूमात् में अव्याप्ति हो जाती है। हेतुता-वच्छेदक सम्बन्ध से वृत्तित्वाभाव कहना चाहिये नहीं तो वन्हयभावाधिकरण जलादिक में कालिक सम्बन्ध से धूम की वृत्तिता होने से अव्याप्ति हो जाती है। एवं वृत्तित्वाभाव वृत्तितात्वावच्छिन्न प्रतियोगित्वक वृत्तित्व सामान्याभाव विवक्षित हैं, अन्यथा धूमाभावाधिकरण जल निरूपित वृत्तिता के भाव को वन्हि में रहने से धूमवान् वन्हेः में अति व्याप्ति हो जाती है। सामान्याभाव का निवेश करने से यथोक्तति व्याप्ति नहीं होती है।

समानाधिकरण्योरप्यस्ति । कथमन्यथा पृथिवीत्वादिना इतरेषामन्योन्याभावोऽनुमीयते तत्र हीतरे व्याप्याः पृथिवीत्वाभावस्तु व्यापकः । न चेतरे तत्समानाधिकरणा अवृत्तेरपीतरत्वात् । न च तत्रेतरतादात्म्यमेव पृथिवीत्वाभावस्य व्याप्यं तयोश्च सामानाधिकरण्यमस्त्येवेति वाच्यम् । तथा सति हीतरतादात्म्यस्यात्यन्ताभावः पृथिवीत्वेन सिद्धो न त्वितरान्योन्याभावः । इतरतादात्म्यात्यन्ताभावेनेतरान्योन्याभावः पश्चात् साधनीय इति चेत् । न साधनाभावेनेतरेषामात्मादीनां सामानाधिकरण्याभावस्य वज्रलेपतया केनापि कदापि इतरान्योन्यः-

---

नहीं कहो कि वहां इतर का जो तादात्म्य है सो पृथिवीत्वाभाव का व्याप्य है। उन दोनों में इतर तादात्म्य तथा पृथिवीत्वाभाव को तो सामानाधिकरण्य है। पृथिवीत्वाभाव पृथिवी भिन्न सभी वस्तु में है, वहां इतर का तादात्म्य भी है। ऐसाकहो सो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहो तब तो पृथिवीत्व हेतु से इतर पदार्थ का जो तादात्म्य उसका अत्यन्ताभाव सिद्ध हो जायगा ? न तु इतर पदार्थ का अन्योन्याभाव सिद्ध होगा।

प्रश्न–इतर तादात्म्य का जो अत्यन्ता भाव उसके पश्चात् तद्द्वाराइतरान्योन्याभाव को भी तो सिद्ध कर सकते हैं ?

उत्तर–साधन जो पृथिवीत्व तदभाव से इतर आत्मादिक अवृत्ति पदार्थ के सामानाधिकरण्याभाव के वज्रलेप

न्योभावो नानुमातुं शक्येतेत्यस्याप्युक्तप्रायत्वात् अथ य एवेत-
रतादात्म्यस्यात्यन्ताभावः स एवेतरान्योन्याभावो न तु
ततोऽधिकः स इति चेद्ब्रून्त य एव घटत्वात्यन्ताभावः स एव

होने से (नियमतः होने से) किसी से किसी समय में भी
इतरान्योन्याभाव का अनुमान नहीं हो सकेगा। इस बात को
प्रायः कह आया हूँ।

प्रश्न–जो ही पदार्थ इतर तादात्म्य का अत्यन्ताभाव
है वही इतरान्योन्याभाव भी है। किन्तु इतरतादात्म्यात्य-
न्ताभाव से अधिक कुछ इतरान्यान्योभाव नहीं है।
(पृथिवीतर है जलादिक, तद्गत तादात्म्य जलादिक में है
तादृश तादात्म्य का अत्यन्ताभाव पृथिवो में रहैगा और
पृथिवीतर जलादिक का अन्योन्याभाव भी पृथिवी में ही
है, इसलिये दोनो के समनियत होने से एकत्व है, ऐसा मान
करके पूर्व पक्षी ने इतर तादात्म्यात्यताभाव को इतरान्योन्या-
भाव से अनधिकत्व का प्रतिपादन किया है)

उत्तर–ऐसा कहने से तो आप जो घटत्वात्यंन्ता-
भाव है सो ही घटान्योन्याभाव है, समनियम होने से। ऐसा
भी बोल सकते हो। (घटत्व रहता है मात्र घट में और
घटत्व का अभाव घट को छोडकर के सर्वत्र रहता है एवं
घटका अन्योन्याभाव भी घट को छोड़कर के सर्वत्र रहता
है। अत्यन्ताभाव को प्रतियोगितावच्छेक अधिकरण

घटान्योन्याभाव इत्यपि वदिष्यसि ओमिति चेत् समानाधि-करणनिषेधोऽन्योन्याभावो व्यधिकरणनिषेधस्तु संसर्गाभाव

के साथ विरोध होता है। जिस अधिकरण में अर्थात् घटेतर में घटत्वात्यन्ताभाव रहता है उसी अधि-करण में अर्थात् घटेतर में अन्योन्याभाव रहता है इसलिये धर्मात्यताभाव धर्मी भेद एक हैं, यह समझ करके आप दोनों को एक भी कह सकते हो।) यदि ओं मैं मानता हूं कि धर्म घटत्वादिक का अभाव तथा धर्मी घटादिक का अन्योन्याभाव यह दोनो एक ही है, ऐसा स्वीकार करें तब तो समानाधिकरण निषेध अन्योन्यभाव है और व्यधिकरण निषेध संसर्गाभाव है। अर्थात् प्रतियोगी के अधिकरणातिरिक्त में तो रहता ही था, प्रतियोगी के अधिकरण में भी रहै, ऐसा जो अभाव सो है अन्योन्याभाव। घटो न, इत्याकारक घटान्योन्याभाव घटाधिकरण में भी रहता है। घट तथा तदधिकरण एक नहीं है किन्तु आधाराधेय भेद रहता है, जैसे घर में रहने वाला देवदत्त गृह व्यतिरिक्त होता है। एवं व्यधिकरण अर्थात् प्रतियोगी के विभिन्न अधिकरण में रहने वाला अभाव संसर्गाभाव है। अर्थात् संसर्गाभाव का स्व प्रतियोग्यधिकरणता के साथ विरोध होने से एक अधिकरण में दोनो प्रतियोगी तथा तदभाव नहीं रहता है, इसलिये संसर्गाभाव वैयधिकरण कहलाता है, और अन्यो-

इति घुष्यन् पुरुपायुषमनैपीरथेदानीं चरमे वयसि समस्ततीर्थतीर्थिकविरुद्धं प्रलपन्न जिह्रेपि न वा विभेपीति। तस्मादिदमिह नास्तीदमिदं न भवतीति विलक्षणधीवेद्ययोः संसर्गाभावान्योन्याभावयोरभेदं वदन् विश्वाभेदाय यतिष्यन्नभेदवादी पर्यव-

न्याभाव प्रतियोगी के समानाधिकरण में रहने से समानाधिकरण है। तो अभी तक ऐसा शोरगुल मचाते हुए आपने अपना जीवन बिता दिया, किन्तु अब आप अन्तिम अवस्था में मरने के समय में समस्त तीर्थ (शास्त्र) तथा तीर्थ कर (शास्त्र प्रणता) के विरुद्ध अर्थात् सकल लोक विरुद्ध सकल परीक्षक सम्प्रदाय विरुद्ध संसर्गाभाव अन्योन्याभाव की एकता का प्रलाप करते हुए क्या लज्जित नहीं होते ? न वा डरते हैं ? इसलिये 'इदमिह नास्ति' यह यहां नहीं है, 'इदमिदं न भवति' घट पट नहीं है, एतादृश विलक्षण प्रतीति से जानने के योग्य जो संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव का अभेद एकत्व को कहते हुए समस्त जगत का अभेद करने के लिये प्रयत्नशील होते हुए अपने को अभेद वादी के पक्ष में समाविष्ट करते हुवे भेद भी असिद्धि होने से अभेद× का परित्याग करते हुए भेद अभेद भेदाभेद

×सामान्यतः भेद का निराकरण करने वाले वेदान्ती "गुर्वंगनां नोप गच्छेत्" "ऋतौ भार्यामुपेयात्" इत्यादि अनुज्ञा परिहार स्थल में क्या करेंगे ? यदि विधि निषेध में भेद नही मानें तब तो महान अनर्थ हो जायगा, यदि भेद मानो तो अभेद की सिद्धि नहीं हुई, भेद सिद्ध हो गया इस प्रकार आप अपने वचन से ही व्याहत हो जाते हैं। इस विषय में शतदूषणीकार ने

स्यन् भेदासिद्धेरभेदमपि व्यस्यन् भेदादभेदाद्भेदाभेदाच्च भ्रश्यन् कीदृशः स्या इति। तस्माद्द्वयोरेव सामानाधिकरण्य-लक्षणा व्याप्तिः तत्परमेव निवन्धॄणां सामानाधिकरण्य-निर्वचनं न तु व्याप्तिमात्रपरमिति मन्तव्यम्। अत एवाव्य-

इन सब से दूर होते हुए किस स्वरूप को प्राप्त करेंगे ? अर्थात् भेद की सिद्धि नहीं होने से भेदवादी के पक्ष में आपका समावेश नहीं होगा। और भेद रूप प्रतियोगी की असिद्धि से तदधीन अभेद सिद्ध नहीं होगा। अतः अभेद वादी के पक्ष में भी प्रवेश नहीं होगा। अतएव भेदाभेद पक्ष में भी प्रवेश नहीं होगा। अब कहिये आप किस दिशा में जायेंगे ? अर्थात् आपकी क्या स्थिति होगी ? इसलिये जिन दो वस्तु में सामानाधिकरण्य लक्षण व्याप्ति है तत्परक व्याप्ति का निर्वचन शास्त्रकारों ने तत्तत्स्थल में किया है। न तु व्याप्ति मात्र परक शास्त्रकारों का निर्वचन नहीं है, ऐसा मानना चाहिये। अव्यभिचरित सम्बन्ध व्याप्ति है, अनौपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस प्रकार से सामान्य मुखी व्याप्ति का निर्वचन जो प्राचीनों ने किया है सो भी ठीक नहीं है। नहीं तो सामानाधिकरण्य रूपा ही सर्वत्र

कहा है कि "भेदावन्ह्यलोभेन भेदं विधि निषेधयोः। स्वयं समर्थयन् मूर्खः स्व वाग्वज्रेण तादितः॥ भेद का निराकरण करने के लोभ से विधि निषेध-शास्त्र का भेद प्रति पादन करने वाला मूर्ख अपने वाग्वज्र से स्वयं तादित होता है। अतः भेद सर्वानुमत होने से अनिराकरणीय है।

भिचरितः सम्बन्धो व्याप्तिरनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिरिति च सामान्यमुखी प्राचामपि निरुक्तिः अन्यथा सामानाधिकरण्य-मुख्येव सा स्यात् रत्नप्रकाशकृतोऽप्येवमिति। अस्त्वन्यत्र यथा तथा धूमानलयोरेव सामानाधिकरण्यं न स्यादुक्तदोषादिति चेत्। भ्रान्तोऽसि यस्मिन् धर्मिणि साध्यसंशयोऽस्ति तत्र धर्मिणि धूमानलयोः सामानाधिकरण्यं न ब्रूमः न तु पक्षता-विशिष्टे धूमवृत्तिमुपेमो येनत्वदुक्तसामानाधिकरण्यं स्यात्। तदयं संक्षेपः संशयादिलक्षणा पक्षता विशेषणं सत्त्वात् सत्यपि

होगी। रत्नप्रकाशकार ने भी इसी प्रकार से व्याप्ति का निर्वचन किया है सो भी अतीव उपयुक्त है।

शंका—मान लिया जाय अन्यत्र जैसे तैसे व्याप्ति बने परन्तु धूम वन्हि की व्याप्ति कैसे होगी ? (सामानाधि-करण्य कैसे होगा !) उक्त दो दोष से। अर्थात् धूम तो पक्षता विशिष्ट में हैं और साध्य केवल पर्वत में है।

उत्तर—आप भ्रान्त हो ! जिस धर्मी में साध्य का सन्देह है उस अधिकरण में धूम वह्नि का सामानाधि-करण्य है, यह नहीं कहता हूं। पक्षता विशिष्ट में धूम वृत्तिता को मानता हूं, जिससे कि भवदुक्त सामानाधिकरण्य नहीं होगा। यहाँ इस प्रकार से संक्षेप है, संशय रूप पक्षता विशेषण है, विद्यमान होने से। परन्तु रहते हुए भी धूम की वृत्तिता में उपलक्षण है। धूमवत् में संशय के अनन्वयी

धूमादिवृत्ताव्युपलक्षणं तद्वृत्त्यनन्वयित्वात् लिङ्गपरामर्शे तु तत्कालेऽसती अदूरविप्रकर्षेण तु सत्यप्युपलक्षणमेव परामर्शानन्वयित्वात् न हि धूमवत् पर्वतवच्च संशयोऽपि ज्ञायमानोऽङ्गं किमर्थं तह्यु पादीयते स्वरूपसत्तामात्रेणानुमितेर्नियमनाय लिङ्गपरामर्शस्य चानुगमायेति। हन्तैवं साध्यस्य सामान्यसिद्धिर्व्याप्तितः विशेषसिद्धिस्तु प्रतीत्यपर्यवसानादिति साध्यसिद्धा-

---

होने से। लिंगपरामर्श में तो तत्काल में अविद्यमान है, किन्तु अदूर विप्रकर्ष से समीप वर्ती होने से, होते हुए भी उपलक्षण है। क्योंकि परामर्श में संशय का अन्वय नहीं होने से। जैसे धूम पर्वत ज्ञायमान होकर के अनुमिति में अंग (उपयोगी) है उसी प्रकार से संशय ज्ञायमान होकर के अनुत्यंग नहीं है।

प्रश्न–तब सन्देह को क्यों मानते हो ? जब कि धूमादि के समान उपयोगी नहीं है।

उत्तर–सन्देह स्वरूप सत्तामात्र से अनुमिति का नियमन करता है, तथा परामर्श का अनुगमन करने के लिये स्वरूपतः सन्देह को कारण रूप से माना जाता है, न कि धूम पर्वतादिक के समान ज्ञायमान होकर के कारण है इसलिये माना जाता है।

प्रश्न–तब सामान्य (वह्नि सामान्य) रूप साध्य वह्नि की सिद्धि तो व्याप्ति से ही होगी, और विशेष रूपेण

वत्तुपयोगिन्येव पक्षधर्मतेति तत्खण्डकमपि सिद्धसाधनं नानुमानदूषणं स्यात् अनुमितिप्रयोजकाखण्डनादित्युक्तमिति चेत् किमिदमपर्यवसानं प्रकृतानुमानं वा मानान्तरं वा प्रकृतानुमानस्यैवैकमङ्गं वा । नाद्यः पक्षधर्मताविनाकृतस्य तस्याकरणत्वात् तस्याश्च द्वयाङ्गत्वानुपगमात् । नापरः पक्षधर्मतां विना तस्यापि

(पर्वतीय वह्नि रूपेण) वह्नि की सिद्धि प्रतीत्य पर्यवसान से होगी। इसलिये साध्य की सिद्धि में पक्षता का कोई उपयोग नहीं है। अतः पक्षता का निराकरण करने वाले सिद्ध साधन अनुमान का दोष नहीं है। उससे अनुमिति प्रयोजक का तो निराकरण नहीं होता है, ऐसा मैं कह चुका हूं।

उत्तर—यह प्रतीत्य पर्यवसान वस्तु क्या है? क्या प्रकृतानुमान का नाम प्रतीत्य पर्यवसान है, अथवा कोई प्रमाणान्तर का नाम है? अथवा प्रकृत अनुमान के एक अंग का ही नाम प्रतीत्य पर्यवसान है। इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि पक्ष धर्मता रहित जो प्रकृतानुमान है तो अनुमिति में करण ही नहीं बन सकता है। पक्षधर्मता को तो अनुमिति में अंग नहीं माना है। न वा द्वितीय पक्ष ठीक है, क्योंकि पक्षता के विना प्रमाणान्तर भी मूक ही रहता है। अर्थात् अनुमिति में जिस किसी को कारण मानेंगे वह पक्ष धर्मता का बल ले करके ही समर्थ होगा,

मूकत्वात् तस्मात् परिशेषाच्चरमः कल्पः स्यात् तथा च पक्षधर्मतामेव स्वनाम्ना दूषयसि अपर्यवसाननाम्ना तु मन्यसे सोऽयं शिरश्छेदेऽपि काकर्णीं न ददाति पञ्चगण्डकांस्तु ददातीति वदवसीयते ।

ननु धूमाग्न्योर्देशगर्भा वा कालगर्भा वोभयगर्भा वा व्याप्ति नाद्यः व्योमलेलिहानायां धूमधारायां तदालीढव्योमनि

अन्यथा नहीं । तस्मात् चरम पक्ष ही घटेगा । अन्य कोई पक्ष नहीं हो सकेगा । तब तो पक्ष धर्मता को ही स्व नाम से (पक्ष धर्मता नाम से खण्डनकर रहे हो और अपर्यवसान नाम से समर्थन कर रहें हो, सो यह गला कट जाने पर भी कोड़ी नहीं देता है और पांच गंडा कौडी देता है) इस न्याय का अतिक्रमण नहीं करते हो । अर्थात् अनुमिति के प्रति पक्षता का पक्षता शब्द से तो निराकरण करते हो और पक्ष धर्मता का अपर्यवसान शब्द से समर्थन करते हो यह सर्वथा अनर्गल कर रहे हो । अतो मन्तव्य इत्यादि श्रुति बोधित अनुमान में प्रामाण्य का निर्वाह करने के लिये पक्ष धर्मता का तथा व्याप्त्यादि अंग का समर्थन सर्वथा आवश्यक है, और इन सब पदार्थों का समर्थन प्रमाणादि सत्ता के बिना नहीं बन सकता है । अतः अनिर्वचनीयता वाद को लेकर के तो पक्ष की आशा को दूर रखिये ।

शंका—धूम तथा वह्निकी जो व्याप्ति है सो देश घटित

व्यभिचारात् । अथ यत्र धूमस्तत्र तन्मूलावच्छेदेन वन्हिरिति नियम इति चेत् । न आभीरकूट्यां व्यभिचारात् । अथाविच्छि-

---

व्याप्ति है । अर्थात् "यत्र देशे धूमस्तत्र देशे वह्निः" जिस देश में धूम है उस देश में वह्नि है इत्याकाग्क साहचर्य नियम की व्याप्ति कहते है, अथवा काल घटित वह्नि धूम की व्याप्ति है ? अर्थात् जिस काल में धूम है उस काल में वह्नि रहती है इत्याकारक काल घटित वह्नि धूम की व्याप्ति है ? अथवा देश काल उभय घटित अर्थात् जिस का लमें जिस देश में धूम रहता है उस देश में उस काल में वह्नि रहती है, ऐसा व्याप्ति का स्वरूप मानते हैं ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि जहां उपरि देश (आकाश) में धूम की शिखा हैं तादृश धूम विशिष्ट आकाश में वह्नि नहीं है तो साध्याभाव-वत् में धूम की प्रवृत्तिता रहने से व्यभिचार दोष हो जाता है । और व्यभिचार प्राप्ति प्रतिरोधक है । अथ यदि कहो कि जिस देश में धूम रहती है उस देश में मूलावच्छेदेन वह्नि रहती है, एतादृश नियम मानता हूँ । सो ठीक नहीं है क्योंकि आभीर कुटी में (गाय दुहने वाले मृत्पात्र में) दूध निकालने के बाद उसमें अग्नि देकर उसका मुख ढांक देता है । ढांकने से अग्नि बुझ जाती है और उसमें धुआं रह जाती है, इस भूम में व्यभिचार है धूम तो है और मूल देश में वह्नि नहीं है इसी को गोपालघटिकोद्वासित धूम

न्नमूलसततोद्ध्वं गतिशीलस्थूलधूमलहरीमूले प्रदेशे वन्हिरिति देशगर्भव्याप्तिशरीरमिति चेत् । न । कालान्तरेऽपि तत्र वन्ह्यर्थिप्रवृत्त्यापत्तेः न द्वितीयस्तदा ह्रदेपि वन्ह्यापत्तेः तृतीयस्तु

कहते हैं) अथ यदि कहो कि अविच्छिन्न मूल सतत ऊर्ध्व गतिशील स्थूल धूम जिस स्थान में रहती है उसके मूल प्रदेश में वह्नि रहती है, इस प्रकार से देश घटित व्याप्ति के शरीर को मानता हूं। इस गोपालघटितोद्भासित धूम में व्यभिचार नहीं होगा। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस काल में तादृश धूम का दर्शन हुआ उससे अतिरिक्त काल में उस देश में वन्ह्यर्थी पुरुष की प्रवृत्ति हो जायगी। न वा काल गर्भित वन्हि धूम की व्याप्ति है। यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से तो ह्रद में भी वन्हि का अनुमान हो जायगा। अर्थात् जिस काल में पर्वत में धूम है उसी काल में ह्रदात्मक विभिन्नाधिकरण में भी अनुमिति हो जायगी। इष्टापत्ति कह नहीं सकते हैं, क्योंकि ह्रद में वन्हि का बाध है। ह्रद वन्ह्यभाव वाला है। एतादृश निश्चय काल में ह्रद में वन्हि है ऐसी अनुमिति नहीं होगी। तृतीय पक्ष तो हो सकता है। जिस देश जिस काल में धूम रहती है उस देश उस काल में वन्हि रहती है, यह व्याप्ति बन सकती है, परन्तु यह तो अनुमिति का अंग नहीं है। क्योंकि एतादृश व्याप्ति का

सम्भवति स नाङ्गं तदनवगमेऽपि अनुमित्युदयादिति तटस्थ-देशनायां तु उच्यते आद्य एव कल्पः । न च कालान्तरेऽपि तत्राग्न्यर्थिप्रवृत्त्यापत्तिः । यत्र धूमस्तत्र सर्वदा वह्निरिति न व्याप्तिर्येन तथा स्यात् सामान्यव्याप्त्यैव तथा भविष्यतीति

ज्ञान नहीं रहने पर भी अनुमिति का प्रादुर्भाव माना जाता है । इस प्रकार से तटस्थ व्यक्ति का प्रश्न होने पर उच्यते इत्यादि प्रकरण से समाधान करते है ।

समाधान–प्रथम कल्प ठीक है, देश घटित काल घटित देशकालोभयघटित वन्हि धूम की व्याप्ति है । इस प्रकार से जो तीन कल्पका विकल्प किया था, उनमें देश घटित जो प्रथम विकल्प है सो ठीक है यह उत्तर समझो । नहीं कहो कि इस पक्ष में तो कालान्तर में भी अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति होगी । ऐसा मत कहो । क्योंकि जहां धूम रहती है वहाँ सर्वदा अग्नि रहती है ऐसी व्याप्ति नहीं मानता हूँ कि जिस से पूर्वोक्त दोष (कालान्तर में अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति होगी प्रवृत्यापत्ति रूप दोष) होवे । नहीं कहो कि सामान्य व्याप्ति से ही कालान्तर में वन्ह्यर्थी की प्रवृति होगी । तो ऐसा भी नहीं कहो क्योंकि तस्याः सामान्य व्यप्ति तो किंचित कालीन वह्नि की सिद्धि से ही चरितार्थ हो जा सकती है । तब वर्तमान कालिक साध्य की सिद्धि किस प्रकार से होगी ? ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि पक्ष धर्मता

चेत् । न । तस्याः किञ्चित् कालीनवह्निमत्तयैव पर्यवसितत्वात् कुतस्तर्हि वर्तमानवह्निसिद्धिः पक्षधर्मताबलात् पक्षतावच्छेदक-धर्मसंबद्धं हि साध्यं पक्षधर्मता ग्राहयति तद्विना प्रतीतेरपर्यव-सानात् पक्षतावच्छेदकः पर्वतत्ववत् वर्तमानः कालोऽपि अयं पर्वतोग्निमानित्यनुमित्याकारात् । अस्तु तावदिदमविनाभाव-सम्बन्धो व्याप्तिरिति यदुक्तं तदयुक्तमन्वयेऽन्वयस्य व्यतिरेके

के बल से वर्तमान कालिक वह्नि की सिद्धि होगी । पक्षता-वच्छेदक धर्म से सम्बन्ध साध्य को ही पक्ष धर्मता ग्रहण करती है । इसके बिना प्रतीती का पर्यवसान नहीं होता है । पर्वतो वन्हिमान् इस स्थल में पक्षतावच्छेदक धर्म जैसे पर्वतत्व है उसी तरह वर्तमान काल भी पक्षतावच्छेदक है । तो पक्ष धर्मता वर्तमान काल सम्बन्ध साध्य को बताया । इससे साध्य में वर्तमानकालिकत्व का ज्ञान होता है । यह पर्वत अग्नि वाला है यह अनुमिति का आकार है । अर्थात् है । अर्थात् जिस समय में अनुमिति होती है तत्कालिकत्व साध्य में लब्ध होता है । अतएव भूत भविष्यत् कालिक साध्य की सिद्धि स्थल में काल वाचक पद का प्रयोग भी रहता है । जैसे यह यज्ञशाला वह्निमती थी । यह यज्ञशाला वन्हिमती होगी । इत्यादि ।

शंका—वन्हि धूम की व्याप्ति जिस तिस प्रकार से भी बने परन्तु अविनाभाव सम्बन्ध पर्याप्त है, यह व्याप्ति

व्यतिरेकस्य व्यभिचारिसाधारण्यादिति मैवम् । अविनाभाव इत्यत्र हि विनाभावपर्युदासे नञ् विनाभावश्च व्यभिचारः तेन व्यभिचारविरोधी सम्बन्धोऽव्यभिचरितः सम्बन्ध

का लक्षण किस तरह से बनता हैं ? आपने जो अविनाभावव्याप्ति कहा सो युक्त नहीं है, क्योंकि अन्वय में अन्वय का तथा व्यतिरेक में व्यतिरेक का व्यभिचार होता है ।

समाधान–मैवम् अविनाभावः, यहां समासान्तरगत जो नञ् है उसका अर्थ बिनाभाव का पर्युदास है अर्थात् पर्युदासात्मक नञ् है और विनाभाव शब्द का अर्थ है व्यभिचार । इसलिये व्यभिचार विरोधी जो संवन्ध उसका नाम है अव्यभिचरित सम्वन्ध । और अव्यभिचरित सम्बन्ध है व्याप्ति । अथवा साध्य साधन का एकान्तिक अर्थात् व्यभिचारादि दोष रहित सम्वन्ध ही व्याप्ति है । अथवा असम्बन्धासहचर संबन्ध अर्थात् सम्वन्धाभाव का संचार न हो ऐसा जो सम्बन्ध उसका नाम व्याप्ति है । जैसे वन्हि का जो संवन्ध वह अव्यभिचरितादि रूप होने से व्याप्ति है । धूम के साथ जो वन्हि का सम्वन्ध है सो एतद्विपरीत है, अर्थात् व्यभिचरित सम्बन्ध है । अयोगोलक में वन्हि है और धूम नहीं रहता है । तब निष्कृष्ट लक्षण ऐसा होता है । यत्समानाधिकरण यदधिकरण में वृत्ति जो

ऐकान्तिकः सम्बन्धोऽसम्बन्धासहचरः सम्बन्धो यथाऽग्निना धूमस्य धूमेन त्वग्नेस्तद्विपरीतः तथा च यत्समानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगिता येन नावच्छिद्यते तेन समं तस्य सम्बन्धो

अन्योन्याभाव, तादृश अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता जिससे अवच्छिन्न न होवे, उसके साथ उसका जो सम्बन्ध, उसी का नाम है व्याप्ति। जैसे वन्हिमान् धूमात् में लक्षण घटक यत पद से हेतु जो धूम उसका ग्रहण होता है, उस धूम का अधिकरण हुआ पर्वत गोष्ठ महान सचत्वर। उस अधिकरण में रहने वाला जो अन्योन्याभाव, सो वन्हिमान यह अन्योन्याभाव तो ले नहीं सकते है क्योंकि वन्हिमत में में वन्हिमान् न, यह अन्योन्याभाव नहीं रहेगा क्योंकि स्व में स्व का भेद नहीं रहता हैं। तव लिया जायगा घटवान्न इत्याकारक अन्योन्याभाव, तदोय प्रतियोगिता घटवत् निष्ठा प्रतियोगिता, सो जिससे अर्थात् वन्हि से अवच्छिन्न नही है किन्तु घटादि धर्म से अवच्छिन्न है। तेन समम् यहां तत्पद से साध्य का ग्रहण होता है। तब उस वन्हि के साथ उस धूम का जो सम्वन्ध है तो इस प्रकार से लक्षण समन्वय होता है। धूमवान् वन्हिः में हेतु है वन्हि, वन्हि का अधिकरण है अयोगोलक उसमें रहने वाला जो अन्योन्याभाव सो धूमवान्न इत्याकारक अभाव, तदीय प्रतियोगिता धूमवत् निष्ठा प्रतियोगिता, जिस धर्म से अर्थात् धूम रूप साध्य से

व्याप्तिरिति धूमवान् वह्निमान्न भवतीत्यप्रतीतेः धूमसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगिता वह्निना नावच्छिद्यते तेन वह्निना समं धूमस्य सम्बन्धो धूमस्य व्याप्तिः। हन्तैवं ईदृशेन वह्निना समं ज्ञाप्यज्ञापकत्वादिरपि सम्बन्धो व्याप्तिः स्यात् सामानाधिकरण्यमितिकरणे तु नायं दोपः संबंधमात्रस्य सामानाधिकरण्यरूपत्वाभावात्। अतः एव चिन्ता-

---

अवच्छिन्न ही है, अनवच्छिन्न नहीं है। इसलिये अनवच्छिन्न धूम के साथ वन्हि का संवन्ध न रहने से अतिव्याप्ति नहीं होती है। स्व में स्व का भेद नहीं रहता है। इस बात को मूलकार स्वयं बताते हैं "धूमवान् वन्हिमान्नभवतीत्यप्रतीते" धूमवान् वन्हिमान् नहीं-होता है ऐसी प्रतीति नहीं होती है। धूमाधिकरण में रहने वाला जो अन्योन्याभाव घटवान्न इत्याकारक अन्योन्याभाव तदीय प्रतियोगिता वन्हि से अवच्छिन्न नहीं है किन्तु घटादि से अवच्छिन्न है तो उस वन्हि के साथ जो धूम का संबन्ध सो ही धूम की व्याप्ति है।

शंका—तब तो ईदृश वन्हि के साथ धूम का जो ज्ञाप्यं ज्ञापक भावादिक संबन्ध है सो भो व्याप्ति कहावेगा क्योंकि सामानाधिकरण्य प्रमाकरण में तो यह दोष नही है क्योकि सम्बन्ध मात्र को सामानाधिकरण्य रूपत्व नहीं होता। अत एव चिन्तामणिकारादिक ने भी ऐसा ही कहा है।

मणिकारादयोप्येवमिति चेत् । न अविशिष्टव्यावृत्तविशिष्टधी-नियामकस्येह सम्बंधपदार्थत्वात् स च धूमादौ संयोगः रूपर-सादौ समवायो वृत्तशिंशपादौ सामान्यविशेषभावादिरिति ज्ञाप्यज्ञापकभाववाच्यवाचकभावादिस्तु न तथा किञ्च सामानाधिकरण्यविशेषस्य व्याप्तित्वे भेदानुमानं न स्यात् । तथाहि घटः पटो न भवतीतिप्रतीतिसाक्षिकस्तावदन्योन्याभावो दूरपह्नवः न चायं तद्धर्मात्यन्ताभावात्मैव घटः पटो न घटे

उत्तर–अविशिष्ट व्यावृत्त विशिष्ट धी, अर्थात् विशिष्ट ज्ञान का जो नियामक हो उसी को यहां सम्बन्ध पदार्थ माना जाता है। वह सम्बन्ध अर्थात् तादृश सम्बन्ध धूम का होता है पर्वताद्यनुयोगिक धूम प्रतियोगिक संगोग, रूप रसादिक स्थल में समवाय तथा वृक्ष शिंशपादिक स्थल में सामान्य विशेष भावादिक किन्तु ज्ञाप्य ज्ञापक भाव वाच्य वाचक भाव आदिक सम्बन्ध ऐसा नहीं है, इसलिये ज्ञाप्य ज्ञापक भाव सम्बन्ध में व्याप्ति की अतिव्याप्ति नहीं होती है। और भी देखिये यदि सामानाधिकरण्य विशेष को ही एकान्ततः व्याप्ति कहैं तब तो भेदानुमान कहीं नहीं होगा। भेदानुमान कहीं क्यों नहीं होगा? इसका उपपादन तथाहीत्यादि प्रकरण से ग्रंथकार स्वयं करते हैं। तथाहि घट पट नहीं होता है इत्यादि प्रतीति से सिद्ध जो अन्योन्याभाव उसका निराकरण तो कर नहीं सकते हैं। नहीं कहो कि धर्मी का जो अन्योन्याभाव है सो धर्म का

घटत्वं नेतिप्रतीत्योः समानाधिकरणव्यधिकरणाभावग्राहितया तयोः समानाधिकरणाभावत्वव्यधिकरणाभावत्वरूपवैधर्म्यासिद्धेः। ननु भवत्वन्योन्याभावो धर्मिप्रतियोगिको धर्मात्य-

---

अत्यन्ताभाव रूप ही है। अर्थात् घटो न यह भेद घटातिरिक्त में रहता है तथा घटत्व का अत्यन्ताभाव भी घटादि व्यतिरिक्त में ही रहता है। इसलिये धर्मी का अन्योन्याभाव धर्म का जो अत्यन्ताभाव तत्स्वरूप ही है। ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि घट पट नहीं है और घट में पटत्व नहीं है, यह जो दोनों प्रतीति है उनमें समानाधिकरण तथा व्यधिकरण अभावग्राहीत्व है, अर्थात् एक समानाधिकरणाभाव विषयक है और एक व्यधिकरणाभाव विषयक है, तब इन दोनों में समानाधिकरणाभावत्व तथा व्यधिकरणाभावत्व रूप जो वैधर्म्य है सो सिद्ध नहीं होगा। यदि दोनों एक रूप हो जाँय तब समानाधिकरणाभावत्व और व्यधिकरणाभावत्वात्मक वैलक्षण्य कैसे सिद्ध होगा? इसलिये धर्मीका अन्योन्याभाव और धर्म का अत्यन्ताभाव एक रूप नहीं हो सकता है।

ननु भवतु इत्यादि–मान लिया जाय कि धर्म प्रतीक जो अन्योन्याभाव है सो धर्माभाव से भिन्न है। "घटो न" यह घट धर्मी जो घट तत्प्रतियोगिक भेद है और "घटत्वं नास्ति" यह घटत्व रूप धर्म का अभाव है तो

न्ताभावभिन्नः सत्त्वनुमानान्न ज्ञातुं शक्यते। तथाहि इतरे व्याप्याः पृथिवीत्वात्यन्ताभावस्तु व्यापक इति वाच्यं तन्न इतरेषामवृत्तिघटिततया समानाधिकरणत्वाभावात् व्याप्यत्वस्य च नियतसामानाधिकरण्यरूपत्वात् अस्तु वा अन्यकिञ्चिद्व्याप्यत्वं तथापि व्यापकस्य व्यतिरेकात् व्याप्यस्य व्यतिरेकः

घटो न इत्याकारक भेदापेक्षया घटत्वं नास्ति को भिन्न मान लिया जाय) परन्तु उसको अनुमान से जान नहीं सकते हैं। तथाहि पृथिवीतर को व्याप्य मानेंगे और पृथिवीत्वाभाव व्यापक है ऐसा आप कहेंगे तो इसमें पृथिवीतर में तो अवृत्ति आत्मादिक का भी समावेश होता है तब समानाधिकरणत्व का अभाव है और व्याप्यत्व तो नियत सामानाधिकरण्य रूप है (अर्थात् आकाश आत्मादिक निरधिकरण होने से उसमें नियत सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति कैसे होगी ? सामानाधिकरण्य तो वृत्तिमान पदार्थ का ही होता है। न कि अवृत्ति पदार्थ का होता है। आपने इतर को व्याप्य कहा है, इतर में आत्मादिक अवृत्ति पदार्थ भी अन्तर्गत है, उसमें पृथिवीत्वात्यन्ताभाव निरूपित व्याप्यता सामानाधिकरण्य रूपा कैसे होगी ?) मान लिया जाय कि व्याप्यत्व नाम का पदार्थ कुछ और है, तथा व्यापक के अभाव से व्याप्य का अभाव संसर्ग भावात्मक अवश्य सिद्ध होगा। जैसे वह्नि के अभाव में धूम का अभाव सिद्ध होता है। परन्तु वह व्याप्याभाव

संसर्गाभावात्मा सेत्स्यतीति वन्हिव्यतिरेकात् धूमव्यतिरेकवत् स तु न भेदः आकाशसंसर्गाभावस्याकाशेऽपि सत्त्वात् आकाश-संसर्गाभावस्य केवलान्वयित्वात् न चाकाशादाकाशो भिन्न। ननु यदि तावद्यत्र न पृथिवीत्वं तन्नेतरदिति नरसिंहाकारैव व्याप्तिरतः पृथिवीत्वेनेतरभेद एव सेत्स्यतीति चेत् अस्तु तावदेवं तथापि व्याप्तेराकारोऽनुगतो वाच्यः स च न सामामाधिकरण्यरूपो नाप्यन्यरूप इति महद्व्यसनं प्राप्तम्। उच्यते

अन्योन्याभाव रूप नहीं होगा, क्योंकि आकाशादि अवृत्ति पदार्थ का संसर्गाभाव आकाशादि में भी रहता है, क्योंकि आकाशाभाव केवलान्वयी है। (एकजातीयता संबंध से जो सर्वत्र विद्यमान हो उसको केवलान्वयी कहते हैं। तो आकाश भी सर्वान्तर्गत है इसलिये केवलान्वयीत्वात् आकाश में आकाश का संसर्गाभाव रहता है।) परन्तु आकाश तो आकाश से भिन्न नहीं है, अर्थात् आकाश भेद तो केवलान्वयी नहीं है।

प्रश्न—यदि ऐसा कहो कि जहां पृथिवीत्व नहीं है। वह इतर भिन्न नहीं है। इस प्रकार से व्याप्ति को नरसिंहाकार ही मानिये, तब तो पृथिवीत्व हेतु से इतर भेदरूपसाध्य की सिद्धि होगी। ऐसा कहो तो आपका ऐसा कहना ठीक हैं, तथापि व्याप्ति का अनुगत आकार तो अवश्य कहना होगा। परन्तु वह अनुगत आकार जो न सामानाधिकरण्य हो सकता है न वा अन्य रूप

व्यभिचारविरोधिसम्बंधस्तावद्व्याप्तिः अत एव स्वाभाविक-सम्बंध इति टीकाकृतः अव्यभिचरितः सम्बंध इति वार्त्तिककृतः निरुपाधिः सम्बंध इति निबंधकृतः कात्स्न्र्येन सम्बंध इति लीलावतीकृतः सामान्यमुखमेव व्याप्तिस्वरूपमाहुः । यत्त्वर्वाचां

सिद्ध होता है । यह बहुत बड़ा दुःख उपस्थित होता है । अर्थात् अनुगताकार व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती हैं ।

समाधान–उच्यते इत्यादि–व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती है ऐसा मत कहो, व्यभिचार विरोधी जो सम्बन्ध उसी का नाम व्याप्ति है । जो धूमादिक स्थल में धूम प्रतियोगि पर्वतानुयोगिक विलक्षण संयोग रूप है और रूप रसादिक स्थल में समवाव रूपं है । अत एव टीकाकारने जो साध्य हेतु के स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है । वार्तिक कारने साध्य हेतु के अव्यभिचरित सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है और निवन्धकार ने निरूपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है× और लीलावती कारने कात्स्न्र्येन सम्बन्ध को व्याप्ति

×निरुपाधिक सम्बन्ध का नाम है व्याप्ति, उसमें उपाधि उसकों कहते हैं जो साध्य का व्यापक हो और हेतु का अव्यापक हो, जैसे धूमवान् वन्हिः इस स्थल में आर्द्रेन्धन संयोग है उपाधि । यह आर्द्रेन्धन संयोग साध्य जो है धूम उसका व्यापक है । अर्थात् जहां जहां धूम रहती है वहां सर्वत्र आर्द्रेन्धन सयोग है । आर्द्रेन्धन संयोग के बिना धूम हो ही नहीं सकती है । इस प्रकार से धूम रूप साध्य का व्यापक है अर्द्रेन्धन संयोग और साधन जो अग्नि है उसका अव्यापक है । अग्नि अयोगोलक में भी हैं. वहां आर्द्रेन्धन संयीग नहीं रहता है इसलिये साधन का अव्यापक हुआ । जहां उपाधि रहती है वहा उपाधि स्वभाव से पक्ष में साध्याभाव को सिद्ध कर देती है । जैसे अयोगोलक

सामानाधिकरण्येन तन्निर्वचनं तत्प्रसिद्धतरधूमानलादिव्याप्तिमात्रपरं न तु सामानाधिकरण्यगर्भैव व्याप्तिरित्याशयेन

कहा है, सभी ने सामान्य रूप से व्याप्ति स्वरूप का प्रतिपादन किया हैं।

अर्वाचीन आचार्यों ने जो सामानाधिकरण्य रूप से व्याप्ति स्वरूप का निर्वचन किया है सो अति प्रसिद्ध जो वह्न्यादिक की व्याप्ति हैं तावन्मात्र परक है, न तु सामानाधिकरण्य रूप ही सर्वत्र व्याप्ति है, इस आशयसे नहीं है, अर्थात् सामानाधिकरण्य रूपाव्याप्ति धूमवह्नि विषयक सार्वत्रिक नहीं है।× अत एव जिस हेतु और साध्य को सामानाधि-

---

धूमाभाव वाला है धूम व्यापक आर्द्रेन्धन संयोगाभाववान होने से। इस अनुमान से अयोगोलक वन्हि होने से धूम वाला है इस अनुमिति का बाध हो जाता हैं। व्यापकाभाव व्याप्याभाव का साधक होता है और बाध निश्चय विशिष्ट ज्ञानमात्र के प्रति विरोधी है। यही उपाधि में दूषकता का बीज है। एतादृश उपाधि रहित सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। इस अभिप्राय को लेकर निबन्धकारने निरूपाधि सम्बन्ध व्याप्ति है ऐसा कहा है।

×अव्यभिचरित सम्बन्ध व्याप्ति है, इसका मतलब यह है कि साध्य वदन्य में अवृत्तित्व रूप व्याप्ति होती है। वन्हिमान् धूमात् में साध्यवत् पर्वतादिक तदन्य जलादिक उसमें धूम की अवृत्तिता है। इस लक्षण में वृत्तिता हेतु वच्छेदक सम्बन्ध से विवक्षित हैं। अन्यथा वन्हिमदन्य जलादिक तथा धूमावयव में कालिक तथा समवायेन धूम की वृत्तिता होने से अव्याप्ति हो जाती है। एवं वृत्तित्वाभाव सामान्याभाव विवक्षित है।अन्यथा धूमवदन्य-

अत एव ययोरेव सामानाधिकरण्येनैव परं नियमसम्भवः तयोरेव सामानाधिकरण्येन व्याप्तिरित्यत्राचार्याणामनिर्भर इति वर्द्धमानोपाध्यायकृतखण्डनोद्धार फक्किकापि सङ्गच्छते। किञ्चान्यथा इतरेपामबादीनां त्रयोदशानां त्रयोदशान्योन्याभाववैधर्म्येण हेतुना साध्यत इति न्यायमार्गो व्याकुप्येत

करण्य से ही व्याप्ति होने की सम्भावना है, उन दोनो में ही सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति हैं। इस विषय में प्राचीनाचार्यों का निर्भर नहीं है. इस प्रकार सेवर्द्धमानोपाध्यायकृत जो खण्डनोद्वार फक्किका है सो भी संगत होती हैं। और भी देखिये इतर पद वाच्य जो त्रयोदश जलादिक हैं उन सब का त्रयोदश अन्योन्याभावात्मक साध्य को वैधर्म्य हेतु से सिद्ध होता है। इस प्रकार का जो न्ययमार्ग है सो कुप्त हो जायगा। वैधर्म्य से अन्योन्याभाव जो आप सिद्ध करोगे

जल निरूपित वृत्तिता का अभाव लेकर धूमवान् वन्हेः इस स्थल में अति व्याप्ति हो जाती। एवं साध्यवत्ता साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से विवक्षित है। नहीं तो समवायेन वृत्तिमद् वन्हयवयव को लेकर तदन्यत्व पर्वते से अव्याप्ति हो जाती। एवं वन्हिमदन्य भी सामान्याभाव ही विवक्षित है। यत् किंचित् वन्हिमदन्य पर्वत को भी होने से अव्याप्ति हो जाती। इस लक्षण में इदं वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यादि केवलान्वयि स्थल में वाच्यत्व वदन्य की अप्रसिद्धि होने से अव्याप्ति हो जाती है, अतः नवीन नैयामिक ने प्रसिद्ध स्थल वन्हि धूम को लक्ष्य में रख करके हेतु व्यापक साध्य समानाधिकरण्य रूप व्याप्ति का निर्वचन किया है। अतः यहां कहा कि यत्तु अर्वाचीनों ने लक्षण किया है प्रसिद्ध तर धूम अग्नि साध्यक स्थल को लक्ष्य करके कहा है नतु सार्वत्रिक हैं।

वैधर्म्येणान्योन्याभावस्त्वया साध्य इति खण्डनं च निरालम्ब-नमापद्यते सामान्यमपहाय विशेषाश्रयणे निर्बीजं च गौरवं स्यात् अवृत्त्यपि व्याप्यमेवं स्यात् यदाकाशं तत्र पृथिवीत्वाभाव इति व्याप्तेरिति चेत् अस्तु तल्लिङ्गस्यापीति चेत् भ्रान्तोऽसि यो धूमः स वह्निमानिति व्याप्तौ तथा धूमवत्वं लिङ्गं क्रियते तथात्राकाशत्वमिति उक्तव्याप्तेस्तु फलं यत्र पृथिवीत्वं तत्रा-काशादीति भेदधीरेवेति सर्वं सुस्थम् ।

यह जो खण्डन ग्रन्थ है, सो निरालम्बन हो जायगा। सामान्य को छोड़कर के विशेष रूपेण व्याप्ति को मानो तब तो निर्मूलक गौरव दोष होता है ।

शंका—ऐसा होने से तो अवृत्ति जो आकाशादिक हैं सो भी किसी का व्याप्य होंगें। क्योंकि जहां आकाश है वहां पृथिवीत्वाभाव है, ऐसी व्याप्ति 'होने से । आकाशादि हेतु को भी ऐसी व्याप्ति हो, ऐसा कहो तो ?

उत्तर—तुम भ्रान्त हो ! जहां धूम है वहां वह्नि मान है इस व्याप्ति में जैसे धूम (त्व) हेतु होगा, उसी तरह से यहां आकाश (त्व) हेतु होगा। इस व्याप्ति का फल होगा, जहां पृथिवीत्व है वहां आकाश नहीं है एतादृश भेद ज्ञान ही फल होगा। इस प्रकार से सब ठीक है । व्याप्ति विषयक विचार सुस्थिर होता है ।

सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष के बल से सकल धूमादि

व्याप्तिग्रहः सामान्यलक्षणया सकलधूमादिविषयकः कथमन्यथा पर्वतीयधूमस्य व्याप्त्यग्रहे तस्मादनुमितिः। ननु धूमो वह्निव्याप्य इति ग्रहणं स्मरणं च दृष्टान्तधूममात्रविषयकं तथा पर्वतवृत्तिर्धूम इति पक्षधर्मताग्रहणं च त्रयमिति धूमत्वप्रकारकमस्त्वनुमितिजनकं तद्धेतोरेवास्तु किन्तेनेति न्यायात्।

विषयक व्याप्ति ज्ञान होता है। अन्यथा सकल धूम विषयक यदि व्याप्ति ज्ञान न हो तब तो महानसीय धूम मात्र में व्याप्ति ज्ञान हुआ है, पर्वतीय धूश में तो व्याप्ति ज्ञान नहीं हुआ। उस समय में पर्वतीय धूम कै अनुपस्थित होने से। तब उस पर्वतीय धूम से पर्वत में अनुमिति किस प्रकार से होगी ? इसलिये सामान्यलक्षणा द्वारा सकल धूम विषयक व्याप्ति ग्रह होता है, ऐसा अवश्य मानना चाहिये। तथा सकल धूम में व्याप्ति ग्रह के लिये सामान्यलक्षणासन्निकर्ष का स्वीकार भी आवश्यक ही है।

शंका—धूमो वह्नि व्याप्य इत्याकारक ग्रहणात्मक ज्ञान, तथा दृष्टान्त धूम मात्र विषयक स्मरण, और धूमः पर्वत वृत्तिः, इत्याकारक पक्षधर्मता का ज्ञान इन तीनों को अनुमिति जनकता है, इसलिये धूमत्व प्रकारक ज्ञान को ही अनुमिति में कारणत्व मान लीजिये तद्धेतु—की ही कारणता रहै तत् को कारणता क्यों ? इस न्यायसे।× ऐसा

×अर्थात् व्याप्ति ग्रहण, दृष्टान्त धूम विषयक स्मरण, पक्ष धर्मता ज्ञान, इन तीन कारणों से परामर्श भी होता है, तथा अनुमिति इन्हीं तीन कारणों

तथा च न व्याप्तिग्रहाय सामान्यलक्षणा। अत एव शक्तिग्रहायापि नेयं सन्निकृष्टपिण्डमात्र एव घटो घटपदवाच्य इति शक्तिग्रहात् ततो घटपदात्तद्घटव्यक्तेरेव स्मृतिः ततो वाक्यार्थज्ञानेऽपूर्व एव घटो घटत्वेनान्वयधीविषयीभवतीति नानु-

---

जब हुआ अर्थात् ज्ञानत्रय से ही जब अनुमिति हो जाती है तब सकल धूम में व्याप्ति ग्रह के लिये सामान्यलक्षणा मानने की क्या आवश्यकता है ? अतएव सर्व व्यक्ति में शक्ति ज्ञान के लिये भी सामान्यलक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है सन्निकृष्ट समीपवर्ती व्यक्ति में ही "घटो घट पद वाच्यः" घट पदार्थ घट पद का वाच्य है इत्याकारक शक्ति ज्ञान होगा। तदनन्तर घटादि पद से तत् घट व्यक्तिं का स्मरण होगा, तदुत्तर काल में वाक्यार्थ ज्ञान (शब्द बोध) में अपूर्व जो घट सो घटत्व रूप से अन्वय (शाब्द) ज्ञान का विषय होता है इसलिये अनुमिति तथा शाब्द बोध

के रहने से होती है तब यह तीन कारण आवश्यक है। इस स्थिति में ज्ञानत्रय से ही अनुमिति होगी। गौरवापादक परामर्श को कारणता क्यों माना जाय ? तद्धेतोरेव न्यायसे अर्थात् परामर्श का कारण जो ज्ञानत्रय उसी से अनुमिति मानिये। परामर्श को कारणता क्यों ? परामर्श मानने पर भी तो परामर्श संपादकतया ज्ञानत्रय को मानना ही पड़ता है तो अवश्य क्लृप्त ज्ञानत्रय से ही सर्वत्रानुमिति होगी, विशिष्ट वैशिष्ट्यत्रगाही परामर्श को करणता नहीं है। किन्तु धूमत्व प्रकारक ज्ञानत्वेनैव कारणता मान लीजिये। "तद्धेतोरेव" इस न्याय का यही अर्थ है, मूलकारण से ही कार्य को मानिये, मध्यवर्ती को कारणता नहीं।

मितिशाब्दयोरनुरोधात्सामान्यलक्षणेति चेत्। न व्याप्यता-वच्छेदकप्रकारकं हि ग्रहणं नानुमितिहेतुर्गौरवात् वह्निव्याप्य-वानयमिति परामर्शस्थले व्यभिचाराच्च किं तु व्याप्यत्वप्रकार-कमेव लाघवात् एवमन्वेष्यत्वेव व्यक्तिः शक्तिग्रहेऽपि भासते

के अनुरोध से सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान—व्याप्यतावच्छेदक (धूमत्वादि) प्रकारक ज्ञान अनुमिति में कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि व्याप्य-तावच्छेदक प्रकारक धूमत्व आलोकत्वादि ज्ञान को कारणता कहने से गौरव होता है, एक ही साध्य की सिद्धि में अनेक हेतु अनेक हेतुत्वाच्छेदक को करणता होने से। तथा यदि व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान को कारणता कहेंगे तो केवल धूमवान् पर्वत इस ज्ञान से भी अनुमिति हो जायगी। और जहां अयमालोको धूमो वा, संशय है तदुत्तर काल में वह्निव्याप्यवानयं पर्वतः इत्याकारक परामर्श है उस स्थल में व्यभिचार भी होता है। अर्थात् व्याप्यतावच्छेदक धूमत्वादि प्रकारक ज्ञान नहीं है। अनुमिति हो जाती है। इसलिये व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान अनुमिति में गौरव व्यभिचार होने से कारण नहीं है किन्तु व्याप्यत्व प्रकारक ज्ञान ही अनुमिति में कारण है, लाघव होने से। अर्थात् इस पक्ष में व्याप्यतावच्छेदक धूमत्वादिक का प्रवेश नहीं

कथमन्यथा तस्या असमरणे तदन्वयानुभवः स्यात् विशेषण-ज्ञानं विना विशिष्टज्ञानानुदयादिति मैवम्। एवं हि तृतीयलिङ्ग-परामर्शस्य विशिष्टज्ञानानां विशेषणज्ञानजन्यत्वनियमस्य च बलात् सामान्यलक्षणेति निर्गलितम्। तथा च तदुभयासिद्धौ न सामान्यलक्षणा तदुक्तमसिद्धमसिद्धेन साधयतो महानैयायि-कत्वमिति। किञ्च धूमत्वेन वन्हिव्याप्तेर्महानसीयधूमे ग्रहात्प-क्षवृत्तिधूमेऽपि धूमत्वेन भाते तद्व्याप्तिवैशिष्ट्यं ज्ञायतां एकैव

होने से लाघव होता हैं। एवम् इसी तरह से अनुगत होकर के व्यक्ति का प्रतिभान शक्ति में होता है। अन्यथा पद से यदि व्यक्ति का स्मरण न होवै तो व्यक्ति का शब्द बोध में भान कैसे होगा? नहीं कहो कि विशेषण ज्ञान के विना विशिष्ट ज्ञान नहीं होता है, इसलिये व्यक्ति बोध होगा। तब तो इसी तरह से परामर्श को भी विशिष्ट ज्ञान विशेषण ज्ञान जन्य है, इस नियम के बल से कारणत्व सिद्ध होता हैं, तथा परामर्श के लिये सामान्यलक्षणा आवश्यक है यह सिद्ध हुआ। तब तो तदुभय अनुमिति शाब्द धी की असिद्धि होने से सामान्यलक्षणा नहीं। कहा है—असिद्ध को असिद्ध से सिद्ध करते हुए महानैयायिकत्वा-पत्ति है। और भी देखिये—महानसीय धूम में धूमत्वरूप से वह्नि निरूपित व्याप्तिग्रह होता है तो धूमत्व रूप से ज्ञान पक्ष वृत्ति पर्वतीय धूम में भी वह्नि निरूपित व्याप्ति को

हि सा व्याप्तिरिति तृतीयलिङ्गपरामर्शेऽपि तां विनैवेति किं सामान्यलक्षणया। अथ यदि सामान्यलक्षणा नास्ति तदा पाकादौ चिकीर्षा सुखादाविच्छा च न स्यात् सिद्धे तद सम्भवात् असिद्धस्य चाज्ञानात् तस्मात्सामान्यलक्षणया सर्व-पाकावगतावसिद्धं पाकं पक्षीकृत्य कृतिसाध्यत्वेऽनुमिते तत्र चिकीर्षा एवं तयैव सुखेषु ज्ञातेषु चासिद्धे तत्रेच्छेति चेत्। न सिद्धविषयतदुभयज्ञानादेवासिद्धे तदिच्छाद्वयोत्पत्तेः। यत्त्वहं

जान लीजिये। क्योंकि व्याप्ति तो एक ही है। इसलिये तृतीय लिंग परामर्श में भी सामान्यलक्षणा के बिना ही व्याप्तिग्रह हो जायगा, सामान्यलक्षणा मानने की क्या आवश्यकता है? अथ कहो कि यदि सामान्यलक्षणा न मानै तब तो पाक में चिकीर्षा नहीं होगी तथा सुख विषयक इच्छा नहीं होगी। क्योंकि सिद्ध वस्तु में चिकीर्षा वा इच्छा असम्भवित है। और असिद्ध जो पाक तथा सुख उसका ज्ञान नहीं है। अतः सामान्यलक्षणा से सभी पाक का ज्ञान होने के बाद असिद्ध पाक को पक्ष बना करके उसमें कृति साध्यता का ज्ञान हो जाने के बाद असिद्ध पाकार्थं चिकीर्षा होती है, तथा उसी सामान्यलक्षणा से सुख सामान्य हो जाने पर असिद्ध सुख विषयक इच्छा होती है। यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि सिद्ध पाक सुख विषयक ज्ञान से ही पाक सुख विषयक इच्छाद्वयकी उत्पत्ति हो जायगी।

सुखप्रागभाववान् मिथ्याज्ञानवत्त्वादित्यादिना भाविसुखे ज्ञाते तत्रेच्छेति तत्तुच्छम् । ईदृशानुमानानवतारेपि वाहीकादेः सुखेच्छादर्शनादिति । तत्रेच्छा भविष्यन्मात्रविषया सा च भविष्यन्मात्रवृत्तिधर्मप्रकारिका वाच्या कथमन्यथा कृतिसाध्यतानुमितिं भविष्यत्पाकविषयां शवरस्वाम्यंाहेति चेत् । न यथाहि दण्डं विनाऽसत्वेन दण्डसाध्यता घटस्य तथा कृतिं विनाऽत्वेन कृतिसाध्यतापि पाकस्य उक्तहेतोस्तावन्मात्रसाधन एव साम-

---

जिस किसी ने कहा है कि में सुख प्रागभाव वान् हूँ मिथ्या ज्ञानवान् होने से एताहृश अनुमान द्वारा भावी सुख को जान करके तब तादृश सुख विषयक इच्छा होती है, सो ठीक नहीं. क्योंकि एतादृश अनुमान के अभावकाल में भी वाहीक को अर्थात् साधारण मनुष्य को भी सुखेच्छा देखने में आती है । यदि कहो कि वहां इच्छा तो भविष्यत् मात्र विषयक है, तादृश इच्छा भविष्यत्काल मात्र में रहने वाला जो पदार्थ, तदवृत्ति जो सुखत्वादिक धर्म, तादृश धर्म प्रकारिका है, ऐसा कहना हागा । अन्यथा किस प्रकार से भविष्यत्पाक विषयक कृतिसाध्यतानुमिति को शबर-स्वामी ने कहा है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं—जैसे दण्ड के अभाव में असकद्दण्ड से ही घट की साध्यता होती है उसी तरह से कृति के बिना भी असत्व रूप से ही पाक को कृति साध्यत्व होगा । एतावन्मात्र साधन में ही उपर्युक्त हेतुका सामर्थ्य होने से । यह जो पाकादिक में कृति साध्यता है सो कृत्यन्तर के नियमतः सत्व रूप है, कार्यान्तर के समान ।

र्थ्यात् सा च कृत्यन्तरनियतसत्त्वरूपा कार्यान्तरवदेव तथा च यद्यपि यथोक्तप्रकारता पाकान्तरस्मरणस्याप्यस्ति तथापि तन्न भविष्यत्पाकविषयकमिति प्रवर्तकज्ञानेच्छयोः समानविषयतां नैयायिकानुमतामनुरुध्य महार्णवकृदनुमानमानमाह । ननु समानप्रकारकधीसिद्धये पाकान्तरस्मरणस्यापि तथात्वात् अन्यथा स्तनपानान्तरस्य कृतिसाध्यतास्मरणादाद्या प्रवृत्तिर्बालस्येति तदुक्तमयुक्तं स्यात् तथा चान्यस्मरणादेव भविष्यतोः सुखपाकयोरिच्छाचिकीर्षे इति न तदनुरोधादपि सामान्यलक्षणेति । यत्तु व्याप्तिः सम्बन्धविशेषः तद्ग्रहश्च सम्बन्धिविषय-

---

तब यद्यपि यह प्रकारता पाकान्तर स्मरण को भी हैतथापि पाकान्तर स्मरण जो प्रकारता सो भविष्यत्कालिक पाक विषयक नहीं है। इसलिये यहां प्रवर्तक जो ज्ञान तथा इच्छा दोनो में नैयायिकाभिमत समान विषयता का अनुरोध करके महार्णवकार का जो अनुमान उसको प्रमाणरूप से कहा गया है।

प्रश्न—समान प्रकारक ज्ञान में प्रवर्तकत्व को सिद्धि के लिये पाकान्तर (अन्यपाक) विषयक स्मरण में भी प्रवर्तकत्व आता है। अन्यथा स्तनपानान्तर निष्ठ कृति साध्यता के स्मरण से बालक की प्राथमिक प्रवृत्ति होती है, ऐसा जो कहा है सो अयुक्त हो जायगा। ऐसा हुआ तब अन्य व्यक्ति के स्मरण से ही भविष्यत् सुख तथा पाक विषयक इच्छा और चिकीर्षा हो जायगी। इसलिये भविष्यत्सुख विषयक इच्छा चिकीर्षा के अनुरोध से सामान्य

तानियतः तत्र च सन्निकृष्टावेव धूमाग्नी सम्बन्धिनो सर्वे वा । आद्ये धूमत्वं न तदवच्छेदकमतिप्रसक्तत्वात् अन्त्ये सामान्यलक्षणां विना न निस्तारः न हि तां विना सर्वे गृह्यन्त इति ।

लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

यत्तु व्याप्तिरित्यादि–जिस किसी ने कहा कि व्याप्ति क्या है ? तो सम्बन्ध विशेष रूप है । तादृश सम्बन्ध विशेषात्मक व्याप्ति का ज्ञान सम्बन्धी विषयता से नियत है । अर्थात् सम्बन्ध ज्ञान सम्बन्धी ज्ञान से होता है । उसमें सन्निकृष्ठ जो धूम वह्नि वह सम्बन्धो है अथवा देशान्तरीय कालान्तरीय सभी धूम वह्नि इस संबंध के संबंधी हैं ? तो इसमें प्रथम पक्ष अर्थात् सन्निकृष्ट धूमाग्नि संबंधी है, व्याप्ति रूप संबंध का । यह पक्ष ठाक नहीं है, क्योकि इस पक्ष में व्याप्ति रूप मम्बन्ध का सम्बन्धितावच्छेदक धूमत्व नहीं वन सकता है। अति प्रसक्त होने से । अर्थात् व्याप्ति रूप संबंध तो केवल सन्निकृष्ट धूम में ही है, और धूमत्व तो देसान्तरोय कालान्तरीय धूम में भी है, इसलिते धूमत्व अति प्रसत्क हो गया । अवच्छेदक तो अन्यून अनतिप्रसक्त धर्म ही होता है । अतः तादृश व्याप्ति रूप सम्बंध का सम्बन्धितावच्छेदक धूमत्व नहीं हो सकता है, प्रथम पक्ष में यह दोष है । अन्तिम पक्ष में अर्थात् सन्निकृष्ट असन्निकृष्ट सभीं धूम वह्नि व्याप्ति रूप सम्बन्ध सम्बंधी है, इस अन्तिम पक्ष में सामान्यलक्षणा के बिना निर्वाह नहीं है । क्योंकि सामान्यलक्षणा

तन्न सर्वीय एवायं सम्बन्धो धूमत्वावच्छिन्न इति सत्यं किं तु सर्वीयसम्बन्धग्रहः सर्वसम्बन्धिविषयताव्याप्त इति न नियमः समवायग्रहे व्यभिचारात् स हि सर्वेषां द्रव्यगुणकर्म-सामान्यानामेक एव सम्बन्धो रूपवान् घट इत्यादौ घटघटत्वा-

---

के विना देशान्तरीय कालान्तरीय सभी व्यक्ति गृहीत नहीं हो सकती है। अतः सभी धूम अग्नि रूप सम्बन्धी का ज्ञान करने के लिये सामान्यलक्षणा आवश्यक है।

तन्न, सो ठीक नहीं है क्योंकि सभी धूम में यह व्याप्ति रूप सम्बन्ध है, यह कहना तो ठीक है, किन्तु सर्वीय संबंध ग्रह (ज्ञान) सर्व संबंधी विषयता व्याप्त है, यह जो नियम है सो नियत नहीं है। अर्थात् संबंध ज्ञान सर्व संबंधी का ज्ञान होने से ही होगा, ऐसा जो नियम है सो एकान्तिक नहीं है। क्यो ? तो समवाय रूप सम्बन्ध के ज्ञान मैं व्यभिचार है। इसका स्पष्टीकरण स हीत्यादि प्रकरण से स्वयं करते है। समवाय तो सभी द्रव्य गुण कर्म सामान्य का एक ही सम्बन्ध है, रूपवान् घट इत्यादि, घट घटत्व मात्र का ग्रहण करने वाले ज्ञान में प्रकाशित हो रहा है। अर्थात् समवाय तो एक ही है और उसके सम्बन्धी अनेक हैं। तब अनेक ज्ञानाधीनता मानने से कैसे निर्वाह होगा ? इसलिये संबन्ध ग्रह यावत् सम्बन्धि ग्रह पूर्वक होता है, सो समवाय प्रत्यक्ष में व्यभिचरित होने से अमान्य है।

प्रश्न—तब वेदान्ती से नैयायिक पूछते हैं कि यदि सर्व

दिमात्रग्राहिणि प्रत्यये चकास्ति सर्वव्यक्त्यग्रहे सर्वव्यक्तयः कथं व्याप्तिमत्तया गृह्यन्तामिति चेत् । न कथञ्चिदपि सर्वो धूमो वन्हिव्याप्य इति धीः किं तु धूमो वन्हिव्याप्य इत्येव तथा च प्रसिद्ध एव हि धूमो धूमत्वेन प्रकारेण वह्निव्याप्तिमान् कृत्वा गृह्यतां तावतैव तृतीयपरामर्शोऽस्तु । ननु गौरितरेभ्यो भिद्यते गोत्वादित्यत्र गोत्वं लिङ्गमिति तज्ज्ञानं सविकल्पकं वाच्यं निर्विकल्पकस्य व्यवहारानङ्गत्वात् तत्र च सविकल्पके न

व्यक्ति का ज्ञान नहीं होगा तब व्याप्तिमत्व रूप से सभी व्यक्ति का ग्रहण किस प्रकार से होगा ?

उत्तर–किसी प्रकार से नहीं । सभी धूम वह्नि व्याप्त है, एतादृश सर्व धूम मिषयक व्याप्ति ज्ञान नहीं होता है, किन्तु धूम वह्नि व्याप्य है एतादृश व्याप्त ज्ञान ही होता है, सो तो प्रसिद्ध धूम धूमत्व प्रकार से वह्नि व्याप्तिमान् है, ऐसा करके ग्रहण कीजिये । इतने से ही तृतीय लिंग परामर्श भी उत्पन्न हो जाता है । इस स्थिति में यावत् धूम में व्याप्ति मानना और यावत् धूम की उपस्थिति के लिये सामान्यलक्षणा को मानना निरर्थक है ।

प्रश्न–"गौरितरेभ्यो भिद्यते" गो इतर से भिन्न हैं गोत्व होने से । इस व्यतिरेकी अनुमान में गोत्व हेतु है, उस गोत्व रूप हेतु का ज्ञान सविकल्पक ही मानना पडेगा किन्तु निर्विकल्पक नहीं । क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहार का

गौर्विशेषणमन्योन्याश्रयात् जातेर्व्यक्तौ व्यक्तेश्च जातौ विशेषकत्वोपगमात् किं तु गोत्वत्वमुपाधिर्गोत्वे विशेषणं तच्च गवेतरावृत्तित्वे सति सकलगोवृत्तित्वमिति तदुपाधिज्ञानाय सकलगोज्ञानं तच्च न सामान्यलक्षणां विनेति चेत् । न यथाहि गौरित्यत्र गोत्वविशिष्टः पिण्डो भासेत तथा गोत्वमित्यत्रापि गोविशिष्टं गोत्वं न तु ततोऽधिकमननुभवात् न चान्योन्या

अनंग है। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहार जनक नहीं होता है। और उस सविकल्पक गोत्व ज्ञान में गो तो विशेषण नहीं वन सकता है, अन्योन्याश्रय होने से जाति व्यक्ति में और व्यक्ति जाति में विशेषक अर्थात् व्यावर्तक माना जाता है किन्तु गोत्वत्व को उपाधि कहेंगे सो गोत्वत्व गोत्व रूप हेतु में विशेषण है और वह गोत्वत्व गो से इतर में अवृत्ति होकर के सकल गो में रहता है, एतादृश है, तो इस गोत्वत्व रूप उपाधि के ज्ञान के लिये सकल गो का ज्ञान आवश्यक है और सकल गो का ज्ञान सामान्यलक्षणा के विना नहीं हो सकता है। अतः सामान्यलक्षणा का स्वीकार आवश्यक है।

उत्तर–जिस प्रकार से गौः इस विशिष्ट बुद्धि में गोत्व विशिष्ट पिण्ड अर्थात् व्यक्ति भासित होता है। उसी तरह से गोत्वम् यहां गो विशिष्ट गोत्व का भान होता है। इससे अधिक किसी भी वस्तु का भान नहीं होता है क्योंकि

श्रयः। जातिर्हि यथा स्वतो विलक्षणा पिण्डं तथा पिण्डोऽपि स्वातो विलक्षणो जातिं विशिनष्टीति अन्यथोक्तान्योन्याश्रयाद्विशिष्टधियस्ततो धर्मधर्मिभावस्य ततस्तयोरत एव विश्वस्य खण्डने साधु सामान्यलक्षणाव्यवस्थापनमिति। यत्तु धूमो मदीयव्याप्यतासंशयविषयः मयाऽनुकूलतर्कवत्तयाऽगृहीतत्वादित्यनुमानेन प्रतीतधूमे बाधादप्रतीतं धूममादाय पर्यवस्यताऽज्ञातधूमस्यैव संशयविषयत्वं बोध्यमिति। तन्न पक्षाज्ञानेना-

---

ऐसा अनुभव नहीं होता है जिसमें गोत्व तथा गो से इतर वस्तु का प्रतिभान मानें।अन्योन्याश्रय की शका न करें, क्योंकि जिस तरह स्वत एव विलक्षण होकर के जाति व्यक्ति को व्यावृत्त करती है उसी तरह से स्वत एव इतर से विलक्षण पिण्ड व्यक्ति भी जाति का व्यावर्तक है, ऐसा मानता हूँ। अन्यथा उक्त अन्योन्याश्रय होने से, पहिले विशिष्ट बुद्धि तब धर्म धर्मीभाव, तदनन्तर पुनः विशिष्ट बुद्धि इस प्रकार विश्व के खण्डन प्रवाह में आपने बहुत अच्छा सामान्यलक्षणा का व्यवस्थापन किया।

यत्तु इत्यादि—जिस किसी ने कहा था कि धूम मदीयव्याप्यता संशय का विषय है, हम से अनुकूल तर्कवत्व रूपेण अगृहीत होने से। इस अनुमान से प्रतीत धूम में तो व्याप्यत्व संशय विषयता का बाध होने से अप्रतीत धूम में ही व्याप्यता संशय विषयता की सिद्धि होती है।

श्रयासिद्धेः। धर्मिज्ञानजन्यस्य संशयस्य तदसत्त्वेनाभावादनु-मानबाधितत्वात् मानस्य मेयाजनकत्वाच्चेति। अत्रोच्यते। अनुकूलतर्कं विना धूमे वन्हिव्यभिचारित्वशङ्का तावदुदेति सा तावद्वन्हिजन्यतया निश्चिते पुरोवर्तिनि धूमे न सम्भवति तस्य वन्हिजन्यतयैव निश्चितत्वात्। न हि वन्हिजन्योऽयं

उत्तर– यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि पक्ष का ज्ञान नहीं होने से यह अनुमान आश्रयासिद्ध रूप दोष से दुष्ट है। धर्मी ज्ञान जन्य संशय का धर्मी ज्ञान के अभाव से अभाव हो जाता है, अतः अनुमान बाधित है और प्रमाण प्रमेय का जनक नहीं होता है किन्तु ज्ञापक मात्र होता है।×

इसके पूर्व प्रकरण में वेदान्ती ने मुख्य रूप से सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष का निराकरण करने के लिये नैयायिका-भिमत तर्कादिक का निराकरण करके पूर्व पक्ष रूपेण स्वमत का व्यवस्थापन किया, इसके अगो "अत्रोच्यते" से नैया-यिक उसका उद्धार करते हैं।

अत्रोच्यते–(अब उत्तर करते हैं) अनुकूल तर्क के विना धूम में वह्नि व्यभिचार की शंका उदित होती, धूम वह्नि व्यभिचारो है कि नहीं:? इत्याकारक शंका होती

×"व्याप्तिग्रहः सामान्य लक्षणया सफल धूमादि विषयक" से लेकर "अत्रोच्यते" एतत्पर्यन्त ग्रन्थ को सावधान पूर्वक देखना चाहिये, अन्यथा पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष में सांकर्यावभास प्रतीत होता।

धूमो वन्हिं विना भवत्वित्यनुन्मत्तः शङ्कते। अनयोर्धूमत्व-वन्हित्वाभ्यामवच्छेदकाभ्यां कार्यकारणभावो न गृहीत इति सामान्यद्वयावच्छिन्नसम्बन्धितारूपा व्याप्तिरगृहीतैवेति व्याप्तेरव्यभिचरितसम्बंधस्याग्रहादत्रैव व्यभिचारशङ्केति चेत्। धूमत्ववन्हित्वयोस्तदवच्छेदकता कुतो न गृहीता। धूमान्तरस्य

है। वह शंका वह्नि जन्यत्व रूपेण निश्चित पुरोवर्ती धूम में तो हो नहीं सकती है, क्योंकि पुरोवर्ति धूम में वह्निजन्यता का निश्चय है। निश्चय शंका का विरोधी होता है। वन्हिजन्य वह धूम वन्हि के बिना ही होवे ऐसी शंका स्वस्थ कोई भी व्यक्ति नहीं करता है। अर्थात् जब प्रत्यक्ष धूम में वन्हिजन्यत्व का निश्चय है, तब उसमें अजन्यत्व विषयक शंका व्याहत है।

प्रश्न—वन्हि तथा धूम में वन्हित्व धुमत्व रूप जो कार्यतावच्छेदक तथा कारणतावच्छेदक धर्म, उसके द्वारा तो कार्य कारण भावका ग्रह नहीं हुआ है। इसलिये सामान्य द्वय अर्थात् धुमत्व वन्हित्व रूप जो धर्म द्वय तदवच्छिन्न सम्बन्धिता रूप व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है, तब व्याप्ति में अव्यभिचरित सम्बन्ध का ज्ञान न होने से, इसी प्रत्यक्ष धूम में व्यभिचार की शंका होती है।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वन्हित्व धूमत्व में कार्यतावच्छेदकता तथा कारणतावच्छेदकता का ग्रहण क्यों

व्यभिचारशङ्कयेति चेत् । तद्धियं विना कथं तर्हि व्यभिचार-शङ्का धर्मिज्ञानजन्या हि सा तद्धीश्च न सामान्यलक्षणां विनेति घट्टकुट्यां प्रभातम् । एवं च धूमत्वावच्छिन्नानां वह्नित्वा-वच्छिन्नैः समं सम्बन्धिता वन्हिव्याप्यता सा च सर्वधूमेषु गृह्यते । कथमन्यथा पर्वतीयधूमस्य व्याप्त्यग्रहे तस्मादनुमितिः ।

नहीं होता है ? यदि कहो कि धूमान्तर में वन्हि व्यभिचार की शंका है, इसलिये कारणतावच्छेदकता तथा कार्यता-वच्छेदकाग्रह वन्हित्व धुमत्व में नहीं होता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि धूमा तर (कालान्तरीय देशान्तरीय) का जो ज्ञान है उसके बिना धूमान्तर में किस प्रकार से शंका हुई ? क्योंकि शंका तो धर्मीज्ञान से होती हैं, धर्मी ज्ञानाभाव में कैसे होगी ? धूमान्तर का ज्ञान सामान्य लक्षणा के बिना हो नहीं सकता है, अतः शंका का समर्थन करने के लिये सामान्यलक्षणा आवश्यक हुई । और यदि आप सामान्यलक्षणा को मानलेते हैं तो घट कुट्टी प्रभात वृत्तान्त उपस्थित हो जाता है ।× ऐसा हुआ तब धूमत्वा-

×घट कुट्यां प्रभातम् का अभिप्राय यह होता है कि जैसे किसी ने अवैध रूप से अधिक धन का संचय किया परन्तु उस धन पर लगने वाला आयकर अदा नहीं किया । आयकराधिकारी ने उसको पकड़ने के लिये उसके घर पर राज पुरुष को भेजा परन्तु वह इस राज पुरुष के आने की बात को जानकर के घर से भाग गया, परन्तु रात भर इधर उधर भटकता रहकर प्रातः काल आयकर कार्यालय में पहूंच गया तथा पकड़ा गया । प्रकृत में सामान्य लक्षणा का खण्डन करने में प्रयत्नवान् वेदान्ती ने भी अनुपस्थित धूमान्तर ज्ञान के लिये अन्ततो गत्वा सामन्यलक्षणा को स्वीकार लिया ।

सर्वधूमधीश्च न सामान्यलक्षणां विनेति टीकाकृन्मते किं सर्वधूमेषु व्याप्तिग्रहेण यावता सन्निकृष्टधूमव्यक्तावेव धूमो वह्निव्याप्य इति धूमत्वेन प्रकारेण व्याप्तिर्गृह्यतां ततः पक्षधर्मताज्ञानानन्तरं तथैव स्मर्यतां ततः पर्वतवृत्तिधूमो वह्निव्याप्य इत्यस्तु त्वन्मते तृतीयपरामर्शो मन्मतानुमितिर्वाऽस्तु कृतं सामान्यलक्षणया नं हि पर्वतीयधूमनिष्ठतया तदीयाया व्याप्तेः

वच्छिन्न निखिल दूम में वह्नित्वावच्छिन्न निखिल वह्नि के साथ जो सम्बंधिता है इसी का नाम है वह्नि व्याप्यता। वह वन्हि व्याप्यता उपस्थितानुपस्थित साधारण धूम में गृहीत होती है। अन्यथा यदि सभी धूम में वन्हि व्याप्यता न होय, तब पर्वतीय धूम में व्याप्ति ग्रह नहीं होने से पर्वतीय धूम से पर्वत में वन्हि की अनुमिति कैसे होगी ? सर्व धूम का ज्ञान सामान्यलक्षणा के विना नहीं हो सकता है, अतः सामन्यलक्षणा का स्वीकार आवश्यक है। टीकाकार के मत में तो सभी धूम में व्याप्ति ग्रह की क्या आवश्यकता है ? प्रत्यक्ष धूम व्यक्ति में ही "धूमोवन्हिव्याप्यः" धूम वन्हि व्याप्य है, एतादृश धूमत्व प्रकार से व्याप्ति का ग्रहण होगा, तब पक्ष धर्मताज्ञान के अनन्तर उसी रूप से स्मरण होगा। उसके बाद पर्वत में रहने वाली धूम वन्हि व्याप्य है ऐसा ज्ञान होगा, तदनन्तर

प्राग्ग्रहणं तृतीयपरामर्शाय गौरवात् किन्तु तस्या व्याप्तेः कुत्रापि ज्ञानं तच्च वृत्तमेव महानसीयधूमे एकैव हि सर्वधूमव्याप्तिस्तत एव ज्ञानान्तरे ज्ञानत्वग्रहात्तदुत्तरज्ञाने ज्ञानत्वविशिष्टज्ञानमित्याचार्या अप्याहुरित्याशङ्क्य यदि सामान्यलक्षणा नास्ति तदाऽनुकूलतर्कं विना धूमादौ व्यभिचारसंशयो न स्यात्। प्रसिद्धधूमे तद्धूमत्वेन तद्वह्निव्याप्तेरवगमात् धूमान्तरस्य

आपके मत से परामर्श होगा अथवा मेरे मतानुसार अनुमिति होगी। सामान्यलक्षणा की क्या आवश्यकता है ? पर्वतीय धूम वृत्तितया पर्वतीय धूम सम्बंधी व्याप्ति का पूर्व में ग्रहण होना चाहिये जिससे कि क्या परामर्श होगा, ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि गौरव हो जायगा। किंतु व्याप्ति का ज्ञान कहीं होना चाहिये, सो तो महानसीय धूम में हो ही जाता है। सभी धूम में व्याप्ति एक ही है। इसी से ज्ञानान्तर में ज्ञानत्व ज्ञान होगा और उत्तर ज्ञान में ज्ञानत्व विशिष्ट ज्ञान होगा। ऐसा ही आचार्य ने भी कहा है। इस प्रकार से आशंका के बाद यदि सामान्यलक्षणा नहीं है अर्थात् यदि सामान्यलक्षणा नहीं मानोगे तो अनुकूल तर्क के विना धूम में व्यभिचार संशय नहीं होगा। क्योंकि प्रसिद्ध धूम में अर्थात् महानसीय धूम में तद्धूमत्व रूप से महानसीय वन्हि निरूपित व्याप्ति ज्ञान है और धूमान्तर का सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष के बिना ज्ञान नहीं हो सकता

सामान्यलक्षणां विना चाग्रहात् । सामान्येन तु सकलधूमोपस्थितौ धूमान्तरे शङ्का युज्यते विशेषादर्शनात् तथा च तर्कादिना तच्छङ्कायां निरस्तायां प्रसिद्धधूममात्रे एव यद्यपि धूमो वन्हिव्याप्य इति व्याप्तिग्रहोऽप्युचित एव तथाप्युक्तत्या सामान्यलक्षणायां सिद्धायां सर्वधूमव्यक्तिषु व्याप्तिग्रहः सम्भ-

---

है । और सामान्य लक्षरणा मानते हैं तो सामान्य लक्षरणा से महानस स्थल में ही सकल धूम सन्निकृष्टासन्निकृष्ट सकल धूम की उपस्थिति होने से धूमान्तर में अर्थात् असन्निकृष्ट धूम में धूम वन्हि व्यभिचारी है कि नहीं ? एतादृश व्यभिचार शंका होती है सो युक्त है । व्यभिचार शंका का निवर्तक जो विशेष दर्शन, उस विशेष दर्शन का अभाव होने से व्यभिचार संशय धूमान्तर में होना है और तर्क के द्वारा व्यभिचार शंका का निराकरण होने के पीछे प्रसिद्ध धूम में (उपस्थित धूम में) यद्यपि धूम वन्हि व्याप्य है, एतादृश व्याप्ति ग्रह होता है ।

सो उचित है । तथापि पूर्वोक्त युक्ति से सामान्यलक्षरणा का स्वीकार करने से सर्व धूम व्यक्ति में व्याप्ति ग्रह होता है । प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) के सौकर्य से इसी प्रकारसे तात्पर्याचार्य ने भी कहा हैं ।

प्रश्न–सामान्यलक्षरणा सन्निकर्ष के बिना सर्व धूम की उपस्थिति नहीं होगी, और सर्व धूम की उपस्थिति के बिना

वति प्रत्यासत्तिसौकर्यादिति। तथैवोक्तं तात्पर्याचार्यैः। ननु सामान्यलक्षणां विना न सर्वधूमोपस्थितिस्तां च विना न धूमत्वेन व्याप्यतावच्छेदकेन प्रकारेण ग्रह इति सामान्यलक्षणा व्याप्तिग्रहे एवोपयुज्यते इति चेत्। न सर्वव्यक्त्युपस्थितिमात्रेणैवावच्छेदकत्वग्रहः किं तु सम्बन्धान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वग्रहेण स च धूमस्य व्यभिचारशङ्कानिरासेनेति तद्वारेणैव व्याप्तिग्रहे सामान्यलक्षणोपयुज्यत इति युक्तिमत्। १ ननु सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्त्या तदाश्रयसकलव्यक्तिज्ञाने प्रमेयं वाच्यमिति

व्याप्यतावच्छेदक धूमत्व प्रकारेण व्याप्ति ग्रह नहीं होगा। इसलिये सामान्यलक्षणा व्याप्तिग्रह में ही उपगोयी है।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि सर्व व्यक्ति की उपस्थिति होने से ही अवच्छेदकत्व ज्ञान होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु सम्बन्ध के अन्यून अतिरिक्त वृत्तित्व ज्ञान से अवच्छेदकत्व ग्रह से होता है। अवच्छेद-कत्व ग्रह धूम के व्यभिचार की शंका के निरास द्वारा होताहै इसलिये व्यभिचार शंका निरास द्वारेणैव व्याप्ति ज्ञान में सामान्यलक्षणा का उपयोग होता है, ऐसा मानना युक्ति युक्त है। १

प्रश्न—यदि आप सामान्य लक्षणा मानते हो तब तो सायान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिके बल से सामान्याश्रय सकल व्यक्ति का ज्ञान होगा। तब तो प्रमेयत्व सामान्यलक्षणा

व्याप्तिबुद्धौ सार्वज्ञ्यं स्यात् । बाढं महाशय ! तवैवं निश्चयः स्यात् । बाढं घटत्वादिना तु विशेषेण निश्चयोऽस्य न भवति स्वसामग्रीविरहात् । कासौ स्वसामग्री घटत्वनिर्विकल्पकं तदुत्तरधारावहिकानि घटत्वप्रकारकाणि न स्युः पूर्वधारावाहिकानां घटत्वनिर्विकल्पत्वाभावादिति चेत् । तान्यपि हि

सकल प्रमेय का ज्ञान होने से तादृश ज्ञानवान् पुरुष को सर्वज्ञ होना चाहिये ।

उत्तर–बाढम् महाशय ! आपको ऐसा निश्चय होगा । ठीक है, किन्तु घटत्वादि विशेष से निश्चय नहीं होता है सामग्री के अभाव से । अर्थात् प्रमेयत्व रूपेण घटादि विषयक निश्चय होने पर भी घटत्वादि विशेष रूप से निश्चय नहीं होने के कारण सर्व विषयक ज्ञानत्व रूप सर्वज्ञत्व की आपत्ति नहीं होती है । स्व सामग्री का अभाव होने से सर्वज्ञत्वापत्ति नहो होती है ऐसा कहा, उसमें पूछता हूँ कि स्व सामग्रीं क्या है ?

उत्तर–घटत्व का निर्विकल्पक ज्ञान ही घट पटादि निश्चय में सामग्री है, तो वह सामग्री प्रमेयम् इस निश्चय स्थल में नहीं है ।

प्रश्न–तब तो उत्तर काल में धारवाहिक ज्ञान घटत्व प्रकारक नहीं होगा, क्योंकि पूर्व धारावाहिक ज्ञानों को घटत्व निर्विकल्पकत्व के अभाव होने से ।

घटत्वांशे निर्विकल्पकान्येव । तद्विषयतयैव च तेषामुत्तरविशिष्टधीजनकताविशिष्टावगाहित्वं तु तेषां कारणसाम्यतायाम् । हन्तैवमपि विशेषणधीप्रयुक्ता विशिष्टधीः स्यादेव प्रमेयत्वादिनापि रूपेण घटत्वादेर्विशेषणस्य ग्रहात । इयं हि सामान्यसामग्री विशेषसामग्री तु विशेषणनिर्विकल्पकम् अविशिष्टबुद्धौ

उत्तर–वह ज्ञान सब भी घटत्व अंश में निर्विकल्पक ही है। घटत्व निर्विकल्पविषयक होने से ही उत्तरोत्तर विशिष्ट धी जनकत्व हो जाता है। उन ज्ञानों में विशिष्टावगाहिता जो है सो कारण की समानता मात्र से।

प्रश्न–ऐसा होने पर भी विशेषण ज्ञान प्रयुक्त विशिष्ट ज्ञान तो होगा, क्योंकि प्रमेयत्व रूप से घटत्वादि रूप विशेषण का ज्ञान तो हुआ।

उत्तर–यह तो सामान्य सामग्री है, विशेष सामग्री तो अवशिष्ट बुद्धि में विशेषण की निर्विकल्पक होती हैं। और विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही बुद्धि में तो विशेषणतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान कारण होता है सो तो प्रकृत में नहीं है। आचार्य ने भी ऐसा ही कहा है। नहीं कहो कि व्याप्ति बुद्धि से ही पर्वत में वन्हिमत्व सिद्ध हो जाता है, इसी से अनुमिति गतार्थ हो जाती है। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्ति में धूमवत्व पुरस्कार से पर्वत में वन्हि मत्व की सिद्धि होती है और अनुमिति में पर्वतत्व धर्म पुरस्कार

विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं तु ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धौ तच्च नात्रेति आचार्या अप्येवम् । नापि व्याप्तिबुद्ध्यैव पर्वतस्यापि वह्निमत्त्वालिङ्गनादनुमितिर्गतार्था तत्र धूमवत्त्वपुरस्कारेणात्र च पर्वतत्वपुरस्कारेण वह्निमत्त्वसिद्धेः । ननु सामान्यलक्षणया पुरा पर्वतस्यापि धूमवत्त्वपुरस्कारेण वह्निमत्त्वग्रहणादिदानीं तत्स्मरणसहितेन पर्वतेन्द्रियसन्निकर्षेण सोऽयं वह्निमान् पर्वत इति प्रत्यभिज्ञैवास्तु कृतमनुमानेनेति चेत् । एवं हि सोऽयमिति स्यान्न तु पर्वतोऽयं वह्निमानिति । किञ्च पुरा विशिष्य ज्ञात

से वन्हिमत्व की सिद्धि होती है इसलिये व्याप्ति बुद्धि से अनुमिति को गतार्थ कहना ठीक नहीं है ।

प्रश्न—सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति से पहिले भी धूमवत्व पुरस्कार से वह्निमत्व का ग्रहण हुआ है । अभी तत्स्मरण सहित पर्वतेन्द्रिय सन्निकर्ष से "सोयं वन्हिमान् पर्वतः" सो यह पर्वत वन्हिमान है, इस प्रकार से प्रत्यभिज्ञा रूप ही अनुमिति को मान लीजिये, अतिरिक्त अनुमान मानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यदि प्रत्यभिज्ञा रूप अनुमिति मानोगे तब तो सोयं इत्याकारक ज्ञान का आकार होना चाहिए, पर्वतोयं वन्हि मान् यह आकार नहीं होगा । और भी देखिए पहिले जहां विशेश रूप से ज्ञान रहता है उसी स्थल में प्रत्यभिज्ञा होती है । जैसे सोयं घट इत्यादि स्थल में देखने में आता है ।

एव प्रत्यभिज्ञा तथैवान्यत्र दर्शनात् । अथ यदा सामान्यतो गृहीता स्मृता व्याप्तिरिन्द्रियसन्निकृष्टे धूमेऽनुभूयते तेनायं धूमो वन्हिव्याप्य इति तृतीयलिङ्गपरामर्श उदेति तथा सामान्यतो गृहीस्य स्मृतस्य वन्हिमत्त्वस्य वैशिष्ट्यमिन्द्रियसन्निकृष्टे पर्वतेऽपि भासताम् । तेन पर्वतोऽयं वह्निमानिति साक्षाद्धीरेव भवत्विति ब्रूम इति चेत् । न । तस्यां दशायां साधकबाधक-मानाभावेन वह्निसंशयस्यैव सम्भवात् । धूमरूपविशेषधर्म-

---

प्रश्न—जैसे सामान्यतः गृहीता तथा स्मृता जो व्याप्ति सो इन्द्रिय संनिकृष्ट धूम में अनुभूयमाना होती है तब "अयं धूमो वन्हि व्याप्यः" यह धूम बन्हि व्याप्य है इस प्रकार का तृतीयलिङ्ग परामर्ष उत्पन्न होता है । इसो प्रकार से सामान्य रूप से गृहीत तथा स्मृत जो वह्निमत्व उस वन्हिमत्व का वैशिष्टच इन्द्रिय सन्निकृष्ट पर्वत में भी भासित होवे । इसलिये यह पर्वत वन्हि मान है, इस प्रकार से अनुमिति को प्रत्यक्ष ज्ञान हो मानिये, ऐसा म कहता हूं ।

उत्तर—इस स्थिति में साधक बाधक प्रमाण का अभाव हाने से पर्वत में वन्हि का संशयात्मक ज्ञान हो संभव है. न कि निश्चयात्मक ज्ञान की सम्भावना हो सकती है ।

प्रश्न—धूम रूप बिशेष दर्शन सहकृत प्रत्यक्ष सामग्री प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पादन करेगी ।

सहाया प्रत्यक्षसामग्री प्रत्यक्षं जनयत्विति चेत् । विशेषदर्शनं हि विशेषत्वेन दर्शनं न तु वस्तुतः अन्यथा शिरःपाण्यादेः प्रमेयत्वादिनापि निश्चयात् पुमवधारणं स्यात् । तथा च सन्दिग्धवह्नौ पर्वते तद्वृत्तितया वह्निव्याप्यतया च यद्धूमज्ञानं स एव लिङ्गपरामर्श इति निमीलितेऽपि चक्षुषि ततो भवन्ती वह्निमत्पर्वतधीरनुमितिरेव स्यादिन्द्रियव्यापारविरहात् । चक्षुषि व्यापार्यमाणे एव भवन्ती वह्निमत्पर्वतधीस्तु साक्षाद्धीरिति चेत् । अस्तु । अनुमितिस्तु सावकाशीकृतैव

उत्तर—विशेष दर्शन का अर्थ है विशेषत्व रूप से दर्शन अर्थात् विशेष ज्ञान, न तु वस्तुतः उस वस्तु का ज्ञान । अन्यथा शिरः पाण्यादिक का प्रमेयत्व रूप से निश्चय रहने से 'स्थाणुर्वा पुरुषोवा' इस स्थल में पुरुष का ही निश्चय हो जायगा । ऐसा हुआ तब सन्देहविषयी भूत वन्हिवाले पर्वत में तादृश पर्वत वृत्तित्वेन और वन्हि व्याप्यत्व रूप से जो धूम ज्ञान होता है उसीं का नाम है तृतीयलिङ्ग परामर्ष । तब निमीलित चक्षु के रहने पर तादृश परामर्ष से होने वाला जो पर्वत में वन्हिमत्पर्वत विषयक ज्ञान सो अनुमिति रूप है, क्योंकि इन्द्रिय का व्यापार नहीं होने से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है । अथ यदि कहो कि व्यापार विशिष्ट चक्षु के रहते हुए होने वाला जो वन्हिमत्पर्वत विषयक ज्ञान उसको साक्षात्कारी (प्रत्यक्ष) ज्ञान ही कहना चाहिये ।

निमीलिते चक्षुष्युपनीतपर्वतविशेष्यका लिङ्गपरामर्शसहितमनः करणिका वह्निमत्पर्वतधीरस्तु । साक्षाद्धीरेवेति चेत् । सिद्ध' तर्हि लिङ्गपरामर्शो मानान्तरं मनसो बहिः प्रमिता च साधारणसहकारित्वादिन्द्रियवत् । किञ्च चक्षुर्व्यापारस्थलेपि नासौ साक्षाद्धीः साक्षात्कारिप्रमाहेतुभूतविशेषणेन्द्रियसन्निकर्षविरहात् । संस्कारः स्मृतिर्वह्निना सममिन्द्रियस्य सन्निकर्षस्तत्राप्यस्ति प्रत्यभिज्ञा तत्तयैवेति चेत् । न द्रव्यविशेषणकसाक्षात्प्रमायास्तदजन्यत्वात् अन्यथा स्मृतव्यवहितदण्डेऽपि पुंसि दण्डीति

सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि इससे तो अनुमिति में कोई क्षति नहीं होती है । लोचन के व्यापाराभावकाल में उपनीत पर्वत विषेष्यक लिङ्गपरामर्शसहकृतमनः करणक वन्हिमत पर्वत विषयक जो ज्ञान है सो अनुमिति रूप रहो । यदि कहो कि यह तो प्रत्यक्षज्ञान हुआ तब तो लिङ्गपरामर्श प्रमाणान्तर है । मन की जो बाह्य विषयक ज्ञान जनकता है सोतो साधारण कारणत्वेन सहकारिता मात्र है । इन्द्रिय को तरह ।

प्रश्न—वन्हि के साथ सस्कार तथा स्मरण रूप सन्निकर्ष इन्द्रिय का है, प्रत्यभिज्ञा तो तत्ता रूप से ही है, तस्मात् वह्नि ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

उत्तर—द्रव्य विशेषण है जिसमें एतादृश प्रमा संस्कारादि से नहीं होती है । अन्यथा स्मृत्युपस्थापित दण्ड वाले पुरुष विषयक ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहायेगा । नहीं कहो

साक्षात्प्रमा स्यात् । तत्रान्तरीयकतया ज्ञातपुंसि भवत्येव सेति चेत् । भवतीत्यद्धा किं तु सा साक्षाद्धीरेवेत्यसिद्धं लिङ्गपरामर्शयोनित्वात् । विशेषणदर्शनजपुंप्रत्यक्षादियमपि साक्षाद्धीरेव स्यादिति चेत् । न पुंप्रत्यक्षमपि हि ज्ञानद्वयजन्यं तथा । तृतीय परामर्शं जन्यतु तदनुमितिरेव । प्रपंचितं चेदमस्माभि रनुमाननिर्णय ।

ननु निरुपाधिः सम्बन्धो व्याप्तिरित्युक्तं तत्र क उपाधिः साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः तथाहि यद्यसौ साध्यं न व्याप्नुयात् तदा तद्व्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेको न सिद्धयेत् ।

कि दण्डनान्तरीयकत्वेन ज्ञात पुरुष में तो प्रत्यक्ष ज्ञान होता ही है, अर्थात् जो पुरुष सर्वदा दण्ड विशिष्ट रहता है। तादृश स्थल में स्मृति द्वारा उपस्थित जो दण्ड तद्विशेषणक पुरुष विषयक ज्ञान तो प्रत्यक्ष होता है, .यह कहना ठीक नहीं है। ऐसा ज्ञान होता है, :आपका ऐसा कहना ठीक है, किन्तु वह प्रत्यक्ष ज्ञान है यह असिद्ध है, किन्तु तादृश ज्ञान तो लिंग परामर्श से होता है। नहीं कहो कि विशेष दर्शन से जायमान पुरुष प्रत्यक्ष होने से यह भी साक्षात् बुद्धि ही है, सो ठीकनहीं है। पुरुष प्रत्क्षय भी ज्ञानद्वयजन्य होने से साक्षात् धी नहीं है। तृतीयलिंग परामर्श जन्य होने से अनुमिति रूप है। इस विषय क विस्तृत रूप से हम ने अनुमान निर्णय में बताया है।

शंका—निरुपाधिक सम्बन्ध को आपने व्याप्ति कहा है। अर्थात् जिस हेतु साध्य के बीच में कोई उपाधि न हो

तथा च तद्व्याप्यता हेतोः साध्यव्यभिचारोऽपि न स्यात् । तथा च तद्व्याप्यतया हेतोः साध्यव्याप्यता न स्यादिति व्यर्थः उपाधिः स्यात् । एतत्त्रयस्य उपाधेः साध्यव्यापकतामूलकत्वात् । एवं यदि साधनं व्याप्नुयात्तदा साधनवति पक्षे स स्यादेवेति न तद्व्यतिरेकेण पक्षे साध्यव्यतिरेकः स्यात् । तथा साधनस्य साध्यव्यभिचारः साध्याव्याप्तिश्च न स्तां तयोः साधनवृत्तिनोपाधिव्यभिचारेण उपाध्यव्याप्त्वेन च निर्वाहणात् । न च बाधोन्नीतपक्षेतरेऽतिव्याप्तिः तस्य स्वव्याघातकत्वेन साध्यव्यापकत्वाभावात् । धूमस्य च साध्यत्वं सिद्धिकर्मत्वं तथा

वह उपाधि रहित सम्बन्ध व्याप्ति है। किन्तु व्याप्ति घटक उपाधि वस्तु क्या है ? जो साध्य का व्यापक हो अर्थात् साध्याधिकरण वृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होकर साधन का अव्यापक हो, अर्थात् साधनाधिकरण वृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो, ऐसा जो कोई अन्वय व्यतिरेकी धर्म, सो उपाधि कहलाता है। जैसे धूमवान् वह्नेः इस स्थल में आर्द्रेन्धन संयोग या आर्द्रेन्धन संयोग धूम रूप साध्य का व्यापक है तथा वन्हि रूप साधन का अव्यापक है, अयोगोलग में वन्हि है और आर्द्रेन्धन संयोग नहीं रहता है, यही उपाधि का लक्षण है। अब उपाधि में साध्य व्यापकत्व तथा साधनाव्यापकत्व को स्वयमेव बतलाते हैं, तथा ही इत्यादि प्रकरण से। तथाहि यदि यह उपाधि साध्य

वह्न्हेः साधनत्वं सिद्धिकरणत्वं यद्यपि नास्ति सोपाधौ सिद्ध्यानुदयात् तथापि तथाभिमतत्वमस्ति अनुमातुस्तथाभिमानात् ।

को व्याप्त नकरे, अर्थात् साध्य की व्यापक न बंने, तब उपाधि के अभाव से साध्य का अभाव सिद्ध नहीं होगा । व्यापक जो द्रव्यत्व, उसके अभाव से व्याप्य जो पृथ्वीत्वादि उसका अभाव सिद्ध होता है । इसी प्रकार यदि व्यापक उपाधि हो तब ही उपाधि के अभाव से व्याप्य जो साध्य उसका अभाव सिद्ध होगा । तथा उपाधि के अव्याप्य होने से हेतु में साध्य का व्यभिचार भी सिद्ध नहीं होगा । तथा उपाधि में अव्याप्यतया हेतु को साध्य व्याप्यत्व भी नहीं होगा । तो इस प्रकार से उपाधि तो व्यर्थ ही हो जायगी । ये तीनो वस्तु उपाधि में साध्य व्यापकता मूलक होती है । अर्थात् साध्य की व्यापक उपाधि हो तव ही हो सकता है । एवं यदि उपाधि साधन की व्यापक हो तब साधनवान् पक्ष में उपाधि रहैगी । तब उपाधि के अभाव से पक्ष में साध्य का अभाव सिद्ध नहीं होगा । तथा साधन को साध्य व्यभिचार सिद्ध नही होगा, तथा साधन में साध्य का व्याप्त्य भाव भी नहीं होगा । साधन में साध्य व्यभिचार तथा साध्यव्याप्ति इनदोनों की सिद्धि साधन वृत्ति उपाधि व्यभिचार से तथा उपाध्याप्यतेनैव सिद्ध होता है । बाधोन्नीत पक्षेतरत्व अर्थात् पक्ष भिन्नत्व यथोक्त उपाधि का लक्षण होता है । क्योंकि जहां जहां

एवं व्यापकत्वमपि न व्याप्तिनिरूपकत्वं येनान्योन्याश्रयः

महानसादिक में वन्हि साध्य है इन सभी स्थलों में पर्वत भिन्नत्व भी है। और धूम हेतु पर्वत में भी है। उस पर्वत में पर्वत भिन्नत्व नहीं है, इसलिये साध्य व्यापक तथा साधना व्यापक होने से इसमें अतिव्याप्ति होती है। पक्ष भिन्नत्व दो प्रकार का है, एक बाध का उत्थापक दूसरा-अनुत्थापक जैसे अग्निरनुष्ण: में बाधोन्नोत अग्नीतरत्व है, परन्तु पक्षेतरत्व को उपाधि इसलिये नहीं मानते हैं कि यदि यह उपाधि हो जाय, तो अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा। इसलिये मूलकार ने कहा है कि स्व व्याघातक होने से पक्षेतरत्व में साध्य व्यापकत्व ही नहीं है। पक्षेतरत्व में उपाधि लक्षण की अतिव्याप्ति की शंका करना ठीक नहीं है। क्योकि स्व व्याधातक होने से पक्षेतरत्व में साध्य व्यापकत्व नहीं है। धूमवान् वह्नेः इस सोपाधिकता स्थल में धूम साध्य है, सिद्धि अनुमति का कार्य अर्थात् बिषय है, तथा वह्नि साधन है, सिद्धि का करण अर्थात् जनक है। यद्यपि सोपाधिक स्थल में यह नहीं बन सकता हैं क्योंकि सोपाधिक स्थल में अनुमिति होती ही नहीं, यदि अनुमिति पैदा हो ही जाय तो सोपाधिकता हो क्या ? तथापि सोपाधिकता स्थल में अनुमाता पुरुष को धूम में साम्यत्व का अभिमान रहने से साध्यत्वेन धूम तथा साधनत्व रूप से

स्यात् । किं तु तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं प्रतियोगित्वमपि न विरोधित्वं सहानवस्थानीनियमलक्षणं येन चक्रकं स्यात् । तथा घटतदन्योन्याभावयोः कपाले सहावस्थानेन तत्प्रतियोगिन्यव्यापकं च लक्षणं स्यात् । किन्त्वभावविरहात्मत्वमिति

वह्नि अभिमत मात्र रहता है। इसी तरह से व्यापकत्व का अर्थ व्याप्तिनिरूपकत्व रूप नहीं है जिससे कि व्यापक तथा व्याप्ति में अन्योन्याश्रय दोष लगे। किन्तु तद्वन्निष्ठ अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व रूप है। (जैसे धूम के प्रति वह्नि व्यापक है तो यहां तत् शब्द से व्याप्य जो धूम उसका ग्रहण होता है धूमवान् हुआ पर्वतादिक, उसमें रहने वाला जो अत्यन्ताभाव, सो तो वह्नि का अभाव पर्वतादिक में मिलेगा नही, किन्तु उदासीन घटादिक का अभाव तदीय प्रतियोगित्व घटादिक उदासीन में है, अप्रतियोगित्व वन्हि में होने से लक्षण समन्वय होता है, अर्थात् वह्नि धूम का व्यापक बनता है।) इसी तरह से प्रतियोगित्व भी सहानवस्थान लक्षण विरोधित्व रूप नहीं है जिससे कि चक्रक दोष हो। तथा घट तथा घटान्योन्याभाव को कपाल में सहावस्थान है अर्थात् घट भी कपाल में रहता है तथा घट का भेद भी कपाल में रहता है। न्याय के मत से अवयावयवी में भेद माना गया है तों घटान्योन्याभावीय प्रतियोगिता लक्षण की अव्याप्ति भी हो जायगी। इसलिये अभाव विरह रूप हो

विस्तरस्त्वनुमाननिर्णये। अयं च निश्चितवत्सन्दिग्धोऽप्यनुमा-
नखण्डनाय व्यभिचारसंशयाधायकत्वात्। पर्वतेतरादिस्तु नैवं
स्वव्याघातकत्वात्। किन्तु स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र

प्रतियोगित्व है। आचार्य उदयन ने कहा है "अभावविरहा-
त्मत्वं वस्तुतः प्रतियोगितेति" घटादि वस्तु में प्रतियोगित्व
क्या है ? तो अभावाभाव रूप ही प्रतियोगित्व है। इस
विषय पर विस्तृत विचार अनुमान निर्णय में देखें।

यह उपाधि दो प्रकार की होती है। निश्चितोपाधि
तथा सन्दिग्धोपाधि। जैसे निश्चितोपाधि अनुमान की
विघटक होती है, उसी तरह व्यभिचार संशय की उत्थापक
संदिग्धोपाधि भी अनुमान विरोधी होती है। (उपाधि
जिस स्थल में होती है वह वहां हेतु में साध्य व्यभिचार की
उत्थापक होने से दोष कहलाती है, जैसे धूमवान् वह्नेः में
आर्द्रेन्धन संयोग होता है तो वन्हि धूम का व्यभिचारी है,
धूमका व्यापक जो आर्द्रेन्धन संयोग उसका व्यभिचारी होने
से वह अनुमान साध्य व्यभिचारानुमान होता है। वस्तुतः
तो उपाधि स्वाभाव से पक्ष में साध्याभाव की अनुमापक
होती है। जैसे अयोगोलक धूमाभाव वाला है, धूम व्यापक
आर्द्रेन्धन संयोगाभाव वाला होने से। यही उपाधि में
दूषकता बीज है।) पर्वतेरत्वादिक उपाधि स्वव्याघातक होने
से एतादृश नहीं है। किन्तु "सश्यामः मित्रातनयत्वात्" इस

गर्भस्थे मित्राभ्रूणे ज्योतिःशास्त्रादिना प्रतीते पक्षीकृते शाका-हारपरिणतिजन्यत्वमुपाधिः स हि आयुर्वेदेन मातुः शाकाहार-परिणतेस्तदीयश्यामरजोऽर्जनद्वारा भ्रूणश्यामत्वहेतुत्वेन सिद्ध इति साध्यव्यापकतया तावन्निश्चितः साधनव्यापकतया तु सन्दिग्धः पक्षे तत्तदभावयोनिश्चायकत्वात् । अथ मित्रातन-यत्वेनेतरश्यामसामग्र्यपि साध्या धूमेनेव वह्निसामग्री न च तत्साधने श्यामत्वमुपाधिः द्वयोरेकदैव साधनात् । अत एव सामग्रो च क्वचिन्नोपाधिरित्याचार्या अप्याहुरिति चेत् ।

स्थल में तत्पद वाच्य गर्भस्थमित्रातनय रूप पक्ष में जो कि ज्योतिः शास्त्र के बल से प्रतीत है, उसमें शाकाहार परि-णाम जन्यत्व उपाधि होती है । माता का शाकाहार परि-णाम है सो माता के श्याम रजस के अर्जन द्वारा पुत्र श्याम ताका हेतु है, ऐसा आयुर्वेद से सिद्ध होता है । इस प्रकार से उसमें साध्यव्यापकत्व तो निश्चित है और साधन व्याप-कत्वेन सन्दिग्ध है, पक्ष में प्रतियोगी तथा तदभाव का निश्चायक होने से ।

शंका—मित्रातनयत्व हेतु से इतर श्यामत्व सामग्री भी साध्या होगी। जैसे धूम से वह्नि सामग्री का अनुमान होता है । परन्तु इतर श्याम सामग्री साधन में श्यामत्व उपाधि नहीं बन सकती है । दोनों को युगपत्साधन करने से । अतएव सामग्री कहीं भी उपाधि नहीं होती है । ऐसा

धूमे लिङ्गे वह्निसामग्री नोपाधिरिति । सत्यम् धूमस्य तज्जन्यवह्निजन्यतया वह्निसामग्र्याः साधनीभूतधूमव्यापकत्वावधारणात् । प्रकृते तु नैवं न ह्यौत्पत्तिकनरश्यामत्वसामग्री मित्रातनयत्वं व्याप्नुयादेवेत्यत्र किञ्चित्प्रमाणमस्ति । सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शने तावन्मित्रातनयत्वस्य श्यामत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणं तद्द्वारा च श्यामत्वसामग्र्यापि समं हेतोर्व्याप्तिः व्याप्यव्याप्यस्य सुतरां व्याप्यत्वात् । तथा च नायमुपाधिः साधनव्यापकत्वनिश्चयादिति चेत् । न ते हि व्यापकत्वसंशा-

---

आचार्य ने कहा है ।

उत्तर—ऐसा कहो सो ठीक नहीं है, क्योंकि धूम हेतु में वह्नि सामग्री उपाधि नहीं है। सत्यं, ठीक है धूम को सामग्री जन्य वह्निजन्य होने से वह्नि सामग्री की साधन रूप धूम के व्यापकत्व का निश्चय होने से । प्रकृत में तो ऐसा नहीं है, स्वाभाविक जो नर श्यामत्व सामग्री सो मित्रातनयत्व का व्यापक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । सहचार दर्शन और व्यभिचारादर्शन तो मित्रातनयत्व का श्यामत्व के साथ व्याप्ति में प्रमाण है । तद्द्वारा श्यामत्व सामग्री को भी हेतु के साथ व्याप्ति होती है । व्याप्य का व्याप्य तो सुतरामेव व्याप्य होता है। ऐसा होने से तो शाक पाकजत्व उपाधि नहीं होगी, क्योंकि साधन व्यापकता निश्चय होने से । ऐसा कहो सो ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो केवल व्यापकता का संशायक है, निश्चायक नहीं है । अन्यथा

यके न तु निश्चायके अन्यथा जन्यत्वस्य शरीरिजन्यत्वेनापि सह व्याप्तिः स्यात् न चेष्टापत्तिः लाघवात् कर्तृजन्यत्वेनैव सह तस्य व्याप्तेः। अथ श्यामत्वे शाकाहारो न प्रयोजकः जठरश्यामत्वस्य तेन विनापि भावात्। नाप्यौत्पत्तिकश्यामत्वे इन्द्रनीलादौ व्यभिचारात्। औत्पत्तिकनरश्यामत्वे तु शाकाहारः प्रयोजक इति स तत्रोपाधीकर्तुमर्हति किं तु तदिह न

जन्यत्व की शरीरी जन्यत्व के साथ भी व्याप्ति होगी। इष्टापत्ति नहीं कही जा सकती है। क्योंकि लाघवात् कर्तृजन्यत्व के साथ ही उसकी व्याप्ति होती है।

प्रश्न—श्यामता में शाकाहार प्रयोजक नहीं है, अर्थात् यह कोई नियम नहीं है कि जो श्याम हो उसमें शाकाहार प्रयोजकता रहै ही। क्योंकि देखिये जठर में जो श्यामता है सो तो शाकाहार प्रयोज्यता के बिना ही है। न वा जो श्यामता उत्पन्न होती उसमें शाकाहार प्रयोजकता है। इन्द्रनील मणि प्रभृति अनेक वस्तुओं में जन्य श्यामता है, किन्तु उसमें शाकाहार प्रयोज्यत्व नहीं होने से व्यभिचार है। किन्तु समुत्पन्न मनुष्य श्यामता में शाकाहार प्रयोजक है इसलिये मनुष्य श्यामता में शाकाहार को उपाधि बना सकते है, किन्तु यहां मनुष्य श्यामता को साध्य नहीं करते हैं, क्योंकि वह तो पक्ष धर्मता के बल से ही लब्ध हो जाती है। कोई भी व्यक्ति पर्वत धूम में हेतु से पर्वतीय वह्नि को सिद्ध नहीं करता

साध्यते पक्षधर्मताबललभ्यत्वात् । न हि स्वस्थात्मा पर्वते पर्वतीयवह्निं साधयति । पर्वतीयत्वस्य पक्षधर्मतालभ्यतया व्यापककोटावप्रवेशनीयत्वादिति चेत् । सत्यम् । अयमपि साधनेन मित्रातनयत्वेनावच्छिन्नं साध्यमौत्पत्तिकश्यामत्वं व्याप्नुवानो भवत्येवोपाधिः पर्यवसितसाध्यव्यापकत्वात् साध्य-साधनसम्बन्धव्यापकत्वाद्वेति । तथा च मित्रातनयान्तरे दृष्टान्तीभूते मित्रातनयत्वावच्छिन्नमौत्पत्तिकश्यामत्वं व्याप्नुवानोऽयं भवत्युपाधिः । ननु निश्चितोपाधिरप्यप्रत्यक्षे पक्षे साधनवति साधनाव्यापकत्वसिद्ध्यर्थमसत्तयानुमेया हेतुना च स

है, पर्वत में सम्बन्धिता तो पक्षधर्मता के बल से लब्ध है, तब पर्वतीयत्व के व्यापक कोटि में प्रवेश की आवश्यता नहीं है ।

उत्तर—ठीक है, यह भी शाकपाकजत्व मित्रातनयत्व रूप हेतु से मित्रातनयत्व से अवच्छिन्न औत्पत्तिक श्यामत्व को व्याप्त करते हुए उपाधि होता ही है, पर्यवसित साध्य के व्यापक होने से । अथवा साध्य साधन का जो सम्बन्ध उसका व्यापक होने से । ऐसा हुआ तब दृष्टान्त रूप मित्रा के तनयान्तर में मित्रातनयत्वावच्छिन्न औत्पत्तिक श्यामत्व को व्याप्त करता हुआ शाक पाक जत्व उपाधि होता ही है ।

प्रश्न—जो निश्चित उपाधि है सो भी साधनवान् अप्रत्यक्ष पक्ष में साधनाव्यापकत्व की सिद्धि के लिये असत्व रूप से

एव सत्तायानुमेय इति सत्प्रतिपक्षग्रासात् साधनाव्यापकत्व-संशयात् सन्दिग्धोपाधिरेव पर्यवस्येत् । दृष्टान्ते साध्यव्यापकत्वं पक्षे च साधनाव्यापकत्वं गृह्यत इति तत्सिद्धान्तादिति चेत् । तर्कादिना हि साध्यव्यापकतासाधनाव्यापकताभ्यां पुरैव निश्चितोपाधिरुच्यते । यथाग्निना तप्तायः पिण्डे धूमे साध्य-माने आर्द्रेन्धनवत्त्वादिः स हि महानसादौ दृष्टान्ते साध्य-व्यापकतया गृहीतस्तप्तायः पिण्डे तु पक्षेऽपक्षे वा साधना-व्यापकतया निश्चित एव तावतैव हेतोर्व्यभिचारमसिद्धिं वा निश्चाययितुमीष्टे तत्कथं वह्निना पक्षे परोक्षेऽपि साध्यमुपा-

---

अनुमेय होगा। और हेतु के द्वारा वही सत्ता रूप से अनुमेय होगा । इस तरह से सत्प्रतिपक्ष दोषग्रस्त होने से साधनाव्यापकत्व का सन्देह होने से यह सन्दिग्धोपाधि में ही पर्यवसित होगा। दृष्टान्त में साध्य व्यापकत्व और पक्ष में साधन की अव्यापकता गृहीत होती है, ऐसा नैयायिक का सिद्धान्त है।

उत्तर–तर्क द्वारा साध्य व्यापकत्व और साधना व्यापकत्व की स्थिरता पहले ही होने से निश्चितोपाधि कहलाती है। जैसे वह्नि से अयोगोलक में धूम की सिद्धि करने में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि होता है वह आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाधि दृष्टान्त महानस में साध्य व्यापकत्वेन तथा पक्ष अयोगोलक अथवा अपक्ष में साधन के अव्यापक तया निश्चित ही रहता है। एतावन्मात्र से ही हेतु में

धिर्वानुमीयतां प्रागेव साधनस्योपाधिसाध्योभयाव्याप्यत्व-निश्चयात् । यदा तु साधनांशे एव तर्कावतारस्तदा न सन्दिग्धोपाधिरपि यदा तूपाधिसाधनयोस्तुल्यैव साध्यव्याप्तिग्राहिका सामग्री तदा सन्दिग्धोपाधिप्रभेदस्तुल्ययोगक्षेम इति गीयते । ननु जीवच्छरीरं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यभिन्नानेकद्रव्यवत् प्राणादि-मत्त्वादिति व्यतिरेकिणि साध्येऽनेकपदं विशेषणं तच्च व्यर्थम् एकेनैव तादृशेन सात्मकत्वसिद्धेः व्यर्थविशेषणे च व्याप्यत्वा-

---

व्यभिचार दोष अथवा असिद्धि दोष का निश्चय कराने में समर्थ होता है । तब वह्नि हेतु से किस तरह से परोक्ष पक्ष में साध्य वा उपाधि का अनुमान होगा ? साधन के पहिले ही साध्य उपाधि उभय के साथ अव्याप्यता का निश्चय होने से । जब कि साधनांश में तर्क रहैगा तब तो वह सन्दिधो-पाधि भी नहीं है । जब कि उपाधि और साधन में समान रूप से साध्य व्याप्ति ग्राहक सामग्री है तब तो सन्दिग्ध-पाधि का प्रभेद मात्र है ।

प्रश्न—जीवत् शरीर पृथिव्यादि अष्ट द्रव्य से भिन्न अनेक द्रव्यवान् है, प्राणादिमान होने से इस व्यतिरेकी साध्य के अनुमान में अनेक पद विशेषण हैं परन्तु वे व्यर्थ हैं, क्योंकि एक ही तादृश पद से सात्मकत्व लक्षण साध्य की सिद्धि हो जायगी । और जब व्यर्थ विशेषणत्व है, तब

सिद्धिरावश्यकी व्याप्यत्वासिद्धौ च व्यभिचार आवश्यकोपा-धिरित्यतोत्रोपाधिरवश्यं वाच्यम् तदुक्तं च लक्षणं तं न व्याप्नोति यथोक्तसाध्यस्याप्रसिद्ध्या उपाधिकृतधर्मस्य साध्य-व्याप्यकत्वासिद्धेरिति चेत् । न साध्याप्रसिद्धौ हि न व्यभिचा-रस्तदत्यन्ताभावाप्रसिद्ध्या तद्वद्गामित्वरूपव्यभिचारासिद्धेः। तथा च न तत्रोपाधिः व्यभिचार एव तदुपगमात् । व्याप्यत्वा-सिद्धिस्तु नीलधूमवदिति । एतेन व्यतिरेकेऽत्रोपाधिरित्यपास्तं

तो व्याप्यत्वासिद्धि दोष आवश्यक है, और व्याप्यत्वा सिद्धि है तब व्यभिचार अवश्य होगा और व्यभिचार होगा तब उपाधि भी होगी ही, ऐसा कहना पडेगा। परन्तु उपाधिका जो लक्षण हैं सो तो उसको व्याप्त नहीं करता हैं, क्योंकि मयोक्त साध्य की अप्रसिद्धि होने से उपाधिकृत धर्म का साध्य व्यापकत्व असिद्ध होने से ।

उत्तर—आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहां साध्याप्रसिद्धि है, व्यभिचार नही होता है, कारण कि साध्य के अप्रसिद्ध होने से साध्यभाव अप्रसिद्ध है तब साध्याभावा-धिकरण वृत्तिता रूप व्यभिचार कैसे होगा ? और जब व्यभि-चार ही असिद्ध है तब वहां उपाधि नहीं है। व्यभिचार रहने पर ही उपाधि का सद्भाव होता है, ऐसा माना गया है। केवल इसको व्याप्यत्वासिद्धि कह सकते है, नील धुमादि की तरह से । इससे व्यतिरेकानुमान इसमें उपाधि

साध्याप्रसिद्धौ तदभावे सिद्धे तत्र साध्याभावप्रतियोगिके व्यभिचारित्वे सिद्धे तत्रोपाधेरसम्भवादिति ।

सा चेयं व्याप्तिः शङ्कोदये सति तदपनोदनद्वारा तर्कगम्या । हन्तैवमनवस्था स्यात्तर्कस्यापि व्याप्तिग्रहमूलकत्वादिति चेन्न यावच्छङ्कं तर्कानुसरणात् । व्याघातेन तु शङ्कानुत्थाने विश्रा-

---

है ऐसा जो कोई कहते थे सों भी परास्त हो गये । साध्या प्रसिद्धि में तदभाव अर्थात् साध्याभाव के होने से उसमें साधनाभाव प्रतियोगिक व्यभिचारित्व में उपाधि असंभव हैं ।

शंका का उदय होने से शंका निराकरण द्वारा तर्क से यह व्याप्ति जानी जाती है अर्थात् व्याप्ति में यदि किसी प्रकार की शंका आवे और उस शंका से व्याप्ति का प्रतिरोध हो तो तर्क को लाकर के व्याप्ति की स्थिरता की जाती है ।

प्रश्न–यदि आप व्याप्ति विरोधी शंका का निराकरण करने के लिये तर्क की शरण लेते हैं, तब तो अनवस्था दोष होगा । क्योकि तर्क भी तो व्याप्ति ज्ञान मूल ही है ।

उत्तर–जहां तक शंका रहती है तावत्पर्यन्त ही तर्क का अनुसरण किया जाता हैं । और व्याघात से जब शंका का निराकरण हो जाता है तब तर्क का विश्राम हो जाता है । इसलिये अनवस्था दोष नहीं होता है ।

मात् । ननु धूमो वह्निं विना भवत्विति शङ्कां यदि निर्वह्निः स्यात्तदा निर्धूमः स्यादिति तर्को वारयिष्यतीति ब्रूषे तच्च न अन्वयव्याप्त्यज्ञाने व्यतिरेकव्याप्तेरप्यबोधेन मूलशैथिल्येन प्रकृततर्कस्याप्याभासकत्वात् । अन्वयव्याप्तेस्तु ग्रहे सति तर्कानुसरणस्यैवायोगादिति चेत् । मैवम् । अयं हि विषयपरिशोधकतर्क इति नास्तीदानीमस्यावसरः तां तु शङ्कां व्याघातो

प्रश्न—धूम रूप कार्य कारण जो वह्नि उसके बिना ही होवे, इत्याकारक शंका का यदि वह्नि न हो तो निर्धूम होगा. इत्याकारक तर्क वारण करेगा. ऐसा यदि कहो तो यह नही हो सकता है. क्योंकि अन्वय व्याप्ति के अज्ञात होने से व्यतिरेक व्याप्ति भी नहीं बनेगी । तो तर्क का मूल शिथिल होने से तर्क भी तर्काभास हो जायगा । यदि कदाचित् अन्वयव्याप्ति हो तब तो तर्क का अनुसरण करना सर्वथा निरर्थक हो जाता है ।

उत्तर—आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह जो तर्क है सो विषय शोधक तर्क है । अभी विषयशोधक तर्क का अवसर नहीं है । किन्तु शंका का निराकरण व्याघात करता है, तर्क नहीं । अर्थात् शंका का वारण रूप कार्य तो व्याघात का है । व्याघात से शंका जाती है, तर्क से शंका का निवारण नहीं होता है । जिससे कि तर्क मूलक होने से व्याप्तिग्रह के अभाव में तर्क का मूल शैथिल्य होवे । व्याघात

वारयति न तु तर्क इति मदुपगमात् । तथाहि कारणं विना कार्यं भवत्वति वा सामान्यमुखी शङ्कास्यात् वह्निं विना धूमो भवत्विति वह्निं विनैव धूमो भवत्विति विशेषमुखी वा सर्वत्र व्याघातः । नन्वेवं शङ्कने सति व्याघात इतिशङ्कालम्बनतया प्रतीयमानो व्याघातः शङ्कां वारयिष्यतीति इति ब्रूपे तथा चोक्तप्रतीत्या व्याघातालम्बनत्वे न प्रतीता शङ्काप्रमितत्वान्नात्र

शंका का निवारक है तक नहीं है, ऐसा हम लोग मानते हैं। तथाहि कारण के बिना कार्य होवे एतादृश सामान्य मुखी शङ्का होगी। अथवा वह्नि के विना धूम होवे यद्वा वह्नि के गिना धूम होवे ही नहीं, एतादृश विशेष मुखी शङ्का होगी। परन्तु सभी प्रकार की शङ्का में व्याघात बैठा है। यदि कारण के बिना कार्य हो तो कार्यार्थी नियमतः कारणोपादान में प्रवृत्त नहीं होगा, यदि वस्तु कारण के बिना हो तब तो वह सर्वदा ही होगी, जैसे आकाश अकारणक है तो सर्वदा रहता है, अर्थात् नित्य है। तद्वत् घटादिक भी कारणानपेक्ष होने से शाश्वतिक होगा। अथवा कारण के न होने से बन्ध्या के पुत्र की तरह से कभी भी नहीं होगा। परन्तु कदाचित् होने कदाचित् न होने के कार्य तभी होंगे जब वे कारणावधिक हो। अर्थात् जब पूर्वावधि रूप से कारण हो तब कार्य होता है, पूर्वावधि में कारण नहीं होने पर कार्य नहीं

निषेद्धुं शक्यते । अथ व्याघातो न प्रतीतस्तदा व्याघातधी-विरहेण शङ्कास्त्येव विरोधिविरहादित्युभयथापि शंकास्ति । किं च आशंकापि व्याघातस्यावधिः पूर्वावधिः तामालम्व्य याघातस्योत्थानात् । तथा च कथं तर्कः शंकाया अवधिः

होता । कदाचित् कारण समवधान समय हो और कारण के असमवधान में न हो, यही कादचित्क शब्द का अर्थ है । अकारणक होने में कादाचित्कत्व का व्याघात हो जाता है । अतः कार्य जब होगा तो पूर्वावधि सापेक्ष ही रहैगा ।

प्रश्न–शङ्का होने से ही व्याघात होगा । शङ्का का निराकरण करने के लिये तो शङ्कालम्बनत्वेन प्रतीय मान (ज्ञायमान) व्याघात शंका का वारण करेगा । ऐसा आप कहैंगे तो पूवोक्त प्रतोति से व्याघातावलम्बनत्वेन (व्याघात कारण रूप से) प्रतीत आशङ्का का ज्ञान होने से उस शङ्का का निराकरण व्याघात कैसे करैगा ? अथ यदि कहो कि व्याघात प्रतीत नहीं है तब व्याघात का ज्ञान न होने से शङ्का रहैगी ही, क्योंकि शङ्का विरोधी व्याघात का अभाव होने से । इस प्रकार से उभयथापि शङ्का का अस्तित्व बना रहता है । और भी देखिये–आशङ्का भी व्याघात की अवधि है, पूर्व अवधि है, क्योंकि आशङ्का रूप पूर्वावधि को लेकर के ही व्याघात का उत्थान होता है । तब तर्क आशङ्का का अवधि उत्तर सोमा किस प्रकार से होगा ?

उत्तरसीमा भविष्यति तथाहि एवं सति व्याघातः स्यादित्येवं प्रतीत्या व्याघातः :स्वालम्बनभूतां शंकां तावद्वारयिष्यति व्याघातप्रतीतिश्च विपर्ययपर्यवसिततर्काधीना तद्यथा यदि कारणमन्तरेण कार्यं स्यात्तदा स्यादेव वा न स्यादेव वा न तु कदाचित् स्यादिति तथा चैतत्तर्कमूलभूतव्याप्तावपि शंकोदये

तथाहि ऐसा होने से व्याघात होगा। इस प्रकार की प्रतीति से सिद्ध व्याघात स्वालम्बन भूत शङ्का का निवारक होगा। और व्याघात की प्रतींति तो विपर्यय पर्यवसायी तर्क के अधीन है, जैसे यदि कारण के बिना कार्य हो तो कारणाभावात् सर्वदा होता ही रहैगा अथवा कदाचिदपि नहीं होगा खपुष्य के समान। किन्तु कादाचित्क नहीं होगा। यह तर्क का आकार हैं, तब इस तर्क की मूलभूत जो व्याप्ति उसमें भी शङ्का का उदय होगा। तव तर्क शङ्का का अवधि उत्तर सीमा कैसे ? क्योंकि शङ्का का प्रवाह तो निवृत्त होता ही नहीं है। एतदर्थक खण्डनकार की गाथा भी है। व्याघातोयदीत्यादि–यदि व्याघात है तो शङ्का अवश्य रहैगी, क्योंकि व्याघात शङ्का मूलक है, कार्य रहैगा तो कारण अवश्य रहैगा। यदि व्याघात नहीं है तो व्याघात रूप विरोधी के अभाव रहने से शङ्का अवश्य रहैगी, तव आशङ्का व्याघातावधिक कैसे ? तथा तर्क शंका का अवधि उत्तर सीमा किस प्रकार से होगा ? तर्क के व्याप्ति मूलक होने से शङ्का

कुतस्तर्कः शंकाया अवधिः शंकाप्रवाहस्यानिवृत्तेरित्यर्थकम् ।

व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुत ॥ इति

मैवम् विरुद्धस्व क्रयैव हि व्याघातपदार्थः सैव शङ्कोदय-प्रति बन्धिकेति मदुपगमात् । न हि परबोधरूपकार्यार्थशब्द-प्रयोगादिकं करणमुपाददानस्य कारणं विना कार्यं भवत्विति-शङ्कोदेति नापि धूमार्थ नियमतो वह्नि तृप्त्यर्थं वा भोजनमुपा-ददानस्य विशेषमुखं शङ्काद्वयमुदेतीति । ननु स्वक्रिया कथं शङ्कां प्रतिरुणद्धु विषयविरोधाद्यभावात् । यदि च शङ्कां विरु-

---

के प्रवाह की निवृत्ति नहीं होती है ।

उत्तर—मैवम्, यह आपका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि विरुद्ध जो स्वक्रिया, उसी का नाम है व्याघात । न कि व्याघात नाम का कोई पदार्थान्तर है । यही विरुद्ध स्व क्रिया रूप व्याघात शङ्का के उदय में प्रतिबन्धक है, ऐसा हम लोग मानते हैं । व्यक्त्यन्तर को समझाने के लिये शब्द प्रयोग रूप कारण का उपादान करने वाले पुरुष को कारण के बिना कार्य होगा, ऐसी शङ्का कभी नहीं होती है । न वा धूमार्थी व्यक्ति वह्नि का ग्रहण करता हुआ तथा तृप्ति के लिये भोजन में प्रवृत्तमान पुरुष को कभी भो विशेष मुख शङ्का का उदय होता है, क्योंकि तृप्ति प्रयोजकता का भोजन में निश्चय रहने के बाद ही भोजनादि कारण में

द्धत्वेन ज्ञाता स्वक्रिया प्रतिरुणद्धि तदा शङ्काविरुद्धत्वस्य शङ्का-विरहव्याप्यत्वरूपस्य ज्ञानाय तर्कानुसरणे पुनरनवस्थेति । मैवम् विरुद्धस्वक्रियामूलभूतं शङ्काविरुद्धकोट्यालम्बनं विशेष-दर्शनमेव शङ्का प्रतिरुणद्धीति मदुपगमात । ननु भवतु व्याप्तिस्तथापि तस्याश्चानुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्या न हि व्याप्तिं विनानुमितिरुदेति । तथा चात्माश्च यः व्याप्तावेव व्याप्तेर्व्याप्तिः प्रथमव्याप्तितो भिन्ना तदा-त्युपगमात् । अथ व्याप्तेर्व्याप्तिः प्रथमव्याप्तितो भिन्ना तदा-नन्नुगमः विलक्षणयोर्द्वयोरेकाकारानुमितिजनकत्वात्क्व-

---

प्रवर्तमान पुरुष को शंकोदय युक्ति के अनुभवादि से बाधित है ।

प्रश्न—विरुद्ध क्रिया रूप व्याघात शंका का प्रतिबन्धक कैसे होगा ? क्योंकि विषयादिविरोध का अभाव है, विषय की एकता में भी विरोध होता है । यदि कहो कि शंका स्व विरुद्ध रूप से जान करके स्व क्रिया उसका प्रतिरोध करती है । ऐसा कहो तब तो शंका विरुद्धत्व शंका विरह का व्याप्यत्व रूप है, तब व्याप्यत्व को जानने के लिये तर्क का अनुसरण करने से पुनः अनवस्था होती है ।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विरुद्ध स्व क्रिया के मूलभूत (कारण) विरुद्ध कोटी का आलम्बन रूप विशेष दर्शन ही शंका का प्रतिरोधक है, ऐसा मेरा उपगम है ।

प्रश्न—भलेही व्याप्ति बने, तथापि व्याप्ति तथा अनुमिति

प्रथमा चरमा चेत्यविनिगमश्चेति । तन्न । न हि व्याप्तिरनु-

इन दोनों की भी व्याप्ति होनी चाहिये । जैसे जहां जहां धूम है वहां वहां वह्नि रहती है, इत्याकारक व्याप्ति धूमानल स्थल में होती है । उसी तरह से जहां जहां व्याप्ति है वहां वहां अनुमिति रहती है, इत्याकारक व्याप्ति अनुमिति की भी व्याप्ति होनी चाहिये, क्योंकि व्याप्ति के बिना अनुमिति नहीं होती है, ऐसा मानने पर आत्माश्रय दोष हो जायगा, क्योकि व्याप्ति में व्याप्ति की वृत्तिता हो गयी । यदि कहैं कि व्याप्ति की जो व्याप्ति है सो प्रथम व्याप्ति से भिन्ना है इसलिये आत्माश्रम दोष नहीं होता । आत्माश्रय एकता में ही होता है । सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अननुगम दोष होगा । विलक्षण अर्थात् परस्पर भिन्न जो व्याप्ति द्वय है उसमें जब समानाकारक अनुमिति जनकता है तब प्रथम व्याप्ति कौन कहावेगी और कौन द्वितीय कहावेगी? इस प्रकार से अविनिगम दोष भी होता है ।

उत्तर–'तन्न' यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि व्याप्ति अनुमिति की व्याप्य नहीं हैं । अनुमिति के विना भी व्याप्ति का सद्भाव रहता है । किन्तु अनुमिति ही व्याप्ति ज्ञान से व्याप्य है । क्योंकि व्याप्ति ज्ञान से अनुमिति जन्या है, अतः अनुमिति में व्याप्तिज्ञान व्याप्यता है । इस कारण से आत्माश्रय दोष की यहां गन्ध मात्र भी नहीं है । तन्न से जो

मितिर्व्याप्या तां विनापि सत्त्वात् किं त्वनुमितिरेव व्याप्तिधीर्व्याप्या तज्जन्यत्वात् । तथा चानुमितौ व्याप्तिधीव्याप्यत्वमस्तीति नात्माश्रयगन्धोऽपि । अथेदमनुमितिजनकं व्याप्तिमत्त्वादित्यत्र व्याप्तिमत्त्वं तावदनुमितिजनकतया स्वरूपयोग्यतारूपया व्याप्तं व्याप्तिमत्त्वं च व्याप्तिरेव तथा च व्याप्तिर्व्याप्तिमतीति स्यादात्माश्रय इति चेत् । न । भेदात् धूमानलादि-

---

उत्तर किया हैं उस उत्तर ग्रन्थ का यह अभिप्राय है कि व्याप्ति व्याप्य है और अनुमिति व्यापिका है ऐसा नही हैं, क्योंकि यदि ऐसा मानते हैं तो व्यापक का अभाव होने से व्याप्य का अभाव होता है, ऐसा नियम है। व्यापिका जो अनुमिति उसके अभाव से व्याप्ति का अभाव सिद्ध होना चाहिये, सो नहीं होता है। प्रत्युत अनुमिति है व्याप्या और व्याप्ति ज्ञान है व्यापक तो यहां व्याप्ति ज्ञान के अभाव से अनुमित्यभाव होता है, व्याप्ति से अनुमिति जन्या होती है।

प्रश्न—यह अनुमिति का जनक है व्याप्तिमान होने से। यहां व्याप्तिमत्व जो हेतु है सो स्वरूप योग्यता रूप अनुमिति जनकता से व्याप्त है, और व्याप्तिमत्व व्याप्ति है, तब तो व्याप्ति ही व्याप्ति हुई। तब आत्माश्रय दोष होगा ही।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि परस्पर भेद होने से। धूम वह्नि की जो व्याप्ति है सो अनुमिति जनक होने से अनुमिति का अंग है और व्याप्ति अनुमिति की

व्याप्तिविरहलिङ्गं तस्यास्त्वनुमितिजनकता व्याप्तिस्तदङ्गं सा च ततो भिन्ना सम्बन्धिभेदेन तस्या अपि भेदात्। न चैवमननुगमः अन्योन्याभावगर्भाया एव व्याप्तेरनुमितिजनकत्वात्। अस्त्वेवं तथाप्यविनाभावादिषु बहुषु व्याप्तिप्रस्थानेषु कामचारेण प्रतीयमानेषु अनुमितिरुदेतीत्यविवादं तत्र कीदृशं व्याप्तेर्ज्ञानमनुमितेरङ्गं न तावत् सर्वाकारमननुगमात् नापि नियतैकाकारं

जो व्याप्ति है सो उससे भिन्न है, सम्बन्धी के भेद होने से व्याप्ति का भी परस्पर भेद है। नहीं कहोगे की ऐसा मानने से तो अननुगम हो जायगा, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभाव घटित अर्थात् साध्यवदन्यावृत्तित्व रूप जो व्याप्ति है उसी को अनुमिति जनकता है। इसलिये अननुगम नहीं होता है।

प्रश्न—ऐसा हो, अर्थात् अन्योन्याभावगर्भित व्याप्ति को जनकता रहै, तथापि व्याप्ति के विचार में तो अनेक व्याप्ति का कथन किया गया है। अविनाभाव रूप व्याप्ति अनोपाधिक व्याप्ति स्वभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति अत्यन्ताभावघटित, अन्योन्याभाव घटित इत्यादि अनेकों व्याप्ति का कथन है और इन सब में से अन्यतम के ज्ञान से अनुमिति होती है, यह भी अविवाद है। तो इसमें मैं पूछता हूं कि किमाकारक व्याप्ति ज्ञान अनुमिति का अंग है ? अर्थात् किस व्याप्ति का ज्ञान अनुमिति का

तदन्वयेप्यन्याकारव्याप्तिज्ञानादनुमितिसम्भावादितिचेन् मैवम् । कारणत्वव्याप्यत्वादीनां लघुगुरुविषयत्वसम्भवेन लघोरेवार्थे प्रमाणस्य कारणवाच्यत्वादिग्राहकत्वमिति तद्ग्राहकप्रमाणानां स्वभाव इति सर्वतन्त्रसिद्धान्तात् । तथा च यत्रात्यन्ताभावादिगर्भं व्याप्तिशरीरं गुरुतरमादौ स्फुरति तत्राप्यनुमितेः प्रागन्योन्याभावगर्भव्याप्तिशरीरस्फुरणं कल्प्यं प्रमाणवन्त्य-

---

जनक हैं ? तो इसमें सभी व्याप्ति के ज्ञान को तो अनुमिति की जनकता नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा कहने से अननुगम हो जायगा । न वा नियत अमुक व्याप्ति ज्ञान को ही अनुमिति जनकत्व कह सकते है । तादृश नियत एकाकारक व्याप्ति ज्ञान के न रहने पर अन्याकार व्याप्ति के रहने पर भी अनुमिति हो सकती है ।

उत्तर–यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कारणता में व्याप्ति प्रभृति वस्तु में लघु गुरु विषय की सम्भावना है । और लघु अर्थ में ही प्रमाण को कारणत्व ग्राहकत्व होता है, गुरुभूत अर्थ में नहीं । अर्थात् लघु धर्म में कारणत्व अवच्छेदकत्व व्याप्तिमत्व की सम्भावना रहती है । गुरु धर्म में अवच्छेदकत्वादिक नहीं माना जाता है । शुद्ध धूमत्व में यदि अवच्छेदकत्व मानने से निर्वाह हो सकता है तो गुरुभूत प्रमेय धूमत्व में अवच्छेदकता नहीं मानी जाती है । ऐसा कारणत्व व्याप्ति अवच्छेदकत्वादि ग्राहक

दृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपीति भट्टवचनात् । अतः एव

प्रमाण का स्वभाव है, ऐसा सभी शास्त्रकार मानते हैं। तब ऐसा होने पर जहाँ प्रथमतः गुरुभूत अत्यन्ताभाव घटित व्याप्ति शरीर स्फुरित होता है वहाँ भी अनुमिति से पूर्वकाल में अन्योन्याभाव घटित व्याप्ति के स्फुरण की कल्पना अवश्य करनी चाहिये। प्रामाणिक अनेक पदार्थों की भी कल्पना करनी चाहिये किन्तु अप्रामाणिक हो तो अल्प की कल्पना नहीं करना, ऐसा कुमारिल भट्ट ने भी कहा है। अत एव वीची तरंगादि की कल्पना भी जहां की है सो भी ठीक ही हैं। इसी प्रकार प्रकृत में प्रथम चाहे कोई भी व्याप्ति स्फुरित हो तो हो, परन्तु अनुमिति के पूर्वकाल में अन्योन्याभाव घटित व्याप्ति स्फुरण की कल्पना अवश्य माननी चाहिये। अन्यान्याभाव घटित व्याप्ति में लाघव है, तदित व्याप्ति में गौरव होता है और कारणत्वादि ग्राहक प्रमाण का स्वभाव है जो वह लघु भूत अर्थ में ही कारणत्वादि का ग्रहण करता है। गुरुभूत में सम्भवित नहीं 'लघौ गुरौ तदभावादिति'। इति व्याप्ति निरवचतं समाप्तम्। यहां तक व्याप्ति का विचार समाप्त हो गया।

व्याप्ति खण्डन का उद्धार करके स्वाभिमत व्याप्ति स्वरूप का निर्वचन भी किया गया। इसके बाद पक्षता खण्डन का उद्धार करने के लिये अवतरण करते हैं, काचेयं

वीचीतरङ्गादिकल्पनापि युक्ता । का चेयं पक्षधर्मतापि पक्षनिष्ठतेति यदि तदा प्रमेयत्वाद्यसंग्रहः । प्रमेयत्वं प्रमाविषयत्वं तच्च प्रमतो न भिन्नमपसिद्धान्तात् । किन्तु भिन्नं प्रकाशस्य सतस्तदीयताभावनिबन्धनः स्वभावविशेषो विषयविषयिभाव इत्याचार्यवचनात् । तच्च न घटादिनिष्ठमात्मवृत्तित्वादिति । मैवम् । घटादौ प्रमा मावर्तिष्ट स्वरूपतो

पक्षधर्मतापि इत्यादि प्रकरण से ।

यह पक्ष धर्मता वस्तु क्या है ? यदि पक्ष निष्ठत्व अर्थात् हेतु की पक्ष में वृत्तिता को पक्ष धर्मता कहो तो प्रमेयत्व का संग्रह नहीं होगा । क्योंकि प्रमेयत्व का अर्थ है प्रमाविषयता । प्रमा कहते हैं यथार्थ ज्ञान को । वह ज्ञान विषयता रूप प्रमेयत्व प्रमा से कोई भिन्न नहीं है, अपसिद्धान्तापात होने से । किन्तु भिन्न जो प्रकाश उसका सम्बन्धिता मूलक स्वभाव विशेष विषयविषयि भाव रूप है ऐसा आचार्य ने कहा है । प्रमा रूप प्रमा विषयता घट में तो नहीं है किन्तु आत्मा में है । क्योंकि ज्ञानाधिकरण आत्मा ही है । जड घटादिक तो तदधिकरण नहीं है ।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जड होने से घटादि में प्रमा समवाय सम्बन्ध से भले ही न रहै, आत्मा में रहो है परन्तु वह प्रमा स्वरूपतः घटादि पदार्थ को विशिष्ट करती है इस लिये प्रमा को अभाव के समान घट

घटादिकं विशिंषन्ती तन्निष्ठेत्युच्यते अभावबत् । न चायमपि बाध्यो भूतले घटाभाव इत्यस्य सार्वलौकिकत्वेन बाधासम्भवात् । स्वरूपसम्बन्धेन धर्मधर्मिंभावो न दृष्ट इति चेत् । तत्किं सम्बन्धान्तरेण दृष्टः नेति चेत् । नूनमन्धोसि यत्स्वमपि ब्राह्मणमुपवीतिनं च न पश्यसि । धर्मधर्मिंभावो न सम्भवति भेदे चाभेदे च विरोधादिति चेत् । तर्हिं प्रत्यक्षादिपरिकलितं जगदेवापह्नुषे ओमिति चेत् । तर्ह्यनेनैव प्रणवेन मध्यमागमानधीष्व तेन

निष्ट कहते हैं । नहीं कहो कि तब अभाव भी दृष्टान्ता बाधित वस्तु सिद्ध होती है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि भूतल में घटाभाव है, इस प्रकार सर्व लोक प्रसिद्ध अभाव है, इस प्रकार सर्व लोक प्रसिद्ध अभाव का बाध असम्भवित है । यदि कहो कि स्वरूप सम्बन्ध से तो धर्म धर्मी भाव नहीं देखा जाता है तब क्या सम्बन्धान्तर से भी नहीं देखा जा सकता है ? ऐसा कहो तब तो तुम निश्चित अन्ध हो ! क्योंकि ब्राह्मण होकर भी अपने आपको उपवीत वाला नहीं देखते हो । नहीं कहो कि आधाराधेय में यदि भेद हो तब भी धर्म धर्मी भाव नहीं हो सकता है । गवाश्व के समान । यदि अभेद हो तब भी धर्म धर्मी भाव नहीं हो सकता है, घट घटवाला है ऐसी प्रतीति नहीं होती है । इस प्रकार से भेद अभेद दोनों पक्ष में विरोध होने से धर्म धर्मी भाव अनुपपन्न है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि तब तो तुम ने प्रत्यक्ष परिदृष्ट जगत् का ही अपलापकर

सर्वापह्नोतापि भ्राजसे । अस्ति वस्तुभूतं ब्रह्मास्माकमिति चेत् । तर्हि कुतोऽज्ञासीः । न तावदुपनिषत्तत्र प्रमाणं तत्र मूकत्वात् विश्वमेव निषेधन्ती ब्रह्मणि मूकीभवन्ती सा ब्रह्मानुजानातीति

दिया । यदि ओम् कहो अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के अपलाप को स्वीकार करो तो इसी प्रणव मंत्र के जप से माध्यमिक बौद्ध के आगम का अध्ययन करो ! जिससे ज्ञान ज्ञेयात्मक जगत् का अपलाप करने वालों के बीच मेंतुम्हारा ऊंचा आसन हो जायगा । अर्थात् बौद्धमत में आपका प्रवेश हो जायगा । नहीं कहो कि माध्यमिक तो सर्वापलापी हैं, मैं तो केवल जड का ही अपलाप करता हूँ । ब्रह्म रूप वस्तु भूत पदार्थ को तो मानता हूँ । तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आपको ब्रह्म रूप वस्तु का ज्ञान किस प्रमाण से होता है ? यदि आप कहो कि ब्रह्म में उपनिषत् प्रमाण है । तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि श्रुति से शिद्ध है कि ब्रह्म बोध कराने में आगम मूक (असमर्थ) है । इसलिये ब्रह्म बोध में उपनिषत् को प्रमाणत्व सिद्ध नही होता है । यदि कहो कि "अतोऽन्यद-तिमित्यादि" श्रुति के बल से विश्वमात्र की निषेध हुई तथा "यतो वाचो निवर्तन्ते" से ब्रह्म में मूक होती हुई उपनिषत् सर्वबाध की अवधि रूप ब्रह्म को अनुज्ञा करती है, तो सो भी ठीक नहीं है क्योंकि तब तो उपनिषत् ब्रह्म में प्रमाण नहीं है किन्तु मूकी भावान्यथानुपपत्ति को

चेत् । न तर्हि तत्रोपनिषत् प्रमाणं किन्तु मूकीभावान्यथानु-पपत्तिः तथा च ब्रह्मानुमेयं प्राप्तव्यवहारदशायां श्रुतिरेव तद्गमयति शेषे तु स्वप्रकाशं तत् सिध्यति इति चेत् तर्हि तत् सर्वथा प्रमेयतां नातिवर्तते मेयमातृमितिमानरूपेण तन्निर्वक्तुं न शक्यते सर्वत्र दोषग्रहादिति चेत् धिगज्ञ यच्चक्षुष्पथे मनःपथे च न प्रतिबिम्बते तन्मनुषे यच्च भयत्र जागर्ति तदपह्नुषे किमत्र

प्रमाण मानना चाहिये । तब तो ब्रह्म अनुमेय होता है तथा व्यवहार दशा में श्रुति ही ब्रह्म को समझाती है और अन्त में स्व प्रकाश रूप से ब्रह्म सिद्ध होता है । ऐसा कहो तब तो ब्रह्म प्रमेयता का अतिक्रमण नहीं करता है । किन्तु प्रमाण गम्य होने से प्रमेय हो जाता है, सो तो आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है । यदि कहो कि प्रमेय प्रमाता प्रमिति प्रमाण रूप से ब्रह्म का निर्वचन नहीं कर सकते हैं क्योंकि सभी पक्ष में दोष ज्ञात होता है । अर्थात् ब्रह्म प्रमाता है, यह पक्ष दोष से दुष्ट है, ब्रह्म प्रमाण प्रमेय प्रमिति रूप है तो इसमें भी दोष है । ऐसा कहो तब तो हे अज्ञ मूर्ख ! जो पदार्थ (अर्थात् ब्रह्म रूप पदार्थ) चक्षु अथवा मन का विषय ही नहीं है, उसका स्वीकार तो करते हो और जो घटादि पदार्थ सब प्रमाणों द्वारा समर्थित है उनको नहीं मानते हो तो इसमें हम लोग क्या कहें ? अर्थात् तुम्हारा यह कथन अप्रामाणिक है ।

ब्रूमः । अस्तु तावदिदं तथापि का पक्षता सिषाधयिषाघटितेति चेत् कासौ सिषाधयिषा प्रतिपादयिषा वा प्रतिपित्सा वा नाद्यः स्वार्थानुमितौ तदभावात् नान्त्यः अनिष्टानुमितौ तद्विरहादिति । मैवम् । सिषाधयिषायोग्यता हि पक्षता सा च प्रपञ्चितानुमाननिर्णये ।

प्रश्न—इन सब बातों को रहने दीजिये । फिर भी पक्षता वस्तु क्या है ? यदि पक्षता को सिषाधयिषा घटित कहैं तो मैं पूछता हूं कि यह सिषाधयिषा नामक वस्तु क्या है ? क्या प्रतिपादन विषयक इच्छा का नाम सिषाधयिषा है अथवा ज्ञान विषयक इच्छा का नाम सिषाधयिषा है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नही है, क्योंकि स्वार्थानुमान में प्रतिपादनेच्छा नही है । न वा अन्तिम पक्ष ही ठीक है क्योंकि अतिषयक अनुमिति में प्रतिपित्साका अभाव होने से ।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सिषाधयिषा पक्षता नहीं है किन्तु सिषाधयिषा की जो योग्यता है उस का नाम पक्षता है । मैंने इस विषय पर अधिक विचार अनुमान निर्णय में किया है, अर्थात् सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्ध्यभाव पक्षता है । यह पक्षता कहीं विशेष्याभाव द्वारा कहीं विशेषणाभाव द्वारा कहीं उभयाभाव द्वारा रह कर के अनुमिति में अंग पडती है । इस स्थिति में खण्डनकार का जा विकल्प जाल है सो अरण्य रोदन न्याय विषयता का अतिक्रमण नहीं करता है । विशेष अनुमान निर्णय में देखैं । अनुमान खण्डनोद्धार पूरा हुआ ।

उपमानखण्डनोद्धारः प्रारभ्यते ॥

उपमानमपि सादृश्यमानं यच्चोक्तं गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति दृश्यते इति श्रुतवाक्यस्य काननपदाविदितसङ्गते गवयपदविदितसङ्गतेश्च काननपदसङ्गतिप्रतिपत्तिः फलमित्यतिव्यापकत्वमिति । तदसत् । इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यत्र पुरोवर्तिप्रभिन्नकमलोदराधिकरणकमधुपानकर्तृकत्वस्येव गोसादृश्यविशिष्टगवयदर्शनविषयाधारत्वे

यहां से उपमान खण्डनोद्धार आरम्भ हुआ ॥

सादृश्य प्रमाण रूप उपमान भी एक प्रमाण है। जिसके विषय में कहा गया है कि गोसदृश गवय प्रायः महान कानन अर्थात् वन में देखने में आता है। इस प्रकार से वाक्य जिसने सुन लिया है तादृग पुरुष को कानन पद का शक्ति ज्ञान नहीं है और गवय पद के संगति (शक्ति) गृह वाले पुरुष को कानन पद का संगति ज्ञान रूप फल होता है। तो उसमें उपमान लक्षण की अतिव्याप्ति हो जोती है। ऐसा जो कहते हैं सो असत् है अर्थात् ठीक नहीं है, क्योंकि प्रभिन्नकमलोदरे विकासित कमल के बीच में मधुकर मधु पान करता है, यहां पुरोवर्ति विकसित कमलोदराधिकरणक मधुपानकर्तृकत्व की तरह गो सादृश्य विशिष्ट गवय ज्ञान विषयाधार होकर के सादृश्य को अथवा वैधर्म्य को उपमान रूपेण कानन पद की संगति बोधकत्व होता हैं।

सति सहत्वस्य वैधर्म्यस्योपमानीभावेनैव काननपदसङ्गतिबोध-कत्वात् । न च पदान्तरसमभिव्याहारोत्थाया अन्यथानुपपत्ते-रेवायं प्रभाव इति युक्तं कीदृग्गवय इति प्रश्ने यथा गौस्तथा गवय इति श्रुतोत्तरवाक्यस्य तादृशे पिण्डे दृष्टे अतिदेशवा-क्यार्थानुपसन्धाने गोसदृशोयं पिण्ड इत्येवं रूपे ज्ञाते गवय-शब्दवाच्योऽयं पिण्ड इति तावदनुभूतिरुदेति सा च न वाक्य-

---

प्रश्न—नहीं कहीं कि पदान्तर के समभिव्याहार से जायमान जो अन्यथानुपपत्ति उसी के बल से एतादृश ज्ञान होता है, सो युक्त नहीं है, क्योंकि गवय कैसा होता है ? ऐसा प्रश्न होने के बाद जैसी गाय है वैसा ही गवय होता है, इस प्रकार से श्रुत है उत्तर वाक्य जिसको. उसको तादृश अर्थात् सादृश विशिष्ट पिण्ड देखने के बाद अति देश वाक्यार्थं का अनुसन्धान होने से गो सदृश पिन्ड है इस प्रकार से ज्ञान होने के बाद यह पिंड गवय शब्द वाच्य है, इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है । वह ज्ञान केवल वाक्य से नहीं हो सकता । यदि ऐसा माने कि केवल वाक्य से वह ज्ञान होता है तब तो जिसने तादृश गवय पिंड का प्रत्यक्ष नहीं किया हैं उस पुरुष को भी तादृश ज्ञान हो जायगा । न वा केवल प्रत्यक्ष ज्ञान से तादृश पिण्ड ज्ञान हो सकता हैं, क्योंकि तब तो जिसको वाक्य श्रवण नहीं हुआ : उसको भी यह पिण्ड गवय शब्द वाच्य हैं । ऐसा

मात्रात् अप्रत्यक्षीकृतपिण्डस्यापि प्रसङ्गात् नापि प्रत्यक्षमात्रात् अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात् नापि तयोः समाहारात् भिन्नकालयोस्तयोः स्वरूपसमाहारासम्भवात् । अथ वाक्यतदर्थयोः स्मृतिद्वारोपनये गवयपिण्डसम्बद्धेनेन्द्रियेणास्तु समयपरिच्छित्तिरित्यपि न तदापीन्द्रियेण सादृश्याग्रहे समयरिच्छेदासिद्धेः ।

ज्ञान हो जायगा । न वा वाक्य और प्रत्यक्ष के समाहार से गवय शब्द वाच्योयं पिण्ड इत्याकारक ज्ञान हो सकता है । क्योंकि भिन्न कालिक जो वाक्य और प्रत्यक्ष, इन दोनों का स्वरूप समाहार नहीं हो सकता है । समानकालिक पदार्थ द्वय का ही समाहार होता है भिन्न कालिक का नहीं । यदि कहो कि वाक्य तदर्थ का स्मरण द्वारा उपनीयमान होने से गवय पिण्ड सम्बद्ध जो इन्द्रिय उसी से गवय पद का शक्ति ग्रह बने, अर्थात् गवय सम्बद्ध इन्द्रिय वाक्य तदर्थ स्मरण सहकृत होकर के समय का परिच्छेदक बने तो क्या क्षति है ? तब यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रिय से सादृश का ज्ञान न होने सादृश्य ज्ञान करणक समय परिच्छेद नहीं हो सकता है । अथ यदि कहो कि इन्द्रिय तथा गवय पिण्ड सम्बन्ध वृत्ति जो सादृश्य विषयक ज्ञान उसको व्यापार बनाकर के तादृश व्यापार सहकृत इन्द्रिय गवय सम्बन्ध समय का परिच्छेदक बने । सो भी ठीक नहीं है, यदि ऐसा हो तब तो तृतीय लिंग परामर्श को

अथेन्द्रियगवयपिण्डसम्बन्धं तन्निष्ठं गोसादृश्यविषयं व्यापारीकृत्य समयं परिच्छिनत्त्विति चेत्। हन्तैवं तृतीयलिङ्गपरामर्शं व्यापारीकृत्य वह्निमपि परिच्छिनत्त्विति गतमनुमानमपि। अथ चक्षुषि निमीलितेपि तत्फलं तृतीयलिङ्गपरामर्शो व्याप्रियमाणो भिन्नं प्रमाणमिति यदि हन्त तदा निमीलितेपि चक्षुषि सादृश्यधीर्व्याप्रियमाणा भिन्नं किं न स्यात् एवं धिक्करभकमित्यादौ पश्वन्तरवैसादृश्यधीरपीति तथा च सादृश्यं तद्धीर्वा भिन्नं प्रमाणं गवयत्वेन निमित्तेन गवयपद-

---

व्यापार बनाकर के इन्द्रिय से पर्वत में वह्नि विषयक ज्ञान हो जायगा, अनुमान कथा ही उड़ जायगी। अथ कहो कि चक्षु के निमीलन काल में भी चक्षु का कार्य (फल) जो परामर्श कार्योन्मुख देखने में आता है, इसलिये परामर्श एक अतिरिक्त प्रमाण है, न कि प्रत्यक्ष व्यापार तथा उसका प्रत्यक्ष में समावेश होता है। ऐसा कहो तब तो चक्षुरादि इन्द्रिय निमीलितावस्था में भो सादृश्य ज्ञान क्या वह प्रियमाण अर्थात् कार्योन्मुख होता हुआ परामर्श कीं तरह अतिरिक्त प्रमाण नहीं होगा? अर्थात् सादृश्य ज्ञान अतिरिक्त प्रमाण है ही। इसी तरह से धिक्करभकमतिलम्बोष्ठग्रीवम् इत्यादि स्थल में पश्वन्तर वै सादृश्य ज्ञान भी अरिरिक्त प्रमाण होता है। ऐसा होने से सादृश्य अथवा सादृश्य विषय ज्ञान एक भिन्न प्रमाण है और गवयत्व रूप

वाच्योयमित्यनुभूतिर्भिन्नं फलं परिशेषात् प्रश्नस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयोत्तरस्यापि तत्पर्यवसायित्वात् । इयं चानुभूतिस्तिसृषु प्रमितिषु चानिविशमाना चतुर्थी सेयमुपमितिरित्युच्यते एवमेतस्याः करणं चतुर्थं प्रमाणमुपमानमिति चोच्यते एवं धिक्करभकमित्यादावपि निन्दापरे वाक्य स्वरूपाख्यानपरं

निमित्त को लेकर के यह गवय पद वाच्य है, एतादृश ज्ञान परिशेष से एक अतिरिक्त फल कार्य है ।

प्रश्न जब प्रवृत्ति निवृत्ति परक हो । तब उत्तर भी प्रवृत्ति निवृत्ति पर्यवसायी होता है । यह जो अनुभूति है जिसमें कि सादृश्य ज्ञान अथवा ज्ञानमान सादृश्य करण है सो तीन प्रकार की प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्द में निविष्ट न होती हुई यह चौथी उपमिति कहलाती है तथा इसका जो करण है सादृश ज्ञान, सो चतुर्थ प्रमाण उपमान कहलाता है । इसी प्रकार से धिक्करभकम् इत्यादि स्थल में निन्दापरक जो वाक्य है अथवा स्वरूप प्रतिपादन परक वाक्य है उसमें भी वैधर्म्य से शक्ति ग्रह होता है, यह वैधर्म्योपमान उपमान प्रमाण से अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि नियमतः सामानाधिकरण्य रूप से प्रवृत्ति निवृत्ति तथा तदुभय-यिषयक ज्ञान साधर्म्य वैधर्म्योभय स्थल में होता है, इसलिये दोनों उपमान ही हैं न कि अतिरिक्त हैं । यहां सादृश्यादि विशिष्ट पिण्ड में गौरव होने के करण से शक्ति ग्रह नहीं होता है,

च द्रष्टव्यं तत्रापि हि वैधर्म्येण समयपरिच्छित्तेः । न च तद्भिन्नमेव मानम् । नियत धर्मसामानाधिकरण्येन प्रवृत्तिनिवृत्ति-तत्परिच्छित्तेरुभयोरप्युपमानत्वादिति । अत्र च सादृश्यादिवि-शिष्टे पिण्डे न सक्तिगौंरवात् ।अप्रतीतगूनामपि वनेचराणां गवयव्यवहारापत्तेश्च । किन्तु सादृश्यवैसादृश्योपलम्भितं गवयत्वं करभत्वं च प्रवृत्तिं निमित्तीकृत्य गवये करभे च गवयपदस्य करभपदस्य च शक्तिरिति । किमर्थं तर्हि सादृश्यवै सादृश्ये कथयति उपलक्षणार्थं न हि तदा गवयत्वं करभत्वं

तथा जिस वनेचर को गो का ज्ञान नहीं उसको भी गवय व्यवहार की आपत्तिं हो जायगी । किन्तु सादृश्य वैसादृश्यो-पलम्भित (उपलक्षित) गवयत्व करभत्व को प्रवृत्ति निवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक) बनाकर के गवय में करभ में शक्ति होती है ।

प्रश्न–यदि शक्यतावच्छेदक गवयत्वादिक है तब सादृश्य वैसादृश्य का कथन क्यों करते हैं ? तो सादृश्य वैसादृश्य उपलक्षार्थक है । क्योंकि उस समय में गवयत्वा-दिक धर्म का उपस्थापन नहीं हो सकता है, गवय पर करभ पद को अगृत शक्तिक होने से उपस्थापकता सामर्थ्य नहीं है । और तादृश पिण्ड के अनुपस्थित होने से इन्द्रिय से भी उनकी उपस्थिति नहीं हो सकती है । अतएव उस समय में शक्तिग्रह नहीं होता है । ऐसा आचार्य ने भी कहा है ।

चोपस्थापयितुं शक्यते तत्पदयोरगृहीतशक्तिकत्वेन मूकत्वात् तत्पिण्डयोश्चानुपस्थित्येन्द्रियेणापि तयोरनुपस्थितेः। अत एव तदा न शक्तिग्रहः। तदुक्तम्।

साद्दश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वेति॥

नन्वतिदेशवाक्यं तावत्समयपरिच्छेदं नाजीजनत् गोसाद्दश्यस्य प्रवृत्तिनिमित्ततोपलक्षणतयोः सन्देहात्। अथ पश्चात्पिण्डे दृष्टे लाघवाद्गवयत्वं निमित्तीकृत्य समयं परिच्छेत्स्यतीति चेत्। न। उक्तसंशयेपि यो गोसद्दशः स गवयशब्दवाच्य

सादृश्य के शक्तिग्रह में निमित्त नहीं होने से तथा जो गवयत्वादिक निमित्त है उसका ज्ञान नही होने से शब्द प्रमाण वा अनुमान प्रमाण से शक्तिग्रह दुर्घट हैं।

शंका–गो सादृश्य प्रवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक) हैं या उपलक्षण हैं एताद्दश सन्देह का कारण रहने से अतिदेश वाक्य के समय (शक्ति ज्ञान) को भले उत्पन्न करा सके किन्तु पिण्ड दर्शन के अनन्तर लाघव से गवयत्व धर्म को निमित्त बना करके अतिदेश वाक्य शक्तिग्रह का उत्पादक होगा तो क्या क्षति है ?

उत्तर–आपका यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यथोक्त संशय के रहने पर भो जो गो सद्दश है सो गवय पद वाच्य है ऐसा समानाधिकरण अन्वय शाब्द बोध होने से, जो

इति समानाधिकरणान्वयबोधेन गन्धवती पृथिवीति मद्वाक्यस्य प्रागेव पर्यवसिततया निराकाङ्क्षत्वात् अयं तु विशेषो यद्गन्धवतीत्यादि तदैव शक्तिमग्राहयत् पृथिवीत्वस्य निमित्तस्य यदैवोपस्थितेः इदं तु न तथेति जनितान्वयधियोपि वाक्यस्य पुनरनुसन्धाने गवयत्वेन निमित्तेन गवयपदवाच्यताग्राहकत्वे वाक्यभेदापत्तेः। न चातिदेशवाक्यं शक्तिग्रहतात्पर्यकमिति गोसदृशपदं गवयत्वलक्षकमिति वाच्यं प्रवृत्तिनिमित्ततात्पर्याभावेपि स्वरूपाख्यानपरादप्यतिदेशवाक्यादुक्तरीत्या समयपरि-

---

गन्धवती है सो पृथिवी है इस वाक्य के समान प्रथमतः एवं पर्यवसित होने से निराकांक्ष अतिदेश वाक्य शक्तिग्रहांश में हो जाता है। यहां इतनी विशेषता है कि गन्धवती पृथिवी, यह वाक्य उसी समय में शक्ति ग्रह को पैदा कर देता है कि जब हो पृथिवीत्व रूप शब्दतावच्छेदक की उपस्थिति होती है। यह अतिदेश वाक्य वैसा नहीं है, क्योंकि जो वाक्य एक बार अन्वय बोध का उत्पादक हो गया, पुनः अनुसन्धान करके गवयत्व को निमित्त बना करके गवय पद वाच्यता का ग्राहक होगा तो वाक्य भेद दोष हो जायगा। नहीं कहो कि अतिदेश वाक्य का शक्ति ग्रह में तात्पर्य है, तब गोसदृश पद गवयत्व का लक्षक है। अर्थात् गो सदृश पद का गवयत्व में लक्षणा है एवं अतिदेश वाक्य का शक्तिग्रह में तात्पर्य है। सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति निमित्त में तात्पर्य का अभाव रहने पर भी स्वरूपाख्यान परक

च्छेदसिद्धौ मानान्तरसिद्धे चावश्यकत्वात् । अपि च धिक्करभकमित्यादेः करभकनिन्दातात्पर्यंकदापि वाक्यात् समयपरिच्छेदसिद्धौ मानान्तरसिद्धेरावश्यकत्वात् तस्मात् पिण्डे दृष्टे गवयत्व उपस्थिते सादृश्यं गुरु गवयत्वं च जातित्वाल्लघ्विति विमर्शे तथायं पिण्ड इत्यनुसन्धानमेव समयं गवयत्वेन निमित्तेन गवयपदवाच्योयं पिण्ड इत्येवं रूपं परिच्छिनत्तीति। सादृश्यं च समानबहुधर्मवत्त्वं वैसादृश्यं त्वसमानबहुधर्मवत्त्वं

अतिदेश वाक्य से पूर्वोक्त रीति से शक्ति ज्ञान होता है जो प्रमाणान्तर सिद्धि में आवश्यक है। और भी देखिये, धिक्करभकम्, इत्यादि स्थल में करभ (उष्ट्र) की निन्दा अर्थ में तात्पर्य रखने वाला जो धिक्करभकम् इत्यादि वाक्य उससे शक्ति ग्रह सिद्ध होता है इसलिये शक्ति ग्राहक प्रमाणान्तर को सिद्धि आवश्यक है। इससे गवय पिण्ड के देखने के पश्चात् गवयत्व रूप धर्म की उपस्थिति के पीछे सादृश्य को शक्यतावच्छेदक मानने में गौरव होता है और गवयत्व जाति है, उसको शक्यतावच्छेदक मानने में लाघव होता है। ऐसा विचार करने पर तब अयं गवयपिण्डः इत्याकारक जो अनुसन्धान वही गवयत्व निमित्त से यह पिण्ड गवय पद वाच्य है, इत्याकारक समय का परिच्छेद अर्थात् ज्ञान कराता है। समान अनेक धर्मवत्व को सादृश्य कहते हैं। तथा असमान अनेक धर्मवत्व का ही नाम वैसादृश्य है। अत एव विसदृश गो बराह

अत एव विसदृशयोरपि गोवराहयोरुक्तं सादृश्यमस्तीत्यतो वराहं गावोनुधावन्तीत्यत्र गोसादृश्यं वराहेप्युक्तं शक्तिनिर्णयाय काकापेक्षया शूकरस्यैव गोवृत्तिबहुधर्मवत्त्वात्। अत्र सादृश्यधीकरणिकैव समयपरिच्छित्तिरुपमितिरिति जरन्तो जयन्तादयः। सादृश्यधीकरणिकापि करभादौ सोदेति तथाहि यथा गवयपदशक्तिग्राहकः सादृश्यविशेषो गवय एव न तु महिषादौ एवं करभपदशक्तिग्राहकोपि वैसादृश्यविशेषः करभ एव न तु पश्वन्तरे तेनेमे सादृश्यवैसादृश्ये गवयकरभनियत

में यथोक्त सादृश्य है, इस लिये बराह के पीछे गायें दौडती हैं इस स्थल में गो का सादृश्य बराह में है, ऐसाभी कहा है। शक्ति का निर्णय करने के लिये काक की अपेक्षा से शूकर को ही गोवृत्ति अनेक धर्मवत्व को कहा गया। सादृश्य ज्ञान करणक समय शक्ति परिच्छेद (शक्ति ज्ञान) रूप उपमिति है ऐसा जयन्त प्रभृति प्राचीन आचार्य मानते हैं। सादृश्य ज्ञान करणक करभादिक में उपमिति होती है। तथाहि जिस प्रकार से गवय पद में शक्ति ग्रह कराने वाला सादृश्य विशेष है जो कि गवय मात्र में है, महिष प्रभृति व्यक्ति में नहीं है, उसी प्रकार से करभ पद में शक्ति ग्राहक जो वैसादृश्य विशेष है सो करभ में ही है, दूसरे पशु में नहीं है। इसलिये यह सादृश्य और वह सादृश्य विशेष गवय और करभ में ही नियत है अन्यत्र नहीं।

एव। इह सहकारतरावित्यादौ तु न तथा एतत्सहकाराधिकरणकमधुरध्वनिकर्तृत्वस्य शुकादावपि सम्भवात्। तस्मान्नियतधर्मसामानाधिकरण्येन शब्दप्रवृत्तिनिमित्तपरिच्छित्तिरुपमितिस्तत्करणमुपमानं तेन सादृश्यवैसादृश्ये एवोपमानं इह सहकारेत्यादौ तु प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यान्यथाऽनुपपत्त्या शक्तिग्रहसम्प्रदायः। एकदेशी तु इदमपि वैधर्म्योपमानान्तर्गतमेव एतत्प्रभिन्नकमलोदराधिकरणकमधुपानकर्तृकत्वस्य तथैतत्सहकारवृक्षाधिकरणकमधुरध्वनिकर्तृत्वस्यान्यवैधर्म्यस्यैवात्र

इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति, इत्यादि स्थल में ऐसा नहीं है क्योंकि एतत्सहकार वृक्षाधिकरणक मधुरध्वनि कर्तृत्व कोकिल मात्र में ही नहीं है शुकादिक पक्षी में भी सम्भव है। इस लिये नियत धर्म को लेकर के शब्द प्रवृत्ति निमित्त का जो ज्ञान उसी का नाम है उपमिति और एतादृश उपमिति के करण का नाम ही उपमान प्रमाण होता है। इसलिये सादृश्य और वैसादृश्य है उसीका नाम है उपमान प्रमाण इहसहकारतरौ, इत्यादि स्थल में तो प्रसिद्ध पद का जो सामानाधिकरण्य है तदन्यथानुपपत्ति से ही शक्तिग्रह होता है ऐसा साम्प्रदायिक लोग कहते हैं। एक देशी का तो मत हैं कि प्रसिद्ध पद समभिहारस्थलीय उदाहरण भी वैधर्म्य उपमान के अन्तर्गत ही हैं। एतत्प्रभिन्न विकसित कमलोदराधिकरणक मधुपान कर्तृत्व, तथा एतत्सहकार

शक्तिग्राहकत्वात् सर्वसंग्राहकं तु लक्षणमनवगतसंगतिसंज्ञा-समभिव्याहृतवाक्यार्थस्य संज्ञिन्यनुसन्धानमुपमानमिति । न चादौ संगतिमवेत्य पश्चाद्दैवात्प्रस्मृत्य पश्चादुक्तसामग्र्या यत्र समयं परिच्छिनत्ति तत्रोपमितावव्याप्तिः सा हि संज्ञावग-तसंगतिरेवेति चेत् । नानवबोधात् । न हि यदा कदाचिदपि संग-तेरवगमनिषेधोऽत्रोच्यते । अन्यथानादौ संसारे प्राक् तदवगमस्य

वृक्षाधिकरणक मधुरध्वनि कर्तृत्व लक्षण जो वैधर्म्य है वही प्रकृत उदाहरण द्वय में शक्ति का ग्राहक है। यह सर्व संग्राहक उपमान का लक्षण होता है। जिसमें संगति अवगत नहीं है ऐसा जो संज्ञा वाचक शब्द तत्समभिव्याहृत वाक्यार्थ का संज्ञि में जो अनुसन्धान उसी का नाम है उपमान। नहीं कहो कि जहां प्रथमतः संगति को जान लिया किन्तु आगे चलकर दैवात् उस संगति का विस्मरण हो गया, तदनन्तर पूर्वोक्त सामग्री जिस स्थल में समय शक्ति का ज्ञान होता है उस उपमिति में लक्षण के न जाने से अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि यह संज्ञा अवगत संगति ही है, अनवगतिक नहीं है। तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आपने ठीक से नहीं जाना। यदा कदाचित् संगति का जो ज्ञान उसका निषेध यहां नहीं कहा जाता है। अर्थात् शक्तिग्रह कभी हुआ ही नही हो, ऐसा नहीं कहा जाता है। इस अनादि संसार में पूर्वकाल में शक्ति का ज्ञान होने से असम्भव दोष

सम्भवेनासम्भवदोषः स्यात् । किं त्वनवगता अवगम्यमा-
नेत्यर्थः । एतच्चावगतप्रस्मृतसंगतावप्यस्ति । एतच्चावगम्यमा-
नत्वं प्रकृतफलकरणीभूतानुसन्धानवता न तु येन केनापि
यस्यैव करणान्वयस्तस्यैवोपकरणान्वयोपीत्यस्यार्थस्य सकल-
जनसाक्षिकत्वान्नात्र विकल्पावसरः सादृश्यवैसादृश्ययोस्त्व-
प्रवृत्तिनिमित्ततया तयोः प्रवृत्तिनिमित्तानुभावकं समयपरिच्छे-
दकमेव न भवतीति तथा परिच्छेदके उपमानाभासे नोपमान-
लक्षणातिव्याप्तिः प्रवृत्तिनिमित्तं पुरस्कृत्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं

हो जायगा । किन्तु अनवगता संज्ञा अर्थात् तत्काल में
अनवगम्यमान यह अर्थ है । तत्काल में अनवगम्यमानत्व
पूर्वावगत विस्मृत संगति में भी है । यह जो अनवगम्य-
मानता है सो प्रकृत फल करणीभूत जो अनुसन्धान तादृशा-
नुसन्धानवान को अनवगम्यमानत्व होना चाहिये । न कि
जिस किसी को । जिसको करणान्वय होता है उसी को
उपकरणान्वय होता है, यह सर्व जन साक्षिक हैं, इस लिये
किसी भी विकल्प का अवसर नही होता । सादृश्य और
वैसादृश्य के प्रवृत्ति निमित्त नहीं होने से इन दोनों में
प्रवृत्ति निमित्तता का अनुभावक जो प्रमाण है सो समय
शक्ति का परिच्छेदक अर्थात् ज्ञापक नहीं होता । इस
तादृश परिच्छेदक उपमानाभास में उपमान लक्षण की
अति व्याप्ति नहीं होती हैं । प्रवृत्ति निमित्त शक्यतावच्छेदक

परिच्छिन्दत एव प्रमाणस्योपमानत्वात् । ननु गोसादृश्यं विहाय गवयत्वजातौ गवयशब्दार्थताप्रतीतिः कल्पनालाघवाख्यतर्कमपास्य न स्यादिति तदुपन्यासस्थितौ किमानुमानिक्येव तत्र गवयत्वस्य गवयपदावाच्यताप्रमितिरियं नेष्यते सम्भवति च प्रयोगः विमतिपदं गवयत्वं गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तं तथात्वे तर्केण विषयीक्रियमाणविपर्ययकत्वात् । न यदेवं न तदेवं यथा

धर्म को पुरस्कृत करके संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध के ज्ञापक प्रमाण का ही नाम उपमान प्रमाण होता है ।(८)

शंका—गो सादृश्य को छोड़ करके गवयत्व जाति में गवय शब्दार्थता की प्रतीति को मानते हैं, अर्थात् गवय पद की शक्ति गवयत्व जाति में गो सादृश्य में नहीं है परन्तु यह ज्ञान कल्पना लाघव रूप तर्क के बिना नही हो सकता है इससे तर्कोपन्यास आवश्यक होता है. इस स्थिति में आनुमानिकी गवयत्व में गवय पद वाच्यता प्रतीति क्यों नहीं मानते है ? अर्थात् अनुमान से ही निर्वाह हो जाता, उपमान मानने की क्या आवश्यकता है ? अनुमान प्रयोग इस प्रकार से हो सकता है । तथाहि विवादास्पदीभूत जो गवयत्व है सो गवय पद का प्रवृत्ति निमित्त अर्थात् शक्यतावच्छेदक है । तर्क से विषयी क्रियमाण विपर्ययक होने से । जो गवय पद प्रवृत्ति निमत्त नहीं है सो तादृश तर्केण विषयी क्रिययाण विपर्ययक नहीं होता है जैसे गोत्वं, यह

गोत्वं तथा चेदं ततस्तथेति न ह्यस्ति सम्भवो मूलशैथिल्यादि-दोषरहितनिवेदितविपर्ययगांश्चार्थो न च तथेति । अथवा गवयपदमसम्भवत्प्रवृत्तिनिमित्तान्तरमनुपपद्यमाना सोक्तगोसादृश्यसामानाधिकरण्यमर्थाद्गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकतामाक्षिपती-त्यर्थापत्तिरेवात्र प्रमाणमस्तु सा च त्वया व्यतिरेकीकृत्य परेण पृथगेवावश्यं प्रमाणनीयेति । मैवम् । न हि लाघवगौरवे तर्कौ नापि मूलशैथिल्यादिरहिते नापि विपर्ययपर्यवसायिनी नापि

गवयत्व तादृश तर्क से विषयी क्रियमाण विषयक है अतः यथोक्त साध्यवान भी है। ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है कि मूल शैथिल्यादि दोष रहित तादृश तर्क से निवेदित विपर्ययवान पदार्थ गवय पद की प्रवृत्ति न हो, प्रत्युत होगी ही। अथवा गवय पद जिसका प्रवृत्ति निमित्तान्तर सम्भवित नहीं है ऐसा अनुपपद्यमान होता हुआ पूर्वोक्त गोसादृश्य सामानाधिकरण्यका अर्थात् गवयत्व रूप प्रवृत्ति निमित्त का आक्षेप करता है। इसलिये यहां अर्थापत्ति रूप ही गवयत्व के प्रवृत्ति निमित्त होने में प्रमाण है। यह अर्थापत्ति आपके मत में व्यतिरेकी अनुमान के अन्तर्गत है अन्य के मत में स्वतन्त्र प्रमाण है।

उत्तर—आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह जो लाघव और गौरव बताया गया है सो तर्क नहीं है।

प्रमाणसहकारिणी किन्तु लघौ गुरौ चार्थे युगपदुपस्थिते प्रमाणं लघुमर्थं कारणत्वादिनालिङ्गति न तु गुरुमिति प्रमाणस्य स्वभाव इत्येव तत्त्वम् । अत एव लाघवगौरवोत्सर्गाविनिगम-प्रतिबन्ध्यनौचित्यानि तु षडपि न तर्का इति न्यायविदां परिसंख्यानमपि । हन्त तथापि गोसादृश्यं तावन्न गवयपद-प्रवृत्तिनिमित्तं अप्रतीतगूनामारण्यकानां गोसादृश्यापरिचया-द्गवयपदप्रयोगादिलक्षणव्यवहारानुपपत्तेः । एवं चानेन तर्केण विपर्ययपर्यवसिते गोसादृश्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वे निरस्ते-

---

न वा लाघव गौरव मूलशैथिल्यादि दोष रहित है । न वा विपर्यय पर्यवसायी है, न वा दोनो प्रमाणका यह सहकारी है । किन्तु लघु गुरु अर्थ के युगपत् एक काल में उपस्थित होने पर प्रमाण लघु अर्थ में हो कारणत्वादि को स्थिर करता है, न तु गुरुभूत अर्थ में करणत्यादि को स्थिर करता है, ऐसा ही प्रमाण का स्वभाव है । अतएव लाघव गौरव उत्सर्ग अवि नगम प्रतिवन्धी अनौचित्य तर्क रूप नहीं है, ऐसा न्यायवित् का कथन है ।

प्रश्न—देखिये फिर भी गो सादृश्य गवय पद का प्रवृत्ति निमित्त नहीं हो सकता है । क्योंकि गो का परिचय नहीं है ऐसा जो आरण्यक पुरुष उसको गो सादृश्य का परिच्चय न होने से गवय पद प्रयोग लक्षण जो व्यवहार सो अनुप-पन्न हो जायगा । ऐसा होने से विपर्यय में पर्यवसित इस

ऽन्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वेऽसम्भविनि प्रवृत्तिनिमित्तवत्त्वे च पदत्वेनैव सिद्धे गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकं इतराप्रवृत्ति-निमित्तकत्वे सति प्रवृत्तिनिमित्तवत्त्वादिति व्यतिरेकेणैव क्लृप्तेनोपमानं प्रमुष्टविषयमिति चेत् । नैवम् । श्रुतातिदेश-वाक्यस्य गवयपिण्डदर्शनोत्तरं गवयत्वगोसादृश्ययोरवगता-विदं लघ्विदं गुर्व्विति तावद्धीरुदेति सा च प्रतिसन्धानसहका-

तर्क से गो सादृश्य में गवय पद प्रवृत्ति निमित्त का निरास होने तथा तदन्य में प्रवृत्ति निमित्त की संभावना नहीं रहने से तथा पदत्व हेतु से सप्रवृत्ति निमित्तात्व की सिद्धि होने से "गवय पद सप्रवृत्ति निमित्तक है इतर कोई प्रवृत्ति निमित्त नही हैं, प्रवृत्ति निमित्त वान् होने से निर्णीत इस व्यतिरेकी अनुमान से उपमान का विषय गतार्थ हो जाता है, तब अतिरिक्त उपमान प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

उत्तर—जिस व्यक्ति ने अतिदेश वाक्य का श्रवण किया है, उस व्यक्ति को गवय पिण्ड दर्शन के बाद गवयत्व के गौ सादृश्य का ज्ञान होने के बाद गवयत्व लघु है तथा गो सादृश्य में प्रवृत्ति निमित्तता मानने में गौरव है इस प्रकार का लघु गुरु विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है । तो यह ज्ञान प्रति सन्धान को सहकारी बना करके उपमिति का

रितामापाद्योपमापयतु अप्रतीतगूनामव्यवहारप्रसंगस्य तु तदानीमवतारे प्रमाणाभावः अस्तु वा तत्र प्रमाणं तथापि स हि प्रसंगो विपर्ययपर्यवसितीभूय सामान्यतो दृष्टावतारमपेक्ष्य यथोक्तं परिशेषनामकं व्यतिरेकिणमवतारयिष्यति स चावतीर्णः समयं परिच्छेत्स्यतीति क्लृप्तमप्यनुमानं चरमोपस्थितत्वेन लाघवसहितप्रतिसधानस्य नमात्रज जुषः प्रथमोपस्थितस्य समयग्राहकतां न प्रत्यादिशति युगपदुपस्थित्यभावेन क्लृप्त-

---

जनक होता है । और जिसको गो का ज्ञान नहीं है तादृश आरण्यक पुरुष को तादृश गवय के व्यवहाराभाव का प्रसंग उस समय होता है, इसमें कोई प्रमाण नही है । अथवा प्रमाण हो तो भी वह प्रसंग विपर्यय में पर्यव-सित हो करके सामान्य तो दृष्टता की अपेक्षा करके पूर्वोक्त परिशेष नामक व्यतिरेकी अनुमान का उत्थापन करता है । तब वह अनुमान अवतरित हो करके सयय शक्ति का ग्राहक होगा । इस प्रकार से क्लृप्त अवश्य निर्णीत जो अनुमान सो चरमोपस्थितिक होने से प्रथमोपस्थित प्रमाता से समुत्पद्यमान लाघव सहकृत प्रति संधान में समयग्राहकत्व का निराकरण नहीं कर सकता है । यदि अनुमान और लाघव सहकृत एक समय में उपस्थिति होता तब क्लृप्त कल्प्य के विरोध में क्लृप्त विरोध को प्राथमिकता होती । परन्तु प्रकृत में क्लृप्त अनुमान कल्प्य जो उपमान इन दोनों

कल्प्यविरोधे हीत्यस्यानवकाशात् । नन्वतिदेशवाक्यं समय-ग्रहतात्पर्यनिर्वाहकमुत्थाप्य समयनिष्पत्तिर्वह्निजिज्ञास्यं प्रति दृश्यते धूम इति वह्न्यनुमितिद्वारेति तावद्ब्रूषे तथा च तव स्ववचनविरोधः । धिक्करभमित्यादौ समयग्रहतात्पर्याभावेऽपि उपमानेन समयपरिच्छेद इति त्वयैव बहुधोक्तत्वादिति । अथ तत्र मानान्तरं तदा चतुःप्रमाणीभंग इति चेत् । भ्रान्तोसि तथेति प्रतिसन्धानं लाघवाद् गवयत्वकरभत्वपुरस्कारेण गवय-

---

को युगपत् उपस्थिति नही है । अत एव क्लृप्त कल्प विरोध न्याय का यहां अवकाश नहीं होता है । यदि कहो कि अति देश वाक्य समग्रह का जो तात्पर्य उस तात्पर्य के निर्वाहक प्रमाण की उपस्थिति करा के समय का निष्पादक होगा । जैसे धूम वह्न्यनुमिति द्वारा वह्नि की जिज्ञासावान पुरुष को वह्नि ज्ञान कराता हैं । ऐसा यदि कहो तो स्व वचन का विरोध होता है । धिक् करभम् इत्यादि स्थल में शक्ति ग्रह तात्पर्य के अभाव में भी उपमान से समय का परिच्छेद ज्ञान होता है, ऐसा आपने अनेक वार कहा है । अथ यदि कहो कि उपर्युक्त स्थल में प्रमाणान्तर है तब तो प्रमाण चार ही हैं यह जो नियम है उसका भंग हो जायगा ।

उत्तर—यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि इस विषय में आप भ्रान्त हें । यथागोस्तथागवयः, यह जो प्रति सन्धान हैं सो लाघवात् गवयत्व करभत्व धर्म को पुरस्कृत

पदकरभपदवाच्यतां तावत्परिच्छिनत्ति तत्र च का तात्पर्यापेक्षेति दिक् । इत्युपमानमण्डनमिति ।

अथ शब्दमण्डनम्

आप्तोपदेशः प्रमाणशब्दः आप्तिश्च वाक्यार्थयथार्थज्ञानं तादृशशब्दबुबोधयिषा यत्नश्च करणपाटवं च तद्वानाप्तः तस्योपदेशस्तद्वक्तृकं वाक्यं प्रमाजननं प्रति स्वरूपयोग्यं स चाकां-

---

करके गवय करभ पद वाच्यता को समझाता है । इस स्थिति में तात्पर्य की क्या आवश्यकता है ?

यहां उपमान मण्डन समाप्त हुआ ।

आप्तका जो उपदेश उसको शब्द प्रमाण कहते हैं । यहां शब्द प्रमाण यह लक्ष्य हैं और आप्तोपदेश लक्षण है । यदि उपदेश मात्र को शब्द प्रमाण का लक्षण मानें तो अनाप्त शब्द में अति व्याप्ति हो जायगी । क्योंकि वह भी तो उपदेश ही हे । अतः उपदेश में आप्त विशेषण दिया । तब अनाप्त शब्द में आप्त विशेषण देने से अति व्याप्ति नहीं होती है । आप्तिमान का नाम आप्त होता है । आप्ति किस को कहते हैं ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं । आप्तिश्चेत्यादि—वाक्यार्थ विषयक जो यथार्थ ज्ञान उसी का नाम आप्ति हं । तादृश बोधनेच्छा यत्न तथा करण जो श्रोत्रादिक तन्निष्ठ पटुत्वादिक, तद्वान जो हो अर्थात् करण पाटवादि रूप आप्ति मान हो उसको आप्त कहते हैं । तादृश आप्त का जो उपदेश अर्थात् आप्त पुरुष वक्तृक जो वाक्य सो शाब्द

क्षादित्रिकधिया सहकारिण्योपहितः प्रमापयति चक्षुरिवोन्मीलनोपहितं कीरवालभ्रान्तप्रतारकस्थले तु भगवानीदृशो वक्तेति

प्रमा के उत्पादन में स्वरूप योग्य रूप कारण होता है। वह आप्त का उपदेश आकांक्षादि त्रिक ज्ञान रूप सहकारी से युक्त होकर शाब्द प्रमा को उत्पन्न करता है। जैसे चक्षु उन्मीलनादि (संयोग संयुक्त समवाय संयुक्त समवेत समवाय) लक्षण सहकारी होकर के घटादि प्रमा को उत्पादन करता है। अर्थात् जिस प्रकार से आलोक संयोग इन्द्रिय सन्निकर्ष मनः समवधानादि सहकारो से युक्त चक्षुरादि द्वारा घटादि प्रमा होती है उसी प्रकार आकांक्षादि त्रितय ज्ञान शक्ति ज्ञानादि सहकृत आप्तोपदेश पद ज्ञान पदार्थ स्मरणात्मक व्यापार सहकृत होकर के शाब्द प्रमा का जनक होता है (शाब्द बोध रूप कार्य में पद ज्ञान होता है करण। तथा पदजन्य पदार्थ का स्मरण होता है व्यापार। और शक्ति लक्षणान्यतर वृत्ति है सहकारी कारण। वृत्ति ज्ञान सहकृत पद जन्य पदार्थ स्मरण को व्यापार होने से घटादि शब्द द्वारा आकाशादि विषयक शाब्द बोध, इसी पद ज्ञान रूप करण का आकांक्षादिक सहकारी होने से आकांक्षादिक भी शाब्द बोध में उपयुज्यमान होता है) कीर वाल अर्थात् शुक सावक भ्रान्त विप्रतारक वाक्य स्थल में भगवान ही ईदृश वक्ता है, ऐसा

प्राञ्चः। नव्यास्त्वाप्त उपदेश आकांक्षादित्रितयवानुपदेशः तत्त्रितयधीमात्रोपदेशः प्रमाणशब्दः एतज्जनिता च प्रमा बोद्धुरेवाकाङ्क्षादिप्रमेया गुणेन जन्यते न तु वक्तुर्वाक्यार्थ-प्रमेया तथा च श्रोतुर्वेदार्थप्रमया न वेदवक्तुर्वाक्यार्थप्रमारूपो गुणोपेक्ष्यते अतो न वेदार्थप्रमाबलादीश्वरसिद्धिः। वक्तुस्तात्पर्यं च शाब्दप्रमायामतन्त्रमेवेति न तद्धेतुभूततात्पर्याधारतयापि तत्सिद्धिः। यदसमवधानावच्छिन्नं यस्यान्वयानुभवासम्ब-

---

प्राचीन का मत है। नव्य नैयामिक का मत है कि आप्त उपदेश अर्थात् आकांक्षादि त्रितयवान उपदेश यद्वा आकांक्षादि त्रितय ज्ञानमात्रोपदेश ही प्रमाणं शब्द है। इस प्रमाण शब्द से जायमान जो प्रमा सो बोद्ध के ही आकाक्षादि प्रमा रूप गुण से पैदा होता है। न कि वक्ता को वाक्यार्थ प्रमा से। इसलिये श्रोता की वेदार्थ प्रमा से वेद वक्ता का वाक्यार्थ प्रमा रूप गुण अपेक्षित नहीं होता है। इसलिये वेदार्थ प्रमा के बल से भगवान ईश्वर की सिद्धि नहीं होंती है। वक्ता का तात्पर्य शाब्द प्रमा में विवक्षित नहीं है। इसलिये शाब्द प्रमा के हेतु भूत तात्पर्य के आधार रूप से भी ईश्वर सिद्धि नहीं होती है। जिसके असमवधान में जिसको अन्वय बोध जनकता न होवे। जैसे अम् विभक्ति के असमवधान में घट पद को अन्वय बोध जनकता नहीं होती है तो उसके साथ उसी समय में वह पद साकांक्ष

न्धित्वं तस्य तदेव तत्साकाङ्क्षत्वं तच्च यावन्तं कालं तावन्त-मेवाकाङ्क्षा योग्यता च बाधकमानाभावः आसत्तिश्चोपस्थि-त्योर्नैरन्तर्यं वाक्यं चैकार्थावच्छिन्नः पदसमूहः पदत्वं च सङ्केतवद्वर्णत्वमिति तेन प्रकृतिप्रत्ययौ पदे न तु पदमिति। इति शब्दमण्डनम्।

अथ अर्थापत्तिप्रकरणम्

नन्वन्यथानुपपत्तिरनवगता तावन्न बहिःसत्त्वकल्पिका ज्ञानान्वयव्यतिरेकित्वात् किं तु ज्ञाता तस्याश्च ज्ञानं कल्पनी-

---

होता है। वह यावत्काल पर्यन्त रहता है तावत्काल पर्यन्त ही आकांक्षा रहती है, कालान्तर में नहीं। बाधक प्रमाण का जो अभाव, उसी को योग्यता कहते हैं। उपस्थिति द्वय का जो नैरन्तर्य उसी को आसत्ति कहते हैं। एकार्थाव-च्छिन्न जो पद समूह उसी का नाम है वाक्य। और संकेत वान् जो वर्ण उसी का नाम है पद। अतः प्रकृति प्रत्यय यह अलग अलग पद हैं न कि दोनों सम्मिलित एक पद है।

॥ इति शब्दमण्डनं समाप्तम् ॥

प्रश्न—यह जो अन्यथानुपपत्ति प्रमाण है सो अज्ञात हो करके बहिसत्व की कल्पना कर सकने में असमर्थ है, क्योंकि ज्ञान का अन्वयव्यतिरेक देखने में आता है, अतः कहना पड़ेगा कि ज्ञाता जो अन्यथानुपपत्ति सो ज्ञाता होकर के बहिःसत्त्व की कल्पिका है किन्तु उस अन्यथानुपपत्ति

यज्ज्ञानाधीनं न हि तदज्ञाने तदन्येन वर्त्मना नेदमुपपद्यत इति ज्ञातुं शक्यते अभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् तथा च फलीभविष्यच्चैत्रबहिः सत्त्वादिसत्त्वादिज्ञाने किमर्थापत्त्या तत्फलस्य तां विनैव सिद्धेः। तदज्ञाने चान्यथानुपपत्तिरज्ञातैवेति कथं प्रभवतु तदुक्तं। यतोन्यत्वं तत्सिद्धेरग्रे तदसिद्धेरिति चेत् मैवम्। बहिसत्त्वेन विना जीविनो गेहासत्त्वमनुपपन्नं वह्निना विना धूम इव एवं चेदमनुपपद्यमानं यत्रास्ति

का ज्ञान कल्पनीय के अधीन है। क्योंकि कल्पनीय पदार्थ के ज्ञान के बिना किसी अन्य प्रकार से यह उपपन्न नहीं है, ऐसा जान नहीं सकते हैं। अभाव ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान के अधीन होता है। तब तो फल स्वरूप जो चैत्र का बहिः सत्वज्ञान सो जब पहिले हो गया तब अर्थापत्ति की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि अर्थापत्ति के बिना बहिःसत्व ज्ञानरूप फल की सिद्धि हो जाती है। यदि कदाचित् कहें कि कल्पनीय का ज्ञान नहीं है तब तो अर्थापत्ति ज्ञाता नहीं हुई, तब अज्ञात अन्यथानुपपत्ति स्वकार्य में समर्था कैसे होगी ? खण्डनकार ने कहा है कि जिसे भेद कहते हैं उसकी सिद्धि के पूर्व अन्यथानुपपत्ति असिद्ध है।

उत्तर—बहिःसत्व के बिना (जीवी देवदत्त के गृह में असत्व के बिना) अनुपपन्न है अर्थात् जीवित है और घर में नहीं है यह बात तब हो सकती है जब कि वह बाहर में

तत्र फलं प्रसभत इति चैत्रे वहिःसत्त्वं सिध्यति पक्षधर्मताबला-त्पर्वतीयवह्निवत् न तु विशेषयोरेव व्याप्तिग्रहोऽत्राङ्गं येन चैत्रबहिःसत्त्वस्यापि प्रसिद्धिरादौ मृग्येत गौरवात् पक्षधर्मता-ज्ञानस्यानङ्गत्वापत्तेस्त्वदुक्तदोषाच्च। इयमेव दृष्टार्थापत्तिरिति गीयते एवं पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्रापि रोगाद्य-जन्य पीनत्वं भोजनमात्रेण विनानुपपन्नं भोजनमात्रमेव यद्यपि

रहै। अन्यथा बहिःसत्व के बिना, जीवी पुरुष का गृहासत्व नहीं घट सकता है। जैसे कि वह्नि के बिना धूमका सद्भाव नहीं बनता है। ऐसा होने से यह अनुपपद्यमानता जहां रहती है वहां फल वहुत शीघ्र होता है। इसलिये चैत्रादिक व्यक्ति में बहिःसत्व की सिद्धि की सिद्धि होती है, जैसे पक्ष धर्मता के बल से पर्वत में पर्वतीय वह्नि की सिद्धि होती है। नतु पर्वतोय वह्नि विशेष तथा धूम विशेष का व्याप्ति ज्ञान यहां अंग कारण है। अर्थात् विशेष का कार्य कारण भाव अगं नहीं है जिससे कि आदि में चैत्र को बहिःसत्व की प्रसिद्धि भी विवक्षित होती है, क्योंकि गौरव से पक्ष धर्मता ज्ञान के कारण नहीं होने से। तथा भवदुक्त दोष होने से इसी को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। इसी तरह से अत्यन्त स्थूल यह देव दत्त दिन में भोजन नहीं करता है, इस स्थल में भी रोगादि से अजन्य जो स्थूलत्व वह रात्रि भोजन मात्र के बिना अनुपपन्न होता

व्याप्तिबलादानेतुमर्हति तथापि दिवा अभोजिनः पक्षत्वेन दिवाभोजनमादाय साध्योपसंहारस्य बाधेनासम्भवादबाधेन भोजनत्वेनैव रूपेण रात्रिभोजनमायाति पक्षधर्मताबलात् वह्नित्वेन पर्वतीयवह्निवत् न हि रात्रिभोजनेन विना पीनत्वानुपपत्तेर्ज्ञानं कारणं किं तु भोजनेन विना पीनत्वस्य भोजनमात्रसाध्यत्वात् । अतो यतोन्यत्वमित्यादिकमज्ञप्रलपितम् । अथ तथापि जीवी देवदत्तो गृहे नेत्यत्र देवदत्ते पक्षे जीविगेहासत्त्वेन बहिःसत्त्वं प्रतीयते तत्र तावद्गेहासत्त्वऽस्य गेहवृत्ते-

---

हुआ यद्यपि भोजन मात्र को व्याप्ति के बल से सिद्ध कर सकता है, तथापि दिवा अभोजी व्यक्ति को पक्ष होने से दिन में भोजन को लेकर के साध्य का उपसंहार बाधित हो जाता है । अतः अबाधित भोजनत्व रूप से रात्रि भोजन ही फल रूप में प्राप्त होता है, जैसे वह्नित्व रूप से पर्वतीय वह्नि पक्ष धर्मता बल से पर्वत में सिद्ध होता है । रात्रि भोजन के बिना जो पीनत्व की अनुपपन्नता तज्ज्ञान कारण नहीं है, किन्तु भोजन के बिना । क्योंकि पीनत्व तो भोजन मात्र से ही साध्य है । अत एव "यतोऽन्यत्वं तत्सिद्धेरानेतदसिद्धेः" इत्यादिक जो कहा है सो तो अज्ञानी का प्रलाप मात्र है ।

प्रश्न—तथापि जीता. हुआ देवदत्त घर में नहीं है, इस स्थल में देवदत्त रूप पक्ष में जीवी देवदत्त की गृह में असत्ता है उससे बहिः सत्व प्रतीयमान होता है । उस स्थान

बहिःसत्त्वेन चैत्रवृत्तिना समं न व्याप्तिर्वैयधिकरण्यनियमात् वैयधिकरण्येपि व्याप्त्यभ्युपगमे पक्षधर्मता सर्वथा न सम्भवतीति नेहानुमानवार्तापीति चेत् । न गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वस्यैव देवदत्तवृत्तेरिह लिङ्गत्वात् । तस्य चाव्यवहितस्मृतदेवदत्तविशेषणकस्य गृहे देवदत्ताभाव इति चाक्षुषं ज्ञानं अभावे देवदत्तस्य प्रतियोगित्वमवगाहमानं जनयता चक्षुषैव ग्रहणसम्भवात् अयं तु विशेषो यदन्यत्र व्याप्तिलिङ्गवत्त्वं पक्षे

में गेह के असत्व में गृहावृत्ति देवदत्त की चैत्र वृत्ति बहिःसत्व के साथ व्याप्ति नहीं बनेगी क्योंकि वैयधिकरण्य होने से । अर्थात् गृहासत्व देवदत्त में है और वहिःसत्व चैत्र में है । कदाचित् व्यधिकरण साध्य हेतु में व्याप्ति मान भी लें तो भी पक्ष धर्मता तो बन नही सकती है और पक्ष धर्मता नहीं होगी तो अनुमान चर्चा दूर हो जाती है ।

उत्तर—देवदत्त वृत्ति गृहाधिकरण अभाव प्रतियोगित्व ही प्रकृतस्थल में हेतु है । उस हेतु का अव्यवहित एवं स्मरण विषयीभूत देवदत्त विशेषण से युक्त गृह में देवदत्त नहीं है एतादृश चाक्षुष ज्ञान को जो ज्ञान अभाव में देवदत्त को प्रतियोगित्व रूप से अवगाहन करता है तादृश चक्षुष ज्ञान को उत्पन्न करता हुआ चक्षु से ही उक्त हेतु का ग्रहण होता है । यहां इतनी

गृह्यते अत्र तु व्याप्तिपक्षधर्मते लिङ्गे एव प्राधान्येन गृह्यते तृतीयलिङ्गपरामर्शानुमित्योस्तु नैकविशेष्यकतानियम इति दिक्। ननु तथापि जीवी देवदत्तो गृहे नास्तीत्यत्र जीवित्वेन तावद्देवदत्तस्य क्वचित् सत्त्वमाक्षिप्तं जीवता क्वापि स्थातव्यमिति व्याप्तेः तच्च गृहबहिरुभयस्पर्शि तदानीं विनिगमकानुपस्थितेः अथ पश्चाद्गृहे नास्तीत्यनेन विशेषमुखप्रवृत्तेन प्रमाणेन गृहे देवदत्तस्याभावे ग्राहिते तत् क्वचित्सत्त्वं बहिर्मात्रे

विशेषता है कि अन्वयानुमिति स्थल में व्याप्ति विशिष्ट हेतु होता है और प्रकृत में व्याप्ति और पक्ष धर्मता का ग्रहण हेतु प्रधान रूप से होता है, तृतीय लिङ्ग परामर्श और अनुमिति में एक विशेष्यता का नियम नहीं है, अर्थात् जिस अधिकरण में परामर्श रहता है उसी अधिकरण में अनुमिति रहै ऐसा नियम नही है।

प्रश्न—जीवित देवदत्त घर में नहीं है इस स्थल में जीवित देवदत्त की सत्व विद्यमानता किसी भी स्थल में आक्षिप्ता होती है, क्योंकि जो जीवित है उसका किसी जगह में रहना आवश्यक है, ऐसी व्याप्ति होने से। तब यह चीज गृहबहिः उभयस्पर्शी है, अर्थात् घर में या बाहर में रहने से भी निर्वाह हो सकता है। उस समय में घर में ही है अथवा बाहर में ? इसका निश्चायक कोई प्रमाण नहीं है। तदनन्तर घर में नहीं है इस प्रकार के विशेष मुख प्रमाण

व्यवस्थाप्यते तथा च विशेषमुखप्रवृत्तेन प्रमाणेन सामान्यमुख-प्रवृत्तस्य प्रमाणस्य स्वालिङ्गितविशेषातिरिक्तविशेषविषयत्वव्य-वस्थापनं प्रमाणयोरापाततः प्रतीताद्विरोधान्निर्वहतीति विरोध केयमर्थापत्तिरित्युच्यते । मैवम् । न हि जीवी देवदत्त इत्येकं वाक्यं गृहे देवदत्तो नास्तीत्यपरं येन सामान्यविशेषन्यायच्छायापि स्यात् । किन्तु जीवनं

से घर में देवदत्त का अभाव है, यह गृहीत होने पर देवदत्त का जो क्वचि सत्व है सो वहिर्मात्र में व्यवस्थापित होता है। तब विशेष मुख प्रमाण से सामान्य मुख प्रमाण को स्व विशेष विषय से अतिरिक्त विशेष विषयत्व का व्यवस्था-पन कराया जाता है। प्रमाणद्वय में प्रतीत ज्ञात जो विरोध उससे प्रमाण द्वय में परस्पर बाध्य बाधक भाव का निर्वाह होता है इसलिये विरोधक प्रमाणद्वय में अविरो-धापादक यह अर्थापत्ति प्रमाण है ऐसा कहा जाता है।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में जीवी देवदत्त, (जीता देवदत्त) यह एक वाक्य है और 'गृहे देवदत्तो नास्ति' घर में देवदत्त नहीं है ऐसा यह द्वितीय वाक्य है, ऐसा यहाँ दो वाक्य नहीं है, जिससे कि सामान्य विशेष न्याय की छाया भी उपस्थित हो, किन्तु जीवित देवदत्त का स्मरण करता हुआ तथा योग्यानुपलब्धि

देवदत्तं स्मरतो योग्यानुपलब्ध्या च गेहे तदभावं पश्यतः प्रत्यक्षमिदमभिलप्यते जीवी देवदत्तो गृहे नास्तीत्यतो न त्वदुक्तमनुस्पर्शि। अथ यदीदृशं वाक्यं स्यात्तदा किं स्यात् अनेन हि वाक्येन देवदत्तस्य जीवित्वगेहासत्त्वे प्रत्याख्येते योग्यतादिमत्त्वात् तथा च तेन बहिःसत्त्वमर्थाप्यतेनुमाप्यते चेति सर्वंसमञ्जसम्। ननु पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति तावच्छ्रुतार्थापत्तेरुदाहरणमात्थ तच्च वाक्यार्थधियं विना

से घर में देवदत्त के अभाव को देखता हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान है कि घर में जीवित देवदत्त नहीं है, इससे भवदुक्त दोष का यहां स्पर्श मात्र भी नहीं होता है।

प्रश्न–यदि एतादृश वाक्य हो अर्थात् जीवी देवदत्तः एतादृश एक वाक्य हो तथा गृहेदेवदत्तो नास्ति यह द्वितीय वाक्य हो उस स्थल में क्या होगा ?

उत्तर–जहां एतादृश वाक्य है वहां इस वाक्य से देवदत्त का जीवित्व तथा गेहासत्व का निराकरण मात्र करता है, वाक्य योग्यतादि सहकारी से युक्त होने से। तब उस शब्द से बहिः सत्व अर्थापित होता है अथवा अनुमापित होता है। इसलिये प्रकृत में सर्व सामंजस्य घठता है।

प्रश्न–'यदि पीनो देवदत्तः' देवदत्त शरीर से स्थूल है किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है, इसको आप श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण कहते हैं परन्तु यह श्रुतस्र्थापत्ति का

न घटते सा च पीनत्वान्वयप्रयोजकं रात्रिभोजनं विना नेह तच्च रात्रौ भुङ्क्त इति शब्दं विना न शाब्दीत्वाकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यत इति नियमात् तया च रात्रौ भुङ्क्ते इति शब्द एवात्र कल्प्यत इति नात्रानुमानगन्धोपीति चेत् । मैवम् । यद्यपि श्रोत्रा रात्रिभोजनं प्रतीतमस्ति तथापि दिवेतिविशेषण-मर्यादया तेन तावद् दिवाभोजनमपि सम्भावितमपि तत्संशयेन

उदाहरण वाक्यार्थ ज्ञान के विना नही घट सकता है। और वह वाक्यार्थ ज्ञान पीनत्व (स्थूलता) का सम्बन्ध प्रयोजक रात्रि भोजन के बिना नहीं हो सकता है, और रात्रि भोजन ज्ञान रात में भोजन करता है एतादृश शब्द के विना नहीं हो सकता है, क्योंकि शाब्दी जो आकांक्षा होती है सो शब्द से ही पूरित (सम्पादित) होती है ऐसा नियम है। तब तो शब्द की उपस्थिति जब आवश्यक है तो "रात्रौ भुंक्ते" रात में भोजन करता है एतादृश शब्द की ही यहां कल्पना होती है। तब यह शाब्द ज्ञान हुआ। अनुमान की तो यहां गन्ध भी नहीं हैं। अर्थात् शाब्द ज्ञान में समावेश हो जाता हैं। देवदत्त स्थूल है परन्तु रात को भी भोजन नहीं करता है, यह स्थल अर्थापत्ति वा अनुमान का उदाहरण नहीं है।

उत्तर—यद्यपि श्रोता पुरुष को रात्रि भोजन का ज्ञान है, अर्थात् रात्रि भोजन प्रतित है भी तथापि दिवा विशेषण

योग्यतासंशयात् शब्दार्थयोरध्याहारमन्तरेणैव वाक्यार्थधियः सम्भवे तन्मूलाया अर्थापत्तेरनुमितेर्वा सम्भवादिति। गुरवस्तु ज्योतिस्तन्त्रेण देवदत्तस्य शतवर्षजीवित्वे ज्ञाते पश्चाद्भूयसा प्रत्यक्षेण तस्य गृहसत्त्वनियमेऽवसिते शेषे योग्यानुपलब्ध्या तस्य गृहासत्त्वे निश्चिते ज्योतिःशास्त्रस्य नियममप्रत्यक्षेण समं योग्यानुपलब्धिघटितेन विरोधेनोभयोः प्रामाण्यसंशयात्

की मर्यादा से सम्भावित दिवा भोजन का संशय हो जाता है, दिवा भोजन के संशय से शाब्द कारण योग्यता का संशय होने से शब्दार्थ का अध्याहार वाक्यार्थ ज्ञान के विना भी संभवित है, तब अध्याहार के मूलभूत जो अर्थापत्ति वा अनुमिति सो सम्भवित हो जाती है। इस विषय में गुरु का मत तो ऐसा है, ज्योतिष शास्त्र से देवदत्त सौ वर्षपर्यंन्तजीने वाला है, ऐसा जानकर पश्चात् बारम्बार प्रत्यक्ष से गृह सत्व का निश्चय करके तदनन्तर योग्यानुपलब्धि से गृहासत्व निश्चय करके, ज्योतिष शास्त्र को प्रत्यक्ष के साथ ही योग्यानुपलब्धि घटित विरोध से शास्त्र तथा प्रत्यक्ष में प्रामाण्य का संशय होता है, उस संशय से जीता है, कि नहीं एतादृश संशय होता है, तब उस जीवन के संशय से बहिःसत्व की कल्पना होती है, ऐसा हुआ तब जीवन संशय होना है करण। वह करण अनुमान रूप नहीं है क्योंकि अनुमिति संशयकरणिका नहीं होती है।

जीवति न वेति संशये जाते तेन जीवनसंशयेन बहिःसत्त्वं कल्प्यते। एवं च जीवनसंशयः करणं तच्च नानुमानं अनुमितेः संशयकरणत्वासम्भवाद्व्याप्तिविरहाच्चेति पञ्चमं प्रमाणमर्थापत्तिः अथ जीवनग्राहकगृहनियमग्राहकयोर्यदि तुल्यबलत्वं न तर्हि बहिः सत्त्वकल्पना विशेषादर्शनात् अतुल्यबलत्वे चैकेनापरस्य बाध एवेति जीवित्वसंशये न बहिःसत्त्वधीः किं तु जीवित्वनिश्चये सा चानुमानादेव न त्वर्थापत्तेरिति। उच्यते यथोक्तसंशयवान् खल्वेवं विमृशति यद्योग्यानुपलब्धिनिश्चितं गृहासत्त्वं तावत्सुदृढं तथा च गृहनियमग्राहकस्य प्रामाण्ये स

तथा व्याप्ति का भी अभाव होने से। किन्तु पांचवां प्रमाण अर्थापत्ति सिद्ध होता है।

प्रश्न—यदि जीवनग्राहक तथा गृहनियमग्राहक प्रमाण में समान बलता होय तब तो बहिःसत्व की कल्पना विशेष धर्म का आदर्श न होने से नहो हो सकती है। दोनों प्रमाणों में अतुल्य बलता होय तब बलवान से दुर्बल का बाध्य ही हो जाता है। तब जीवितत्व का सन्देह होने से बहिःसत्व का निश्चय नहीं होगा। किन्तु जीवितत्व के निश्चित रहने से ही बहिःसत्व की कल्पना होगी तो यह कल्पना अनुमान से होगी, अर्थापत्ति से नहीं।

उत्तर—जीवति न वा, एतादृश संशय वान् पुरुष इस प्रकार से विचार करता है, योग्यानुपलब्धि द्वारा निश्चित

नास्ति शास्त्रस्य तु प्रामाण्ये स बहिरस्ति तथा च स बहिरस्तीति कल्प्यते भावत्वेन लाघवात् न तु नास्तीति कल्प्यतेऽभावत्वेन गुरुत्वादिति। यत्त्वस्यां दशायामनयोर्विरुद्धार्थग्राहित्वेऽवगते जीवनग्राहकं गृहनियमग्राहकञ्च बाधितैकतरं परस्परविरुद्धत्वादिति सामान्यतो दृष्टेन लाघवाद्गृहनियमग्राहकस्यैव बाध्यता तु जीवनग्राहकस्य प्रमाणद्वयबाधालिङ्गने गौरवात् तद्बाधे हि शतवर्षावच्छिन्नजीवित्वतावत्कालीनगृहसत्त्वयोर्द्वयोरपि बाधा स्यात् विशेषणबाधे विशिष्टबाधस्या-

---

गृहासत्व तो सुदृढ है, अब यदि गृहनियम ग्राह को प्रामाणिक माने तब तो वह देवदत्त नही है। यदि शास्त्र को प्रामाणिक मानें तब तो बाहर में है। ऐसा विचार करने के पीछे विचारक पुरुष देवदत्त के बाहर में होने की कल्पना करता है क्योंकि कल्पना 'अस्ति' इत्याकारक भाव विषयक होने से लघु है। किन्तु नहीं है, ऐसी निषेध मुख कल्पना नही करता है। यह कल्पना अभाव रूप होने से गुरु होतो है। यहां कल्पना में भावाभाव रूप होने से लाघव गौरव है।

प्रश्न—किसी ने इस स्थिति में ऐसा कहा कि इन दोनों प्रमाणों में जब विरुद्धार्थ ग्राहित्व अवगत हुआ तब जीवन ग्राहक और गृह नियम ग्राहक में से एकतर बाधित है, परस्पर विरुद्ध होने से। इस प्रकार सामान्य तो दृष्ट

वश्यकत्वात् तथाहि शतवर्षावच्छिन्नजीवित्ववत्तयोपस्थिते देवदत्ते गृहनियमग्राहकेण प्रत्यक्षेण शतवर्षावच्छिन्नजीवि-गृहसत्त्वस्यैवालिङ्गनात् प्रत्यक्षोपनीतपर्वतत्वविशिष्टे धर्मिणि लिङ्गेन पर्वतो वह्निमानितिवदिति मैवम् । विशेष्यवति विशि-ष्टविषिष्टबाधो हि विशेषणबाधमात्रं सविशेषणे हीति न्यायात् न तु विशेषणबाधाधीनस्तत्र सतो विशेष्यस्यापि बाधः क्षण-भङ्गापत्तेः नियमप्रत्यक्षं च शतवर्षजीवित्वं ज्योतिःशास्त्रो-

---

से तथा लाघवात् गृह नियम ग्राहक प्रमाण में बाध्यत्व होता है । जीवन ग्राहक को बाध्य मानै तब तो दो प्रमाण के बाधित होने से गौरव होगा, यदि जीवन ग्राहक प्रमाण को बाधक हैं तो शतवर्षावच्छिन्न जीवित्व तथा तावत्कालिक गृहसत्व इन दोनों का बाध होगा, क्योंकि विशेषण के बाध होने से विशेष्य का बाध आवश्यक हो जाता है । अर्थात् विशेष्य का बाध होता है, तथा हि शतवर्षावच्छिन्न जीवित्व विशिष्टत्वेन उपस्थित देवदत्त रूप विशेष्य में गृह नियम ग्राहक प्रत्यक्ष से शतवर्षावच्छिन्न जीवित देवदत्त का गृह सत्व गृहीत होता है । प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमाणित पर्वतत्व विशिष्ट पर्वत रूप धर्मी में धूम द्वारा वह्निमान् इत्याकारक ज्ञान के समान ।

उत्तर—विशेष्य की सत्ता में जो विशिष्ट का बाध होता है सो विशेषण के बाध मात्र में पर्यवसित होता है ।

दिश्लिष्टमनुवदति न तु विधत्ते वह्न्यनुमानमिव पर्वतत्वं तेन तद्बाधे तद्विधायकस्यैव बाधो न तु तदनुवादकस्य देवदत्तगृह-नियमे प्रत्यक्षं प्रमाणमन्यास्पृष्टत्वादिति किं च बाध्यत्वज्ञा-नाय विरोधित्वज्ञानमात्रमपेक्ष्यते न तु संशय एव कल्पके लाघवस्य सहकारिता कल्प्यत इति यदपि देवदत्तो जीवनमर-णान्यतरधर्मा प्राणित्वादिति तदपि न जीवनमरणसन्देहेन तस्य तदा तदन्यतरधर्मवत्त्वं ज्ञातमेवास्ति ततस्तत्मथमनुमीयतां

"सविशेषणेहि" इत्यादि न्याय से न तु विशेषण बाध के अधीन विद्यमान भी विशेष्य का बाध होता है। अन्यथा क्षणभंग वाद की आपत्ति हो जायगी। नियम प्रत्यक्ष तो ज्योतिष शास्त्र प्राप्त शत वर्ष जीवित्व का अनुवाद मात्र करता है, न कि विधान करता है। जैसे वह्नि का अनुमान पर्वत में पर्वतत्व का विधान नहीं करता है किन्तु प्रत्यक्षोपनीत पर्वतत्व का अनुवाद मात्र करता है। अतः विशेषण का बाध होने से विशेष का जो विधायक है उसी का बाध होगा, अनुवादक का बाध नहीं होगा। देवदत्त के गृह नियम में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमाणान्तर का स्पर्श भी करता है। "स विशेषणे विधीयमानौ विधिनिषेधौ सति विशेष्यबाधे विशेषणमेवोपसंक्रामतः" विशेषण विशिष्ट में विधीयमान जो विधि निषेध सो यदि विशेष्यान्वय प्राप्त करने में

वैयर्थ्यादिति तस्मात्तत्संशयेनैव लाघवसहकाराद्बहिःसत्वमर्थाप्यत इति । अत्रोच्यते सम्बन्धं विनार्थापनेतिप्रसङ्गात्स इह वाच्यः सः च व्याप्तिलक्षणः स च नान्वयेन न वा व्यतिरेकेणेहास्तीति

बाधग्रसित हो तो विशेषण में ही उन दोनों का अन्वय होता है । जैसे "शिखी ध्वस्तः" शिखा वाला मर गया, शिखा विशिष्ट में नाश का विधान किया गया परन्तु व्यक्ति तो बैठा है, केवल शिखा कटगई, तो वहां विशेष्यांश में नाश का अन्वय होने में प्रत्यक्ष बाध है तो वह नाश शिखा पर बैठता है, अर्थात् शिखा नष्ठ हो गई, यह प्रयोग गृहस्थाश्रम का त्याग करके जो सन्यस्त हो गया उस स्थल में किया जाता है । और भी देखिये बाध्यत्व ज्ञान के लिये विरोधित्व ज्ञान मात्र की अपेक्षा होती है । न तु संशय कल्पक में लाघव रूप सहकारी की कल्पना की जाती है । यद्यपि किसी ने कहा था कि देवदत्त के प्राणी होने से यह अनुमान कहा है, सो ठीक नहीं हैं । जीवन मरण का सन्देह होने से जीवन मरण अन्यतर धर्म वाला है, देवदत्त का उस समय में अन्यतर धर्मवत्व ज्ञात नहीं है । तब अनुमान किस लिये होगा ? अनुमान को वैयर्थ्य हो जाता है । इसलिये संशय से लाघव के सहकार से बहिःसत्व अर्थापत्ति से जाना जाता है ।

उत्तर—सम्बन्ध के बिना अर्थापत्ति से जानने में अति प्रसंग हो जायगा, अर्थात् सम्बन्ध के अभाव में भी अर्थापन

यत्किञ्चिदेतत् ।

योग्यानुपलब्धिरभावग्राहिका सा च द्वेधा ज्ञाता च स्वरूपसती च तत्राद्यानुमानमेव अन्त्या तु प्रत्यक्षसहकारिणी । नन्वियं योग्यस्यानुपलब्धिर्योग्ये वानुपलब्धिः नाद्यः स्तम्भे पिशाचान्योन्याभावाप्रत्यक्षापत्तेः न हि पिशाचो योग्यः न द्वितीयो

हो जायगा, अतः सम्बन्ध का कथन अवश्य करना पड़ेगा । और सम्बन्ध तो व्याप्ति रूप ही होगा, परन्तु व्याप्ति लक्षण सम्बन्ध न अन्वय से बनता है न वा व्यतिरेक से बन सकता है । अतः यह कथन युक्ति युक्त नहीं है । यहां अर्थापत्ति समाप्त हुई ।

योग्यानुपलब्धि अभाव का ग्राहक है अर्थात् योग्यानुपलब्धि द्वारा अभाव नामक प्रमेय गृहीत होता है । यह योग्यानुपलब्धि दो प्रकार की है । ज्ञाता योग्यानुपलब्धि और स्वरूप सती । इसमें जो ज्ञाता योग्यानुपलब्धि है सो व्यतिरेकी अनुमान ही हो, और दूसरी जो योग्यानुपलब्धि है सो प्रत्यक्ष में सहकारिणी है, अर्थात् जब इन्द्रिय से अभाव का प्रत्यक्ष होता है तब इन्द्रिय की सहकारिणी होती है ।

प्रश्न—योग्यानुपलब्धि का क्या अर्थ है ? क्या योग्य जो प्रतियोगी उसकी अनुपलब्धि को योग्यानुपलब्धि कहते हैं । अर्थात् योग्यत्वरूप विशेषण प्रतियोगी का है । अथवा अधिकरण का है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यदि योग्य प्रति-

महति वायावुद्भूतरूपाभावस्य सत्यालोकेऽप्यचाक्षुषत्वापत्तेः न हि पिशाचो योग्यः न द्वितीयः महति वायावुद्भुतरूपाभावस्य सत्यालोकेऽप्यचाक्षुषत्वापत्तेः न हि वायुश्चक्षुर्योग्यः । नान्त्यः न्यायमते सर्वस्यैवानुपलम्भस्य योग्यत्वात् भट्टमते तु सर्वस्यैवायोग्यत्वादिति । अथ प्रतियोगिनो यावदुपलम्भकसाकल्ये सत्यनुपलब्धिर्योग्यानुपलब्धिरिति तन्नासम्भवात् । न हि

योगी की अनुपलब्धि को योग्यानुपलब्धि कहैं तब तो स्तम्भ (ठूठ)में विशाच का अन्योन्याभाव प्रत्यक्ष नहीं होगा । क्योंकि स्तम्भ:विशाचो न, यहा पिशाच रूपी·प्रतियोगी योग्य नहीं है, अपितु अयोग्य है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नही है क्योंकि महान् वायु में आलोकादि सहकारी रहने पर भी चक्षुरिन्द्रिय से उद्भूत रूपाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि अधिकरण जो वायु सो चक्षुर्योग्य नहीं है । एवं आत्मारूप योग्याधिकरण में अदृष्टाभाव का प्रत्यक्ष हो जायगा । आत्मारूप अधिकरण योग्य है । अन्तिम जो पक्ष स्वरूप सतो योग्यानुपलब्धि प्रत्यक्ष सहकारिणी रूप है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि न्याय के मत से सभी अनुपलम्भ योग्य हो है । और भट्ट के मत में सभी अनुपलम्भ अयोग्य ही है । अथ यदि कहो कि प्रतियोगी को यावत् उपलंभक सामग्री के रहने पर भी जो प्रतियोगी की अनुपलब्धि हो, उसी का नाम योग्यानुपलब्धि है, सो तो ठीक नहीं है

अथ य एव तादात्म्यसंसर्गाभावः स एव तादात्म्यान्योन्याभाव इति चेत् तर्हि तादात्म्यसंसर्गाभावे प्रविष्टस्यान्योन्याभावस्य लक्षितेऽलक्षणलक्षितत्वादित्यत्र सूत्रे चतुर्थाभावत्वं व्यवस्थापयतोऽक्षपादस्य महामुनेः प्रमत्तत्वमापद्यते अस्त्वेवमिति चेत् धिङ् मूर्ख विरुद्धानां हि भेदव्यवस्थापनायान्योन्याभावमङ्गीकुरुषे विरुद्धयोरेव च समानाधिकरणव्यधिकरणनिषेधयोरन्योन्याभावतादात्म्यसंसर्गाभावयोर्भेदमपह्नुषे चेति विरुद्धयोरप्यभेदमातिष्ठमानो न्यायमतत्यागं वेदान्तमतप्रवेशं च न बुध्यस इति दूरमपसर । अत्राहुः प्रतियोगीत्यनेन निरूपकमुक्तं तच्च संसर्गाभावे प्रतियोगिरूपमेव अन्योन्याभावे तु तदवच्छेदकं तेन तादात्म्यवत्तयाधिकरणस्यानुपलब्धिः सैवान्योन्याभाव

परस्पर विरुद्ध समानाधिकरण व्यधिकरण भाव रूप जो अन्योन्याभाव संसर्गाभाव उनका निराकरण करते हो। इस प्रकार से विरुद्ध द्वय में अभेद का स्वीकार करने से न्याय मत का त्याग और वेदान्त मत में प्रवेश हो रहा हैं इस बात को नही समझते हो अतः दूर हट जाओ।

अब सिद्धान्ती अपने सिद्धान्त का प्रतिदान करते हुए कहते हैं। अत्राहुः न्याय सिद्धान्तवित् कहते हैं कि प्रतियोगी की जो अनुपलब्धि सो अभावग्राहिका है। यहां प्रतियोगी शब्द का अर्थ है निरूपक वह निरूपक संसर्गाभाव स्थल में प्रतियोगी रूप ही है और अन्योन्याभाव स्थल में

ग्राहिका न हि तदभिन्ने तत्तादात्म्यवत्तयानुपलब्धिः सम्भवति यदि हि स्तम्भः पिशाचतादात्म्यवान् स्यात् तदा तद्वत्तयोपलभ्येत स्तम्भः स च पिशाचतादात्म्यस्याधिकरणयोग्यतयैव योग्यत्वसम्भवात् । ननु घटः पटो नेत्यत्र नञा घटे पटान्यो-

---

जो अवच्छेदक है सो ही निरूपक है, इसलिये तादात्मवत्व रूप से जो अधिकरण की अनुपलब्धि है वही अन्योन्याभाव की ग्राहिका है । (अर्थात् संसर्गाभाव स्थल में प्रतियोगी की योग्यता अपेक्षित है । प्रतियोगी यदि योग्य है तो संसर्गाभाव का प्रत्यक्ष होगा और प्रतियोगी अयोग्य होगा तौ संसर्गाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा । अतएव आत्मा रूप अधिकरण में अदृष्टाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है और अन्योन्याभाव के प्रत्यक्षमें अधिकरण को योग्यता अपेक्षित हैं । यदि अधिकरण योग्य है तब उसमें योग्य अयोग्य साधारण प्रति योगिक अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष होता है । जैसे कि स्तम्भ में पिशाच का भेद चक्षु से गृहीत होता हैं ।) तत् अभिन्न वस्तु में तत् तादात्म्यवत्व रूप से अनुपलब्धि नहीं होती है । यदि स्तम्भ पिशाच तादात्म्य वान हो तो पिशाच तादात्म्यवत्व रूप से (पिशाचाभिन्नत्व रूप से) उपलब्ध हो, परन्तु तद्रूप से उपलब्ध नहीं होता है । इसलिये पिशाच के तादात्म्य में अधिकरण जो स्तम्भ, उसकी योग्यता से ही योग्यत्व होता है ।

योगिग्राहकसत्वे प्रतियोगिनि च योग्ये सत्यनुपलब्धिः सम्भवति न हि महत्यालोके महान् घटश्चक्षुष्मता चक्षुःसन्निकृष्टो व्यासंगाभावे सति न गृह्यत इति सम्भवति सामग्रयाः कार्यनियतत्वात् । एकाश्रयनाशे तु या संयोगानुपलब्धिः सा संयोगसत्वे न सम्भवति योग्यो हि संयोगो यदि तत्र स्यात्तदा गृह्येतैवेति । मैवम् । यदि घटे पटतादात्म्यं स्यात् तदोपलभ्येतैव न चोपलभ्यते तस्माद्घटे पटतादात्म्यं नास्तीत्यवगम्यते अयं तु घटे पटतादात्म्यस्य संसर्गाभावग्रहः न तु

सकती है। क्या स्फीतालोक को समवधान हो, आंख वाला पुरुष हो और मन विषयान्तर में आसक्त न हो, तब चक्षु सन्निकृष्ट घट क्या प्रत्यक्ष नहीं होता है। अपितु प्रत्यक्ष होता ही है। यथोक्त कारण सद्भाव में घट प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसा नहीं है। सामग्री कार्य नियत होती है, अर्थात् सामग्री के रहने पर कार्य अवश्व मेव होता है। एकाश्रय नाश स्थल में जो संयोगानुपलब्धि होती है सो संयोग के सद्भाव में नहीं हो सकती हैं। वहां यदि योग्य संयोग होता तब तो गृहीत होता ही है।

समाधान—यदि घट में पट का तादात्म्य होता तब अवश्य उपलब्ध होता है। परन्तु घट का तादात्म्य पट में उपलब्ध ही नहीं होता है इस से घट में पट का तादात्म्य नहीं है। ऐसा जाना जाता है। यह जो घट में पट तादा-

घटे पटान्योन्याभावग्रहः तत्र पटः प्रतियोगी तादात्म्यमवच्छे-दकं तथा चायं तादात्म्यसंसर्गाभावो यथोक्तसामग्र्या गृह्यताम् अन्योन्याभावस्तु समानाधिकरणनिषेधरूपो घटादिधर्मिप्रति-योगिकः तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकः स कथमेवं ग्राह्यः।

त्म्याभाव है सो घट रूप अधिकरण में पट तादात्म्य का संसर्गाभाव है, न कि घट में पट का अन्योन्याभाव है। घट पटाधिकरण में जो पटान्योन्याभाव रहता हैं। उसका प्रतियोगी पट होता है तथा प्रतियोगितावच्छेदक धर्म होता है तादात्म्य। ऐसा होने से तादात्म्य का जो संसर्गाभाव है उसको पूर्वोक्त सामग्री से ग्रहण होता हैं। अन्योन्माभाव तो समानाधिकरण अभाव रूप हैं। घट प्रतियोगिक हैं तादात्म्यावच्छिन्न प्रतियोगिताक है सो पूर्वोक्त नियम से गृहीत कैसे होगा ? यदि कहो कि जो तादात्म्य का संसर्गा-भाव है वही तादात्म्य का अन्योन्याभाव है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है। यदि ऐसा मानें तब तो तादात्म्य के संसर्गाभाव में प्रविष्ट जो अन्योन्याभाव है उसको 'लक्षिते-ष्वलक्षण लक्षितत्वात्' इस न्याय सूत्र से चतुर्थ अभाव का व्यवस्थापन करते हुए महामुनि अक्षपाद को प्रमत्तत्वापत्ति हो जायगी। यदि आप 'ऐसा हो हो' कहो तो आप महा मूर्ख हैं। क्योंकि विरुद्ध पदार्थों का भेद व्यवस्थापन करने के लिये तो अन्योन्याभाव को स्वीकार करते हो और

प्रत्यक्षार्हस्य तत्र सतो यावदुपलम्भकसाकल्ये सत्यनुपलब्धिः सम्भवति सामग्र्याः कार्यनियमात् नाप्युपलम्भके प्रतियोगीतरेति विशेषणं असम्भवादेव नहि प्रतियोग्यसत्वे प्रतियोगीतरस्य प्रतियोगिग्राहकस्य सर्वस्य सत्त्वं भवति प्रतियोग्यसत्त्वे प्रतियोगिसन्निकर्षस्याप्यसत्वनियमात् । अथ प्रतियोगितद्व्याप्येतरयावत्तदुपलम्भकसाकल्ये सत्यनुपलब्धिर्योग्यानुपलब्धि-

---

क्योंकि उपलम्भक सामग्री रहै तब अनुपलब्धि हो सो तो सर्वथा असम्भवित है। प्रत्यक्ष योग्य विद्यमान पदार्थ के यावदुपलम्भक कारण के समवधान रहने पर अनुपलब्धि नहीं हो सकती है। सामग्री कार्योत्पत्ति व्याप्य होती है, ऐसा नियम हैं। न वा उपलम्भक में प्रतियोगी भिन्नत्व विशेषण दे सकते हैं, असम्भव होने से। असंभव का विवरण करते है 'नहि प्रतियोग्यसत्वे इत्यादि'।

प्रतियोगी के असत्वकाल में प्रतियोगी से भिन्न और प्रतियोगी को ग्रहण करने वाले कारण का सद्भाव नहीं हो सकता है। प्रतियोगी के असत्वकाल में प्रतियोगी का जो सन्निकर्ष है जो कि प्रतियोगी से भिन्न प्रतियोगी की ग्राहक सामग्री है, उसका भी अभाव ही रहता है।

प्रश्न–प्रतियोगी तथा प्रतियोगी व्याप्य से इतर जो प्रतियोगी की उपलम्भक सामग्री, उसके सद्भाव में जो प्रतियोगी की अनुपलब्धि उसी को योग्यानुपलब्धि कहते

रिति ब्रूम इति चेन्न एकाश्रयनाशजन्यस्य संयोगध्वंसस्य पारोक्ष्यापत्तेः। प्रतियोगितद्व्याप्यभिन्नो यः संयोगस्याश्रयो ध्वस्तः सोपि संयोगस्योपलम्भक एव संयोगस्य संयोगिद्रव्यव्यंग्यत्वात्। तथा च तत्र प्रतियोगितद्व्याप्येतरयावत्तदुपलम्भकसाकल्यं नास्ति नष्टाया आश्रयव्यक्तेरसत्त्वादिति। अथ प्रतियोगिसत्त्वाविरोधिनी योग्यानुपलब्धिः न हि प्रति-

---

हैं ऐसा मैं कहता हूं।

उत्तर–यह कहना भी ठीक नहीं हे। क्योंकि जहां घट पद संयुक्त था, पश्चात् उसमें से एक संयोग का जो आश्रय घट वा पट उसका नाश होने से संयोग ध्वंास हो गया। उस स्थल में संयोगध्वंास प्रत्यक्ष नहीं होगा। प्रतियोगी संयोग तद्व्याप्यसंन्निकर्षादिक, उस से भिन्न जो संयोग का आश्रय द्रव्य था सो तो ध्वस्त हो गया और वह द्रव्य भी संयोग का उपलम्भक है, क्योंकि संयोग संयोगी द्रव्य से अभिव्यक्त होता हैं। तब इस स्थल में प्रतियोगी तद्व्याप्येतर यावत् उपलम्भक का साकल्य नहीं हैं, क्योंकि नष्ट जो आश्रय व्यक्ति (संयोगाश्रयीभूतद्रव्य) उसके अभाव होने से। यह कहो कि प्रतियोगीसत्व की विरोधिनी जो अनुपलब्धि उसका नाम योग्यानुपलब्धि हैं, तो सो भी ठीक नहीं हैं। क्योंकि यदि प्रतियोगी का ग्राहक हो और प्रतियोगी योग्य हो तो उस स्थल में अनुपलब्धि नहीं हो

न्याभावः प्रत्याय्यते आरोप्यते तु घटपटतादात्म्यं कथमन्यथा घटः पट इत्यारोपशरीरं न स्यात् । तथा च तादात्म्यमारोप्यते धर्मी निषिध्यत इति चित्रमिति चेत् । किं चित्रं तादात्म्यावच्छिन्नो धर्मी आरोप्यः किन्त्वारोपे तादात्म्यस्य प्राधान्यं निषेधबुद्धौ तु धर्मिणः प्राधान्यमिति विशेषः कथमेवं संविदं पृच्छ संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणमिति । ननु

प्रश्न–घट पट नहीं है यहां जों नञ् पद है सो घट रूप अधिकरण में पट के अन्योन्याभाव को समझाता है और आरोप होता है घट पट तादात्म्य का । अन्यथा यदि तादात्म्य का आरोप न हो तब घट पट कैसे हैं ? एतादृश आरोप का शरीर कैसे होगा ? आरोप हुआ तादात्म्य का और निराकरण होता है धर्मी का, तब यह विचित्रता किस प्रकार से घटती है ?

उत्तर–इसमें विचित्रता क्या है? तादात्म्य से अवच्छिन्न (युक्त) धर्मी का आरोप होता है परन्तु इतनी विशेषता है कि आरोप में तादात्म्य को प्रधानता रहतौ है और निषेध बुद्धि में धर्मी की प्रधानता रहती है। यह कैसे होगा ? इसका उत्तर ज्ञान से पूछिये । वस्तु के स्वाकार करने में भगवती संवित हो शरण है, अर्थात् ज्ञान जैसा बनाता है उसी प्रकार से ज्ञेय का स्वीकार करना पड़ता है। वहां ननु न च का प्रश्न करना उचित नहीं है।

भेदोन्योन्याभावः स च धर्मिप्रतियोगिको अभेदस्तु तादात्म्यं तत्कथं भेदाभेदयोः परस्परविरहात्मकत्वं न कथञ्चित् परस्परविरुद्धौ हि तौ। नन्वनुपलब्धिरनुयोगिनः प्रतियोगिमत्तयोपलम्भस्याभाव इति तावन्न सम्भवति आहार्यारोपरूपस्य तदुपलम्भस्य तत्रावश्यकत्वात् तत्प्रमाविरहस्तथेति चेत्। न। प्रमाणान्तरेण प्राचीनवत्त्वप्रमितावपि दोषात्तत्र तदभावभ्रमदर्शनात् अभावप्रमायां प्रतियोगिमत्त्वप्रमाविरहो हेतुरिति चेन्न।

प्रश्न—भेद तो अन्योन्याभाव रूप है, धर्मी उसका प्रतियोगी बनता है और अभेद है तादात्म्य रूप, तब भेद और अभेद में परस्पर विरहात्मत्व नहीं होता है। जैसे घट घटाभाव में परस्पर विरहात्मता है उस तरह से भेदभेदाभाव में परस्पर विरहात्मता नहीं होती है।

उत्तर—किसी भी तरह से भेदाभेद में परस्पर विरहात्मता नहीं है किन्तु यह भेदभेदाभाव परस्पर विरुद्ध है, इन दोनो में सहानवस्थान रूप विरोध है। अर्थात् जिस अधिकरण में जिसका भेद रहता है उस अधिकरण में अभेद नहीं रहता है, अतः सहानवस्थान विरोध है न, कि प्रतियोगी अनुयोगी भाव रूप विरोध है।

प्रश्न—अनुयोगी अर्थात् अधिकरण का प्रतियोगिवत्वेन जो उपलंभ ज्ञान तदभाव अर्थात् उपलम्भाभाव का नाम है अनुपलब्धि, जिसको आप अभाव ग्राहक कहते हैं। परन्तु

अथ प्रमाणाभासखण्डनप्रकरणम्

अथ प्रमाणखण्डनानन्तरं तदाभासखण्डनं प्रस्तौति कश्चायमसिद्धो नाम व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इति चेन्न । हेत्वाभासान्तराणामप्येवमसिद्ध एव प्रवेशापत्तेः व्याप्ति पक्षधर्मतां तत्प्रमितिं चाविरुद्धतां विना हेतुदोषत्वासम्भवात् । अथ व्याप्तिपक्षधर्मतया प्रमाविरहो नासिद्धो येन सर्वत्रासिद्धसङ्करः

अथ प्रमाण खण्डन करने के पीछे प्रमाणाभास अर्थात् हेत्वाभास का खण्डन करने के लिये प्रक्रम करते हैं। अनुमिति कारणीभूत जो अभाव तत्प्रतियोगी यथार्थ ज्ञान विषयत्व, यह हेत्वाभास सामन्य का लक्षण है । समन्वय ह्रदो वह्निमान इत्याकारक जो अनुमिति उसमें कारणीभूत जो अभाव बाधाभाव उसका प्रतियोगी जो यथार्थ ज्ञान वह्न्यभाववान ह्रद इत्याकारक ज्ञान, तद्विषयता वह्न्यभाव वत् ह्रद में है, इसलिये वह्न्यभाववत् ह्रद हुआ, तादृश दोषवान् जो हेतु सो दुष्ट कहलाता है । यह असिद्ध वस्तु क्या है ? यदि कहो कि व्याप्ति धर्मता से अप्रमित जो हेतु उसका नाम है असिद्ध । अर्थात् जिस हेतु में व्याप्त न रहैं, पक्ष-धर्मता न रहै, यद्वा तद्विषयक प्रमा न हो, उसको असिद्ध हेत्वा-भास कहते हैं । यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि

स्यात् किञ्च तादृशधीविरहो न हेत्वाभासोऽज्ञायमानत्वात् आत्ममनः संयोगाद्यभाववत् किन्तु व्याप्तिपक्षधर्मतावैशिष्ट्य-विरह एव ज्ञायमानदोषत्वात् ज्ञायमानकरणे उत्सर्गतो ज्ञायमानस्यैव विरोधिनोऽसाधारणदोषत्वात् तथा च यत्र व्यभिचारविरोधावद्वारीकृत्य व्याप्त्यभावः प्रतीयते तत्रैव व्याप्यत्वासिद्धिः यथा नीलधूमशरीराजन्यत्वयोः यत्र तु पक्षासिद्धिस्तत्राश्रयासिद्धिः यत्र च सत्यपि पक्षे हेतोस्तद्धर्मता-

---

असिद्ध का लक्षण ऐसा मानो तब तो अन्य हेत्वाभास का प्रवेश भी असिद्ध में ही हो जायगा। जो व्याप्ति की पक्ष धर्मता अथवा तद्विषयक ज्ञान का प्रतिबन्धन करता है उसमें हेतु दोषत्व है ही नहीं। व्याप्ति पक्षधर्मता की जो प्रमा तदभाव का नाम असिद्ध नहीं है जिससे कि विरुद्ध का सांकर्य होवे। और भी देखिये व्याप्ति पक्ष धर्मता का ज्ञान भाव हेत्वाभास नहीं है. अज्ञायमान होने से आत्म मनः संयोग की तरह। किन्तु व्याप्ति पक्ष धर्मता का जो वैशिष्ट्य तदभाव का नाम है असिद्ध। ज्ञायमान करण में स्वभावतः ज्ञायमान जो विरोधी, वहीं असाधारण रूप से दोष होता हैं। तब जहां व्यभिचार अवथा विरोध को द्वार नहीं बना करके व्याप्ति का अभाव -प्रतीयमान होता है, अर्थात् जिस स्थल में व्यभिचार विरोध मूलक व्याप्त्यभाव प्रतीयमान नहीं होता है उसी स्थल में व्याप्य-

भ्येत न चोपलभ्यते तस्मान्नास्तीति तावदनुपलब्धेः शरीरमेवं चानुभवाभावरूपैव सेति सिद्ध्यति तत्कथं प्राङ्नास्तितायां स्मरणाभावरूपां तामात्थेति चेत् । सत्यम् । वस्त्वभावव्याप्यो-नुभवाभावः तद्व्याप्यश्च स्मरणाभावोत्रेति व्याप्यव्याप्यस्य सुतरां व्याप्यतयानुमानस्य जघन्यतया साक्षादेव स्मरणा-भावेन वस्त्वभावानुमितिरुक्ता । अस्त्वेवं तथापि स्मरणाभावो

परन्तु उपलब्ध नही होता है इससे घट नहीं है, अर्थात् घटा-भाव है, यही तो अनुपलब्धि का स्वरूप है । ऐसा होने से अनुभव के अभाव रूप से अनुपलब्धि का स्वरूप सिद्ध होता है। तब आप किस प्रकार से कहते हैं कि प्राङ्-नास्तिता स्थल में स्मरणाभाव रूपा अनुपलब्धि है। अर्थात् अनुपलब्धि का स्वरूप तो अनुभवाभाव रूप युक्ति से सिद्ध होता है, तब स्मरणाभाव को अनुपलब्धि किस प्रकार से कहते हो ?

उत्तर—सत्यम्, आप ठीक कहते हो, किन्तु वस्तु के अभाव का व्याप्य अनुभव का अभाव होता है। अर्थात् घटानुभवाभाव है व्याप्य और घटाभाव है व्यापक। जहां घटानुभवाभाव रहैगा वहां घटाभाव अवश्य रहैगा। धूम वह्नि की तरह से। और अनुभवाभाव का व्याप्य होता है स्मरणाभाव। तो वह स्माणाभाव यहां है व्याप्य। व्याप्य सुतरामव्याप्य होता है, इस स्थिति में अनुमान के कनिष्ट होने से साक्षात्स्मरणाभाव से वस्त्वभाव की अनु-

नानुपलब्धिः सत्यं तत्स्थानाभिषिक्ततया सोप्यनुपलब्धिरुक्त इति एवं च खण्डनकृता द्विजिह्वेन प्रमाणानि विदश्य षोडशपदार्थी कदर्थिता सेयं मया गुरुचरणसेवाचरणेन जाङ्गलिकप्रवरेण जगदहङ्कारेण निरामयीकृतेति ।

मिति कही गई है। भले ऐसा ही हो, तथापि स्मरणाभाव तो अनुपलब्धि नहीं है। ठीक है किन्तु अनुभवाभाव रूप अनुपलब्धि स्थान में अभिषिक्त होने के कारण स्मरणाभाव भी अनुपलब्धि कहलाता है। इस प्रकार से खण्डनकार श्रीहर्ष रूप सर्प ने प्रमाण को काट करके (खण्डन करके) अर्थात् अवयव में क्लेश देकर के अवयवी रूप जो षोडशपदार्थीतंत्र उसको क्लेश पहुँचाया अर्थात् न्याय सिद्धान्त का खण्डन किया उसको श्रीगुरु सेवा में निरत मैंने श्री गुरु प्रसाद से प्राप्त सर्पविषहरण मंत्र से स्वस्थ कर दिया। अर्थात् जैसे कोई मांत्रिक गुरु सेवा से मंत्र प्राप्त करके सर्प दंष्ट पुरुष को स्वस्थ बना देता है। मरने नहीं देता, इसमें केवल परोकार मात्र मूल रहता है। इसी प्रकार जगदनुग्रह बुद्धि से गुरुसेवा से प्राप्त विद्या के द्वारा हर्ष का खण्डन करके न्यायतंत्र को सर्वथा स्वस्थ कर दिया।

श्रीहर्षेण तु सर्पेण प्रमाणं खंडितं पुरा ।
गुरुसम्प्राप्तविद्याभिरिदानीं मण्डितं मया ॥

इति प्रमाण प्रकरणम् ।

प्रतियोगिमत्त्वे प्रमीयमाणे एव प्राङ्नासीदिदमत्रेति प्रतीतेः यत्कालीनत्वेन तत्राभावः प्रतीयते तत्कालीनाया प्रतियोगिमत्तायास्तत्रापि प्रमितिविरह एव न हि प्राङ्नास्तितास्थलेपि तत्कालीनप्रतियोगिमत्ताया इदानीमपि प्रमितिः प्राङ्नास्तिता-विरोधादिति चेत् । हन्तैवमभावकालीनप्रतियोगिमत्तायाः प्रतीतिः

यथोक्त उपलम्भाभाव तो हो नहीं सकता है, क्योंकि आहार्य आरोप लक्षण उपलम्भ तो अवश्य रहैगा, तब तदभाव रूप अनुपलब्धि कैसे हुई ? नहीं कहो कि प्रतियोगिमत्व प्रकारक जो प्रमा ज्ञान तदभाव रूप उपलम्भाभाव कारण है । सो कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि प्रमाणान्तर से पूर्व कालिक प्रमा ज्ञान में भी दोष के वल से अभाव भ्रम हो जाता है । नहीं कहो कि अभाव प्रमा में प्रतियोगिमत्व प्रकारक जो प्रमा तदभाव कारण है, सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि प्रतियोगिमत्वेन अधिकरण का जहां प्रमात्मक ज्ञान रहने पर भी यह पदार्थ यहां पहिले नहीं था, ऐसी प्रतीति होती है ।

प्रश्न—वहां जिस काल में अभाव का ज्ञान होता है तात्कालिक प्रतियोगिमत्व वहां कभी प्रमा का अभाव ही है । प्राङ्नास्तिता स्थल में तत्कालीन प्रतियोगिमत्ता की इस समय में प्रतीति नहीं होती है प्राङ्नास्तिता से विरोध होने के कारण ।

क्वापि न सिद्धेति कथं तदभावलक्षणानुपलब्धिः सिध्यतु प्रतियोग्यसिद्धेरिति चेन्मैवम् । अभावसमयेऽधिकरणे प्रतियोगिमत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वाभावस्यानुपलब्धित्वात् प्रमा चेह यथार्थधीमात्रं अतः प्राङ् नास्तिताधीस्थले तादृशस्मरणाभावकत्वमनुपलब्धिरेव तादृशानुभवाभावस्मरणाभावयोर्द्वयोरपि प्रतियोगिसत्त्वविरोधित्वाविशेषात् । ननु यदि स्यादुपल-

---

उत्तर—अभाव कालिक प्रतियोगिमत्ता का प्रतीति कहीं सिद्ध नहीं है । अर्थात् जिस समय में जिसका जहां अभाव ज्ञान हैं, वहां उस प्रतियोगी का ज्ञान कहीं सिद्ध नहीं है । तब प्रतियोगी की असिद्धि होने से तदभाव रूप अनुपलब्धि कैसे सिद्ध होगो ?

समाधान—अभाव समय में अधिकरण में प्रतियोगिमत्व प्रकारक जो प्रमा, तादृश प्रमाविषयत्वाभाव को अनुपलब्धि कहते हैं । यहां प्रमा शब्द का अर्थ है यथार्थ ज्ञान मात्र । प्राङ् नास्तिता स्थल में भी पूर्वोक्त स्मरणाभाव को ही अनुपलब्धि कहते हैं । जिस प्रकार से तादृश अनुभवाभाव प्रतियोगिसत्व का विरोधी होता है उसी प्रकार से तादृश स्मरणाभाव भी प्रतियोगी सत्व का विरोधी है । अनुभवाभाव स्मरणाभाव दोनों में विरोधिता समान रूप से है ।

प्रश्न—यदि घट यहां होता तो उपलभ्य मान होता,

विरहस्तत्र स्वरूपासिद्धिः एते च दोषा असिद्धमध्यमध्यासते यत्र तु व्यभिचारेण विरुद्धतया वा व्याप्तिभङ्गावगमस्तत्र यथायथं सव्यभिचारविरुद्धौ दोषानुपजीव्यत्वात् ताभ्यामेव प्रथमावगताभ्यामनुमानस्यासाधकीकरणात् न हि साध्यव्यभिचारी साध्याभावाव्यभिचारी वा साध्यसाधक इति सम्भवतीति सत्प्रतिपक्षे तु नासिद्धिगन्धोऽपि किन्तु परस्परप्रतिबन्धेनानु-

---

त्वा सिद्धि दोष होता है जैसे नोल धूम और शरीराजन्यत्व हेतु में। जिस स्थल में पक्षासिद्धि है उसी स्थल में आश्रया सिद्धि दोष होता है। जैसे कांचनमय पर्वत है, यहां काँचनमयत्वाभाववत्पर्वत आश्रयासिद्धि है। जिस स्थल में पक्षतो सत् है परन्तु हेतु में पक्ष धर्मता का अभाव है अर्थात् हेतु पक्ष में नहीं रहता है, उस स्थल में स्वरूपासिद्धि दोष होता है। जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से। यहाँ चाक्षुषत्व हेतु है सो शब्द रूप पक्ष में नहीं रहता है, शब्द चक्षुरिन्द्रिय जन्य ज्ञान का विषय नहीं है अपितु श्रावण है, यह व्याप्यत्वासिद्धि आश्रयासिद्धि स्वरूपसिद्धि तीनो ही असिद्धि दोष के अन्तर्गत हैं। जिस स्थल में व्यभिचार (साध्याभावाधिकरण में हेतु की वृत्तिता को व्यभिचार कहते हैं) द्वारा अथवा विरुद्ध द्वारा (साध्याभाव व्याप्त हेतु को विरुद्ध कहते है, जैसे इयं गौरश्वत्वात् यहां गोत्वाभाव व्याप्त अश्वत्व है) व्याप्त्यभाव का अवगम होता

मित्यजनकत्वं बाधेपि न सामान्यसम्बन्धस्य प्रथमगृहीतस्य बाधेन भङ्गः समानविषयत्वाभावात् किन्तु पक्षे बाधेन तद्धर्मातिरिक्तविषयता प्रथमगृपीतसम्बन्धस्य व्यवस्थाप्यते तद्व्यवस्थापनाय च मध्ये पक्षेतरत्वमुपाधिः कल्प्यते । अत एवाह बाधेन परोपाधिमुन्नीयतामन्यथा वेति न कश्चिद्विशेष

है उस स्थल में यथाक्रम स व्यभिचार विरुद्ध दोष होता है । यहां दोषान्तर की सम्भवना नहीं होने से, प्रथमावगत व्यभिचार विरुद्ध से अनुमान दुष्ट हो जाता है । साध्य का व्यभिचारी वा साध्याभाव का अव्यभिचारी हेतु साध्य का साधक नहीं होता है । सत्प्रतिपक्ष स्थल में तो असिद्धि दोष की गन्ध भी नहीं है । अर्थात् सत्प्रतिपक्ष स्थल में तो असिद्धि की संभावना नहीं होती । किन्तु सत्प्रतिपक्षस्थल में परस्पर प्रतिबन्ध होने से अनुमिति अनुत्पादक होती है, जैसे पर्वत वह्निमान है धूम होने से । पर्वत वह्न्यभाव वान है पाषाण मय होने से । यहाँ प्रथम हेतु जन्यानुमिति को द्वितीय हेतु रोकता है और द्वितीय हेतु जनितानुमिति को प्रथम हेतु ? प्रति बन्ध से अनुमिति अजनकत्व मात्र होता है । ह्रदो वह्निमान् धूमादित्वादि बाध स्थल में तो प्रथम गृहीत सामान्य सम्बन्ध के बाध से भंग नही होता है । क्योंकि समान विषयता का अभाव होने से समान अधिकरण में जब वह्नि वह्न्यभाव

इति । यद्वा सत्प्रतिपक्षबाधौ साक्षात्प्रतिबन्धकतयैव दोषा-वित्ति । तथा च यत्र व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितेर्विरहस्य विरोधिधियं विना धीस्तत्रासिद्धो हेत्वाभासः यत्र तु व्याप्तिविरहस्य व्यभि-चारादिधिया धीस्तत्र यथा कथं सव्यभिचार विरुद्धौ । यत्र तु प्रतिपक्षस्य धीस्तत्र वाधप्रतिरोधौ । नन्वेवमपि व्याप्तिपक्ष-धर्मताधीसाध्यानुमितिरिति तद्विरह एको दोषोऽस्तु तथा

रहेगा तभी वाध्य बाधक भाव होगा, असमान विषय में नहीं। किन्तु बाधस्थल में प्रथम गृहीत सम्बन्ध का पक्ष व्यतिरिक्त में अर्थात् पक्षभिन्न वृत्तिता मात्र का व्यवस्थापन किया जाता है इस पक्ष व्यतिरिक्त विषयता का व्यवस्थापन करने के लिये मध्य में पक्षेतरत्व की उपाधिरूप से कल्पना करते हैं। अत एव कहा है कि बाध द्वारा एक अतिरिक्त उपाधि का उन्नय कीजिये अथवा प्रकारान्तर से उपाधि का उत्थान किया जाय। इसमें कोई विशेषता नहीं है अर्थात् बाध से उपाधि के उन्नयन को अथवा प्रकारा-न्तर से उपाधि के उत्थान को अथवा सत्प्रतिपक्ष और बाध साक्षादेव अनुमिति को प्रतिबन्धक होने से दोष कहा जाता है। ऐसा हुआ तब जिस स्थल में विरोधी ज्ञान के बिना व्याप्तिपक्ष धर्मता तत्प्रमिति का अभावज्ञान होता है, उस स्थल में यथा योग्य सव्यभिचार तथा विरुद्ध हेत्वाभास होता है और जिस स्थल में साक्षात् अनुमिति विरोधी का ज्ञान रहता है उस स्थल में वह्निमान् ह्रद इत्यादि स्थल में

बाधप्रतिरोधावपि साक्षाद्दोषौ प्रतिबन्धकत्वादिति सन्तु त्रयोमी हेत्वाभासाः सव्यभिचारविरोधौ तु कथं तौ हि व्याप्तिविरहं गमयन्तावुपाधिवद्भवितुमर्हत इति नैद्व्याप्तिविरहोन्नायकावपि तौ प्रथमोपस्थितत्वे सति स्वतो दूषणाक्षमत्वात् पृथगिति खण्डने न्यायमतसङ्क्षेपः ।

बाध सत्प्रतिपक्ष दोष होता है ।

प्रश्न–ऐसा होने पर भी अनुमिति व्याप्ति पक्षता ज्ञान साध्य होती है । इसलिये तदभाव व्याप्ति पक्षधर्मता विरह को एक दोष कहिये तथा बाध सत्प्रतिपक्ष को तो साक्षा-देवानुमिति प्रतिबन्धक होने से ।

इसलिये इन तीनों को ही दोष मानिये । स व्यभिचार विरोध को अतिरिक्त दोषत्व कैसे ? यह दोनो तो व्याप्ति विरह को अनुमापित कराते हुए उपाधि की तरह अतिरिक्त दोष नहीं हैं । यह दोनो व्याप्ति विरह की उन्नायक अनु-मापक होते हुए भी प्रथमोपस्थित होने से दूषण में असमर्थ हैं इससे प्रथक दोष नहीं हैं । इस प्रकार से खण्डन ग्रन्थ में संक्षेप में न्याय मत का प्रदर्शन किया गया है ।×

×यद्वा यह मत श्रद्धेय श्री गंगेशोपाध्याय जी का है । यह अनाहार्य अगृहीता प्रामाण्यक तद्वत्ता बुद्धि के प्रति अनाहाया गृहीता प्रामाण्यक तद-भाववत्ता निश्चय को मानते हैं । ह्रदो वन्हिमान्, इस बुद्धि के प्रति तादृश वन्हभाववत्ता निश्चन को अर्थात् वन्हभाववान ह्रद, इस निश्चय को तथा तदभाव व्याप्यवत्ता निश्चय को प्रतिबन्धक मानते हैं । बाध व्याप्त सत्प्रति

अत्र खण्डनं इदमसिद्धलक्षणं सव्यभिचारादावस्ति न वा आद्ये सोप्यसिद्धभेद इति पञ्चसंख्याविरोधः। अथैतल्लक्षणसत्त्वेपि न तेऽसिद्धभेदास्तदा लक्षणमतिव्यापकं अन्त्ये विरुद्धादीनां व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यां प्रमितत्वं स्यात् व्याप्तिपक्ष-

---

प्रश्न–हेत्वाभास के विषय में न्यायमत का संक्षेप रूप में कथन किया गया उसमें अब खण्डनकार प्रश्न करते हैं। यह जो आपने असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण किया है सो सव्यभिचारादिक में है कि नहीं ? प्रथम पक्ष में सव्यभिचार भी असिद्ध में ही समाविष्ट हो जाता है तब हेत्वाभास में जो पंचत्व संख्या बताते हैं उसका व्याघात हो जाता है, क्योंकि स व्यभिचार तो असिद्ध में ही आ गया। यदि कहो कि सव्यभीचारादिक में असिद्ध का लक्षण रहने पर भी वह असिद्ध नहीं है, तब तो असिद्ध लक्षण की स व्यवहारादिक में अति व्याप्ति हो जायगी। यदि द्वितीयपक्ष कहो अर्थात् असिद्ध का लक्षण सव्यभिचारादिक में नहीं

पक्ष को भी प्रतिबन्धक कहते हैं। इसलिये वन्हिमान् ह्लद इस अनुमिति में ग्राह्याभाव विधया बाध सत्प्रतिपक्ष दोनों के प्रतिबन्धक होने से इन दोनों दोषों की साक्षात्प्रतिबन्धकता है एतदतिरिक्त हेत्वाभास व्याप्ति पक्ष धर्मता परामर्श के प्रतिबन्धक होने से दोष कहलाते हैं। तब बाध सत्प्रतिपक्ष साक्षादेवानुमिति बन्धक है और तदितर दोष अनुमितिकरण विरोधी होने से परम्परया प्रतिबन्धक होते हुए हेत्वाभास कहलाते है। इस विषय में अधिक विचार मत्कृत हेत्वाभास विचार नामक ग्रंथ में देखें।

धर्मताप्रमितत्वतदभावौ विहाय तृतीयकोटेरसम्भवादिति। अत्रोच्यते । असिद्धत्वादिनां हेत्वाभासत्वसाक्षाद्व्याप्यानां उपाधीनां विभजनान्न विभागभङ्गः ते ह्यसङ्कीर्णा एव न वा धर्मसङ्करो दोषः तेषामविभजनात् । नन्वस्त्वेवं तथाप्यसिद्धिः कथमेको दोषोऽसिध्द एव च कथमेको हेत्वाभासः तथाहि व्याप्तिविरहे व्याप्तिधीविरहे च व्याप्यत्वासिद्धिः पक्षविरहे तद्धीविरहे तद्विशेषणसिपाधयिषाविरहे चाश्रयासिद्धिः पक्षधर्म-

---

है ऐसा कहो तब तो विरुद्ध प्रभृति जो हेतु है सो व्याप्ति पक्षधर्मता से प्रमित हो जायगा । क्योंकि व्याप्ति पक्ष धर्मता से प्रमितत्व तथा तदभाव इन दो को छोड करके तृतीय कोटि तो है नहीं ।

उत्तर–असिद्ध प्रभृतिक हेत्वाभासत्व साक्षात् भास है तथा तद्व्याप्य उपाधि प्रभृति में व्याप्य तथा हेत्वाभासत्व का विभाग करने से हेत्वाभास पांच हैं, इस विभाग का भंग नहीं होता है । ये सब असंकीर्ण दोष हैं । धर्मसंकर दोष नहीं है क्योंकि उनका विभाग नहीं किया गया है ।

प्रश्न–भले ऐसा हो, तो भी असिद्धि एक दोष कैसे होता है ? तथा असिद्ध एक हेत्वाभास कैसे कहलाती है ? तथाहि व्याप्ति के अभाव में तथा व्याप्ति ज्ञान के अभाव में व्याप्यत्वासिद्धि दोष है, एवं पक्ष के अभाव में पक्ष ज्ञान के अभाव में अथवा पक्ष के विशेषण सिषाधयिषा के अभाव में आश्रयासिद्धि दोष होता है, एवं पक्षधर्मता के

ताविरहे तद्धीविरहे च स्वरूपासिद्धिरिति बह्वचोऽसिद्धयः व्याप्यत्वासिद्धोयमाश्रयासिध्दोयं स्वरूपासिध्दोयमित्येवमवगता तद्भाविताश्च स्वपरानुमितिप्रतिबन्धकाश्च त्रयो भवन्ति। अथासिद्धोयमितिज्ञानादनुमितिप्रतिबन्धस्य दर्शनादसिद्धेरेकदोषत्वं तर्हि व्याप्यत्वासिद्धोयमाश्रयासिद्धोयं स्वरूपासिद्धोयमित्यादिबुद्धौ प्रत्येकमनुमितिप्रतिबन्धदर्शनादसिद्धिश्च तद्विशेषाश्च सन्तु चत्वारो दोषाः। अथासिद्धिः सामग्रीविरहरूपो दोषः व्याप्त्या पक्षधर्मतया च प्रमितेरनुमितिसामग्रीत्वादिति

अभाव में पक्ष धर्मता धी के अभाव में स्वरूपासिद्धि दोष होता है, इस प्रकार से असिद्धि अनेक हैं यह व्याप्यात्वासिद्ध है, यह स्वरूपा सिद्ध है, यह आश्रयासिद्ध है, इस प्रकार से अवगत होता हुआ तथा स्वकीय परकीय अनुमिति का प्रतिबन्ध करता हुआ तीन असिद्ध होता है। अथ कहो कि 'असिद्धोयम्' इत्याकारक ज्ञान होने से तथा अनुमिति प्रतिबन्धकत्व को देखने से असिद्ध को एक दोष कहें तब तो यह व्याप्वत्वासिद्ध है, यह आश्रयासिद्ध है, यह स्वरूपासिद्ध है, इत्यादि बुद्धि होती है तथा प्रत्येक में अनुमिति बन्धकत्व देखने से असिद्धि तथा असिद्धि व्याप्य व्याप्यत्वासिद्धयादिक तीन, ये सब मिला करके चार दोष होने चाहिये।

प्रश्न—अथ कहो कि असिद्धि क्या है ? तो सामग्री

विशिष्टधीविरह एवायं दोषो न तु प्रत्येकधीविरहः तस्य विशिष्टधीविरहत्वाभावात् किन्तु प्रत्येकधीविरहविशिष्टधीविरहमुत्थापयन्त उपाधिवदन्यथासिद्धा इति हन्तैवं सव्यभिचारविरुद्धावपि व्याप्यत्वासिद्धिमुत्थापयन्तौ स्तामन्यथासिद्धावितिपञ्चहेत्वाभासी पुनर्व्याकुप्येत अथ सव्यभिचारविरुद्धयोस्त-

---

का विरह रूप दोष है। क्योंकि व्याप्ति पक्ष धर्मता की जो प्रमिति वही तो अनुमिति की सामग्री है इसी से तो अनुमिति होती है। इसलिये व्याप्ति पक्ष धर्मता विशिष्ट बुद्धि का जो अभाव है वही असिद्धि दोष है। न तु प्रत्येक व्याप्यत्वासिद्धि विषयक ज्ञानाभाव दोष नहीं है, क्योंकि प्रत्येक में विशिष्ट बुद्धि विरहत्व का अभाव है किन्तु प्रत्येक धी विरह विशिष्ट धी विरह का उत्थापन करती हुई उपाधि के समान अन्यथा सिद्ध है, अर्थात् व्याप्ति पक्ष धर्मता विशिष्टबुद्ध्यभाव तो दोष है और व्याप्यत्व सिद्ध्यादि प्रत्येक एतादृश विशिष्ट बुद्ध्य भाव का प्रयोजक है इसलिये कारण का कारण रूप होने से अन्यथा सिद्ध है। यदि ऐसा कहो तब व्यभिचार विरुद्ध भी व्याप्यत्वा सिद्ध का उत्थापन करने से अन्यथा सिद्ध हो जायगा। ऐसा होते हुए पांच हेत्वाभास का जो परिगणन किया गया है सो कुपित हो जायगा। अथ कहो कि सव्य-

दुत्थापकत्वेपि स्वतोऽदूपकत्वात् पृथगेवाभासत्वमस्तु अथैवमपि व्याप्यत्वासिद्ध्यादयस्त्रिोऽसिद्धिश्चैकेति चत्वारो दोषाः चतसृणामपि ज्ञानस्य प्रत्येकमनुमितिप्रतिबन्धकत्वदर्शनादिति चेत् । नैवम् । एवं हि विशेषवत्तत्सामान्यस्यापि दोषत्वे हेत्वाभासविशेषवत्सामान्यस्यापि दोषातायां हेत्वाभासनामा षष्ठोपि हेत्वाभासस्तवापि स्यात् अथ न निर्विशेषं सामान्यं भवेच्छशविषाणवदिति न्यायाद्धेत्वाभासोयमितिधीयं कञ्चन हेत्वाभासविशेषमालम्बते स एव तत्र दोषः तथाऽसिद्धोय-

---

भिचार विरुद्ध को व्याप्यत्वासिद्धि का उत्थापक होने पर भी यह दोनों की अनुमिति में स्वतः भी दूषक होने से प्रथगेव हेत्वाभास है तब तो व्याप्यत्वा सिद्ध्यादिक तीन तथा एक असिद्धि इन चारों को पृथक पृथक दोष कहना चाहिये । इन चारों का जो ज्ञान है उसमें से प्रत्येक ज्ञान का अनुमिति प्रतिबन्धकत्व देखने में आता है ।

उत्तर—इस प्रकार से विशेष के समान सामान्य को भी दोष मानें तब तो हेत्वाभास विशेष के समान हेत्वाभास सामान्य भी दोषत्व होगा । तब तो आपके लिये भी यह हेत्वाभास नामक छटा हेत्वाभास हो जायगा । अथ कहो कि निर्विशेष तो सामान्य नहीं होता है शश विषाण की इस न्याय से यह हेत्वाभास है इस प्रकार का ज्ञान जिस जिस किसी हेत्वाभास को आलम्बन करता है वही यहां दोष होता है । तब तो यह असिद्ध है इत्याकारक सामान्य विषयक ज्ञान

मित्यत्रापि तथात्वे व्याप्यत्वासिद्ध्यादिरूपो विशेष एव दोषो-
स्तु अथ व्याप्यत्वासिद्धोयमित्यादिधीर्यत्र तत्र विशेषो दोषः
यत्र त्वसिध्दोयमितिधीस्तत्र सामान्यं दोषः अत एवासिद्ध
त्वविरुद्धत्वादिधियां पञ्चानां दोषत्वे पञ्चहेत्वाभासीमा-
स्थेति । मैवम् । सव्यभिचारत्वधीर्विरुध्दत्वधीर्वा न व्याप्य-
त्वासिद्धिमालम्बते तेन तौ भिन्नावेव असिद्धित्वधीस्तु व्या-
प्यत्वासिद्धिमाश्रयासिद्धिं स्वरूपासिद्धिं वाऽवश्यमेवावलम्बते
सामान्यधियो विशेषविषयकत्वनियमात् अत इमास्तिस्रः

को भी विशेष विषयक होने से बाध्यत्वासिद्ध्यादिक रूप
विशेष को ही असिद्ध दोष कहिये । अथ कहो कि यह
व्याप्यत्वासिद्ध है, ऐसा जहां ज्ञान है वहाँ तो विशेष रूप
ही दोष है, और जहां यह असिद्ध है इत्याकारक ज्ञान है
वहां असिद्धि सामान्य दोष है । अत एव असिद्धत्व विरुद्ध-
विषयक पांच ज्ञान को दोष मान करके आप पांच हेत्वा-
भास कहते हैं । ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यभिचार
विरुद्धत्वादिक का ज्ञान व्याप्यत्वासिद्ध्यादि का अवल-
म्बन (विषय) नही करता है इसलिये व्यभिचार और
विरुद्ध यह दोनों असिध्द से भिन्न ही हैं । और असिद्ध-
त्व ज्ञान व्याप्यत्वासिद्धि आश्रयासिध्दि स्वरूपासिध्दि
एतदन्यतम को अवश्यमेव विषय बनाता है । क्योंकि सामा-
न्य विषयक ज्ञान विशेष विषयक का अवलम्बन करता है ।

तथापि सामान्यप्रकारकं ज्ञानं विशेषप्रकारकज्ञानतो भिन्नमिति पुनश्चतस्रस्ता इति चेत् । किमतः विशेषविषयकमित्येतावतैव विशेषस्य दोषत्वं ब्रूमो न तु विशेषप्रकारकत्वेन । ननु व्याप्यत्वासिद्ध्यादिज्ञानमसिद्धिज्ञानत्वेन वा दोषोस्तु असिद्धिज्ञानं वा व्याप्यत्वासिद्ध्यादिज्ञानत्वेनेति किं विनिगमकम् उच्यते । सामान्यज्ञानस्य विशेषविषयतानियमवत् विशेषज्ञा-

---

ऐसा नियम है । इसलिये ये तीन प्रकार की असिध्दि है जिनका अनुमिति में दोष रूप से व्यवहार होता है ।

प्रश्न–तथापि सामान्य प्रकारक ज्ञान से विशेष प्रकारक ज्ञान भिन्न ही है, इससे एक सामान्यत: असिद्धि तथा तीन उसके अवान्तर विशेष, ये चार प्रकार की असिद्धि होना चाहिये ।

उत्तर–इससे क्या हुआ ? विशेष विषयक है एताव-तैव विशेष को दोष मानता हूं न कि विशेष विषयक ज्ञान को विशेष प्रकारक ज्ञानत्वेन दोषत्व है ।

प्रश्न–व्याप्यत्वासिद्धयादि का ज्ञान असिध्दि ज्ञान-त्व रूप से दोष हो अथवा असिद्धिज्ञान व्याप्वत्वासिद्ध्यादि ज्ञानत्वेन दोष हो इसमें क्या विनिगमक है ? अर्थात् विशेष कोई प्रमाण नहीं है ।

समाधान–सामान्य ज्ञान को विशेष विषयत्व होता है: ऐसा जो नियम है उसकी भांति विशेष ज्ञान को सामा-

नस्य सामान्यविषयतानियमो नास्तीति विशेषज्ञानात्प्रतिबन्ध-
दर्शनात्तस्य दोषत्वे क्लृप्ते सामान्यज्ञानस्थलेपि विशेषालम्बन-
तयैव तज्ज्ञानस्य दोषत्वमिति तस्मात्त्रिस्रोऽसिद्ध्यस्त्रयोऽ-
सिद्धा इति कथं पञ्चहेत्वाभासी अनेनैवाशयेन खण्डन-
कारोपि प्रथमे तावदसिद्धभेदमध्यमध्यासते इत्यसिद्धानां
बहुत्वमेव व्याजहारेति विभागभङ्ग इति । अत्राहुः । आश्रया-
सिद्धिः स्वरूपासिद्धिर्व्याप्यत्वासिद्धिश्च पृथगेव दोष इति

न्य विषयत्व होता है, ऐसा नियम नहीं हैं । अर्थात् सामा-
न्य ज्ञान तो विशेष विषयक होता है परन्तु विशेष ज्ञान
सामान्य विषयक नही होता । विशेष विषयक ज्ञान में
प्रतिबन्धकत्व देखने में आता है, अतो विशेष विषयक ज्ञान
को सत्व अवश्य क्लृप्त है । सामान्य ज्ञान स्थल में भी
विशेष विषयता को लेकर के ही दोषत्व होता है, इसलिये
असिध्दि दोष तीन ही है और तीन ही असिद्ध है । तब
पांच हेत्वाभास कैसे कहते हैं ? इसी आशय को लेकर के
खण्ड़नकार ने भी कहा है कि प्रथम विभाग में अनेक
असिद्ध विशेष का समावेश होता है । इस प्रकार से
असिध्द को अनेक कहा है तब पंचधा विभाग अयुक्त जान
पड़ता है । इसमें सिद्धान्ती का समाधान हैं अत्राहु रिति ।
यद्यपि आश्रयासिद्धि स्वरूपासिध्दि और व्याप्यत्वासिध्दि
ये तोनों पृथक् पृथक् दोष है, तथापि इन तीनों में अनुगत

सत्यं किन्तु तिसृणां यथान्यस्तमेकं रूपं पुरस्कृत्य विभाग-करणान्न विभागभङ्गः न च मुनिरेव पर्यनुयोज्यः स्वतन्त्राभिप्रायत्वात् अत एव हानौ हेत्वादिहानि प्रतिज्ञाहानित्वेन संगृह्णतः प्रतिज्ञान्तरात्तु हेत्वन्तरं विभज्य निर्दिशतो मुनेः पर्यनुयोगो निरस्तः यच्च न्यायतन्त्रमन्त्रन्यस्यता खण्डनकृता

एक रूप को लेकर के विभाग (पञ्चधा) करने में विभाग भंग दोष नहीं होता हैं। अर्थात् पूर्व पक्षी का कथन था कि जब आश्रयासिद्ध्यादिक तोन दोष हैं तथा व्यभिचारादिक चार दोष है तब तो मिलकर अधिक दोष होने चाहियें, पांच ही क्यों कहा ? सिद्धान्ती ने उत्तर दिया कि यद्यपि आश्रयासिद्धयादिक तीन तथा नीनों में अनुगत एक (आश्रयासिद्धचाद्यन्यतमत्व) रूप को पुरस्कृत करके उन सबको एक मान लेने से भी पंचधा विभाग में व्याघात नहीं होता है। नहीं कहो कि मुनि के ऊपर ही प्रहार करो, सौ कहना ठीक नहीं क्योंकि मुनि के स्वतन्त्र अभिप्रायवान् होने से। अत एव हानि में हेत्वादि हानि को प्रतिज्ञा हानित्वेन संग्रह करते हुए प्रतिज्ञान्तर से हेत्वन्तर दोष को विभक्त करके निर्देश करते हुए मुनि के ऊपर जो पर्यनुयोग था वह भी निरस्त हो गया। न्याय तन्त्र अर्थात् न्यायशास्त्र का निराकरण करते हुए खण्डनकार ने कहा कि व्याप्यत्वा-सिद्धि उपाधि है, सो उनका कथन निरर्थक है, क्योंकि

व्याप्यत्वासिद्धिरुपाधिरिति लपितं तत् प्रलपितं उपाधिव्या-प्त्योरन्येन विरहत्वासम्भवात् न हि प्रकृतोपाध्यभावो व्याप्तिः प्रतियोग्यप्रसिद्धेः नापि यत्किञ्चिदुपाध्यभावः सा व्याप्यत्वा-सिद्धेपि सत्त्वात् नाप्युपाधिसामान्याभावः सामान्याभावस्य भावत्वासम्भवात् न हि सर्वव्यक्तिप्रतियोगिक उपाधित्वाव-च्छिन्नप्रतियोगिताक एकः तदभावश्च सर्व एवापाधय इति व्याप्तेरेकस्या एव विरहः सर्वे उपाधयः स्युः किन्तु व्याप्ति-

---

उपाधि और व्याप्ति को परस्पर विरह रूपत्व असम्भवित है। प्रकृत जो उपाधि तदभावरूप व्याप्ति नहीं है, क्योंकि उपाधि रूप प्रतियोगी के अप्रसिद्ध होने से। न वा यत्किंचित उपाधि के अभाव को व्याप्ति कह सकते हैं, क्योंकि ऐसी व्याप्ति तो व्याप्यत्वासिद्ध हेतु में भी है। न वा उपाधि सामान्याभाव को व्याप्ति कह सकते हैं क्योंकि सामान्याभाव भावरूप नहीं होता है, और व्याप्ति भावरूप होती है। सर्व व्यक्ति प्रतियोगिक उपाधित्वाव-च्छिन्न प्रतियोगिताक एक कोई वस्तु हो परंतु तदभाव रूप सर्व उपाधि नहीं है। इसलिये एक व्याप्ति का विरह रूप सर्व उपाधि हो, किन्तु व्याप्ति को अनौपाधिक सम्बन्ध रूप कहते हुए भी यावत् स्व व्यभिचारी जो व्यभिचारो-साध्य तादृश साध्य सामानाधिकरण्य रूप ही कहते हैं सो

मनौपाधिकसम्बन्धरूपामपि वन्दतो यावत्स्वव्यभिचारिव्यभिचा-
रिसाध्यसामानाधिकरण्यरूपामाहुः स च नोपाध्यभावः ।
वस्तुतस्तु अव्यभिचारितः सम्बन्धो व्याप्तिरनौपाधिकत्वं तु
तल्लक्षणमतो यत्किञ्चिदेतत् व्यभिचारविरोधिनः सामाना-
धिकरण्यस्य तादृशसम्बन्धमात्रस्य वा व्याप्तित्वात् न चैवं
लाघवादावश्यकत्वाच्च व्यभिचाराभाव एवास्तु व्याप्तिः तथापि
व्यभिचारोप्यसिद्धिरस्त्वितिवाच्यं व्यभिचारो हि साध्यवदन्य-
वृत्तित्वं तदभावश्च नाव्यभिचारोऽवृत्तिसाधारण्यात् वृत्तिमत्त्वे
सति सोऽव्यभिचार इति चेत् । न । केवलान्वयिन्यसम्भवात्

तो उपाध्यभाव रूप नहीं हैं। वस्तुतस्तु अव्यभिचरित
सम्बन्ध का नाम है व्याप्ति, और अनौपाधिकत्व है लक्षण ।
अर्थात् लक्ष्य जो है सो तो अव्यभिचरित सम्बन्ध रूप है ।
और उस व्याप्ति का लक्षण है अनौपाधिकत्व रूप । अतः
खण्डनकार का कथन प्रलाप मात्र है। व्यभिचार विरोधी
जो साध्य साधन का सामानाधिकरण्य उसका नाम है
व्याप्ति। अथवा अव्यभिचरित जो सम्बन्ध तन्मात्र का
नाम व्याप्ति है। नही कहो कि लाघव तथा आवश्वक होने
से व्यभिचाराभाव ही व्याप्ति रहै तथा व्यभिचार का
असिद्धि से समावेश रहै। यह आपका कहना ठीक नहीं
है। क्योकि साध्यवत् से अन्य में हेतु की वृत्तिता का नाम

ही व्यभिचार है। जैसे धूमवत् है महानसादिक, तदन्य है अयोगोलक, उसमें वह्नि के संबन्ध से वृत्तिता रहने से वन्हि धूम व्यभिचारी कहाती है। एतादृश व्यभिचार का अभाव रूप जो व्यभिचाराभाव. अर्थात् साध्यवदन्यावृत्तित्व-रूप, जैसे वह्निमत् हुआ पर्वतादिक, उससे अन्य है जलादिक, उसमें धूम की वृत्तिता नहीं है, तो एतादृश व्यभिचाराभाव को यदि व्याप्ति है तब तो धूम की व्यापक जैसे वह्नि होती है और वह्नि की व्याप्ति धूम में जाने से धूम वह्नि से व्याप्त कहाती है, उसी प्रकार से वह्निमदन्य जलादिक में अवृत्ति होने से आकाशादि पदार्थ जो अवृत्तिक हैं उनमें भी वह्निमदन्यावृत्ति वृत्तित्व रूप व्याप्ति रहने से आकाशादिक व्याप्त हो जायेंगे इसलिये व्यभिचाराभाव को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता है। यदि कहो कि वृत्तिमत्वेसति साध्याभाववदनवृत्तित्वं व्याप्तिः, अर्थात् वृत्तिमान हो तथा साध्यावदन्य में अवृत्ति हो उसका नाम है व्यभिचाराभाव, तथा एतादृश व्यभिचाराभाव है व्याप्ति। अब आकाशादि अवृत्ति में अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि आकाशादि वृत्ति-मान् नहीं हैं। अत एव केवलान्वयी ग्रंथं में शिरोमणि ने भी कहा है कि आकाशादिक में अतिव्याप्ति हटाने के लिये वृत्तिमत्व का निवेश कीजिये. अथवा साध्य समानाधिकरण्य का निवेश कीजिये। तो यह भी कहना ठीक नही है क्योंकि

तत्र हि साध्यवदन्याप्रसिद्धिः किञ्च प्रकृत हेतोः प्रकृतसाध्येन समं व्यभिचारस्याभावो न व्याप्तिः प्रतियोग्यप्रसिद्धेः नापि यत्किञ्चित्प्रतियोगिकव्यभिचाराभावः सा अतिप्रसङ्गात् किन्तु यत्समानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः द्रव्यत्वासमानाधिकरणा-

---

वृत्तिमत्व निवेश करने से अवृत्तिक में अतिव्याप्ति का निराकरण हो भी जाता है, परन्तु यथोक्त व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति केवलान्वयी स्थल में अर्थात् 'वाच्यं प्रमेयात्' यहां अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि यहां साध्य जो वाच्यत्व है तद्वदन्य अप्रसिद्ध है। जब सभी पदार्थ वाच्य है तब वाच्यत्व वदन्य कोन होगा ? इसलिये व्यभिचाराभाव रूप को व्याप्ति कहना युक्ति संगत नही है। और भी देखिये प्रकृत हेतु में प्रकृत साध्य के साथ जो व्यभिचार का अभाव, उसको व्याप्ति नहीं कह सकते है, क्योंकि प्रतियोगी अप्रसद्धि हैं, अर्थात् जब प्रकृत हेतु में धूम में व्याप्ति है तब उसमें व्यभिचाराभाव का प्रतियोगी जो व्यभिचार सो कैसे रह सकेगा ? अतः प्रतियोगी व्यभिचार अप्रसिद्ध है तब तद्भाव रूप व्यभिचाराभाव कैसे रहता है ? व्याप्ति कैसे रहैगी ? यदि यत्किंचित प्रतियोगिक व्यभिचाराभाव रूप व्याप्ति कहैंगे तो अति प्रसंग हो जायगा। अर्थात् सभी साध्य को जिस किसी के साथ तो व्यभिचार रहैगा ही, तब व्यभिचाराभाव रूप व्याप्ति कहां

न्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः द्रव्यत्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगिता संयोगेन नावच्छिद्यते द्रव्यं संयोगि नेत्यप्रतीतेः वह्निसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रयियोगिता तु

होगी ? किन्तु यत् समानाधिकरण (यहां तत् पद हेतु परक है हेतु के अधिकरण में रहने वाला जो) अन्योन्याभाव तादृश अन्योन्याभाव प्रतियोगितावच्छेदक से भिन्न जो साध्य, तादृश साध्य के साथ जो हेतु का सामानाधिकरण्य, उसी को व्याप्ति कहते हैं (वह्निमान धूमात् में समन्वय हेतु है धूम, उसका अधिकरण पर्वतादिक, उन पर्वतादिक में वृत्ति जो अन्योन्वाभाव, सो वह्निमान न, यह अन्योन्याभाव नहीं होगा। क्योंकि जो धूमवान् हैं वह अवश्य ही वह्निमान होता है। तब घट वान् न, यह अन्योन्याभाव लिया जायगा, उसका प्रतियोगी घटवत्, प्रतियोगितावच्छेदक हुआ घट, उस से भिन्न साध्य हुआ वह्नि, उस वह्नि के साथ धूम को सामानाधिकरण्य हैं, इस प्रकार से लक्षण समन्वय होता है।) स्थलान्तर में लक्षण समन्वय ' द्रव्यत्व समानाधिकरणेत्यादि से' स्वयं ग्रन्थकार बताते हैं। द्रव्यत्व रूप हेतु के अधिकरण द्रव्य में रहने वाला जो अन्योन्याभाव सो घटवान् न एतादृशाभाव, तदीय प्रतियोगिता घटवन्निष्ठा प्रतियोगिता सो संयोग साध्य से अवच्छिन्ना नहीं है। किन्तु

धूमेनावच्छिद्यते वह्निमान्धूमवान्नेति प्रतीतेः। अतो द्रव्यत्वं संयोगव्याप्यं वह्निस्तु न धूमव्याप्य इति स्थितम्। यद्यपि सर्वत्र वह्निमति धूमवदन्योन्याभावो नास्ति महानसादौ धूमवदभेदस्यापि सम्भवात् तथापि क्वचिदस्ति धूमवति तु क्वापि

घटादि से अवच्छिन्ना है, क्योंकि द्रव्य संयोगी न, एतादृश प्रतीति नहीं होती है। धूमवान् वन्हेः इस स्थल में वह्नि के अधिकरण में अयोगोलक में रहने वाला जो अन्योन्याभाव सो धूमवान् न इत्याकारक अन्योन्याभाव तदीय प्रतियोगिता धूमवन्निष्ठा प्रतियोगिता धूम से अवच्छिन्न ही है, अनवच्छिन्न नहीं होती है। क्योंकि वह्निमान् धूमवान् नहीं है, ऐसी प्रतीति अयोगोलक को अन्तर्भाव करके होती है। इसलिये द्रव्यत्व हेतु संयोग रूप साध्य का व्याप्य होता है और वह्नि रूप हेतु समसाध्य का व्याप्य नहीं होता है ऐसा स्थिर हुआ।

यद्यपि सभी वह्निवान में धूमवान् का अन्योन्याभाव नहीं रहता है, महानस रूप वन्हिमत् में धूमवत् का अभेद भी सम्भवित है। अर्थात् वह्न्यधिकरण महानस में धूमवान् न इत्याकारक भेद नहीं है अपितु अभेद है, अतएव तादात्म्य सम्बन्ध से धूमाधिकरण वह्न्यधिकरण में व्याप्य व्यापक भाव भी होता है। तथापि क्वचित् स्थल विशेष में वह्निमत् में धूमवत् का

न वह्निमद्भेदः किन्तु सर्वत्रैव तदभेदः यद्यपि सर्वेषु हेत्वाभासेषु सिद्धिप्लवस्तेन सैव दोषो भवितुमर्हति तथापि त्रयाणामप्यनैकान्तिकानां संशायकत्वेनासाधकतेति त एव त्रयो दोषाः प्राथम्यात् न तु तेषु सत्स्वपि व्याप्यत्वासिद्धिः चरमोपस्थितत्वात् तथाहि सा साधारणेऽन्वयेनासाधारणे व्यतिरेकेणोभय-

---

अन्यो याभाव भी रहता है, जसे वह्न्यधिकरण अयोगोलक में धूमवत् का अन्योन्याभाव रहता है, अयोगोलक में धूमवत् का अन्योन्याभाव रहता है। अयोगोलक में धूमभाव के रहने से। और धूमाधिकरण में तो किसी भी स्थल में वह्निमान् का अन्योन्याभाव नहीं रहता है किन्तु सभी जगह धूमवान् में वह्निमान का अभेद ही रहता हैं। यद्यपि सभी हेत्वाभासों में व्याप्यत्व सिद्धि की सम्भावना रहती है इसलिये सिद्धि संप्लव को ही दोष माना जाय। अर्थात् व्याप्यत्वासिद्धि को ही दोष माना जाय। तथापि तीनों अनैकान्तिक को संशयोस्थापक होने से प्रकृत में साध्य का असाधकत्व होता है, इसलिये उन्हों तीन के प्रथमोपस्थित होने से दोष है। न तु उन तीनों को रहते हुए व्याप्यत्वासिद्धि चरमोपस्थित होने से दोष नहों है। तथाहि साधारण सव्यभिचार में अन्वय द्वारा असाधारण में व्यतिरेक द्वारा और अनुप संहारी में उभय सहचार से, उसमें अनुप संहारी में तो पक्ष में ही उभयान्वय होने से साध्य सन्देह का

सहचारादनुपसंहारिणि तु पक्ष एवोभयान्वयात्साध्यसंशयार्ज-
नादसाधकता अथ तेषु व्याप्तिधीरेव नोदेति त्वन्निर्दिष्टोभय-
सहचारादिति व्याप्यत्वासिद्धिरेवास्तु क्लृप्तत्वादसाधकताबीज-
मिति सैवामीषु त्रिषु दोष इति चेत्। तर्हि मास्तु संशयद्वारतापि
किन्तु साधारणे विपक्षगामितयाऽसाधारणे सपक्षागामितयाऽनुप-

उत्पादकत्व होने से असाधकत्व है। अथ यदि कहो कि साधारणादि तीनों व्यभिचारी में तो व्याप्ति उत्पन्न ही होती है, भवत् प्रदर्शित उभय सहचार होने से। अतः अवश्य क्लृप्त होने से व्याप्यत्वासिद्धि को ही असाधकमाना जाय। यही व्याप्यत्वासिद्धि इन तीनों व्यभिचारी में दोष है।

उत्तर–यदि ऐसा कहो तब तो संशय द्वारता को भी साधारणादिक नहीं कहना चाहिये, किन्तु साधारण व्यभिचारी में विपक्ष वृत्तित्वेन अर्थात् निश्चित साध्याभावाधिकरण में हेतु को वृत्तिता होने से। तथा असाधारण व्यभिचारी में अर्थात् शब्द नित्य है शब्दत्व होने से, यहां सपक्ष में निश्चित साध्याधिकरण आत्मादिक में अवृत्ति होने से। तथा अनुपसंहारी में प्रथम प्रतीत पक्षमात्र वृत्तित्व होने से। इन तीनो में असाधकत्वानुमिति हो सकती है। किन्तु ये तीनों साधारणादि असिद्ध हेत्वाभास से पृथक पृथक ही हैं। नहीं कहो कि ऐसा हुआ तब

संहारिणि पक्षमात्रगामितयैव प्रथमप्रतीतया तेषामसाधकत्वानु-
मितिसम्भवात् किंतु ते त्रयोप्यसिद्धयात् पृथक् एवञ्च
दूषकतायां प्रस्थानभेदात्तेषां त्रित्वंस्यादिति न च वाच्यं
इष्टत्वात् विरुद्धे तु विरुद्धत्वज्ञानादेवासाधकता सत्प्रतिपक्षे
तु लिङ्गयोर्व्याप्तिपक्षधर्मतावशिष्टधीसत्त्वेपि परस्परप्रतिबन्धा-
देवासाधकता बाधे तु बलवता साध्याभावज्ञानेन प्रतिबन्धा-

तो इन तीनों में दूषकता प्रकार के भेद से ये सब तीनों
पृथक् पृथक् दोष हो जायेंगे। ऐसा नहीं कहना । क्योंकि इष्टा-
पत्ति होने से । अर्थात् ये तीन साधारणादिक पृथक रूप
से तीन दोष है ही । विरुद्ध हेतु में तो विरुद्धत्व ज्ञान से
ही असाधकत्व होना है। सत्प्रतिपक्ष स्थल में तो प्रथक्
लिंगद्वय में अर्थात् धूम और पाषाणमयत्व में व्याप्ति पक्ष
धर्मता विशिष्ट ज्ञान रहने पर भी परस्पर के प्रति प्ररस्पर
के प्रतिबन्धक होने से ही असाधकत्व होता है । बाध स्थल
में तो बलवान् जो पक्ष में साध्याभाव प्रकारक निश्चय, उसी
से प्रकृतानुमितिका प्रतिबन्ध होने से बाधित हेतु में साध्य का
असाधकत्व होता है । बाध स्थल में परामर्श तो बन जाता है,
ऐसा मैं बताऊंगा । अर्थात् बाध स्थल में परामर्श भाव
प्रयुक्त हेतु में असाधकत्व नहीं है किन्तु बलवान् साध्याभाव
प्रयुक्त ही असाधकत्व होता है। तस्मात् साधारण अनुप-
संहारी और विरुद्ध व्याप्यत्वासिद्धि के उन्नयन में समर्थ

देत्रासाधकतेति बाधे च तृतीयलिङ्गपरामर्शोदयं वक्ष्यामः तस्मात्साधारणानुपसंहारिविरुद्धा व्याप्यत्वासिध्युन्नयनक्षमतया तदुपजीव्याः प्रथमोपजातेन साधारणत्वादिज्ञानेनासाधकतां हेतोः साधयन्तो भवन्त्यसिद्धात् पृथक् हेत्वाभासाः सिद्धसाधनस्थले साध्यसिद्धिः सोपाधावुपाधिराश्रयासिद्धिव्याप्यत्वासिद्ध्योरुपजीव्यावप्येतौ न पृथक् हेत्वाभासौ स्वतो दूपकत्वाभावात् किन्तु सिद्धिः सिपाधयिषां विघटयन्ती धर्मिविशेषणविघटनेनाश्रयासिद्धिं निर्मिमाणा एवमुपाधिरपि

होने से तदुपजोव्य होने पर भो प्रथमोपजात साधारणत्वादि ज्ञान से हेतु में असाधकत्व को सिद्ध करते हुए असिद्धि से प्रथक हेत्वाभास कहलाते हैं। सिद्ध साधन स्थल में साध्य का निश्चय तथा सोपाधिकस्थल में उपाधि, आश्रयासिद्धि तथा व्याप्यत्वासिद्धि के उपजीव्य भी यह दोनों प्रथक हेत्वाभास नहीं है, क्योंकि इन दोनों में स्वतः दूषकत्व नहीं हैं। किन्तु सिद्धि निश्चय सिषाधयिषा का विघटन करते हुए धर्मि के विशेषण के विघटन द्वारा आश्रयासिद्धि को उत्थान करके असाधक होती है। और इसी तरह से उपाधि भी स्वत एव दूषक नहीं है किन्तु हेतु को स्वव्याप्यत्व से उपाधि का व्याप्य जो साध्य तद्व्याप्यत्व ज्ञान के उत्पादन द्वारा अनर्थ के उत्थान में वीज मात्र होती है। तथाहि तर्क द्वारा उपाधि का स्वरूप निश्चित हो जाने से, यह हेतु

हेतोः स्वव्याप्यतयाऽस्वव्याप्यसाध्यव्याप्यत्वधियमुत्पादयन्नन-र्थोत्थानवीजमात्रमिति तथाहि तर्केणोपाधौ स्वरूपेण निश्चिते अय हतुः साध्याव्याप्यः साध्यव्यापकोपाध्यव्याप्यत्वात् प्रमेयत्वादिवदिति व्याप्यत्वात् प्रमेयत्वादिवदिति व्याप्यत्वा-सिद्धिमुष्थापयति साप्यनुमानं दूपयतीति ।

अथ विरुद्धत्वादीनां प्रकृतहेत्वसाधकतासाधकत्वेन हेत्वा-भासत्वमुक्तं तत्र कोऽसौ विरुद्ध इति । साध्याभावव्याप्तो विरुद्ध इति चेत् । तदा हि इदमसाधकं साध्याभावव्याप्यत्वा-

---

साध्य का व्याप्य नहीं है, जैसे धूमवान् वह्नेः यहां आर्द्रेन्धन संयोग में उपाधित्व का निश्चय हो जाने पर यह वह्नि हेतुसाध्य धूम का व्याप्य नहीं है, साध्य का व्यापक जो उपाधि उस उपाधि का व्याप्य नहीं होने से प्रमेयत्व के समान । इस प्रकार से व्याप्यत्वासिद्धि का उत्थापन होता है, तब व्याप्यत्वासिद्धि दोष है उससे अनुमान दूषित होता है ।

अथ—असिद्ध हेत्वाभास निरूपण करने के बाद विरुद्ध-त्वादिक को प्रकृत में हेतु में असाधकता साधकत्व होने से हेत्वाभासत्व कहा गया है, उसमें विरुद्ध क्या वस्तु है ऐसा प्रश्न होता है । अर्थात् यह हेतु साध्य का साधक नही है, विरुद्ध होने से यतः विरुद्धत्व है । अत एव हेत्वाभास है । उसमें विरुद्ध किस को कहैं ? यदि कहो कि

दित्यस्य साध्याभावनियतसमानाधिकरणत्वादित्यर्थे नियमांशो व्यर्थः साध्याभावसामानाधिकरण्यमात्रस्यैव साधारणानैकान्तिकवदसाधकत्वे तन्त्रत्वात् अपि च नियांशे यर्थतया निरस्ते विरुद्धस्य साधारणानुप्रवेशे विरुद्ध एव लुप्यते किञ्च

साध्यभाव से जो हेतु व्याप्त हो उसका नाम है विरुद्ध । अर्थात् साध्यभाव निरूपित व्याप्तिवाला जो हेतु, जिस हेतु में साध्य की व्याप्ति न रहै प्रत्युत साध्याभाव की व्याप्ति रहै, उसको विरुद्ध हेत्वाभास कहते है, जैसे 'अयं गौः अश्वत्वात्' यह अश्वत्ववान् होने से गोत्ववान् है । यहां अश्वत्व हेतु में साध्य निरूपितव्याप्ति नहीं है, जहां जहां अश्वत्व रहता है वहां वहां गोत्व रहता है, एतादृश व्याप्ति नहीं बनती है । प्रत्युत जहां बोत्व नहीं है वहां अश्वत्व रहता है जैसे अश्व में, इस प्रकार से अश्वत्व हेतु को साध्याभाव निरूपित व्याप्तिमान होने से हेत्वाभासत्व है और वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है । यह कहना ठीक नही है. क्योंकि ऐसा कहने से तो यह साध्याभाव से व्याप्य होने से असाधक है. इसका अर्थ होगा साध्याभाव का नियत समानाधिकरण होने से तो ऐसा अर्थ करने पर नियम अंश व्यर्थ है साध्याभाव सामानाधिकरण्य मात्र को ही असाधकता में प्रयोजक होने से । और भी देखिये—व्यर्थ होने के कारण म नियम अंश को छोड देंगे तब तो विरुद्ध हेतु साधारण

साध्याभावनियतसामानाधिकरण्यग्रहे भवति साध्याभाव-सामानाधिकरण्यग्रह आवश्यक इति स एव क्लृप्तत्वादावश्यकत्वाल्लाघवाच्च दोषः स्यान्न तु विरुद्ध इति खण्डनम्। अत्रोच्यते इयं हि विरुद्धस्य स्वरूपनिरुक्तिरिति सत्यं न हि साध्यतदभावोभयगामिनि परीक्षकाणां विरुद्धव्यवहारः किन्तु

सव्यभिचार में प्रविष्ट हो जाने से विरुद्ध का लोप ही हो जायगा। विरुद्ध स्थल में साधारण दोष से ही निर्वाह होगा। और भी देखिये जिस स्थल में साध्याभाव नियत सामानाधिकरण्य ज्ञान होगा वहां साध्याभाव सामानाधिकरण्य ज्ञान होना आवश्यक है, तब तो अवश्य ही क्लृप्त होने से आवश्यक तथा लाघव होने से साध्याभाव सामानाधिकरण्य ज्ञान को ही दोष मानिये नतु यिरुद्ध दोष है। यहां तक खण्डन ग्रन्थ हुआ। आगे इसका उत्तर होता है।

समाधान–अत्रोच्यते–साध्याभाव नियत सामानाधिकरण्य यह जो निर्वच है सो विरुद्ध का स्वरूप कथन मात्र है, साध्य के अधिकरण तथा साध्याभाव के अधिकरण में रहने वाला जो हेतु है, उसमें विरुद्धत्व व्यवहार परीक्षकों का नही होता है, किन्तु साध्यभाव मात्र के अधिके अधिकरण में रहने वाला जो हेतु में विरुद्धत्व व्यवहार होता है। और साधकता में साध्याभाव नियत सामानाधिकरण्य, यह हेतु नहीं है जिससे कि नियमांश रूप विशेषण में वैयर्थ्य

साध्याभावमात्रस्पृशि असाधकतायां तु नेदं लिङ्गं येन विशेषणवैयर्थ्यं स्यात् किन्तु साध्यविपरीतप्रमितिजनकत्वं तदेव कुत इत्याकाङ्क्षायां साध्यविपरीतव्याप्यत्वादिति । हन्तैवमसाधकतासाधकत्वं साध्यविपरीतप्रमितिजनकत्वस्य तद्बीजत्वं च साध्याभावतद्व्याप्यत्वस्य तथा च विरुद्धो न हेत्वाभासः स्यादुपाधिवदिति चेन्न । साध्याभावप्रमितिजनकत्वमेव विरुद्ध-

---

की आशंका हो, किन्तु साध्य विपरीत प्रमाजनकत्व असाधकता में नियामक है। (अर्थात् विरुद्ध हेतु असाधक है। इस अनुमिति में साध्याभाव नियत समानाधिकरणत्वात् यह हेतु नहीं है किन्तु साध्यविपरीत प्रमिति जनकत्वात् हेतु है अर्थात् साध्याभाव का व्याप्य है, ऐसा नहीं, किन्तु साध्याभाव प्रमा की जनकता है इसलिये विरुद्ध हेतु साध्य प्रमा का असाधक है।) साध्य विपरीत अर्थात् साध्याभाव प्रमा का जनकत्व ही विरुद्ध हेतु को क्यों है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर साध्याभाव व्याप्तत्व उपस्थित होता है। अर्थात् विरुद्ध हेतु साध्यविपरीत प्रमा का उत्पादक इसलिये है कि जिस लिये वह साध्याभाव व्याप्य है।

प्रश्न—ऐसा हुआ तव तो विरुद्ध हेतु में जो असाधकता साधकत्व है सो साध्य विपरीत प्रमा जनकत्व से और साध्यविपरीत प्रमिति जनकता की बीज अर्थात् कारणता साध्याभाव व्याप्यत्व को है। तब तो विरुद्ध हेत्वाभास नहीं

त्वमित्युपगमात्। तदुक्तं तेनैव लिङ्गेन साध्याभावप्रमाविरोध इति। अन्ये तु अदृष्टसाध्यसहचारत्वं अदृष्टसाध्याभावव्यभिचारित्वं वा तल्लिङ्गं सर्वादृष्टिः सन्दिग्धा स्वादृ-

---

होगा, उपाधि के समान। जैसे उपाधि परम्परित होने से अतिरिक्त हेत्वाभास नहीं है तद्वत् विरुद्ध भी अतिरिक्त हेत्वाभास नहीं होगा।

उत्तर–साध्याभाव प्रमा जनकत्व ही विरुद्धत्व है, ऐसा मेरा सिद्धान्त है, साध्याभाव निरत समानाधिकरणत्व विरोध नही है किन्तु साध्याभाव प्रमाजनकत्व ही विरुद्धत्व है। ऐसा कहा भी है उसी हेतु से साध्याभाव प्रमाविरोध है। अर्थात् जिस हेतु से साध्यसिद्धि अभिलषित है उसी हेतु से साध्याभाव की प्रमा हो जाती है, यही विरोध है। जैसे अयंगौः अश्वत्वात् यहां वादी ने गोत्व की सिद्धि के लिये अश्वत्व हेतु का प्रयोग किया है, किन्तु अश्वत्व को साध्य व्याप्ति नहीं है। व्याप्तितो दूर रहै सामानाधिकरण्य ही नहीं है। किन्तु वैयधिकरण्य है तब गोत्वाभाव के साथ व्याप्ति रहने से गोत्व का साधक अश्वत्व न बनकर गोत्वाभाव का साधक बनता हुआ साध्याभाव प्रमा सामग्री होने से विरुद्धत्वेन रूपेण व्यपह्नियमाण होता है। कोई तो कहते हैं कि जिस हेतु में साध्य का सहचार देखने में नहीं आता है उसका नाम है विरुद्ध। अथवा जिस हेतु में साध्याभाव

ष्टितु व्यभिचारिणीति यदि तदा साध्यासहचरितत्वं साध्यव्यापकाभावप्रतियोगित्वं वा लिङ्गमस्तु। ननु हेत्वाभासशरीरमेवासाधकतालिङ्गं तथा चोक्तचतुष्टयमपि विरुद्धस्य शरीरं स्यात् असाधकतालिङ्गत्वात् तच्चायुक्तमवृत्तिसाधारण्यात् इदं हि चतुष्टयमाकाशादेरप्यस्तीति किमतः अवृत्तावपि विरुद्ध-

---

का व्यभिचार देखने में न आता हो उसको विरुद्ध कहते हैं। अर्थात् एतादृश जो लिंग सो विरुद्ध लिंग है। यदि कहो कि यहां सर्वादृष्टि कहते हो कि स्वादृष्टि कहते हो? अर्थात् सर्व पुरुषों से सहचारादिक अदृष्ट हो अथवा स्वसहचारादिक अदृष्ट? उसमें सर्वादृष्टि सो संदिग्ध है और स्वादृष्टि व्यभिचरित है। ऐसा कहो तब साध्य के साथ असहचरितत्व अथवा साध्य का व्यापकीभूत जो अभाव तत्प्रतियोगित्व को विरुद्धत्व में लिंग मानो।

प्रश्न—हेत्वाभास का जो शरीर है अर्थात् स्वरूप है वही तो असाधकता में साधक अर्थात् हेतु है। तब पूर्वोक्त (अदृष्ट सहचारत्व, अदृष्ट साध्याभाव व्यभिचारित्व, साध्या सहचरितत्व, साध्यव्यापकाभाव प्रतियोगित्व चारों भी असाधकतामें लिंग होने से विरुद्ध के शरीर होंगे। परन्तु यह कहना अयुक्त है क्योंकि ये सब आकाशादिक अवृत्ति साधारण हैं अर्थात् ये चारों आकाशादिक में भी हैं। तब इससे क्या हुआ? अर्थात् आकाशादिक में वृत्ति

व्यावहारः स्यादिति चेत्तत्र साध्याभावप्रमितिजनकत्वमात्रस्य तन्त्रत्वमिति मदुपगमात् एवं चासाधकतानुमाने कर्तव्ये नियमांशो व्यर्थ इति विरुद्धज्ञाने चासाधकतानुमितिबीजे भवति साध्याभावसामानाधिकरण्यज्ञानमेवावश्यकत्वादिनाऽसाधकतानुमापकमस्तु कृतमनावश्यकेन गुरुणा जघन्यप्रतिपत्तिकेन विरोधेनेति खण्डनमपास्तं असाधकतानुमितौ साध्यव्यापकाभावप्रतियोगित्वस्य मया हेतुत्वेनोपगमात् यदा तु विरुद्धे

हो गई तो क्या क्षति है ? यही क्षति हैं कि आकाशादि अवृत्ति में भी अयं विरुद्धः ऐसा व्यवहार हो जायेगा । और कोई भी आकाशादि में विरुद्ध व्यवहार नहीं करता है ।

उत्तर–विरुद्ध व्यवहार में साध्याभाव प्रमिति जनकत्व मात्र को प्रयोजकत्व है, ऐसा मेरा सिद्धान्त है । एतदतिरिक्ति में प्रयोजकत्व नहीं है, ऐसा मानने से जो खण्डनकार ने कहा था सो भी परास्त हुआ । तथाहि असाधकता का अनुमान करने में नियमांश व्यर्थ है, असाधनानुमान में कारणीभूत विरुद्ध ज्ञान में साध्याभाव सामान्याधिकरण्य ज्ञान ही आवश्यक होने से असाधकता का अनुमापक बनो, अनावश्यक तथा गुरु जघन्य प्रतिपत्तिक इस विरोध के मानने की क्या आवश्यकता है ? यह भी परास्त हो गये । असाधकतानुमिति में साध्याभाव प्रतियोगित्व मात्र को मैं हेतु रूप से मानता हूं । जब कि विरुद्ध हेतु में साध्याभाववद्वृत्तिता

साध्याभाववद्गामितामात्रमेव प्रतीयते तदा सधारणतयैवायं दोषः यदा तु साध्यवदवृत्तिताधीः तदा त्वसिद्धतयोपधेयस-ङ्करस्य मयोपगमात्। नन्वयं साध्यवदवृत्तितया प्रतीयमानश्चे-द्दूषयेत्तदाऽसिद्धे प्रविशेत् यदि तु साध्याभावव्याप्यतया तदा गौरवेण नियमांशे त्यक्ते सति साधारणतया दूषयेत्तदुभय-थापि पृथग् हेत्वाभासो न स्यादिति चेत्। सत्यं साध्यव्याप-

---

मात्र का ज्ञान है तब (उस समय में) साधारणानैकान्तिक रूप से ही वह दोष होता है। जिस समय में साध्यवान में यह हेतु नहीं रहता है अर्थात् साध्यसामानाधिकरण्य ज्ञान नही है उस समय में असिद्ध रूप से ही दोष है उपधेय सांकर्य को मैं मानता हूँ।

प्रश्न—यह जो असिद्ध हेतु है सो यदि साध्याधिकरण में अवृत्तितया प्रतीयमान होकर के अनुमिति को दूषित करता है तब तो असिद्ध में प्रविष्ट हो जायगा। और यदि साध्याभाव व्याप्यत्वेन ज्ञात हो करके दूषक होता है, तब तो गौरव के भय से नियम अंश को छोडना पडता है। तब तों साधारणानैकान्तिक में प्रविष्ट होकर के दूषक होगा। तव तो यह उभयथा भी विरुद्ध प्रथक हेत्वाभास नही होगा किन्तु साधारणानैकान्तिक अथवा असिद्ध में ही इसका समाप्रवेश हो जायगा।

उत्तर—आपका कहना ठीक हैं, किन्तु साध्यव्याप-

काभावप्रतियोगितया प्रतीयमानोयं दूषयन् पृथगिति ब्रूमः इदं तु रूपमसिद्धेप्यस्ति न त्वसिद्ध एवास्ति येनासिद्धमेवासौ प्रविशेत्। वस्तुतस्तु स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगिसाध्यवत्कत्वं विरुद्धत्वं सद्धेतुस्तु नैवं धूमवान्वह्निमान्नेत्यप्रतीतेः इदं च रूपं नावृत्तौ नवा व्यभिचारिणीति नास्य

काभाव प्रतियोगित्व रूप से प्रतीयमान होता हुआ अनुमिति का दूषक होता है, इसलिये हम लोग विरुद्ध हेत्वाभास है ऐसा मानते हैं। यद्यपि यह रूप असिद्ध में भी है न तु असिद्ध में ही है जिसमें कि यह विरुद्ध हेत्वाभास असिद्ध में ही प्रविष्ट हो जाय।

वस्तुतस्तु स्व अर्थात् हेतुतत्समानाधिकरण अर्थात् हेतु के अधिकरण में रहने वाला जो अन्योन्याभाव उस अभाव का प्रतियोगी जो साध्यवत् तत्कत्व, यही विरुद्ध का लक्षण है। अयं गौरश्वत्वात्, इस स्थल में हेतु है अश्वत्व उसका अधिकरण है अश्व, उस हेत्वाधिकरण में वर्तमान् जो आन्योन्याभाव गोत्ववान्न, इत्याकारक अन्योन्याभाव उसका प्रतियोगी जो साध्यवत् गो तत्कत्व अश्वत्व में है, इस प्रकार से लक्षण समन्वय होता है। और सद्धेतुक वह्निमान धूमात् में यह लक्षण नहीं जाता है, क्योंकि हेतु जो धूम है तदधिकरण महानसादिक में वह्निमान् न इत्याकारक अन्योन्याभाव नही मिलता है। यदि धूमवान्

धर्मिसङ्करेऽपीति । यच्चानैकान्तिकः सव्यभिचार इति सूत्रमखण्डि तदप्यबोधात् साध्यस्येव तदभावस्याप्युपस्थापनसमर्थत्वं ह्यनैकान्तिकत्वं तथाहि साधारणोन्वयेनासाधारणो व्यतिरेकेणानुपसंहारि पक्ष एवोभयसहचारेण साध्यतदभावावुपस्थापयितुं क्षमः तेन साध्यतदभावोभयोपस्थापनसमर्थत्वं साध्यवन्मात्र-

---

में वह्निमान् न इत्याकारक भेद मिलता तब लक्षण समन्वय होता । यह लक्षण अवृत्ति जो गगनादि हेतु हैं वहां गगन का अधिकरण ही अप्रसिद्ध है, व्यभिचारी प्रमेयत्वादि उसमें भी प्रमेयत्वाधिकरण में वह्निमान्न इत्याकारक भेद नहीं है अतः यह लक्षण केवल विरुद्ध में ही जाता है । अनैकान्तिकः सव्यभिचारः इस सूत्र का खण्डन किया है सो भी केवल अज्ञान मूलक ही है । क्योंकि जैसे साध्य के उपस्थापन में समर्थ जो हेतु सो अनैकान्तिक है, यह लक्षण जिस प्रकार से अनैकान्तिक का होता है उसी प्रकार से साध्यभाव के उपस्थापन में जो समर्थ हो सो अनैकान्तिक है, यह लक्षण भी अनैकान्तिक का हो सकता है । तथाहि साधारण दोष अन्वय द्वारा असाधारण दोष व्यतिरेक द्वारा और अनुपसंहारी पक्ष में ही उभय सहचार द्वारा साध्य तथा साध्याभाव का उपस्थापन करने में समर्थ है । इसलिये साध्य तदभाव के उपस्थापन करने में समर्थ हो उसको अनैकान्तिक कहता हूँ यह लक्षण अनैकान्तिक का होता है । तथा केवल

वृत्त्यन्यत्वे सति साध्याभाववन्मात्रवृत्त्यन्यत्वं वा न चैवं सर्व-मभिधेयं प्रमेयत्वादित्याद्यनुपसंहारिणो न संग्रहः तत्र साध्याभा-वाप्रसिद्धेरिति वाच्यं तस्यानुपसंहारित्वाभावात् किन्तु सद्धेतुरेव केवलान्वयिनि साध्ये तत्समानाधिकरणमात्रस्यैव गमकत्वात्। नन्वस्त्वेवं तथापि नायमेको हेत्वाभासः तथाहि उक्तरीत्यास्य संशायकत्वेन दूषकतायामेकहेत्वाभासता भवेत् सा चायुक्ता

साध्यवत् वृत्ति से भिन्न होकर के साध्याभाव मात्र वृत्ति से भिन्न हो, यह लक्षण भी अनैकांतिक का हो सकता है।

प्रश्न—जब पूर्वोक्त लक्षण अनैकान्तिक का हुआ तब तो सभी अभिधेय है, प्रमेय होने से। इस अनुपसंहारी में लक्षण समन्वय नहीं होता है, क्योंकि प्रकृत प्रमेयत्व हेतुकस्थल में अभिधेयत्व रूप साध्य का अभाव अप्रसिद्ध है।

उत्तर—सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्, यह अनुपसंहारी का स्थल नहीं है किंतु सद्धेतु है। केवलान्वयी में केवल साध्य सामानाधिकरण्य ही गमक अर्थात् अनुमापक होता है, व्यतिरेकांश उपयोगी नहीं है।

प्रश्न—भले ऐसा हो। तथापि यह अनैकान्तिकएक हेत्वभास नहीं है। तथाहि यदि पूर्वोक्त रीति से संशय जन-कत्व रूपेण दूषकता हो तब यह एक हेत्वाभास कहावै, परन्तु एक रूप से संशय जनकत्व अयुक्त है क्योंकि साधा-

विपक्षगामितामात्रेणैव लघुनावश्यकेन प्रथमप्रतीतेन साधारणस्य तद्वत्सपक्षास्पर्शितामात्रेणैवासाधारणस्यैकधर्म्युपसंहाराभावेनैवानुपसंहारिणो दूषकत्वसम्भवादिति बाढं त्रयोमी साधरणासाधारणानुपसंहारिभेदात् न चैवं विभागासङ्गयकृत्वं उक्तरूपपुरस्कारेणैव विभागकरणात् तत्र च विपक्षवृत्तित्वं साधारणत्वं तन्मात्रस्यैव

रण जो हेतु को अवश्य लघु भूत प्रथम प्रतीत जो विपक्ष गामित्व साध्यभाववद्वृत्तित्व रूप से ही दूषकत्व हो सकता है, एवं सपक्ष में अवृत्तित्व रूप से असाधारण में दूषकत्व हो सकता है, एवम् अनुपसंहारी को पक्ष में (एकधर्मी में) उपसंहाराभाव मात्र से दूषकत्व संभवित होने से। यह अनैकान्तिक तोन है इनको एक कैसे कहते है ?

उत्तर—ठीक कहते हो, साधारण असाधारण अनुपसंहारी भेद से ये तीन हैं। तब तो ईदृश विभाग ठीक नहीं है ऐसा मत कहना। संशयोपस्थापकत्व रूप से परिचित अनैकान्तिक का विपक्ष गामित्वादि धर्म को पुरस्कृत करके ही विभाग किया गया है। उसमें जो हेतु विपक्ष गामी हो अर्थात् निश्चित साध्याभावाधिकरण में वृत्ति हो सो साधारण कहलाता है, जैसे वह्नि साध्य में द्रव्यत्व हेतु। इसमें विपक्ष वृत्तित्व मात्र को दूषकत्व होता हैं। विरुद्ध हेतु को विरुद्धत्व की अज्ञान दशा में विपक्ष वृत्तित्व ज्ञान

दूषकत्वात् विरुद्धस्यापि तत्त्वाज्ञाने विपक्षवृत्तिताज्ञानदशायां साधारणत्वं अन्यथा तदा तस्य हेत्वाभासान्तरता स्यात् उपाधेरसङ्कर एव सर्वमनित्यं मेयत्वादित्यनुपसंहारी शब्दो नित्यः शब्दत्वाद् भूर्नित्या गन्धवत्त्वादित्यसाधारणश्च वस्तुगत्या साध्याभाववद्वृत्तित्वेन साधारणोपि पक्षतादशायां तथात्वेन न बोद्धुं न वा बोधयितुं शक्य इत्युभयोर्भेदेनोपन्यासः, अनित्यः शब्दः शब्दत्वादित्यसाधारणश्च वस्तुतस्सद्धेतुरपि पक्षतादशायामसाधारण एव पक्षमात्रवृत्तित्वात् । ननु

काल में साधारणत्व ही है । अन्यथा विपक्ष वृत्तिता का अज्ञान तथा विरुद्धत्व ज्ञान काल में हेत्वाभासान्तरत्व अर्थात् विरुद्ध हेत्वाभासत्व होता है । उपधेय में सांकर्य होने पर भी उपाधि में सांकर्य नहीं है । एवं सभी अनित्य है, प्रमेयत्व होने से । यह अनुपसंहारी शब्द नित्य है शब्दत्ववान् होने से । पृथिवी नित्या है गन्धवती होने से । ये जो दोनों असाधारण हैं सो वस्तुतः साध्याभाव वत् में वृत्ति होने से साधारण है । किन्तु हेतु को पक्ष वृत्तिता ज्ञान समय में तथात्वेन अर्थात् साध्यभाववत् वृत्तित्व रूप से न जान सकते हैं न वा अन्य व्यक्ति को समझा सकते है, इसलिये दोनों को भेदेन कथन किया गया है । शब्द अनित्य है शब्दत्ववान् होने से । यह असाधारण हेतु वस्तुतः सद्धेतु होता हुआ भी पक्षता दशा में असाधारण ही है, क्योंकि

पक्षतादशायामसाधारणतया साध्यनिश्चयदशायामाश्रयासिद्ध-तया सर्वदैवायमाभास इति न कदापि सद्धेतुरिति चेन्न। साध्यसन्देहे प्रमाणान्तरेणानुपपन्ने सिषाधयिषया पक्षतासम्भ-वेनाश्रयासिद्धेरसम्वात्। ननु संशयाभावात्सिषाधयिषापि नोदेष्यतीति चेत्। तथापि सिद्ध्यन्तरस्येष्टसाधनताज्ञानेनात्म-

---

सपक्ष विपक्ष से व्यावृत्त होकर के पक्ष जो शब्द तावन्मात्र वृत्ति होने से।

प्रश्न—शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्, यह शब्दत्व हेतु पक्षता समय में असाधारण रूप होने से तथा साध्यनिश्चय दशा में आश्रयासिद्ध होने से सर्वदा तो हेत्वाभास ही है, तब इसको सद्धेतु कैसे कहते हैं ?

उत्तर—साध्य का सन्देह प्रमाणान्तर से अनुपपन्न होने के कारण साधनेच्छा के बल से पक्षता हो सकती है इसलिये आश्रयासिद्धि दोष की सम्भावना नहीं है।

प्रश्न—जब सन्देह साध्य विषयक नहीं है तब उस जगह में सिषाधयिषा साध्य विषयणी इच्छा कैसे उत्पन्न होगी ?

उत्तर—तथापि सिध्यन्तरक विषयक इष्ट साधनता ज्ञान से साध्य विषयक इच्छा हो सकती है। आत्मा में जैसी इच्छा होती है उसी तरह अर्थात् श्रुत्या आत्म विषयक निश्चय रहने से श्रौत आत्म ज्ञान विषय में सन्देह न रहने पर भी 'आत्ममननमदिष्टमोक्ष साधनम्' इत्या-

नीव तत्सम्भवात् तत्र हि श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रुत्या श्रुतिनिश्चितस्याप्यात्मनो मननमिष्टसाधनतयाऽवसितमिति तत्र तदधीना सिपाधयिषोदेतु प्रकृते तु तद्वद्द्वितीयसिद्धेरिष्ट-साधनताग्राहकं किमपि न पश्यामो येन तत्र तदधीना निश्चितेति सिपाधयिषोत्पद्यतेति चेत् । अत्रापि यद्यप्यस्य प्रातिभेने-ष्टसाधनताज्ञानेन द्वितीयसिद्धाविच्छोदयेत्तदा कस्तां वारयेत्

कारक सिद्ध्यन्तर विषयक इच्छा से आत्मानुमान होता है, तद्वत्प्रकृत में भी सिद्ध्यन्त विषयक इष्ट साधनता बल से सिषाधयिषा होने में कोई क्षति नहीं है ।

प्रश्न—आत्मस्थल में तो 'श्रोतव्योमण्तव्यः' इस श्रुति से श्रुति निश्चित भी आत्मा का जो मनन है सो इष्ट साधनत्वेन निश्चित होने से उस स्थल में इष्ट साधनता ज्ञान के बल से सिषाधयिषा उत्पन्न हो, परन्तु प्रकृत में तो द्वितीय सिद्धि सम्बन्धी इष्ट साधनता का ग्राहक तो कोई प्रमाण देखने में नहो आता है कि जिसके बल से निश्चित अर्थ विषयक सिबाधयिषा उत्पन्न हो ।

उत्तर—यहां भी प्रातिभ इष्ट साधनता ज्ञान से द्वितीय सिद्धि विषयक इच्छा उत्पन्न होगी तो उसको रोकने वाला कौन है ? अर्थात् प्रातिभ इष्ट साधनता ज्ञान से इच्छा अवश्वमेव होगी । यहां इतनी विशेषता है कि असाधारण दोष अनित्य है, अर्थात् संशयादि द्वारा ज्ञान काल में भी

अयं तु विशेषो यदसाधारणो दशाविशेषे दोषः विशेषदर्शने सति संशयसत्प्रतिपक्षयोर्द्वारयोरनुदयात् सत्प्रतिपक्षवत् साधारणानुपसंहारिणौ तु नित्यदोषाविति । प्राञ्चस्तु असिद्धानैकान्तिकौ त्वदुक्तरीत्या यद्यपि प्रत्येकं त्रिविधौ तथापि सामग्रीविरहत्वेन संशायकत्वेन च दूषयन्तौ द्वावेवेति मुनेराशयः ।

प्रति बन्धक होता है ।-जैसे सत्प्रतिपक्ष ज्ञान काल में ही प्रति बन्धक होता हुआ अनित्य दोष कहलाता है । विशेष दर्शनकाल में संशयादिक के अनुत्पन्न होने से प्रतिबन्धकत्व नहीं होता है अर्थात् असाधारण तथा सत्प्रतिपक्ष दशा विशेष में प्रतिबन्धक होने से अनित्य दोष है, ज्ञानाकाल में प्रतिबन्धक न होता हुआ दोष नहीं है । साधारण व अनुपसंहारी ये दोनों नित्य दोष है । प्रकृत विषय में प्राचीन का मत है कि असिद्ध तथा अनैकान्तिक दोनों अवान्तर भेद से तोन तीन भेद वाले हैं तथापि असिद्ध सामग्री विरह रूप से और अनैकान्तिक संशायकत्व रूप से प्रति बन्धक होने से दो ही कहे जाते हैं, ऐसा महामुनि का अभिप्राय हैं । अर्थात् असिद्धि में अवान्तर भेद रहने पर भी सामग्री विरह रूपता सर्वान्युस्यूत है, इस रूप से असिद्ध एक है तथा साधारणादि अवान्तर भेद होने पर भी संशयोत्थापकत्व रूप को एक होने से एकत्व है ।

अथ सत्प्रतिपक्षः

अत्र केचित् । तुल्यबलबोधितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्षितः तद्यथा तुल्यबलेन समानव्याप्तिपक्षधर्मताकत्वेन रूपेणानुमितिभागित्वाभिमतेन वादिना ज्ञायमानेन लिङ्गत्वाभिमतेन प्रतिहेतुना यदीयः साध्यविपर्ययो बोधितो बोधयितुमारब्धः स सत्प्रतिपक्षित इति ईदृशौ चात्र द्वावपि हेतू इति द्वावपि सत्प्रतिपक्षितौ । बाधितस्त्वधिकबलबोधितसाध्यविपर्ययक इति

यहां कोई कहते हैं कि तुल्यबल अर्थात् समान बलवाला जो प्रति हेतु, उससे बोधित ज्ञापित है साध्य का अभाव जिसका, ऐसा जो हेतु, उसका नाम होता है सत्प्रति पक्षित । 'सत्विद्यते प्रतिपक्षो विरोधी परामर्शो यस्य स सत्प्रतिपक्षः' विद्यामान है प्रतिपक्ष विरोधी परामर्श जिसको, ऐसा जो हेतु सो सत्प्रतिपक्ष है । प्रत्प्रतिपक्ष में दो हेतु होते हैं, पर्वत वह्निवाला है धूम होने से । पवं वह्न्यभाव वाला है पाषाण मयत्व होने से । यहां वह्निव्याप्य धूमवाला पर्वत है, इसमें प्रथम परामर्श वाला हेतु धूम है और वह्न्यभाव व्याप्य पाषाण-मयत्ववान् पर्वत है, एतादृश परामर्श वाला द्वितीय हेतु है, इसमें द्वितीय हेतु का जो साध्य उसका प्रतिबन्धक होता है प्रथम परामर्श विशिष्ट प्रथम हेतु धूम । तब इस प्रकार

ततोऽस्य भेदः इदं तु स्वार्थपरार्थयोः साधारणमस्य रूपं एवं च बलं व्याप्तिपक्षधर्मते उभयलिङ्गगतयोस्तयोस्तौल्यं वैज्ञानिकं तथात्वेन ज्ञातो वाऽनुमितिभागित्वाभिमत इत्येवं वर्णने

से जब तक विरोधी ज्ञान रहता है तब तक एक भी अनुमिति नहीं होती है, इस प्रकार से सत्प्रतिपक्ष दोष कहलाता है।) उक्त लक्षण घटाने के लिये ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं, 'तद्यथेत्यादि' तुल्यबल से अर्थात् समान व्याप्ति पक्षधर्मनाकत्व रूप से अनुमिति जनकत्वेन अभिमत से वादि से ज्ञायमान लिंगत्वरूप से अभिमत जो प्रति हेतु अर्थात् द्वितीय हेतु से जिस हेतु के संबन्धी साध्य का विपर्यय अर्थात् साध्याभाव बोधित हो अर्थात् बोधित कराया जाता हो, ऐसा जो हेतु सो सत्प्रतिपक्षित कहलाता है। इस प्रकार के सत्प्रपक्ष स्थल में दोनों हेतु होते है। अर्थात् प्रथम हेतु का जो साध्य है तदभाव का बोधन सो द्वितीय से होता है। तथा द्वितीय हेतु का जो साध्य है, उसका अभाव प्रथम से होता है, इसलिये दोनों ही हेतु सत्प्रतिपक्षित कहलाते हैं। और वाधित जो हेतु है सो तो अधिक बलवान् हेत्वन्तर से बोधित साध्य विपर्यय वान होता है, इसलिये सत्प्रतिपक्षित हेतुसे वाधित हेतु भिन्न होता है। सत्प्रतिपक्ष हेतु का यह साधारण अर्थात् समान रूप होता है, स्वार्थानुमान हो वा परार्थानुमान हो। ऐसा होने से बल शब्द का अर्थ होता है व्याप्ति और पक्षधर्मता। दोनो हेतु में रहने वाली जो व्याप्ति और

बहुषु दूषणेषु निरस्तेष्वपि सत्प्रतिपक्षहेत्वोरबोधकत्वप्रयुक्तानि खण्डनान्यवशिष्यन्ते । तत्र ब्रूमः । मिथः प्रत्यनीकव्याप्यतयावगतयोरेकधर्मिणि प्रतिसन्धीयमानयोस्तद्व्यापकीभूतगोचराया अनुमितेर्नोत्पत्तिः अन्यथा तत्सत्त्वे तद्व्यापकयोरुभ-

---

पक्षधर्मता, उनमें जो समानता है सो वैज्ञानिक है । अर्थात् परस्पर निरूप्य निरूपक भावापन्न विषयता रूप ही है न तु वास्तविक है । अथवा व्याप्ति पक्षधर्मतावत्वेन ज्ञायमान होकर के अनुमिति जनकत्व रूप से अभिमत है । इस प्रकार वर्णन करने से यद्यपि अनेक दोषों का निरास हो जाता है तथापि सत्प्रतिपक्षित हेतु द्वय में अबोधकत्व प्रयुक्त अनेक खण्डन अवशिष्ट रह जाते है । इस स्थिति में मैं कहता हूँ तत्रब्रूम इत्यादि, मिथः अर्थात् परस्पर विरोधी व्याप्ति विशिष्टत्वेन ज्ञायमान् हेतु द्वय को एक धर्मी एक अधिकरण में प्रति सन्धीयमान दो हेतु को, स्व व्यापक जो साध्य तद्विषयक अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अर्थात् विरुद्ध तया ज्ञायमान हेतु द्वय से एक अधिकरण में स्व स्व साध्य विषयक अनुमिति कथमपि नहीं होगी, अन्यथा परस्पर वरोधिता के प्रतिसन्धान काल में भी यदि एक अधिकरण में तादृश हेतु द्वय को अनुमिति जनकत्वाभाव नही मानें तब तो विरुद्ध हेतु के सत्ताकाल में एक अधिकरण में तत्तत् हेतु का व्यापक साध्य द्वय का व्यवहार होना चाहिये ?

योरपि व्यवहारः स्याद्विनिगमनाविरहात् द्वयोरपि याथार्थ्ये वस्तुनो विरुद्धद्वैरूप्यं च स्यात् तस्माद्व्याप्तिपक्षधर्मताधीसद्भावेप्यनुमितिरसम्भवन्ती कमपि स्वप्रतिबन्धकमाक्षिपति तच्च प्रतिबन्धकं न तावदुभयलिङ्गव्याप्तिपक्षधर्मतावगाहितृतीयलिङ्गपरामर्शविषयीभूतव्याप्तिपक्षधर्मतासंशयः विरोधिसन्धान-

---

और विनिगमता विरह से यदि दोनों को यथार्थ मानें तब तो एक ही अधिकरण में विरूद्ध द्वैतरूप्यवत्व हो जायगा। तस्मात् व्याप्ति पक्ष धर्मता ज्ञान के सद्भाव में भी न होती हुई अनुमिति किसी प्रति बन्धक का आक्षेप करती है। वह प्रतिबन्धक तो उभय लिंग हेतु की व्याप्ति पक्ष धर्मता का अवगाहन करने वाला जो तृतीय लिंग परामर्श, उस परामर्श का विषय जो व्याप्ति पक्षवत्ता, उसका जो सन्देह है सो प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है, क्योंकि विरोधी के अनुसंधान के विना तादृश संशय ही नहीं हो सकता है। तस्मात् प्रथमोपस्थितिक होने से अन्तरग होने से तथा उपजीव्य होने से परस्पर विरोधी व्याप्यत्वेन अवगम्य मान जो धर्म द्वय अर्थात् हेतुद्वय उन दोनो का एक धर्मी अधिकरण में जो प्रति सन्धीय मानत्व है वही "विरुद्ध कोटि द्वयावगाही ज्ञान जन्य होने से प्रति बन्धक है जिससे कि एक धर्मी में तादृशानुमिति का उत्पादन नहीं होता है। एवं च सति, ऐसा जब हुआ तब तुल्य बल वाले हेतु से बोधित है साध्य का अभाव जिसका उसको, सत्प्रतिपक्ष कहते है, ऐसी

मन्तरेण तस्यैवानुदयात् तस्मात्प्राथम्यादन्तरङ्गत्वादुपजीव्यत्वाच्च मिथः प्रत्यनीकव्याप्यतयावगम्यमानयोः धर्मयोरेकत्र धर्मिणि प्रतिसन्धीयमानत्वमेव विरोधिकोटिग्रहणजन्यतया प्रतिबन्धकं एवं च सति तुल्यबलबोधितसाध्यविपर्ययत्वं सत्प्रतिपक्षत्वमिति यदाशङ्क्याथ दूषितं तदयुक्तं न हि तत्रैकमपि साधनं स्वसाध्यं बोधयत्यपरेण प्रतिबन्धादिति न चाविनिगमादुभयोः

आशंका करके लक्षण को दूषित किया है, सो अयुक्त है। उस सत्प्रतिपक्ष स्थल में कोई भी एक साधन अपने साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता है, इतर हेतु से प्रतिबन्ध होने के कारण से। नहीं कहो कि विनिगमक के अभाव होने से उभयसाध्यको एकानुमिति उत्पन्नता होती है वह अनुमिति परस्पर विरुद्धार्थावगाहिनी होने से संशयाकारा होगी। अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्न वा" पर्वत वह्निमान् है अथवा वह्न्यभाववान् है ? इत्याकारिका रत्नकोशकारमताभिप्रायिका होगी ? और संशायक होने से हेत्वाभास होगा। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो मिलित हेतु द्वय संशय का जनक होगा और प्रत्येक हेतु अर्थात् उन दोनों के बीच मे एक एक हेतु हेत्वाभास होगा। ऐसा हुआ तब तो जो संशय का जनक हुआ सो हेत्वाभास नहीं हुआ, तथा जो हेत्वाभास हुआ सो संशय जनक नहीं हुआ। यह तो महान अनर्थ हो गया।

साध्ययोरेकैवानुमितिरुदेति सा च परस्परविरुद्धार्थवगाहित्वे-नार्थात्संशयाकारे ति संशायकत्वेनास्याभासत्वमिति वाच्यं तर्हि द्वयं मिलितं संशायकं प्रत्येकं च हेत्वाभास इति यो हेत्वाभासः स न संशाययति यस्तु संशायति स न हेत्वाभासः इति महद्वैशसं अथ द्वयोर्मिथो विरुद्धव्याप्ययोरेकत्रदर्शनाज्जिज्ञा-सोदेति अनयोः साध्ययोरनयोश्च हेत्वोः किं तत्त्वमिति तेनेदृशजिज्ञासाजनकत्वमेव सत्प्रतिपक्षितत्वमिति तन्न । जिज्ञासाजननेप्येकस्मिन्धर्मिणिविरोधिसाधनद्वयप्रतिसन्धानमेव

प्रश्न–विरुद्ध व्याप्ति द्वय वाले जो हेतु द्वय उन दोनों का एक अधिकरण में समावेश देखकर अर्थात् वह्निसाधक धूम तथा वह्न्यभाव साधक पाषाणमयत्व को एक पर्वत रूप अधिकरण में देखकर तादृश द्रष्टा पुरुष के मन में जिज्ञासा होती है कि इन दोनों साध्य में तथा इन दोनों हेतु में से कौन सत् है और कौन असत् है ? इसलिते यथोक्त जिज्ञासा का उत्पादकत्व ही सत्प्रतिपक्षत्व है। एतदतिरिक्त हेतु स्थल में एतादृश जिज्ञासा नहीं होती है।

उत्तर–यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एतादृश जिज्ञासा के उदय में तो एक अधिकरण में विरोधी साधन द्वय का जो प्रतिसन्धान अर्थात् ज्ञान वही तंत्र अर्थात् विवक्षित है, जनक रूप से। तब तो प्रथमोपस्थितिक होने से तथा आवश्यक होने से उसी को अर्थात् एक अधिकरण

तन्त्रमिति प्राथम्यादावश्यकत्वाच्च तदेव दोषः तेन गमकतौपयिकव्याप्तिपक्षधर्मताधीविषयेण यत्साध्यधीप्रतिबन्धनं तदेव सत्प्रतिपक्षितलक्षणं नन्वेवं कार्यं प्रतिबन्धन्प्रतिहेतुः सत्प्रतिपक्षयिता तेन च प्रतिरुद्धकार्यः सत्प्रतिपक्षित इति त्वद्वाक्यार्थः तथा च सत्प्रतिपक्षितत्वस्य ज्ञातस्य दोषतया तज्ज्ञाने सति कार्यप्रतिबन्धः कार्यप्रतिबन्धे च सति तद्‌घटितसत्प्रतिपक्षत्वसिद्धौ तज्ज्ञानमित्यन्योन्याश्रयः स्यात् न स्यात् कार्यप्रतिबन्धो

में विरोधी हेतु द्वय के सनुसन्धान को ही दोष मानिये। इसलिये अनुमिति जनकता में कारणी भूत जो व्याप्ति पक्ष धर्मता विषयक ज्ञान, उस ज्ञान से अनुमिति का जो प्रतिबन्ध होना, यही सत्प्रतिपक्ष का लक्षण उचित है।

प्रश्न—इस प्रकार से कार्य का प्रतिबन्धक होता हुआ प्रति हेतु द्वितीय हेतु को सत्प्रतिपक्षित बनाता है, उस द्वितीय हेतु से प्रतिरुद्ध है कार्य जिसका ऐसा जो हेतु सो सत्प्रतिपक्षित है, ऐसा आपके वाक्य का अर्थ होता है। ऐसा हुआ तब ज्ञान जो सत्प्रतिपक्षितत्व उसका दोष रूप से ज्ञान होने पर कार्य का प्रतिबन्ध होगा। और जब कार्य का प्रतिबन्ध हो जायगा तब तद्घटित सत्प्रतिपक्षितत्व सिद्ध होने पर उसका ज्ञान होगा। तो इस प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है।

उत्तर—नही होगा। क्योंकि कार्य अनुमिति का जो

हि सत्प्रतिपक्षस्य फलं सत्प्रतिपक्षस्तु विरुद्धानुमितिहेतुभूतव्याप्तिपक्षधर्मतोपपन्नलिङ्गोपस्थितिः सा चावश्यं विपरीतानुमितिं प्रतिबध्नातीहि द्वयोरप्यनुमित्योः प्रतिबन्धः बाधस्तु नैवम्। ननु बाधे बलवता प्रमाणेन प्रकृतानुमितेः प्रतिबन्ध

प्रतिबन्ध है सो तो सत्प्रतिपक्ष का फल है और सत्प्रतिपक्ष तो परस्पर विरुद्ध जो अनुमिति द्वय, उसमें कारणीभूत जो व्याप्ति पक्षधर्मता विशिष्ट लिंग, उसकी जो उपस्थिति अर्थात् ज्ञान, उसी का नाम है सत्प्रतिपक्ष। यह जो एतादृश लिंगोपस्थिति है सो अवश्यमेव विपरीतानूमिति का प्रतिबन्ध करने वाली है, इसलिये सत्प्रतिपक्ष स्थल में दोनों ही अनुमिति का परस्पर हेतु से प्रतिबन्ध हो जाता है। और बाध दोष तो ऐसा नहीं है, वह तो तद्वत्ता बुद्धि के तदभाव निश्चय ज्ञापन द्वारा प्रति बन्धक है।

प्रश्न—बाधस्थल में तो बलवान् प्रमाण से प्रकृत अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है, और यहां सत्प्रतिपक्षस्थल में तो समान बलवान हेत्वन्तर से प्रकृतानुमिति का प्रतिबन्ध होता है, इसलिये बाध से इस सत्प्रतिपक्ष का भेद होगा। ऐसा कहा है। विरोधी जो बोधक उससे भिन्न साधकता में कारणीभूत जो रूप, तदात्मक सम्पत्तिमत्वेन ज्ञायमान जो प्रतिहेतु, उससे प्रतिरुद्ध है कार्य (अनुमित्यात्मक) जिसका, ऐसा जो लिंग हेतु, तादृश लिंगत्व ही सत्प्रतिपक्ष है। यहां

इह तु समानबलेनेति ततोऽस्य भेदः स्यात् तदुक्तं विरोधिबोध-
कान्यगमकतौपयिकरूपसम्पत्तिमत्तया ज्ञायमानेन प्रतिरुद्धकार्य-
लिङ्गत्वं अत्र चोपजीव्येनानुमानेन बाधेऽतिव्याप्तिवारणाय
विरोधि बोधकान्येति गमकतौपायिकरूपसम्पत्तिमत्ताया
विशेषणं। हन्तैवं बाधे बलवता प्रतिबन्धः सत्प्रतिपक्षे तु समा-
नबलेनेति प्रतिबन्धाविशेषादुभयोरैक्यं स्यात् इति चेन्नैवम्। एवं
हि पञ्चानामप्यैक्यं स्यात् अनुमितिप्रतिबन्धलक्षण फलावि-

उपजीव्य अनुमान से बाध में अतिव्याप्ति वारण करने
के लिये विरोधि बोधकान्यत्व गमक तौपयोगिक रूप सम्प-
त्तिमत्ता का विशेषण दिया गया है। ऐसा होने पर बाध में
बलवत्प्रमाणान्तर से प्रकृतानुमिति का प्रतिबन्ध होता हैं।
और सत्प्रतिपक्ष में तो समान बलवान प्रतिहेतु से
अनुमिति का प्रतिबन्ध होता हैं। तब प्रतिवन्ध तो दोनों
जगह अर्थात् बाध सत्प्रति उभय में समान ही है
तब तो दोनों दोष एक हो जोने चाहिये।

उत्तर–यदि यत्किंचित् समानता को लेकर के एक-
त्वापादन करें तब तो पाँचो हेंत्वाभास को भी एकत्व हो
जाना चाहिये। अनुमिति प्रतिवन्ध लक्षण फल तो सब
में समान ही है। अर्थात् जो भी कोई हेतु हो वह यदि
दुष्ट हो जाय तो वहां अनुमिति नहीं होती है। तब
अनुमिति बन्धकत्व सर्वत्र एक रूप से होने से सभी हेत्वा-
भास को एक ही हो जाना चाहिये।

शेषात् । किं नश्छिन्नमिति चेत् नहि फलैक्ये हेत्वैक्यं सम्भवति फलस्य ततो भेदात् किन्तु शरीरैक्ये तच्च न पञ्चानां न वाऽनयोरपीति । ननु समानत्वाभिमता विरुद्धव्याप्तिपक्षधर्मतोपपन्नलिंगोपस्थितिः सत्प्रतिपक्षः तत्कवलितः सत्प्रतिपक्षित इति त्वन्मतं तथा च सत्प्रतिपक्षस्य हेतुदोषस्य हेत्वाभासान्तरज्ञानावश्यकत्वे उपस्थितेरपि ज्ञानं वाच्य तथा य समानबलत्वेन

प्रश्न–तो इसमें मेरा क्या बिगडता है ? भले एक ही हेत्वाभास रहै ।

उत्तर–फल की एकता होने से हेतु की एकता संभवित नहीं होता है फल के हेतुसे भिन्न होने के कारण से । किन्तु शरीर की एकता होने से हेतु में एकता होती है । शरीर का एकत्व पांचों हेत्वाभासों को नहीं है, न वा बाध सत्प्रतिपक्ष की शरीर की एकता है ।

प्रश्न–समान बलवत्व रूप से अभिमत जो विरुद्ध व्याप्ति पक्ष धर्मता से विशिष्ट लिंग, तदुपस्थित उसी, नाम है सत्प्रतिपक्ष । तत्कवलित तद्धटित अर्थात् सत्प्रतिपक्ष दोष युक्त जो हेतु सो सत्प्रतिपक्षित होता है, ऐसा आपका मत है । तब हेतु का दोष जो सत्प्रतिपक्ष उसमें हेत्वाभासान्तर ज्ञान के आवश्यक होने से उपस्थिति का ज्ञान भी कहना चाहिये । तब समान बलवत्व रूप से ज्ञाय मान का ज्ञान भी होना चाहिये, परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि समान-

ज्ञायमानस्य ज्ञानमपीह वाच्यं तच्चायुक्तं समानबलोपस्थितिरेव प्रतिबन्धिका न तु तद्धीरपि तत्सत्त्वे तद्विलम्बेन प्रतिबन्धविलम्बादर्शनादिति चेत्। अत्राहुः येन ज्ञानेन हेत्वाभासशरीरं निर्मीयते तस्य ज्ञानमवश्यं वाच्यं यथा व्यभिचारे निश्चितसाध्याभाववद्गामित्वलक्षणे निश्चयस्यापि ज्ञानं बाढं सत्प्रतिपक्षस्थलेऽप्युपस्थितेर्ज्ञानमवश्यमेवेष्टव्यमिति हेत्वाभासानां ज्ञाननियम इत्यप्याहुः।

ननु बाधो दोषो न तु बाधकं बाधश्च साध्याभावप्रमेति

बलोपस्थिति ही तो अनुमिति में प्रति बन्धक है। न तु उपस्थिति का ज्ञान भी प्रतिबन्धक है। उपस्थिति के रहने पर उपस्थित विषयक ज्ञान के विलम्ब से प्रतिबन्ध में विलम्ब देखने में नहीं आता है।

उत्तर—अत्राहुः जिस ज्ञान के द्वारा हेत्वाभास का शरीर निर्मित होता है। उसका ज्ञान होना आवश्यक है, जैसे निश्चित साध्याभावाधिकरण वृत्तित्व लक्षण व्यभिचार में निश्चय का ज्ञान आवश्यक होता है उसी प्रकार से सत्प्रतिपक्ष स्थल में भी उपस्थिति का ज्ञान आवश्यक है, हेत्वाभास ज्ञान के आवश्यकहोने से।

प्रश्न—बाध है दोष, न कि बाधक दोष है। बाध नाम है साध्याभाव प्रकारक जो प्रमा जैसे वह्न्यभाववत् ह्रद विषयक निश्चय। इसलिये फल है दोष, न कि करण

फलं दोषो न तु करणं तथा सत्प्रतिपक्षे विरुद्धं करणं बाधे तु विरुद्धं फलं दोषः अत । एव साध्याभावप्रमायाः प्रामाण्यग्रहः प्रतिबन्धक इति तवैव सिद्धान्तोद्गार इति चेत् । अत्र केचित् बाधे प्राथम्यात्करणस्यैव दोषत्वं वस्तुतस्तु करणमपि स्वफलीभविष्यद्विरुद्धावगतिं विना न दूषयितुमलमिति तस्य तदुपधानमवश्यं वाच्यं तथा च चरमोत्पन्नापि साध्याभावधीर्बाधकस्य दूषकत्वे प्रथमोपस्थिता चोपजीव्या चेति विवक्षित-

---

दोष है। तथा सत्प्रतिपक्ष में विरुद्ध जो करण सो दोष होता है, और बाध में विरुद्ध जो फल सो भी दोष है। अत एव साध्याभाव प्रकारक जो प्रमा तद्गत जो प्रामाण्य का ज्ञान उसी को प्रतिबन्धकत्व होता है, ऐसा आपका ही सिद्धान्त है।

उत्तर–यहाँ कोई कहते हैं--बाध में प्रथमोपस्थितिक होने से करण ही दोष है। वस्तु तस्तु स्वफल के लिये करण होता हुआ करण भी विरुद्ध हेतु विषयक ज्ञान के बिना अनुमिति को दूषित करने में समर्थ नहीं हो सकता है। इसलिये फल जनकत्व करण को कहना आवश्यक है। ऐसा हुआ तब चरम में उत्पन्न होने वाली भी साध्याभाव प्रकारक प्रमा बाधक की दूषक होने में प्रथमोपस्थित है तथा उपजीव्य है। इसलिये विवक्षित विवेक से साध्याभाव प्रमा ही बाध दोष है। इसी प्रकार से सत्प्रतिपक्ष में

त्रिवेकेन सैव वाधो दोषः तथा च सत्प्रतिपक्षे विपरीतं करणं प्रतिबन्धकं तत्र फलोदयस्यासम्भवात् बाधे तु विपरीतं फलमेव प्रतिबन्धकमिति क्वानयोः सङ्करसम्भावनापि एवं व्यवस्थापिते एतत्प्रणालीमजानानं प्रति विरोधिवोधकान्येत्युपलक्षणविधयोक्तमिति सर्वं सुस्थम् । यत्तु द्वे अप्यनुमाने सत्प्रतिपक्षिते सती जाती इति गुरुमतमवेत्य स्वव्याघातकत्वं त्वन्मते न सदुत्तरे सत्प्रतिपक्षेऽतिव्याप्तं तथाहि स्थापनाहे-

---

विपरीत जो करण है वही प्रतिबन्धक है और दोष है। क्योंकि सत्प्रतिपक्ष में अनुमिति रूप फल की उत्पत्ति नहीं होती है। बाधस्थल में तो विपरीत जो फल है वही प्रतिबन्धक होता है। इस स्थिति में बाध प्रतिपक्ष में सांकर्य की सम्भावना भी नही होती है। इसलिये यथोक्त रूप से व्यवस्था होने से इस प्रणाली को न जानने वाले व्यक्ति के प्रति विरोधि बोधकान्य पद का उपलक्षण रूप से लक्षण में कथन किया गया है। जिस किसी ने कहा है कि दोनों अनुमान जब सत्प्रतिपक्षित होते हैं तब जाति रूप हो जाते हैं. इस प्रकार से गुरु मत को जान (प्राप्त) करके स्व व्याघातकत्व जाति है। आपके मत से सदुत्तर नहीं है, तो यह जातिलक्षण सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्त होता है, अर्थात् सत्प्रतिपक्ष में स्व व्याघातकत्व वा असदुत्तरत्व रूप जातित्व हो जाता है। तथाहि स्थापना

तुरसाधकः समबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादितिवत् सत्प्रतिपक्षत्वं अनेनैव हेतुना त्वस्याप्यसाधकत्वं साधयितुं क्षममुभयोरपि सत्प्रतिपक्षत्वाविशेषादिति खण्डनं । तन्न । अबोधात् जातौ हि साधर्म्यमात्रं बलं तच्च स्थापनाजात्योः समानमेवेति जातिवाद्याशयः । समीकरणाभिसन्धिनैव जात्युत्थानात् स्वप्रयोगस्य बलवत्त्वाभिमाने च समीकरणाभिसन्धिना तदुत्थानमेव न स्यात् तथा च जातिवत्स्थापनापि स्वसाध्यं साधयेत्

हेतु असाधक है समान बल वाला है प्रतिपक्ष से प्रतिहत होने से इसके समान सत्प्रतिपक्षत्वभी इसी हेतु से (समबल प्रतिपक्ष हतत्व हेतु से) स्व में भी असाधकत्व के साधन करने में समथ होगा । क्योंकि दोनों में सत्प्रतिपक्षत्व समान रूप होने से, ऐसा खण्डनग्रन्थ है ।

उत्तर–त न, सो ठीक नहीं है । अबोधात्, आपको यथार्थ ज्ञान नहीं है, तथाहि जाति दोष में साधर्म्य मात्र बल रहता है, एतादृश बलस्थापनानुमान में तथा जाति में समान ही है, ऐसा जाति वादी का आशय है, समानता के अभिप्राय से ही जाति दोष का उत्थान किया गया है । यदि स्व प्रयोग में बलवत्व का अभिमान रहै तब तो समानता के अभिप्राय से स्व प्रयोग का उत्थान ही नहीं होगा । तब तो जाति दोष के समान स्थापनानुमान भी स्व साध्य का साधन करेगा और जाति साध्य के विपरीत साधर्म्यान्तर

तथा साधर्म्यान्तरमपि जातिसाध्यविपरीतं साधयेत् साधर्म्यत्वेन तस्यापि स्थापनाजात्युभयतुल्यत्वात् तस्माद्यथा जातिवादी समबलयानुमानप्रतिहतत्वेन स्थापनाया असाधकतां मन्यते स्थापयति च तथा तत एवाविशेषात् स्वानुमानस्यापि तथा मन्येत साधयेच्चेति भवति जातेः स्वव्याघातकत्वं सत्प्रतिपक्षे तु नैवं न हि तत्रोच्चारयिता स्थापको वा द्वयोः समबलत्वं मन्यते किन्तु स्वानुमानस्य बलवत्त्वमपरस्य तु विशेषा-

---

का भी साधन करेगा, क्योंकि साधर्म्यत्व रूप से साधर्म्यान्तर भी स्थापमान तथा जाति उभय के तुल्य है। तस्मात् जिस तरह जातिवादी समबलानुमानप्रतिहतत्व हेतु से स्थापनानुमान को असाधक मानता है तथा स्वयं तादृश रूप से स्थापना भी करता है। तथा उसी तरह से तादृश समानता को लेकर के स्वकीय अनुमान को भी मानता है तथा साधन भो करता है। इसलिये जाति दोष को स्व व्याघातकत्व होता है। सत्प्रतिपक्ष में तो ऐसा नहीं है क्योंकि उच्चारयिता अथवा स्थापक दोनों अनुमान में समबलत्व नहीं मानते हैं किन्तु स्वकीय अनुमान में मानते हैं। दूसरे को अनुमान में विशेषा-दर्शन दशा में आभिमानिक बल के भ्रम मात्र को जानता है। ऐसा होने के बाद परकीयानुमान में स्यकीय बलवत् हेतु से प्रतिबद्ध होने के कारण से असाधकता को सिद्ध

दर्शनदशायां बलभ्रममात्रमिति हि तस्याभिमानात् तथा च परानुमानस्यासाधकतामयं बलवत्प्रतिबन्धत्वेन साधयति न तु स्वानुमानस्य तथा साधयितुं क्षमते तेन परानुमानस्य बलवत्त्वानङ्गीकारेण स्वानुमानस्य बलवत्प्रतिबन्धत्वानभ्युपगमात् किन्तु बलवत्त्वाभिमतमपरानुमानं प्रतिबन्धकं मन्यते तेन च रूपेण न परस्यासाधकतां साधयति मदनुमानं बलवत्त्वेनावगतं किन्तु बलवन्न भवतीति तेनानगींकारात् तथा च बलवत्प्रतिबन्धत्वेन परस्यासाधकतां साधयति न तु स्वस्यापि तेन रूपेणेति न सत्प्रतिपक्षः स्वव्याघातक इति । ननु सत्प्रतिपक्षत्वेनासाधकता-

---

करते है। न कि स्वानुमान में असाधकता का साधन करने में समर्थ होता। परानुमान को बलवान् तथा स्वकोयानुमान में बलवान् हेतु से प्रति बद्ध को नहीं मानता है। किन्तु बलवत्वेन अभिमत अपर अनुमान को प्रतिबन्धक मानता हैं। तादृश रूप से परानुमान में असाधकता को सिद्ध नही करता हैं। मदीयानुमान बलवत्वेन उसको अवगत है किन्तु बलवान् नहीं है ऐसा स्वीकार नही किया। ऐसा होने से बलावान् हेतु से प्रतिबद्ध होने के कारण परकीयानुमान में असाधकता को सिद्ध करता है, नतु स्वानुमान में तेन रूपेण असाधकता को सिद्ध करता है। इसलिये सत्प्रतिपक्ष दोष स्वव्याघातक नहीं होता है।

साधनन्तस्यैव हेतुदोषत्वात्तच्च द्वयोः समानमेवेति चेत् । सत्यम् । एकेन ह्यपरानुमानस्यासाधकता साध्यते सा च बलवत्प्रतिबन्धत्वलक्षणेन सत्प्रतिपक्षत्वेन न तु स्वस्यापि तथा साधयितुं शक्नोति बलवत्प्रतिबन्धत्वलक्षणस्य हेतोः स्वयमेवानभ्युपगमात्। ननु तथापि स्थेयादिः सत्प्रतिपक्षितत्वेन द्वयोरप्यसाधकतां साधयितुं शक्नोत्येवेति भवत्येव सत्प्रतिपक्षत्वं व्याघातकमिति चेत् । सत्यम्। तथापि सत्प्रतिपक्षयिता यद्वलवत्प्रतिबन्धत्वमाद्रियते तन्नोभयसाधारणत्वेन मन्यत इति

प्रश्न—सत्प्रतिपक्षत्वेन जो असाधकता का साधन है, उसी को हेतु दोषत्व है। यह जो हेतु दोषत्व है सो तो दोनों हेतु में समान ही है।

उत्तर—सत्यं, ठीक है एक हेतु से अपरानुमान में असाधकत्व का साधन किया जाता है। वह जो असाधकता है सो बलवत् प्रतिबन्धकत्व लक्षण जो सत्प्रतिपक्षत्व उसके द्वारा होती है। स्वकीय हेतू में एतादृश असाधकता की सिद्धि नहीं की जा सकती, बलवत्प्रतिबन्धकत्व स्व हेतु में स्वीकार नहीं किया है।

प्रश्न—मध्यस्थ व्यक्ति (स्थेयादि) दोनों हेतु में सत्प्रतिपक्षितत्व रूप से असाधकता का साधन कर सकता है। इसलिये सत्प्रतिपक्षत्व भी व्याघातक है।

उत्तर—सत्प्रतिपक्ष दोष देने वाला जो बलवत् प्रति-

स्वाशयानुसारेण सदुत्तरयन्न तेन व्याहन्यते जातिवादी तु तथेतिविशेषः अत एव सत्प्रतिपक्षः सदुत्तरं जातिरसदुत्तरमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । एतद्विरुद्धार्थाभिप्रायो तु गुरुरपि लघुरेवेति एवमपि रत्नप्रकाशतद्बोधावपि नेयावितिसंक्षेपः । निरालम्ब-नाद्यनुमानमपि व्याप्त्यादिपुरस्कारप्रयुक्तं सदुत्तरमेव तदपुर-स्कारप्रयुक्तं तु जातिरिति विवेकः ।

अथ बाधो निरूप्यते

तत्र तावत्साध्याभावप्रमा बाधः प्रमिताभावप्रतियोगि-

बन्धकता का आदर करता है सो उभय साधारणत्वेन नहीं मानता हैं । अपने अभिप्राय के अनुसार से सत् उत्तर करता हुआ उससे व्याहत नहीं होता है, जातिवादि तो व्याहत होता है अत एव सत्प्रतिपक्ष सदुत्तर है और जाति असदुत्तर है ऐसा सभी दर्शनानुमत है । इसके विरुद्ध कथन करने वाले गुरु भी लघु ही हैं । रत्न प्रकाशादि मत को भी इसी प्रकार संगत करना चाहिये । निरालम्बनादि अनुमान भी व्याप्त्यादि प्रयुक्त हों तब तो वह भी सदुत्तर हैं और यदि व्याप्त्यादि रहित हो तो वह जाति रूप है ।

अब बाध का निरूपण करते हैं

अथ सत्प्रतिपक्ष के निर्वचन के अनन्तर बाध का निरूपण करते हैं । बाधादिक हेत्वाभास का खण्डनकार ने बाध स्वरूप को अनवस्थितप्राय उत्पन्न ग्रन्थ कहा है ।

साध्यको बाधितः यद्यप्यकेवलान्वयिनः सर्वस्यैव साध्याभाव-

अतः यहां उद्धार कर्ता कहते हैं कि बाघ में जो बाधत्व है उसका दिग्दर्शन कराया जाता है। तत्र निर्वचन प्रसंग में साध्याभाव प्रकारक जो प्रमा उसको बाध कहते है (जैसे वह्निमान ह्रद यहां ह्रद वह्न्य भाव वाला है, साध्याभाव वह्न्यभाव तत्प्रकारक वह्न्यभाव है प्रकार जिसमें ऐसी जो प्रमा, वह्न्यभाववान् ह्रदः इत्याकारक जो प्रमा उसी का नाम है बाध। बाध निश्चय रहने से वह्निमान् ह्रद इस अनुमिति का प्रनिबन्ध हो जाता हैं।) तथा प्रमित प्रमा विषयोभूत जो साध्याभाव, उसका प्रतियोगी जो साध्य, तत्सम्बन्धी जो हेतु सो बाधित कहलाता है। यद्यपि अकेवलान्वयी सभी हेतुओं की साध्याभाव प्रमा हो सकती है, इसलिये व्यतिरेकी साध्यक वह्न्यादि साध्यक सकल हेतु में बाध का लक्षण जाने से सद्धेतु में अति व्याप्ति होती है, तथापि बाध लक्षण घटक जो साध्याभाव प्रमा है सो पक्ष में विवक्षित है अर्थात् पक्ष मे जो साध्याभाव प्रमा उसका नाम बाधक होता है। विश्वनाथ भट्टाचार्य ने भी कहा है और युक्ति सिद्ध भी यही है, वाध्य बाधक भाव अधिकरण को अन्तर्भाव करके ही होता है। वह्निवाला जल है इस बुद्धि के प्रति वह्न्यभाव वाला जल है यही प्रति वन्धक होता है। न तु वह्न्यभाव वाला भूतल है इत्याकारक निश्चय वह्निवाला जल है

प्रमा सम्भवतीति व्यतिरेकिसाध्यकाशेषसद्धेतुव्याप्तिः तथापि पक्षे सा विवक्षिता बाधे च पक्षतास्तीत्युक्तं तेन पक्षे साध्या-भावप्रमा बाधः न च कपिसंयोगसाध्यके सद्धेतावतिव्याप्तिः

यह प्रतिबन्धक होता है। न तु वह्न्यभाव वाला भूतल है इत्याकारक निश्चय वह्निवाला जल है, इस बुद्धि का बाधक होता है। समान विषय में ही विशिष्ट बुद्धि तथा बाध निश्चय की विरोधिता सर्वा नुमत है। बाध स्थल में पक्षता रहती है, ऐसा कहा गया है। अर्थात् यदि संशय पक्षता है तब जल वह्निमान है वा नहीं ? यह सन्देह ही पक्षता है। यदि सिषाधयिषा पक्षता है तो भो वह्नि की इच्छा रूप पक्षता रहती है, इसलिये पक्ष में पक्षत्वेन अभिमत अधिकरण में जो साध्याभाव प्रकारक प्रमा उसका नाम है बाध। यहा प्रमा शब्द का अर्थ है निश्चयात्मक ज्ञान। अन्यथा प्रमात्वेन प्रतिबन्धकता में गौरव होता है।

प्रश्न–कपि संयोग साध्यक एतद्वृक्षत्व रूप सद्धेतु में बाध लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, अर्थात् पक्ष में साध्या-भाव प्रमा को बाध कहते है तो वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपि संयोग के रहने पर भी मूलावच्छेदेन उसी वृक्ष रूप अधिकरण में कपिसंयोगाभाव रूप साध्याभाव के रहने से पक्ष में साध्याभाव प्रमा रहती है तो अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति होगी। वृक्ष में कपि संयोग के रहने

प्रतियोगिव्यधिकरणेति साध्याभावविशेषणात् । ननु साध्याभावप्रमा गृहीतप्रामाण्या वा प्रतिबध्नीयाद गृहीतप्रामाण्या वा । नाद्यः तस्या बुद्ध्यन्तरमात्रविनाश्यत्वेन तावन्तं कालमनवस्थितेः । नापरः तस्याः संशयोपस्थितिसाध्याभावधीवदधिकबलत्वानवगमेन प्रतिबन्धकत्वायो-

---

पर भी मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव की प्रमा ही है ।

उत्तर–प्रतियोगो व्यधिकरण, यह साध्याभाव का विशेषण साध्याभाव को दिया जाता है, अर्थात् साध्याभाव में प्रतियोगी व्यधिकरण जो साध्याभाव प्रमा, उसको कपिसंयोगी में बाध्य कहते हैं । साध्यभाव प्रमा तो है. परन्तु वह प्रतियोगी समानाधिकरण है प्रतियोगी व्यधिकरणी नहीं है । इसलिये अव्याप्यवृत्ति साध्यक सद्धेतु में अतिव्याप्ति नहीं होती है ।

प्रश्न–यह जो साध्याभाव प्रमा है सो गृहीति प्रामाण्य होकर के अनुमितिकी प्रतिबन्धक होती है अथवा अगृहीत प्रामाण्य होकर के अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है ।

इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योकि वह प्रमा बुध्यन्तर मात्र से विनष्ट होने वाली तादृश प्रमा तावत्काल पर्यन्त स्थिर नहीं रह सकती है । न या द्वितीय पक्ष ठीक है, क्योंकि नहीं है गृहीत प्रामाण्य जिसमें ऐसी जो कोई है सो प्रतिबन्धक नहीं हो सकती है, जैसे संशयोपस्थित साध्याभाव ज्ञान की तरह अधिक बलवत्व का अनवगम अर्थात् अज्ञान

गात् । साध्याभावधियः प्रामाण्यग्रहः प्रतिवन्धक इति चेत् । न तर्हि बाधो दोषः प्रामाण्यस्य ततो भिन्नत्वात् साध्याभावधियः प्रामाण्यग्रहानन्तरं पुनर्जाता साध्याभावधीः सा च विशेषदर्शनोदीच्यत्वेन शङ्कानास्कन्दितेति सैवानुमितिप्रतिबन्धिकेति चेत् सा हि तृतीयलिङ्गपरामर्शादर्वाक् पश्चाद्वा -आद्ये परा-

---

होने से । अर्थात् जैसे संशयात्मक साध्याभाव ज्ञान प्रतिबन्धक साध्यवत्ता ज्ञान में नहीं होता है । इसी तरह गृहीता प्रामाण्यक साध्याभाव प्रमा भी साध्यवत्ता ज्ञान में प्रतिबन्धिका नहीं हो सकेगी । अधिक बलवत्व ज्ञान का अभाव होने से ।

प्रश्न–नहीं कहो कि साध्याभाव विषयक जो ज्ञान तन्निष्ठ जो प्रामाण्य ग्रह वही प्रतिबन्धक होगा ।

उत्तर–तब तो बाध दोष नहीं होगा, क्योंकि प्रामाण्य तो उससे भिन्न है ।

प्रश्न–साध्याभाव ज्ञान का जो प्रामाण्यज्ञान तनन्तर पुनः जायमान जो साध्याभाव बुद्धि वह विशेष दर्शन का उत्तरकालिक होने से शंकाक्रान्त नहीं है इस लिये वह बुद्धि अनुमिति की प्रतिबन्धिका होगी ।

उत्तर–वह जो साध्याभाव धी है सो तृतीय लिंग परामर्श से पहिले होती है वा पश्चात होती है ? इसमें प्रथम पक्ष मानैं तब तो उस परामर्श से ही साध्याभाव की बुद्धि नष्ट हो जायगी, तब अविद्यमान होने के कारण वह बुद्धि अनु-

मर्शेनैव तर्हि सा ध्वंसितेत्यसत्त्वान्न प्रतिबन्धुमीष्टे अन्त्ये किं तया लिङ्गपरामर्शस्य चरमकारणत्वेनानुमितिः स्यादेव सत्प्रतिपक्षवदसावपि प्रतिबध्यत इति चेत् । तर्हि तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य व्याप्तिपक्षधर्मतासम्पन्नद्वयग्राहिणः समसमयतया भागशः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावो युज्यते प्रकृते तु निष्परिपन्थिना तृतीयलिङ्गपरामर्शेनादावनुमितौ जनितायां बाधैव नोदेष्यति अनुमित्यैव प्रतिबन्धात् । उदिता बाधनानुमितिं प्रतिबध्नीयात् ।

मिति का प्रतिबन्ध करने में समर्थ कैसे होगी ? यदि अन्तिम पक्ष अर्थात् परामर्श के अनन्तर में होती है तो वह साध्याभाव बुद्धि क्या कर सकेगी ? क्योंकि तृतीयलिंग परामर्श अनुमिति का चरम कारण है तो उस चरम कारण के रहने से अनुमिति अवश्य मेव उत्पन्न हो जायगी, तब साध्याभाव प्रमा निरर्थक हो जाती है ।

प्रश्न—जिस प्रकार से सत्प्रतिपक्ष अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है उसी तरह साध्याभाव ज्ञानरूप बाध भी अनुमिति का प्रतिबन्धक होगा ।

उत्तर—तब तो व्याप्ति पक्षधर्मताद्वयका ग्राहक जो तृतीयलिंग परामर्श सो समान समय वाला होने से भागरूप से प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव ही युक्त होगा । प्रकृत में तो प्रतिबन्धक रहित परामर्श से प्रथमतः अनुमिति उत्पन्न हो जायगी । तब साध्यभाव ज्ञानात्मक बाध की उत्पत्ति नहीं

तदुक्तं गृहीत्वार्थं गताश्चौराः कस्तानाच्छेत्तुमर्हतीति । अथ प्रागुत्पन्नैव बाधादूऽरविप्रकृष्टा तृतीयलिङ्गपरामर्शं प्रतिरोत्स्यति यथा सिषाधयिषा पक्षतां घटयतीति चेत् । निरन्वयध्वस्तापि सा मतिरेतस्य व्यामोहः । अथ बाधेन हेतुमति पक्षे

होगी क्योंकि अनुमिति से बाध का प्रतिबन्ध हो जाने से । जब बाध उत्पन्न हो लेगा तभी वह बाध अनुमति को रोकेगा न तु उत्पत्ति केपूर्व वा विनाश के अनन्तर प्रतिबन्धक हो सकेगा । तदुक्तम्, ऐसा कहा है कि धनलूटकरके जब चोर भाग गये तब उन चोरों को कौन मार सकेगा ? प्रकृत में इसी प्रकार परामर्श रूप करण से जब अनुमिति हो जायगी तब उसको रोक कौन सकेगा । प्रत्युत् उत्पन्न अनुमिति से बाध ही बद्ध हो जायगा ।

प्रश्न—प्रथमोत्पन्न अदूर विप्रकृष्ट अर्थात समीपवर्ती जो बाध, उससे तृतीय लिंग परामर्श का ही प्रतिरोध होगा, जैसे समीपस्थ सिषाधयिषा पक्षता बनती है । (यहां दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में इतना भेद है कि दृष्टान्त में समीपवर्ती सिषाधयिषा से पक्षता का सम्पादन होता है और दार्ष्टान्तिक में समोपस्थ बाधक से तृतीयलिंग परामर्शका प्रतिरोध होता है । समीपस्थ से भी कार्य होता है, मात्र इतने अंश में समानता प्रदर्शन है ।

उत्तर—निरन्वय विनष्ट भी बाध ज्ञान बाधक होगा, यह इनका महान् व्यामोह है ।

व्यभिचारो निर्वाह्यत इति तद्द्वारैव बाधो विरोधीति तर्हि क्लृप्तत्वाद्व्यभिचार एव दोषः स्यात् हेत्वसत्त्वे त्वसिद्धिरिति नोभयथापि बाधः । तदुक्तं बाधायामपक्षधर्मो हेतुरनैकान्तिको वेति । अथ पक्षे हेतोः साध्याभाववद्गामितासन्देहो न दोषाय अनुमानमात्रोच्छेदापत्तेः किन्तु तन्निश्चयः न च साध्याभाव-

---

पूर्वपक्ष—बाध दोष द्वारा हेत्वधिकरण पक्ष में व्यभिचारका उत्थान होता है, तदनन्तर व्यभिचार द्वारा ही बाध विरोधी होता है । तब तो ऐसा निश्चित होने से व्यभिचार को ही दोष कहा जाय । और यदि पक्ष में हेतु न हो तब तो स्वरूप सिद्धि को हो दोष मान लिया जाय । उभयथापि वाध में दोषत्व नहीं होता है । अर्थात् बाध स्थल में पक्ष में हेतु रहता है अथवा नहीं ? यदि रहता है तो साध्यभाववत् पक्ष में हेतु की वृत्तिता होने से व्यभिचार होता है उसी से प्रतिबन्धकता होगी, बाध को अतिरिक्त मानने की क्या आवश्यकता है ? यदि पक्ष में हेतु नहीं रहता है तब भी स्वरूप सिद्धि से ही निर्वाह हो जाता है, फिर बाध को अतिरिक्त दोष क्यों माना जाय ? तदुक्तम् ऐसा कहा है कि बाध स्थल में हेतु अपक्ष धर्म है अर्थात् पक्ष में हेतु नहीं रहता है अथवा हेतु अनैकान्तिक है । लघुपूर्वपक्ष-पक्षात्मक सध्याभावाधिकरण में हेतु की वृत्तिता संदेह है, वह दोषाधायक नहीं है । यदि पक्ष में तथाविध संदेह भी दोषाधायक होगा तब तो प्रायः सदनुमान का उच्छेद ही हो जायगा ।

प्रमायाः प्रामाण्यनिश्चयादेव तथा च गृहीतप्रामाण्या साध्याभावप्रमा पक्षे व्यभिचारनिश्चयमप्यापादयन्ती स्वतो दोषः प्राथम्यादावश्यकत्वादुपजीव्यत्वात्स्वतो दूषकत्वाच्चेति । एवं क्लृप्तत्वाद्व्यभिचारो दोषोस्तु दूषणक्षमत्वेसति प्रथम्याद्बाधो वेति विवादसीमा । अत्र च व्यभिचारव्याप्यत्वासिद्ध्योः । सङ्करे यथा प्रथमोपस्थितः स्वतो दूषणक्षमस्तत्र व्यभिचारो दोषस्त-

---

क्योंकि वह्नि सन्देहाधिकरण में धूम की वृत्तिता रहने से । किन्तु निश्चित साध्याभावाधिकरण में हेतु की वृत्तिता प्रतिबन्धक है । और साध्याभाव प्रमा के प्रामाण्य निश्चय मात्र से दोषाधायकत्व है । ऐसा हुआ तब गृहीत है प्रामाण्य जिस में, ऐसी जो साध्याभाव प्रमा, सो पक्ष में व्यभिचार निश्चय को आपादन करती हुई स्वत एव साध्याभाव प्रमा दोष है । प्रथमोपस्थित आवश्यक होने तथा व्यभिचार का उपजीव्य होने से । ऐसा हुआ तब निर्णीत होने से व्यभिचार दोष हो, दूषण समर्थ होकर प्रथमोपस्थित होने से । अथवा बाध दोष हो । बस इतने ही तक विवाद की सीमा है ।

लघु उत्तर—यहां प्रकृत स्थल में व्यभिचार और व्याप्यत्वासिद्धि का संकर होने से जिस प्रकार से उस स्थल में प्रथमोपस्थित होने से तथा स्वत एव दूषण में समर्थ होने से व्यभिचार दोष है, उसी प्रकार से प्रकृत में बाध दोष है, आपके कथन का ऐसा अभिप्राय होता है । ऐसा भले होवै ।

विवादसीमा अत्र च व्यभिचार व्याप्यत्वासिद्धयोः संकरे यथा प्रथमोपस्थितः स्वतः दूषणत्वमस्तत्र व्यभिचारो दोषस्तथात्र बाध इति त्वद्वचनार्थः अस्तु तावदेवं तथापि व्यभिचारान्न बाधः पृथक् असङ्कीर्णाभावादिति । अत्राहुः । प्रथमे क्षणे घटे पृथ्वीत्वसम्बन्धः जातेः सम्बन्धश्चेति वैशेषिकवचनात् द्वितीये च क्षणे तत्र गन्धोदयः तस्य घटत्वात् । अत एवाहुः । क्षणम-

---

तथापि व्यभिचार से प्रथक् बाध दोष नही है । असंकीर्ण का अभाव होने से ।

समाधान–अत्राहु रिति प्रथम क्षण में घट में पृथिवीत्व जाति का संबन्ध होता है, अर्थात् घट की जब उत्पत्ति होती है उसी क्षण में जाति का सम्बन्ध भी होता है । उत्पन्न होता है जाति का सम्बन्ध होता है ऐसा वैशेषिक का वचन है । और द्वितीय क्षणावच्छेदेन तत्र उस घट में गन्धकी उत्पत्ति होती है क्योकि जिस लिये उसमें घटत्व रहता है अर्थात् घटपार्थिव द्रव्य है । अतएव कहा है 'क्षणमगुणोभाव इति' अर्थात् निर्गुण निष्क्रिय होकर के द्रव्य उत्पन्न होता है तथा क्षण पर्यन्त निर्गुण निष्क्रिय रहता है तदनन्तर द्वितीयादि क्षणावच्छेदेन उसमें गुणादिक की उत्पत्ति होती है (द्रव्य निर्गुण उत्पन्न होता है, क्षण-पर्यन्त निर्गुण रहता है, इस नियम को स्वीकार करने में राजाज्ञा नहीं है किन्तु युक्ति प्रमाण है, तथाहि जिस क्षण

गुणो भाव इति तथा च प्रथमे क्षणे पृथिवीत्वेन घटे यद्गन्धानुमानं तत्तावन्न सम्भवति तत्र तदा गन्धासत्त्वात् नाप्यसत् व्यभिचाराद्यभावात् अथ तत्र गन्धसम्बन्ध एवानुमीयते स च

में घट उत्पन्न होता है यदि उसी क्षण में उसमें गन्धादिक भी उत्पन्न हो तब तो समकालिक उस गुण के प्रति समकालिक घट द्रव्य समवायीकारण नहीं बनेगा, क्योंकि अव्यवहित पूर्ववर्ती जो होता है सो ही कारण होता है तथा अव्यवहित पश्चाद्वर्ती जो होता है सो कार्य होता है। समकालिका में कार्य कारण भाव नहीं होता है। जैसे सव्येतर विषाण में। अतः घटीय गंधादिक गुण के प्रति घट की समवायिकारणता की सिद्धि हो, इसके लिये "निर्गुणं निष्क्रियं च द्रव्यमुत्पद्यते क्षण निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति" इस नियम को माना जाता हैं) ऐसा हुआ तब प्रथम क्षण में पृथिवी हेतु से घट रूप पक्ष में जो गन्धका अनुमान होता है "आद्यक्षणावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथीवीत्वात्" उत्पत्ति क्षणावच्छिन्नघट गन्ध वाला है पृथिवीत्ववान् होने से। यह जो गन्ध का अनुमान होता है सो तो नहीं हो सकता है। क्योंकि तब घट में तदा उत्पत्तिक्षणावच्छेदेन गन्धका अभाव है। नहीं कहो कि तादृश स्थल में साध्य है ही नही सो भी नहीं है, द्वितीयादि क्षणावच्छेदेन गन्ध के रहने से पृथिवीत्व तथा गन्ध में व्यभिचारादिक दोष नहीं

समवायलक्षणस्तत्रस्त्येव गन्धयोग्यता वा सापि तत्रास्तीति मैवम् । यदि तत्राश्रयस्वातन्त्र्यात्कश्चिद् गन्धमनुमिनोति तदा

है । अर्थात् यत्र यत्र पृथिवीत्वं तत्र गन्ध यह व्याप्ति होती है, व्यभिचारादिक दोष नही हैं । अब यदि बाध दोष न माना जाय तब तादृश अनुमिति के अनुत्पाद में अर्थात् तादृशानुमिति वन्धक कौन होगा ? गन्ध व्याप्य पृथिवीत्व वाला आद्य कालिक घट है, इस परामर्श की सर्वांश में शुद्धता है । अतः इस अनुमिति की प्रतिबन्धकता बाध मात्र में हैं, अतः एक बाध दोष व्यभिचार स्वरूपासिद्धि में अन्तर्गत न होकर के प्रथगेव हेत्वाभास होता हैं आभास-लक्षणोपपन्न होने से ।

प्रश्न—उत्पत्ति क्षण विशिष्ट घट गंध वाला है पृथिवी-त्ववान् होने से । यहां गन्ध को घट में साध्य नहीं बनाता हूँ, किन्तु गन्ध का जो सम्बन्ध समवाय है उसी को साध्य बनाता हूं । तादृस घट गन्ध सम्बन्ध वान् है, पृथिवीत्ववान होने से । यही अनुमिति का आकार है । अथवा गन्ध योग्यता को साध्य बनाता हूं, यह जो गन्ध का सम्बन्ध है तथा गन्ध की योग्यता है सो घट में विद्यमान है । तब तो यह सद्धेतु है, इसमें दोष का अन्वेषण करना ही व्यर्थ है ।

उत्तर—सब व्यक्तियों का अभिप्राय भिन्न भिन्न होता है, तो यदि कोई व्यक्ति अपने आशय के अनुकूल उत्पत्ति

किं वाच्यं बाधादन्यत् साध्यसंसर्गाभाववति सद्धेतुर्व्यभिचरित एव तेन गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे तत्पृथिवीत्वं व्यभिचरितमेवेति चेन्नैवम् । साध्यवद्भिन्नसाध्यात्यन्ताभाववद्गामित्वस्य

कालिक घट में गन्ध का अनुमान करे तब उस स्थल में बाध को छोडकर और दूसरा कौन सा दोष बताया जा सकता है । अतः बाध दोष एक अलग ही है । एवं मूलावच्छिन्न वृक्ष कपि संयोगी है, इस स्थल में भी बाध व्यतिरिक्त दोष की सम्भावना न होने से बाध दोष का प्रथक होना आवश्यक है ।

प्रश्न–साध्यप्रतियोगिकसम्बन्धाभावाधिकरण में विद्यमान सद्धेतु भी तो व्यभिचारी ही कहा जाता है । इसलिये गन्धप्रागभावावछिन्नघटात्मक पक्ष में पृथिवीत्व हेतु व्यभिचारी ही है ।

उत्तर–साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाधिकरण निरूपित वृत्तित्व अथवा साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्व का नाम ही व्यभिचार होता है, एतादृश व्यभिचारित्व गन्धसाध्यक स्थल में पृथिवीत्व को नहीं है, क्योंकि घट जब गन्धवान् है तब उसमें गन्धवान्न, इत्याकारक भेद नहीं रह सकता है और साध्याभाव गन्धाभावाधिकरणता भी नहीं है, इसलिये पृथिवीत्व हेतु व्यभिचारी नहीं है ।

वा व्यभिचारपदार्थत्वात् प्रथमे क्षणे न गन्धोदयः सम्भवतीति तत्रापि गन्धात्यन्ताभाव एवेति चेत्। धिङ्मूर्ख नहि यत्र यदवच्छेदेन यस्य प्रागभावस्तत्र तदवच्छेदेन तस्यात्यन्ताभाव इति कोप्याह नापि युज्यते प्रागभावस्य प्रतियोगिसादेश्यनियमात् अत्यन्ताभावस्य तद्वैदेश्यनियमादिति कथं तर्हि गन्ध-

---

प्रश्न—प्रथम क्षणावच्छेदेन घट में तो गन्धोदय नहीं होता है, इसलिये आद्यक्षणावच्छेदेन गन्धाभाव घट में है तब तो पृथिवीत्व व्यभिचरित ही है।

उत्तर—धिग् मूर्ख ! जिस अधिकरण में यदवच्छेदेन जिसका प्रागभाव रहता है उस अधिकरण में तदवच्छेदेन उसका अत्यन्ताभाव भी रहता है, यह बात युक्ति युक्त भी नहीं है: क्योंकि प्रागभाव प्रतियोगी के समान देश में रहता है, ऐसा नियम है। तथा अत्यन्ताभाव प्रतियोगी के समान देश में नहीं रहता, अपितु विभिन्न देश में रहता है। अत्यन्ताभाव को प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोग्यधिता के साथ विरोध होता, ऐसा नियम होने से।

प्रश्न—तब तो गन्ध प्रागभावावच्छिन्न घट गन्धवान् है, इस वाक्य में अयोग्यता कैसी होगी ? क्योंकि एक पदार्थ संसर्ग का अपर पदार्थ निष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व रूप हो तो अयोगता है। सो तो प्रकृत में नहीं है। प्रत्युत यहां तो प्रथमक्षणावच्छिन्न घट में तो गन्ध का

प्रागभावावच्छिन्नो घटो गन्धवानित्यत्र बाध्येऽयोग्यता एक-पदार्थसंसर्गस्यापरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे हि सा सा च नात्र आद्यक्षणावच्छिन्ने घटे गन्धस्य प्रागभावो न त्वत्यन्ताभाव इति । मैवम् । यत्र हि यन्न सम्भवति तत्र तस्य बाधश्चायोग्यता च तेन गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे न सम्भवतीति तत्र न तदुभयमविकलम् अयन्तु विशेषो यः प्रागभावस्तत्क्षणमात्रम् अत्यन्ताभावस्थले यावत्सत्त्वम् अत्र द्वितीयस्य स्फुटावभासत्वात्तत्रैव तदुभयमुदाहृतं प्राचीनैर्न तु प्रागभावस्थले

प्रागभाव है। गन्ध के अत्यन्ताभाव को तो आप नही मानते हो, तब अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप अयोग्यता कैसे रही ? अर्थात् अयोग्यता नहीं है। तब तो उक्त वाक्य के प्रमात्मक शाब्द बोधोत्पादक होने पर प्रामाणिकत्व हो जाना चाहिये।

उत्तर–जो पदार्थ जिस क्षण में जिस अधिकरण में नही रहता है उस अधिकरण में उसका बाध तथा अयोग्यता होती हैं। इसलिये गन्धप्रागभावावच्छिन्न घट में गन्ध नहीं होती है। अतः तादृश घट में गन्ध का बाध और अयोग्यता दोनों अविकल रूप से रहती है। पर यह विशेषता है कि प्रागभाव तो लक्षण मात्र है। अत्यन्ताभाव स्थल में यावत्सत्व रहता है। यहां द्वितीय को अर्थात् अत्यन्ताभाव को स्फुटावभासी होने से अत्यन्ताभावस्थल में

दुर्बोधत्वादिति योग्यतालक्षणे यदत्यन्ताभावग्रहणं तत्सम्पाता-यातमन्यमतावलम्बनेन वेति। न च जात्या व्यक्त्याक्षेपे प्रलये व्यभिचार इति यन्नैयायिकैरुक्तं तदेवं सति विरुध्येत न हि व्यक्तिध्वंसत्त्रद्गामितया जातेर्व्यक्तिव्यभिचारिता सम्भवतीति। मैवम्। तत्रत्यव्यभिचारिपदेनाव्यभिचारविरोधिनः कात्स्न्येंन सम्बन्धाभावस्य विवक्षितत्वात्। अन्यथा तादृशं पृथिवीत्वं

ही बाध और योग्यता उदाहृत किया गया। अर्थात् प्राची-नाचार्यो ने किया, किन्तु प्रागभावस्थल में ही तदुभयका कथन नहीं किया, दुर्बोध होने से। इसलिये योग्यता के लक्षण में जो अत्यन्ताभाव गृहण हैं सो सम्पात से आया है अर्थात् भ्रम से आ गया है। अन्यमत के अवलम्बन से आ गया है।

प्रश्न—जाति में व्यक्ति का आक्षेप होता है अतः प्रलय में व्यभिचार होता है, ऐसा जो नैयायिकों ने कहा है सो विरुद्ध होता है। क्योंकि व्यक्ति का ध्वंसाधिकरण प्रलय में जाति की वृत्तिता होने से व्यभिचारित्व सम्भवित नहीं है।

उत्तर—तत्स्थल में व्यभिचारी पद से अव्यभिचार विरोधी संपूर्ण रूप से सम्बन्ध का अभाव विवक्षित है, अन्यथा तादृश पृथिवीत्व के मध्य में भी गंध का अनुमापक नहीं होगा, ऐसा कह दिया गया है। तस्माद्गृहीत है

मध्येपि गन्धं न गमयेदित्यस्योक्तप्रायत्वादिति साध्याभावधियो गृहीतप्रामाण्यायाः साध्यधीप्रतिबन्धकतया तदभावस्तृतीय-लिङ्गपरामर्शेनापेक्ष्यते तस्याभ्युत्थानात्तु सह नास्तीति ॥

प्रामाण्य जिसमें, ऐसी जो साध्याभाव प्रमा, सो अनुमिति अर्थात् साध्यवत्ता ज्ञान की प्रतिबन्धिका है। इसलिये तादृश बाधाभाव तृतीयलिंग परामर्श से अपेक्षित होता है, साध्याभाव प्रमा के उत्थान से परामर्श उसके साथ नहीं होता है।

इति पश्चिमाम्नाय-श्रीरामानन्द-पीठ-श्रीशेषमठाधीश
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य-योगिराज
स्वामि श्रीरामप्रपन्नाचार्य दर्शनकेशरीकृत
खण्डनोद्धारदीपिकायां प्रमाणतदाभासोद्धार-
नामकः प्रथमः परिच्छेदः संपूर्णः।



❀अथ द्वितीयपरिच्छेदः प्रारभ्यते❀

हेत्वाभासखण्डनानन्तरं निग्रहस्थानत्वेन स्मृतान् प्रतिज्ञाहान्यादीन् खण्डयति तत्र स्वीकृतोक्तपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिरित्यलक्षणं झटिति संवरणेतिव्याप्तेः। न हि झटिति संवृतं पतितमपि निग्रहस्थानं निगृह्णाति किञ्च स्वीकृतेपि व्यर्थं स्वीकृत्यास्वीकारो हि त्याग इति स्वीकारस्य त्यागपदार्थान्तर्ग-

---

हेत्वाभास लक्षण का खण्डन करने के पश्चात् निग्रह स्थानत्व रूप से स्मृत प्रतिज्ञा हान्यादिक का खण्डन करते हैं। स्वीकृत जो उक्त कथित पदार्थ, उसका जो परित्याग, यही प्रतिज्ञा हानि का लक्षण है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि झटित् संवरण में अति व्याप्ति हो जाती है। झटित सवृत अर्थात् पतित निरस्त जो निग्रह स्थान सो निगृहीत नहीं करता है। और भी देखिये प्रतिज्ञा हानि के लक्षण में स्वीकृत जो पद है सो निरर्थक है, क्योंकि स्वीकार करके जो अस्वीकार करना उसी का नाम त्याग होता है। तो स्वीकार जो है सो तो त्याग पदार्थ के अन्तर्गत होने से त्याग से स्वीकार का ज्ञान होगा, पुनः स्वीकार पद प्रयोग में पुनरुक्ति दोष हो जाता है।

उत्तर–प्रतिज्ञा हानि में निग्रह स्थान का जो सामान्य लक्षण है उसका अनुवर्तन होने से झटिति संवरण में अति व्याप्ति का निराकरण हो जाता है। कथा में कारणीभूत

तत्वेन तत एव प्राप्त्या पौनरुक्त्यात् । निग्रहस्थानसामान्य-लक्षणानुवृत्त्या झटिति संवरणातिव्याप्तिनिरासात् न हि झटिति संवृतं कथाकारणीभूतसम्यग्ज्ञानविरहनिग्रहस्य स्थानमुन्नायकं भवति नापि स्वीकृतपदं पुनरुक्तं परिहारमात्रस्यैव त्यागपदार्थ-त्वात् परोक्तं दूषणं परिहरतीत्यादेर्दर्शनात् नापि रूपान्तरेण स्वी-कृत्य रूपान्तरेण त्यागेतिव्याप्तिस्त्यागस्य प्रकाराकांक्षायां स्वीकारप्रकारस्यैवोपस्थितत्वेनान्वयात् उपस्थितपरित्यागे गौरवात् आग्नेयीन्यायात् । न चापसिद्धान्तेतिव्याप्तिः तत्रापि नैयायिकोहमित्यादिना संक्षिप्ताक्षरेण सर्वस्यैव न्यायसिद्धान्त-

---

जो सम्यग् ज्ञान तद्विरह निग्रह का स्थान झटिति संवरण का उत्तेजक नहीं होता है। न वा स्वीकृत पद पुनरुक्त होता है, क्योंकि परिहार मात्र को ही त्याग कहा जाता है। लोक में परोक्त दूषणका परिहार करता है, ऐसा प्रयोग देखने में आता है। न वा रूपान्तर से स्वीकार करके रूपा-न्तर से त्याग में अति व्याप्ति होती है। त्याग के प्रकार की आकांक्षा होने पर स्वीकार का जो प्रकार है वही उपस्थित होने से अन्वित होता है क्योंकि उपस्थित का छोड़कर के अनुपस्थित का स्वीकार करने में गौरव होता है, आग्नेयादि न्याय से।

प्रश्न—यथोक्त लक्षण के अपसिद्धान्त में अतिव्याप्ति होती है क्योंकि अपसिद्धान्त में भी मैं नैयायिक हूँ इत्यायिक

स्योक्तौ पश्चात्तदेकदेशत्यागे उक्तलक्षणसत्त्वादिति वाच्यं स्वीकृत-स्य विशिष्योक्तस्य संवरणावसरात्यये परित्यागः प्रतिज्ञाहानि-रिति लक्षणात् । हन्तैवं संवरणावसरात्यये स्वीकृतपरित्याग इत्येवास्तु तावन्मात्रस्यैव निग्राहकत्वात् शेषं व्यर्थमिति चेत् । मैवं बोचः । विचित्राभिसन्धाना हि प्राञ्चः तथाहि विप्रतिपत्तिर-प्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानमिति सङ्क्षेपे पारमार्षं सूत्रं विस्तरे तु प्रतिज्ञाहानिरित्यादि एवमसाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनमिति प्रस-

---

हूं इत्यादि संक्षिप्त अक्षर सभी न्याय सिद्धान्त का कथन करके पश्चात् एक देश का परित्याग करने पर प्रतिज्ञा हानि का लक्षण उसमें चला जाता है ।

उत्तर—संवरण का जो अवसर है उसको बीत जाने पर स्वीकृत तथा विशेष रूप से उक्त पदार्थ का जो परित्याग सो ही प्रतिज्ञा हानि का लक्षण है ।

प्रश्न—तब तो संवरण का जो अवसर उसके अत्यय बाद स्वीकृत का परित्याग, इतना ही प्रतिज्ञाहानि का लक्षण कहिये । एतावत् मात्र अंश से ही निगृहीत हो जायगा । शेष जो पद है स्वीकृत तथा विशिष्योक्त सो निरर्थक हें ।

उत्तर—ऐसा मत कहो ! प्राचीनाचार्यों का अभिप्राय विलक्षण होता है । तथाहि सूत्रकार ने संक्षेप रूप में कहा है कि विप्रतिपत्ति अप्रतिपत्ति यह निग्रह स्थान है और उसी संक्षेप

ज्यपर्युदासाभ्यां सङ्क्षेपे चतुर्द्धेति बौद्धाः विस्तरे तु चतुर्दशेति त एवाहुः । तथा चामीषां यावन्ति रूपाणि निग्रहे सम्भवन्ति तेषां मध्ये केनचित्कानिचित्परिगृहीतानि केनचित्कानिचिदभिप्रायस्वातन्त्र्यात् सम्भवन्ति तु सर्वाण्येव रूपाणीति । अयन्तु विशेषो यत्स्वाश्रितशास्त्रानुक्तं रूपं निग्रहक्षममपि पुरस्कृत्य

कथित पदार्थ का विस्तार रूप से कथन किया गया है प्रतिज्ञा हानि प्रतिज्ञा संन्यास इत्यादि रूप से । इसी तरह असाधन वचन स्थल में अदोष का उद्भावन यहां प्रसज्य पर्युदास के द्वारा संसेक्ष में चार प्रकार से है और उसी का विस्तार रूप से कथन करने पर चतुर्दश प्रकार होता है, ऐसा कहते हैं । ऐसा हुआ तब प्रतिज्ञाहान्यादि के निग्रह में जितने रूप सम्भवित हैं उन रूपों के बीच में से किसी ने किसी रूप का परिग्रह किया, किसी और ने किसी और रूप का परिग्रह किया, अपने अपने अभिप्राय के अनुकूल । परन्तु ये सभी रूप उसके सम्भवित हैं । इसमें यह विशेषता है कि स्वाश्रित जो शास्त्र उसमें अनुक्त जो रूप अर्थात् प्रकार वह निग्रह में समर्थ है । उस रूप को पुरस्कृत करके निग्रह करता हुआ अपसिद्धान्त को प्राप्त करता है । अर्थात् जो पदार्थ स्व शास्त्र के अनुकूल स्व शास्त्रोक्त नहीं है किन्तु निग्रह करने में समर्थ है, यदि उस पदार्थ का प्रयोग करके वादो को निगृहीत किया जाय, तब उस स्थल में

निगृह्णन्नपसिद्धान्तमासादयतीति । हन्तैवं चौरापराधेन माण्डव्यनिग्रहः कुरुर्भेनाहिसंतृभ्रतोमु नेर्मताश्रायणेन सद्धर्मेनानिगृह्णतो वादिनोपसिद्धान्तः स्यादिति किमित्र क्रियातां दुर्लभा हि शास्त्रपरिपाटी तथाहि खाण्डनिक त्वमेव वेदान्तमाश्रयमाणो वेदानामपि प्रामाण्यमपजानानो व्याघातादप्यविभ्यत् प्रमाणपथावतीर्णं सर्वं जहत् तदनवतीर्णं ब्रह्माद्वैतं दधत्स्वाश्रितशास्त्रश्रद्धालुतया परं जीवसीति । नन्वेकस्य परित्यागपरिग्रहौ विरुद्धाविति

अपसिद्धान्त है, ऐसा कहा जाता है ।

प्रश्न—अरे ऐसा हुआ तब तो चोर के अपराध से माण्डव्य का निग्रह न्याय लग जाता है ।×

उत्तर—क्या किया जाय ? शास्त्र की परिपाटी विलक्षण होती है, तथाहि हे खाण्डनिक ! जैसे वेदान्त मत का आश्रय लेकर के आप ही अर्थात् आप वेदान्तमतावलम्बो होते हुए भी, वेद का जो प्रामाण्य है उसका तिरस्कार करते हुए व्याघात दोष से भी नही डरते हुवे प्रमाणसिद्ध सभी पदार्थ का त्याग करते अप्रामाणिक ब्रह्माद्वैत को धारण करते हुए स्वाश्रित जो शात्र है उसमें श्रद्धालुता के कारण से जीते हैं ।

प्रश्न—एक पदार्थ परित्याग तथा परिग्रह अर्थात स्वीकार यह विरुद्ध है, इसलिये विरोध को ही यहाँ

× इस जगह की पांक्ति कुछ अस्तव्यस्त प्रतीत होती है, अतः पाठक लोग स्वयं विचार करलें ।

विरोध एवात्र दोषोऽस्त्विति चेत् । मैवम् । त्यागस्यानुद्भावने तद्घटितस्य विरोधस्योद्भावनाशक्यतया आवश्यकोद्भावनस्य त्यागस्यैवात्र दोषत्वात् सेयं प्रतिज्ञाहानिः पक्षहानिसाध्यहानि-लिङ्गहानिदृष्टान्तहानितद्विशेषणहानिक्रमहानिभेदादनेकधा प्रतिज्ञा-पदं त्वत्र निर्वाह्यभागपरं तेन सर्वं सङ्ग्रह इति स्थापकेनोक्तस्य दूषकेण दूषितस्य साध्यभागस्य पूर्वानुक्तविशेषणवतोऽभिधानं

दोष कहो ।

उत्तर—त्याग का यदि उद्भावन नहीं करते हैं तब त्याग घटित जो विरोध उसका उद्भावन भी अशक्य होता है । इसलिये आवश्यकोद्भावन जो त्याग उसी को दोष कहना ठीक है, और त्याग ही दोष है । सो यह प्रतिज्ञा हानि, पक्ष हानि, साध्य हानि, लिंग हानि, दृष्टान्त हानि, पक्षविशेषणादि हानि क्रम हानि भेद से अनेक प्रकारका है । प्रतिज्ञाहानि में जो प्रतिज्ञा पद है सो निर्वाह्य भाग का बोधक है । इससे सभी का संग्रह होता है । पूर्व में अनुक्त विशेषण वाला स्थापक से उक्त तथा दूषक से दूषित जो साध्य भाग, उसका जो कथन, उसका नाम प्रतिज्ञान्तर होता है । नहीं कहोकि यहां पूर्व पदार्थ का निर्वचन नहीं हो सकता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस काल में उक्त विशेष का समभिहार सम्भवित हो उसी काल विशेष को

प्रतिज्ञान्तरं न च पूर्वपदार्थानिरुक्तिः यस्मिन् काले उक्तिवि-शेष्यस्य समभिव्याहारः सम्भवति तत्कालस्य पूर्वपदार्थत्वात् तेन विशेष्य समभिव्याहारौपयिककालेऽनुक्तस्य साध्यविशेषणस्य दूषणाभिधानानन्तरं यदभिधानं तत्प्रतिज्ञान्तरम्। नन्वीदृशः कालो विशेष्याभिधानादव्यवहितः पूर्वश्चोत्तरश्च भवति तथा चैतयोरे-कस्मिन्ननुक्तत्वात्पूर्वमुक्तं भवत्येवेति चेन्न। सामान्याभावस्याश्रय-णात्। न च प्रागुक्तस्य प्रकरणलभ्यस्य विशेषणस्यानुक्तभ्रान्त्या दूषितस्याभिधानेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम् अनुक्तपदेनाप्रतिपा-

---

पूर्व पदार्थ कहा जाता है। इसलिये विशेष समभिव्याहार का उपयोगी जो काल उसमें अनुक्त साध्य विशेषण के दूषण कथन के अनन्तर जो कथन उसी का नाम प्रतिज्ञान्तर कहा जाता है।

प्रश्न—एतादृश अर्थात् विशेष्य के समभिव्याहार के उपयुक्त जो काल है सो तो विशेष्याभिधान का अव्यवहित पूर्वकाल तथा पश्चात काल दोनों हो सकता है। तब तो एक में जो कथित है अपर में अनुक्त है तथापि पूर्व कथित होता ही है।

उत्तर—यहां अनुक्त में सामान्यभाव की विवक्षा है इसलिये कोई दोष नहीं होता है।

प्रश्न—पूर्व कथित प्रकरण में प्राप्त जो विशेषण उसका अनुक्त भ्रम से दूषित है उसके कथन में (अभिधान में)

दितस्योक्तत्वात् तस्य तु प्रकरणेनैव प्रतिपादितत्वात् । ननु तथापि परस्मिन्ननुत्पन्नप्रतिपत्तौ प्रतिपादितत्वस्याभावात्तत्राति-व्याप्तिरेवेति चेन्न । श्रोतृप्रतिपत्त्यनुकूलकारणाकात्स्न्र्यस्य प्रतिपादितपदार्थत्वात् तस्य चानुत्पन्नप्रतिपत्तिके सत्त्वात् न च प्रतिज्ञाहान्या हेतुहानेरिव प्रतिज्ञान्तरेण हेत्वन्तरस्यापि सङ्ग्र-होऽस्त्वति मणिकण्ठमतमादेयं स्वतन्त्राभिप्रायस्य नियोगपर्यनु-योगानर्हत्वादित्युक्तत्वात् प्रतिज्ञाविरोध उक्तव्याघातः स च

अतिप्व्याप्ति होती है।

उत्तर—अनुक्त पद से अप्रतिपादितत्व कहा जाता है, उसका तो प्रकरण से ही प्रतिपादन हो गया है।

प्रश्न—नहीं उत्पन्न है प्रतिपत्ति जिसमें तादृश पुरुष में प्रतिपादितत्व का अभाव होने से उसमें अतिव्याप्ति होती है।

उत्तर—श्रोता पुरुष की जो प्रतिपत्ति (ज्ञान) तदनुकूल कारण का अकात्स्न्र्य उसको प्रतिपादित पदार्थ कहा जाता है। एतादृश प्रतिपादित पदार्थत्व अनुत्पन्न प्रतिपत्तिक में भी है, नहीं कहो कि प्रतिज्ञा हानि से जैसे हेतु हानि दोष होता है वैसे ही प्रतिज्ञान्तर से हेत्वन्तर को मानना चाहिये। यह मणिकण्ठ का जो मत है सो भी अनादेय है। क्योंकि स्वतन्त्रेच्छा जो मुनि सो नियोगपर्यनुयोगार्ह नहीं है। ऐसा कहा गया है। प्रतिज्ञा विरोध में व्याघात होता

यस्य येन रूपेण यदनन्वयो येनाभ्युपगतस्तस्य तेनैव रूपेण तेन पुंसान्वयाभ्युपगमः स च पदादिभिरुन्नीयत इति पदादि-व्याघात उच्यते। ननु यावज्जीवमहं मौनी अवाचकः शब्द इदं न जानामि ज्ञानमविषयमित्यादिषु विरोधपप्रञ्चेषु नाभ्युपगमान्तरं पश्यामो येन विरोधः स्यादिति। मैवम्। मौनं हि वचनोच्चा-रणसमर्थस्य तदनुच्चारणं तत्राहं मौनीति शब्दोच्चारयितृत्वं आत्मनोऽभ्युपगच्छति कथमन्यथा वाचा प्रतिपादयति एवं

हैं सो कहा गया है। वह व्याघात यस्य जिसको जिस रूप से जिसके साथ अनन्वय का जिसने स्वीकार कर लिया है उसका उसी रूप से उसी पुरुष का अन्वय का स्वीकार कर लेना ही व्याघातक होता है। वह व्याघात पदादि के द्वारा उन्नीयमान होता है, इसलिये उसको पदादि व्याघात कहते हैं।

प्रश्न—यावज्जीवन मैं मौनी हूं, शब्द अवाचक है। इसको अमुक वस्तु को नहीं जानता हूं. ज्ञान अविषयक है, इत्यादि विरोध स्थल में तो दूसरा कोई अभ्युपगम नहीं देख पड़ता है जिससे कि विरोध हो।

उत्तर—जो व्यक्ति शब्द के उच्चारण में समर्थ है उससे शब्द का उच्चारण न होना ही मौन है, इस स्थिति में मैं मौनी हूँ इत्याकारक शब्द का उच्चारयिता अपने को मानता है, अन्यथा किस प्रकार से वाणी से प्रतिपादन करता है ?

चाहं मौनीति व्यक्तमभ्युपगमान्तरं न चेत्प्रतिपादयति न तर्हि प्रतिपादकः एवमवाचकः शब्द इत्यादावपि शब्दस्य वाचकत्व-मभ्युपैति कथमन्यथा तेन प्रतिपादयति तथा चावाचकः शब्द इति ब्रुवतो व्यक्तमभ्युपगमान्तरं एवमिदंमिति प्रत्यक्षविषयमिदमा निर्दिशति न जानामीति तज्ज्ञानमपन्हुते एवं ज्ञानमविषयमि-त्यादिवदत एतद्वाक्यजमपि ज्ञानं ज्ञानाविषयत्वं न विषयी-करिष्यतीति गलेपादिकयापि ज्ञानस्य विषयत्वमङ्गीकारयितव्य

ऐसा हुआ तब अह मौनी, यहां अभ्युपगमान्तर व्यक्त है। यदि प्रतिपादन नहीं करता है तब वह प्रतिपादक नहीं है। इसी तरह शब्द अवाचक है उस स्थल में भी शब्द को वाचक स्वीकार करता है। अन्यथा शब्द द्वारा प्रतिपादन कैसे करता है। ऐसा हुआ तब अवाचक शब्द है ऐसा कहते हुए को अभ्युपगमान्तर है यह स्पष्ट है। एव इदमहं जानामि, इस स्थल में प्रत्यक्ष विषयीभूत पदार्थ का इदं शब्द से निर्देश करता है (इदं शब्द प्रत्यक्ष विषय में शक्त है) और न जानामि इस प्रकार से ज्ञान का अपह्नव करता है। इसी प्रकार से ज्ञान अविषय है ऐसा बोलने वाले को इस वाक्य से जायमान भी ज्ञान ज्ञानाविषयत्व को विषय नहीं करेगा। अतः गले पादुका न्याय से ज्ञान में सविषयत्व का स्वीकार करना चाहिये। ऐसा हुआ तब ज्ञान में अविषयत्वाभ्युपगम विरुद्ध है।

एवञ्च ज्ञानस्याविषयत्वाभ्युपगमो विरुद्धः । यत्तु घटो नास्ती-त्यादौ घटोस्तीत्यस्य घटसत्त्वविधायकतया नञश्च घटासत्त्व-विधायकतयात्रापि प्रतिज्ञाविरोधः स्यादिति खण्डनम् । तदव्युत्प-त्तिविजृम्भितम् । घटेन नञो नञा चास्त्यन्वयस्य सार्वलौकिक-त्वात् । ननु घटनञोः कथमन्वयः उभयोरतादात्म्यात् नापि घटस्य नञर्थे प्रतियोगितयान्वयः घट इति प्रथमान्तात्सम्ब-

---

प्रश्न—"घटोनास्ति" घट नहीं है, इत्यादि स्थल में "घटोस्तीत्यस्य" घट है यह वाक्य घट की सत्ता का विधान करता है, नञ् पद जो है सो घट का असत्व विधायक है। इसलिये घटो न--में भी प्रतिज्ञा विरोध दोष होता है, ऐसा खण्डनकार का कथन है।

उत्तर—यह केवल खंडनकार का अबोध मात्र है। क्योंकि घटो नास्ति इस स्थल में घट को नञ् से साम्य है और नञ् का अस्ति इस क्रिया के साथ अन्वय होता है सो सर्वलोकानुभव सिद्ध है। इस स्थिति में सर्वलोकानुभव समर्थित वस्तु में विशेष प्रदर्शन अज्ञान प्रयुक्त न कहा जाय तो क्या कहा जाय ?

प्रश्न—घट और नञ् का अन्वय कैसे होगा ? क्योंकि घट है भाव रूप और नञ् है अभावात्मक तब दोनों में तादात्म्य कैसे होगा ? भावाभाव का तादात्म्य सर्वथा विरुद्ध है। न वा प्रतियोगिता सम्बन्ध से घट का अन्वय

न्धितया तस्योपस्थित्यसम्भवात् तत्सम्भवे वा घटस्य नेत्यनेन घटसम्बिन्धिकः कश्चिन्निषेद्धव्यो न घट एवेति । मैवम् । घटो नेति शब्दाद्घटनिषेधस्तावत्प्रतीयत इति सार्वलौकिं ईदृशञ्च प्रत्ययमपन्हुवानो माध्यमिकवदुपेक्षणीयः स्यात् । ननु प्रतीम एवं किं ततः । शब्दादीदृशः प्रत्ययः कथं स्यादिति पृच्छाम इति चेदनुभवं पृच्छ । अनुभवः कूटसाक्षीति चेत् । आत्मानमुपाल-

---

नञर्थ अभाव में हो सकता है। क्योंकि प्रथमान्त घट पद से सम्वन्धित या घटोपस्थिति असम्भव हैं। यदि सम्भव हो तब तो "घटस्य न" इस वाक्य से घट का सबन्धो कोई पदार्थ निषेध का विषय होगा। घट निषिद्धमान नहीं होगा।

उत्तर–घटो न, घट नहीं है, इस शब्द से घट का निषेध अर्थात् घटनिष्ठ प्रतियोगिताक अभाव प्रतीयमान होता है, यह सर्वलोक प्रसिद्ध वस्तु है। एतादृश सर्वलोकानुमत ज्ञान का निराकरण करने वाले आप माध्यमिक का तरह उपेक्षणीय हो जायेंगे।

प्रश्न–ऐसा तो मैं जानता हूँ। तब शब्द द्वारा एतादृश ज्ञान कैसे होता है ? यह पूछता हूँ।

उत्तर–यह बात अनुभव से पूछो ! अनुभव तो कूट साक्षी है। अर्थात् अनुभव भ्रम प्रमा साधारण होने से अप्रामाणिक है। तो अनो आपत्मा को उपालम्भ दो,

मस्व येन तादृशमेव कूटमनुभवं पुष्यसि । अपसिद्धान्ते शास्त्रकाराभ्युपगमेनात्र तु स्वाभ्युपगमेन सह स्वाभ्युपगमान्तरस्य विरोध इत्यपसिद्धान्तादस्य भेदः । नित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादौ प्रतिज्ञाविरोधवत् विरुद्धहेत्वाभासत्वेपि प्रतिज्ञाविरोध एव निग्रहाय साध्याभावहेत्वोर्व्याप्त्युपजीवनेन प्रवर्तिष्णु हेत्वाभासमपेक्ष्याभ्युपगमविरोधमात्रोपजीवनमात्रप्रवृत्ततयास्य द्रागेव सम्भृतसामग्रीकत्वादिति सह प्रतीतावप्रतीतौ च न विरोध इति

जिससे कि तादृश कूटानुभव की पुष्टि करते हो । अपसिद्धान्त में तो शास्त्रकार के अभ्युपगम से अभ्युपगमान्तर में विरोध होता है और यहाँ तो स्वाभ्युपगम के साथ स्वकीय अभ्युगमांतर का विराध होता है, इसलिये अपसिद्धान्त से प्रतिज्ञा विरोधादिक का भेद होता है कृतक होने से शब्द नित्य है, इत्यादि स्थल में प्रतिज्ञा विरोध के समान विरुद्ध हेत्वाभास में भी निग्रह के लिये प्रतिज्ञा विरोध को ही मान लीजिये । साध्याभाव और हेतु को जो व्याप्ति उसको उपजीवन करके प्रवर्तनशील जो हेत्वाभास तदपेक्षया अभ्युपगम विरोध मात्र का उपजीवन मात्र के प्रवृत्त होने से इस प्रतिज्ञा विरोध को झटित सामग्री विशिष्टत्व है, इसलिये सह प्रतीति अथवा अप्रतीति में विरोध नहीं है । इस प्रकारसे खण्डन करने पर आपके मत में भी समान रूप से विरोध है । ऐसे नैयायिक के बचन में प्रतिवन्दो

खण्डने तत्रापि विरोधमन्तः समानमिदमिति नैयायिकवचसि प्रतिवन्दिखण्डनं तद्यथा प्रतिवन्दी तावद्दूषणप्रतिबन्दी वा समाधिप्रतिवन्दी वा नाद्यः अप्रस्तुतत्वात् स्वपक्षे दोषे परेण देशिते तत्पक्षदोषोदीरणं न क्वापि घटते किञ्च परदत्तस्य दोषस्यानुद्धरणात् एकनिग्रहान्तत्वात्तस्याः । नापरः यः प्रतिवन्द्या द्योत्यते स एव तर्हि समाधिरभिधीयतां किमनया कुसृष्ट्या किञ्चावयोर्भिन्नमताश्रितयोः समानः समाधिरिति न नियमः एकस्मिन्मते यः समाधिस्तस्य परमते विमतेरपि सम्भवात् किञ्च परोद्भावितं दोषज्ञानाद-

---

खण्डन होता है, जैसे यह प्रतिबन्द है सो दोष का प्रतिवन्दो है अथवा समाधान में प्रतिबन्दी है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यहां दोष तो प्रस्तुत है हो नहीं । स्वपक्ष में अन्य किसी ने दोष दिया तो उसके पक्ष का दोष कथन तो कहीं भी नहीं घटता है । और भी देखिये, परप्रदत्त दोष का उद्धार नहीं । और प्रतिबन्दी का अन्त तो एक निग्रह से हो हो गया । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो प्रतिवन्दी द्वारा द्योतित होता है उसी को समाधान रूप में कहो इस कुसृष्टि से क्या फल मिलता है ।

और भी देखिये हम दोनों आदमी भिन्न मत के अनुयायी हैं तब दोनों का समान ही उत्तर होगा, ऐसा नियम नहीं है । हो सकता हैं कि एक का जो उत्तर हो उसमें दूसरे को विवाद हो । और भी देखिये–पर से उद्भावित

पोद्यत इति । अविनिगमस्तु युगपदुपस्थितयोः प्रमाणाभावादन्यतराभावः अत्र च प्रमाणाभाव एव दोषो न त्वविनिगमः लाघवगौरवे तु प्रमाणस्य लघुगुरुविषयत्वसम्भवे लघुपरिच्छेदकत्वं गुर्वपरिच्छेदकत्वञ्च स्वभावभेदौ प्रमाणसहकारितामात्रेण तु तर्कव्यपदेशः प्रतिबन्दिस्त्वापाततोऽर्थान्तरं तथाहि यदि क्षितौ कर्ता स्यात् शशे शृङ्गमपि स्यात् शशशृङ्गवदसावपि प्रमाण-

---

पदार्थ का दोष ज्ञान से अपनोदन अर्थात् निराकरण होता है । युगपत् एक काल में उपस्थित दो वस्तु में से प्रमाण के अभाव से अन्यतर का जो अभाव उसी का नाम होता है अननुगम । इस स्थल में प्रमाणाभाव ही दोष है । अविनिगम दोष नहीं है । प्रमाण को लघु गुरु विषयता की संभावना हो जिस स्थल में तो लघु को परिच्छेदकत्व बोधकत्व होता है और गुरु में परिच्छेदकत्व बोधकत्व नही होता । इसी का नाम लाघव और गौरव है । प्रमाण में सहकारी हो, प्रमाणभिन्न हो, जिसका तर्क रूप से व्यवहार किया जाता है उसको कहते हैं स्वभाव विशेष । प्रतिबंदी तो आपाततः पदार्थान्तर रूप ही है । तथा हि यदि पृथिवी का कोई कर्ता हो तब तो शश को शृंग भी हो एतादृश स्वरूपक ही प्रतिबन्दी है । नहीं कहो कि जैसे शशशृंग प्रमाण बाधित है वैसे ही प्रतिबंदी भी प्रमाण बाधित ही है । यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो प्रमाण ही दोष

बाधित इति चेत् । तर्हि स एव दोषो न तु प्रतिबन्दिरिति । तदुक्तं प्रतिबन्दिरदूषणं तथा च यदुन्नेयं तदेवेह दूषणं क्लृप्तत्वादिति सम्प्रदायः । अनौचित्यन्त्वौचित्यस्य प्रामाणिकत्वविरहः स च प्रमाणाभावान्तर्गत एव न चार्थान्तरमर्थान्तरेण परिहरतः को दोषो वाच्यो यद्यनौचित्यं न दोषः स्यात् तच्च प्रमाणाभावावधारणानन्तर्भावेण पृथगिति वाच्यं प्रथमार्थान्तरेणैव कथापर्यवसाने द्वितीयार्थान्तराभिधानस्यानवसरपराहतत्वादिति । यत्तु दोषसामान्योद्भावनं सा मतानुज्ञा । अत एव

होगा किंतु प्रतिबन्दी दोष नहीं होगा । ऐसा कहा है कि प्रतिवन्दो दूषण बहीं है । तब दूषणत्व रूप से जिसका उन्नयन करें यहाँ उसी के अवश्य तृप्त होने से दोष रहै ऐसा सम्प्रदाय है । औचित्य का जो प्रामाणिकत्वाभाव उसी का नाम है अनौचित्य । वह तो प्रामाणिकता का अभाव तीनों प्रमाणाभाव के अन्तर्गत नहीं है । नहीं कहो कि अर्थान्तर का अर्थान्तर से परिहार करने पर दोष कौन होगा ? यदि अनौचित्य नामक एक स्वतन्त्र दोष न हो, वह प्रमाणभाव का जो अनौचित्य उसमें उसको अन्तर भी बन करके एक प्रथक् ही दोष कहना चाहिये । सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम अर्थान्तर दोष से ही जब कथा की परिसमाप्ति हो जाती है तब द्वितीय अर्थान्तर का कथन अनवसर पराहत हो जाता है ।

प्रतिषेधेपि समानो दोषः तथा प्रतिषेधविप्रतिषेधप्रतिषेधेदोषवद्दोष इति सूत्रद्वयस्य तथैवार्थ आकरे स्फुटीकृतः तथा प्रतिबन्दी पृथग्दोष इति न्यायमार्गं इति विद्धि । प्रतिबन्द्या दूषणत्वानभ्युपगमेऽप-सिद्धान्तः सा हि सर्वतन्त्रसिद्धदूषणभावेत्युपक्रमापसिद्धन्तोपि दुर्वचः तथाहि सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमोऽपसिद्धान्त इत्यल-क्षणं मत्सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमन्तुस्तवापसिद्धान्तापत्तेः । अभ्युपतमानभ्युपगमयोः कर्त्रभेदोभिमत इति चेत् । अङ्कुरस्य

प्रश्न—दोष सामान्य का उद्भावन करना इसी को कहते हैं मतानुज्ञानात्मक दोष, अत एव प्रतिषेध में भी दोष समान ही है, और प्रतिषेध के विप्रतिषेध में भी प्रतिषेध के समान ही दोष है। इन दोनों सूत्रों का अर्थ आकर ग्रन्थ में स्पष्ट से कहा है। इसी प्रकार से प्रतिबन्दी एक प्रथक् दोष है, ऐसा न्यायमार्ग है सो आप समझिये। प्रतिबन्दी को प्रथक् दोष न मानें तो अपसिद्धान्त होता है, प्रतिबन्दी तो सर्वतन्त्रसिद्ध दूषणरूपा है, यह जो उपक्रमापसिद्धान्त का लक्षण है, उसका निर्वचन भी नहीं हो सकेगा। तथाहि सिद्धान्त के विपरीत जो अभ्युपगम अर्थात् सिद्धान्त विरुद्ध पदार्थ का स्वीकार है। अपसिद्धान्त है, यह तो अपसिद्धान्त का लक्षण है सो अलक्षण है। क्योंकि मेरा जो सिद्धान्त है उसके विपरीत पदार्थ को मानने वाले आपको अप सिद्धान्तपात हो जायगा। नहीं कहो कि अभ्युपगम और

ऽन्यत्वं व्योम्नश्चाजन्यत्वमभ्युपगच्छतोऽपसिद्धान्तापत्तेः-विषयाभेदोप्यभिमत इति चेन्न। एकस्याङ्कथायामचेतनस्यापि कर्तृत्वमपरस्यान्तु चेतनस्यैवमभ्युपगच्छतोऽपसिद्धान्तापत्तेः। कथाया अभेदोप्यभिमत इति चेत्तर्हि यस्यां कथयां येन वादिना यद्दर्शनमाश्रितं तस्यामेव कथायां तेनैव वादिना तद्विपरीताभ्युपगमोपसिद्धान्तः। यद्वा येन वादिना यस्यां कथायां योऽर्थः सामान्याकारेण यथाभ्युपगतः तेनैव वादिना तस्यामेव कथायां तद्वस्तुनस्तद्विपरीताभ्युपगमोपसिद्धान्तः तथा चानुगतलक्षणा-

---

अनभ्युपगम का कर्ता एक ही होना चाहिये, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अंकुर में जन्यत्व है, उसी में अजन्यत्व मानने से से अपसिद्धान्तपत्ति होगी। यह भी कहना ठीक

नहीं है। क्योंकि एक कथा में

अचेतन को भी कर्तृत्व और अन्य कथा में चेतन को ही कर्तृत्व है. ऐसा मानने वाले को भी अपसिद्धान्तापत्ति होती है। नहीं कहो कि कथा का अभेद भी विवक्षित है। सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहो तब तो, जिस कथा में जिस वादी ने जिस दर्शन का आश्रय लिया है, उसी कथा में उसी वादी से जो तद्विपरीत का अभ्युपगम उसी का नाम है अपसिद्धान्त। अथवा जिस वादी से जिस कथा में जिस पदार्थ को सामान्याकार से जैसा माना है, उसी वादी से उसी कथा में उसी पदार्थ का जो विपरीताभ्युपगम

अगमेऽतिव्याप्तिः अननुगततदाश्रयणे त्वव्याप्तिरिति खण्डनम् । तदयुक्तम् । उभयथाप्यदोषात् तथाहि निग्रहस्थानत्वे सति सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमस्यापसिद्धान्तत्वात् तेन चोक्तसकलदोषपरिहारात् लक्ष्याननुगमे लक्षणाननुगमस्यादोषत्वाच्च न ह्यपसिद्धान्तत्वं घटत्वादिवत्साधारणं किन्तु कथायामाश्रिततत्तच्छास्त्रकाराभ्युपगमविरुद्धाभ्युपगमः स च कथारम्भे बौद्धो-

---

उस को अपसिद्धान्त कहते हैं । तब यदि अनुगत लक्षण का आश्रयण करते हैं तब अतिव्याप्ति होती है । और यदि अननुगत (अनेक) लक्षण मानते हैं तव अव्याप्ति दोष होता है ।

समाधान–ऐसा जो खण्डनकार ने कहा है, सो सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि उभयथा दोनो प्रकार के लक्षण मानने में कोई दोष नहीं होता है । तथा हि निग्रह स्थान के अन्तःपाती होकर जो सिद्धान्त विपरीत अभ्युपगम हो उसी का नाम है अपसिद्धान्त । ऐसा कहने से पूर्वोक्त सकल दोष परिहार हो जाता है । और लक्ष्य यदि अननुगत हो तो लक्षण का अननुगम (अनेकता) दोषाधायक नहीं होता है । अपसिद्धान्तत्व घटत्वादि जाति की तरह साधारण अर्थात् एक रूप नहीं है किन्तु कथा में आश्रित अर्थात् परिगृहीत जो तत्तत् शास्त्रकारों का अभ्युपगम तद्विरुद्ध जो अभ्युपगम उसको अपसिद्धान्त कहते हैं । वह जो अभ्युपगम जैसे कथा

इमित्युक्त्वा परेण क्षणभङ्गादौ दोषदेशनायां मास्तु क्षणभङ्ग इत्यादिरभ्युपगमः । ननु न शास्त्रश्रय ,एव विवादः पर्वतस्य वह्निमत्त्वादावपि तत्सम्भवात् तदाह—

रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य गुणदोषमपश्यतः ।
विलब्धा बत केनामी सिद्धान्तविषयग्रहाः ॥

नहि शास्त्राश्रया वादा भवन्तीति तस्मान्नापसिद्धान्तो निग्रहस्थानमिति । मैवम् । बौद्धस्य क्षणभङ्गादिकं स्वशास्त्रोक्तं त्यजतोपसिद्धान्तोक्त्योपजीव्याविरोध एवोच्यते मीमांसकस्य

के आरम्भ काल में मैं बौद्ध हूँ ऐसा कहै और दूसरे ने जब क्षणभंग वाद में दोष दिया तब कहै क्षणभंग नहीं रहो, इत्यादि अभ्युपगम को ही अपसिद्धान्त कहते हैं । नहीं कहो कि शास्त्र का आश्रय लेकर के ही विवाद होता है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि लोक में भी पर्वत में वह्निमत्त्वादि के विवाद की संभावना देखते हैं । ऐसा कहा है—गुण दोष को नहीं जानता हुआ जात मात्र अत एव रिक्त जन्तु के पीछे इस सिद्धान्त रूप ग्रह को किसने लगा दिया ? नहीं कहो कि वाद शास्त्राश्रय ही होता है इससे अपसिद्धान्त निग्रह स्थान नहीं है, सो ठीक नहीं. क्योकि क्षण भंग जो है सो बौद्ध को स्वशास्त्रोक्त है । उसको छोड़ने पर अपसिद्धा-न्तोक्ति से उपजीव्य विरोध ही कहलाता है । जैसे मीमां-सक को श्रुतिविरोध । वहां उपजीव्य विरोध के उद्भावन

श्रुतिविरोधवत् तथा चोपजीव्यविरोधोद्भावने न तदैव कथा-विच्छित्तिः । न चायमुपजीव्यविरोधः शास्त्रविरोधप्रतिज्ञाविरोधव्याघातेषु मन्मतेषु त्रिष्वपि साधारण इति एवं वह्नयनुमानेपि स्वाभ्युपेतप्रमाणविरुद्धाङ्गीकारेपसिद्धान्तापरनामोपजीव्यविरोध एवेति तस्मादेवमादीन्यसम्यञ्चि खण्डनानि प्रपञ्चयन् भवान्न केवलमन्वीक्षायामनधीतीत्यवधार्यते किं तर्हि तन्त्रमात्र एवेति एवं निग्रहस्थानान्तरखण्डनान्यपि निराकरणीयानि ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रकृते खण्डनोद्धारे निग्रहस्थानखण्डनोद्धारो नाम द्वितीयः परिच्छेदः

करने पर उसी समय में कथा का उच्छेद नहीं होता है । यह केवल उपजीव्य विरोध ही नहीं है किन्तु मेरे मत में शास्त्रविरोध प्रतिज्ञाविरोध व्याघात में तीनो में साधारण है । एव वह्नयनुमान में भी स्वसे स्वीकृत पदार्थ में प्रमाण विरुद्ध मानने पर अपसिद्धान्त है जिसका अपर नाम एतादृश उपजीव्य विरोध ही है । इसलिये एतादृश पूर्वोक्त अनेक प्रकारक असत् खण्डन का विस्तार से कथन करने वाले आपने केवल आन्वीक्षिकी विद्या का अध्ययन मात्र ही नहीं किया है, सो नहीं किन्तु इस तंत्र से आप सर्वथा अनभिज्ञ हैं । इसी प्रकार से और निग्रह स्थान का जो खण्डन श्रीहर्ष ने किया है उसका भी निराकरण करना चाहिये ।

❀ अथ तृतीयपरिच्छेदः ❀

सर्वनाम्नः खण्डयिष्यता ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणमिति तावत्तदवतारितम् अत्र च विकल्पकल्पना न युक्ता प्रकरणेन प्रश्नार्थताया एवावधारणात् किञ्चेदृशः प्रश्न एव न सम्भवतीतीश्वरमन्तुस्तदभिज्ञतया प्रश्नायोगात् तदमन्तुश्चेश्वरासत्त्वाभ्युपगमेन

इति पश्चिमाम्नाय—श्रीरामानन्दपीठीधीश—जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य योगिराज स्वामी श्रीरामप्रपन्नाचार्य दर्शनकेशरी कृत खण्डनोद्धार दीपिका में निग्रह स्थान खण्डनोद्धार नामक द्वितीयपरिच्छेद समाप्त हुआ।

सर्वनामकिमादि शब्द के खण्डन करने की इच्छा से ईश्वर सद्भाव में क्या प्रमाण है ? इस प्रकार से किमादि सर्वनाम वाची शब्द को अवतारित किया है। इस स्थल में विकल्पार्थक किम् शब्द की कल्पना ठीक नहीं है। किन्तु प्रकरण में प्रश्नाथता ही मानना ठीक है, अर्थात् प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि किम् शब्द प्रश्नार्थक है। और भी ईश्वर के सद्भाव में क्या प्रमाण है ? एतादृश प्रश्न ही नहीं वन सकता है क्योंकि जो ईश्वरवादी है उनको तो ईश्वर विषयक ज्ञान है तव तद्विषयक प्रश्न अयुक्त है और जो ईश्वर को नहीं मानते हैं जैसे मीमांसक पूर्वसांख्य

तद्विषयकप्रमाणप्रश्नानुपपत्तेः तस्मात्तत्त्वभुवनादेरुपादानगोचरा-परोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वे किं प्रमाणमिति प्रष्टुमर्हतीति अयमेव प्रश्नस्तत्परः तथा च प्रमाणपदं यद्विशेषपरमुत्तरेऽपि तथैव तद्विशेषपरमस्तु तथा च प्रमाणमित्येवोत्तरं घटतामेवं सर्वत्र प्रश्ने खण्डनमूहनीयमिति चेत्। धिङ् मूर्ख उक्तरीत्यापि किं पचती-

---

चार्वाक, माध्यमिक, इन लोगों को ईश्वर की असत्ता का ज्ञान है इससे ईश्वर विषयक प्रमाण का प्रश्न ही अनुपपन्न है। इसलिये भुवनादिक पदार्थ उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् से जन्य है, एतादृश जन्यता में क्या प्रमाण है ? इस प्रकार का प्रश्न युक्त होगा। यही प्रश्न ईश्वर परक है। ऐसा होने पर प्रमाण पद जिस विशेष परक प्रश्न में होता है, उत्तर में भी तद्विशेष परक हो तब तो यह प्रमाण है यही उत्तर घटता उचित होता है। इसी प्रकार से सर्वत्र प्रश्न स्थल में खण्डन समझो।

उत्तर—हे अनभिज्ञ ! पूर्वोक्त प्रकार से भी 'किं पचति' क्या पकाता है ? इस प्रश्न का खण्डन तो नहीं हुआ। "किं प्रमाणम्" क्या प्रमाण है इसके समान "किं पचति" इस स्थल में आपके मत से भी कोई भी उत्तर नहीं हो सकता हैं। कलाय (उर्द) ओदन इत्यादि न कहा जाय। किं शब्द के प्रश्न मात्र परक होने से प्रष्टव्यार्थवाचकता का अभाव है।

त्यादेः प्रश्नस्याखण्डनात् न हि किं प्रमाणमितिवत् किं पचती-त्यत्रापि किञ्चिदुत्तरं त्वद्दिशा घटते विना कलायमित्यादेः किमः प्रश्नमात्रेपरत्वेन प्रष्टव्यानभिधायकत्वात्। भावनानवरुद्ध-प्रश्न एवाथ मया खण्ड्यत इति चेत्। अनेन खण्डनकृता सुरा पीता न वेत्यत्र भावनानवरुद्धेऽपि प्रश्ने त्वदुक्तखण्डनाप्रवृत्तेः तिङन्तानुपसन्दाने यः सुबन्तानुप्रश्नस्तमेव खण्डयामीति चेन्न दक्षदौहित्रमतानुसारेणासम्भवात्। यत्रान्यत्क्रियापदं नास्ति। तत्रास्तिर्भवतीत्यपरः प्रयोक्तव्य इति तद्वचनात् न्यायतन्त्रानु-

---

प्रश्न–भावना अर्थात् अभिप्राय से अनवरुद्ध जो प्रश्न है उसी का मैं खण्ठन करता हूँ।

उत्तर–इस खण्डनकार ने मदिरापान किया या नहीं? इस स्थल में भावना से अनवरुद्ध प्रश्न में भवदीय खण्डन की प्रवृत्ति नहीं होती है।

प्रश्न–तिङ् पद की अनुपस्थिति में जो सुबन्त विषयक प्रश्न है उसी का मैं खण्डन करता हूँ।

उत्तर–यह जो आप कहते हैं कि तिङन्त की अनुप-स्थिति कालिक सुवन्त प्रश्न का खण्डन करता हूँ, दक्ष-दौहित्र पाणिनि के मतानुसार से असम्भवित है। क्योंकि पाणिनिका वचन है कि जहाँ कोई भी क्रिया देखने में आती है उस स्थल में अस्ति भवति का अध्याहार किया जाता है। अर्थात् व्याकरण के मत में सुबन्त तिङन्त

सारेणैव सुबन्तानुप्रश्नखदडने प्रवृत्ते अत्र च तन्त्रे वाक्ये न त्तिङन्तप्रयोगनियमः काञ्च्यामिदानीं त्रिभुवनतिलको राजेत्यादिवाक्यस्य न्यायप्रथमाध्याये दर्शनात् एवञ्च किं प्रमाणं केन प्रमाणेन कस्मै प्रमाणाय कस्मात्प्रमाणात् कस्य प्रमाणस्य कस्मिन्प्रमाणे इत्येवरूपषड् विधविभक्त्यवरुद्धसुबन्तप्रश्नार्थं एव मया खण्ड्यते इति चेत् साधु वेदान्ताध्वा समन्वितः तथाहि किं स्विद्धिमस्य भेषजमिति प्रश्नोत्तप्रश्ने अग्निर्हिमस्य भेषजमिति

समुदाय का नाम वाक्य होता है। न्यायतन्त्र के अनुसार सुबन्त का प्रश्न खण्डन प्रवृत होय तो न्यायतन्त्र में वाक्य में तिङन्त का प्रयोग आवश्यक नहीं है। न्याय के प्रथमाध्याय में "काँचो नगर में इस काल में त्रिभुवन तिलक राजा है" इत्यादि वाक्य देखने में आता है।

प्रश्न–ऐसा हुआ तव क्या प्रमाण है, किस प्रमाण से किस प्रमाणा के लिये, किस प्रमाण से किस प्रमाण का किस प्रमाण में एवं रूप षड्विध विभक्त्यवरुद्ध सुबन्त प्रश्नार्थ का ही मैं खण्डन करता हूं।

उत्तर–बहुत अच्छा आप वेदान्त मार्ग से युक्त हो। तथाहि हिम को भेषज (दवा) क्या है, ऐसा प्रश्न होने पर अग्नि हिम की भेषज है ऐसा जो श्रोत उत्तर है सो आपके मत से अलग्नक हो जायगा। दवा है एतावन्मात्र उत्तर आपके मत से होना चाहिये।

श्रौतमुत्तरन्त्वन्मतेनालग्नकं स्यात् भेषजमेवोत्तरन्त्वद्दिशा घटेत श्रुतयो विशृङ्खला एवेति चेत्। त्यज तर्हि श्रुतितात्पर्यमात्रसाक्षिके ब्रह्मणि विश्वासम् अधीष्व मध्यमागमं सेवस्व सत्त्वशून्यतावार्द्ममिति। नान्वस्त्वेतद्यथा तथा उत्तरवत्प्रश्नखण्डने य उद्धारस्तं प्रब्रूहीति चेत्। ब्रूमः। किं प्रमाणमिति प्रष्टा वैजात्येन प्रमाणमित्युत्तरे कृतेपि तावन्न निवृणोति यावत्प्रत्यक्षमनुमानं वेति न शृणोति तत्कस्य हेतोः प्रमाणमित्युत्तरमाकर्ण्यापि स्वजिज्ञासितममुं प्रमाणविशेषरूपं न प्रापेति गम्यते प्रश्नस्थेन

प्रश्न—श्रुति तो विशृंखल है अर्थात् अस्त व्यस्त ही है।

उत्तर—तब तो श्रुति तात्पर्यमात्र साक्षिक ब्रह्म में विश्वास को आप छोड़ दीजिये, माध्यमिक आगम को पढिये और सर्वशून्यता को सेवा करिये।

प्रश्न—यह जैसे तैसे होवे। परन्तु उत्तर के समान प्रश्न खण्डन में जो उद्धार है उसको बोलिये। बोलता हूं।

उत्तर—प्रष्टाने पूछा कि क्या प्रमाण है? उत्तरकार ने कहा-प्रमाण यह है कि उत्तर करने पर भी प्रष्टा तब तक निवृत नहीं होता है जब तक कि प्रत्यक्ष वा अनुमान प्रमाण विशेष उपस्थित न हो। जब तक कि प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण है यह वचन नहीं सुनता है। यह किसलिये? अर्थात् ऐसा किस कारण से होता है? प्रमाण है इत्या-

प्रमाणपदेन प्रमाणत्वेन रूपेण यथा प्रमाणविशेष उपस्थाप्यते अन्यथा किमालम्बनः प्रश्नः स्यात् तथा उत्तरस्थेन तु तेन पदेन प्रमाणत्वेन रूपेण प्रमाण उपस्थाप्यते । अत्रैव सङ्ग्रहश्लोकौ यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्वक्ति परोपयोक्त्या वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनापि तयैव वाचा स तथाविधोर्थः ॥
प्रश्नस्य यः स्याद्विषयः स वाच्चो वाचानया चैष भवेन्निरुक्तः ।
इदं त्वयाप्यास्थितमेतयैव वाचा स्वपृच्छाविषयस्य वक्त्रा ॥

कारक उत्तर को सुनकर भी स्वजिज्ञासित प्रगाण विशेष को नहीं प्राप्त किया ऐसा मैं समझता हूँ ।

प्रश्न–वाक्यस्य प्रमाण पद से प्रमाणत्व रूप से जैसे प्रमाण विशेष उपस्थित होता है । अन्यथा प्रश्न निरालंबालक हो जायगा, उसी तरह उत्तर वाक्यस्थ प्रमाण पद से प्रमाणत्व रूप से प्रमाण मात्र उपस्थित होता है अर्थात् उत्तर वाक्य में प्रमाण विशेष के उपस्थित न होने से जिज्ञासा निवृति नहीं होती हैं । यादृशविषयक प्रश्न हो तादृश वस्तु विषयक प्रश्नानुरूप ही उत्तार होना चाहिये । इस विषय में दो संग्रह श्लोक होते हैं । "प्रश्नकर्ता स्वकीय यादृश विषय का यादृश कथन से प्रतिपादन करता है उत्तर वादी को चाहिये उसका उत्तर तादृश वचन से तादृश देना ।।१।। प्रश्नकर्ता का जो विषय हो वह शब्द द्वारा वक्तव्य है, उस वक्तव्य विषय का प्रतिपादन करै ।" ।।२।।

अत्र ब्रूमः। सामान्येन प्रकारेणाविशेषमतिरस्कुर्वन् विवेकी तावद्विवेकिनं पृच्छति। विवेकी तु स्वविवेचितविशेषं प्रष्टुं प्रति विम्बयिष्यन्ननपेक्षितविशेषं तिरस्कुर्वन्नपेक्षित पुरस्कुर्वन् शृंङ्गिग्राहितया तं विशेषमाह प्रत्यक्षमित्यनुमानमित्यादि। एवञ्च प्रश्नविषये समदृशः समान्य प्रकारकोऽतिरस्कृतकिञ्चिद्विशेषः किं प्रमाणमित्यादिः प्रश्नो युज्यते उतरयितुस्तद्विशेषेषु विषमदृशो विवेकिनोभिमतविशेषमात्रप्रत्यापिपयिषोः शृङ्गग्राहिकानिर्देशमन्तरेण न निस्तारः प्रष्टुर्जिज्ञासापनोदिका हि विशेष-

---

अब इसका समाधान कहते हैं—अत्र ब्रूमः सामान्य प्रकार से अर्थात् प्रमाणत्व रूप से विशेष धर्म प्रत्यक्षत्वादि का तिरस्कार न करता हुआ विवेकी अन्य विवेकी को पूछता है, विवेकी उत्तर दाता स्वविवेचित विशेषाँश को पूछने के लिये अनुवाद करता हुआ शृंग ग्राहिकतया उस विशेष को कहता है, यह प्रत्यक्ष है अथवा यह अनुमान है इत्यादि। ऐसा हुआ तब प्रश्न के विषम में सामान्य प्रकारक और जिसमें विशेषांश का त्याग न हो, ऐसा क्या प्रमाण है ? ऐसा प्रश्न उपयुक्त होता। उत्तरकर्त्ता तत्तद्विशेषांश में उदासीन अभिमत विशेषांश मात्र को समझाने के लिये प्रष्टा की जिज्ञासा को निवृत्ति करने में समर्थ विशेष प्रकारक ज्ञान ही होता है ? इस स्थिति में यह जो गाथाद्वय है सो विशेषादर्शन मूलक है ऐसा मैं समझता हूं।

प्रकारिका धीः सा नान्यथा सम्भवतीति । एवञ्च गाथाद्वयं विशेषादर्शनयोनीति विज्ञः । अथ तनुभुवनादेरुपादानाभिज्ञजन्यत्वे किं प्रमाणमिति प्रमाणविशेषप्रश्नस्तज्जिज्ञासाविष्करणरूपः तज्जिज्ञासा च तत्सामान्यज्ञानपूर्विका तच्च ज्ञानं यदि प्रमारूपं मन्यसे तदेश्वरप्रमा तद्विषयभूतश्चेश्वरस्त्वया प्रमित एव किं पृच्छसि अथाप्रमाभूतं ब्रूषे तदा किं पृच्छसि न ह्यप्रमालिङ्गितस्य स्वरूपं पृच्छ्यते तस्य निःस्वरूपत्वात् अथ प्रमाप्रमौदास्येन

प्रश्न– तनु शरीर भुवन ब्रह्मांडादि अवयवी जो हैं पदार्थ उपादानविषयक अपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् से जन्य है । एतादृश जन्यता में क्या प्रमाण है ? एतादृश प्रमाण विशेष विषयक परमेश्वर द्योतक रूप प्रश्न है । ईश्वर जिज्ञासा ईश्वर के सामान्य ज्ञानपूर्विका होती हैं । वह ज्ञान यदि प्रमा रूप है ऐसा मानो तब तो ईश्वर की प्रमा तथा तादृश प्रमा विषयीभूत जो परमेश्वर सो प्रमित हो ही जाता है तब तद्विषयक प्रश्न क्यों पूछते हो ? अथ यदि जो ईश्वर ज्ञान हुआ सो अप्रमा रूप है ऐसा कहो तो फिर पूछना ही क्या रह गया ? क्योंकि जो अप्रमा ज्ञान का विषय है उसके स्वरूप को पूछना निरर्थक है, निःस्वरूप होने से । यदि कहो कि प्रमा अप्रमा में उदासीन होकर के परमेश्वर को जानकर परमेश्वर स्वरूप विषयक प्रश्न करता हूं तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि चाहे ऐसा हो किन्तु उस में

तज्ज्ञात्वा तत्स्वरूपं पृच्छसि भवत्वेवं तदपि प्रत्येकं कोट्योर्दूषित-त्वात् किमधिकमस्ति अथ संशयानः पृच्छसि तदा शिष्योसि न तु वादी अथाचिक्षिप्सुः पृच्छसि तदा पूर्वोक्तं निश्चयपक्षं नातिवर्तस इति। अत्रोच्यते। तनुभुवनादेः कर्तृजन्यत्वविषयत्वे च प्रमात्वं तावन्मन्यस इति न्यायमतमनूद्य स्वयं तत्प्रामाण्या-प्रामाण्यौदास्यमालम्ब्य तत्र किं कारणमित्याचिक्षिप्सोः प्रश्न-स्तत्तद्दोषग्रासात् किमपि करणं न भविष्यतीति प्रष्टुर्भावः एवं

भी तो प्रमा अप्रमारूप प्रत्येक कोटिका तो निराकरण कर दिया है। तब इसमें अब क्या अधिक है जो प्रष्ठव्य है ? अथ कहो कि संदिग्ध होकर के पूछता हूं तब तुम शिष्य तो हो नहीं वादी हो। अथ यदि आक्षेप की इच्छा से नहीं पूछते हो तब तो पूर्वोक्त जो निश्चय पक्ष है उसका अति-क्रमण नहीं करते हो।

समाधान–अत्रोच्यते, तनुभुवनादिके कर्तृजन्यत्व में तथा तद्विषयतामें प्रमा ज्ञान मानते हो तब तो न्याय मत का अनुवाद करके और स्वयं प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य में उदासीनता का आलम्बन करके ईश्वर प्रमा में क्या कारण है ? ऐसा आक्षेप्ता का प्रश्न है, परन्तु यह प्रश्नाक्षेपतत्तद् दोषग्रस्त होने से उस ज्ञान में कोई भी कारण नहीं होगा, ऐसा पूछने वाले का अभिप्राय है। इसी प्रकार से सर्वत्र प्रश्न में जानना चाहिये।

सर्वत्र प्रश्ने नेयम् ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रकृते खण्डनोद्धारे सर्वनामखण्डनोद्धारो नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥

इति पश्चिमाम्नाय श्रीरामान्दपीठ–श्रीशेषमठाधीश–
जगद्गुरु–श्रीरामानन्दाचार्य-योगिराज–
स्वामि–श्रीरामप्रपन्नाचार्यदर्शनकेशरीकृत–
खण्डनोद्धारदीपिकायाँ सर्वनामप्रश्नोद्धार–
नामकः तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः

❁ अथ चतुर्थः परिच्छेदः ❁

तदयं संक्षेपः । किमस्तावज्जिज्ञासाविष्करणमर्थः किं स्विदेकाकी चरतीत्यादौ क्वचित्स एवाक्षेपगर्भः क्षित्यादेः कर्तृजन्यत्वे किं प्रमाणमित्यादौ क्वचिदाक्षेपो यथा मयि रोधिनि सति कस्ते शरणमित्यादौ क्वचिन्निन्दा यथा किं तेनाङ्घ्रियुगेन येन नगरी न प्रापि वाराणसीत्यादौ क्वचित् विकल्पः यथा हृतात्मा किमयं दिवाकर इत्यादौ । यदादीनान्तु सप्तानां

किं प्रभृतिक सर्वनाम शब्द के सम्बन्ध में संक्षेप में बताते हैं । जिज्ञासा का स्पष्टीकरण करना ही किं शब्द का अर्थ है । जैसे क्या एकाकी चलता है । कहीं तो आक्षेप घटित ही किम् शब्द का अर्थ होता है । जैसे क्षित्यादिक की कर्तृ जन्यता में क्या प्रमाण है ? इत्यादि स्थल में । कहीं आक्षेप किम् शब्द का अर्थ होता है । जैसे हमारे विरोधी रहने पर तुम को शरण कौन है ? इस स्थल में मदतिरिक्त में रक्षत्व का आक्षेप है अर्थात् मदतिरिक्त में रक्षकत्वाभाव है । कहीं तो निन्दार्थक किम् शब्द है । उन दोनों पैरों से क्या उसने श्रीअयोध्यानगरी को प्राप्त नहीं किया ? यथा वा लौकिक उदाहरण "अपारिनयया प्रजा प्रभुतया तया किं कृतम्" "अहारि नयया मनः प्रमदया तया किं कृतम्" इत्यादि । कहीं तो विकल्पार्थक किम् शब्द होता है, जैसे क्या यह दिवाकर हृतात्मा है ? यहाँ दिवाकर व्यक्ति विशेष या

धर्मिण्येव शक्तिः प्रस्तुतत्वादिकन्तु पङ्कजसमुदाये पद्मत्वादिवत्-प्रयोगोपाधिः धेनुपदे गोत्ववच्छक्त्युपाधिर्वेति तथाहि प्रस्तुतत्वं तटस्थीकृत्य यच्छब्दो धर्मिणि वर्तते एवं तच्छब्दोपीति। एवमिदमेतदादौ प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वम् अदःशब्दे तु परोक्षज्ञान-विषयत्वम् अत एवोभौ लोकौ सञ्चरसि इमञ्चामुञ्च देवल-केति शाब्दिकाः। एवं युष्मच्छब्दः सम्बोध्यात्मनि अस्म-च्छब्दः स्वतन्त्रवक्त्रात्मनि स्वातन्त्र्यग्रहणात् वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजेत्यादौ कविरेव नास्मच्छब्दवाच्योनुवादकत्वेन

सूर्यं इनमें विकल्प है। यत् प्रभृतिक जो सात शब्द हैं उनकी शक्ति धर्मी में है। प्रस्तुतत्वादिक जो है सो तो पंकज समुदाय में पद्मत्व की तरह प्रयोग में उपाधिमात्र है। अथवा धेनु पद में गोत्व के समान शक्ति की उपाधि है। तथाहि प्रस्तुतत्व (प्रक्रान्तत्व) को तटस्थ करके यत् शब्द धर्मी का बोधक होता है। इसी तरह तत् शब्द में भी समझना चाहिये। एवम् इदं शब्द तथा एतत् शब्द की शक्ति प्रत्यक्ष ज्ञान विषय में है। और अदसशक्ति परोक्ष ज्ञान विषय में है। अत एव हे देवलक तुम इस लोक में तथा परलोक में दोनों में संचरण करते हो, ऐसा प्रयोग शाब्दिकोंने किया है। युष्मत् शब्द की शक्ति संबोध्य में होती है, अस्मत् शब्द की शक्ति स्वतंत्र वक्ता में होती है, स्वातंत्र्यके ग्रहण होने से। वाच्यस्त्वया मेरे वचन

स्वातन्त्र्याभावादिति । ननु विरमतु प्रश्नखण्डनं सिध्यतु चात्र भगवान् उपनिषत्तात्पर्यमर्यादानिविष्टो भवान् तथापि तं भावभूतं मन्यसे तत्र किमिदं भावत्वं नाम । न तावद्द्रव्यादिषडन्यतमत्वम् अनुगतानतिप्रसक्तैकरूपाभावे आदिपदाप्रवृत्तेः तद्भावे च तस्यैव भावस्य वचनौचित्यात् किञ्च यत्किञ्चिद् भावत्वं ब्रूपे तद्भावत्वेऽस्ति न वा आद्ये स्वात्मनिवृत्तिविरोधः

से तुम राजा को कहना, इस स्थल में अस्मत् शब्दवाच्यत्व कवि में नहीं है क्योंकि कवि के अनुवादक होने से उसमें स्वातन्त्र्य नहीं है।

पूर्व पक्ष—किम् शब्द प्रश्नार्थक है इसकी जो खण्डन चर्चा थी उससे विरत होइये । भगवान् परमेश्वर की भी सिद्धि हो । आप उपनिषद् तात्पर्य को जानने वाले हैं, तथापि मैं आपसे पूछता हूं कि आपतो परमेश्वर को भाव रूप मानते हैं तो यह भावत्व वस्तु क्या है ? उसमें द्रव्याषडन्यतमत्व रूप भावत्व नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अनुगत अनति प्रसक्त एक रूप का अभाव होने से द्रव्य का जो आदि पद है उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । यदि अनुगत अनतिप्रसक्त एक रूप का सद्भाव हो तब तो उसी को भाव कहा जाय, लक्षण निर्माण निरर्थक है । और भी देखिये जो कुछ आप भावत्व बताते हैं सो भावत्व में है कि नहीं ? यदि भावत्व में भावत्व रहता है इस प्रथम पक्ष में

अन्त्ये भावत्वस्य धर्मभूतस्यान्यनिषेधमुखेनाप्रतीयमानस्यापि भावत्वराहित्ये घटादेर्भावत्वे का प्रत्याशा। भगवतो भावत्वं मा भूदिति चेत्तह्यभावत्वं प्राप्तम्। अस्त्वेवमिति चेत्। किमि-

---

स्व में स्व को वृतिता का विरोध होता है, अर्थात् आत्माश्रय दोष हो जाता है भावत्व में भावत्व नहीं रहता हैं, इस अन्तिम पक्ष में धर्म स्वरूप जो भावत्व है, जो कि अन्य के निषेध मुख से प्रतीयमान नहीं होता है, उसमें यदि भावत्व न मानें तब तो घटादिक पदार्थ के भाव रूप होने की क्या आशा करते हैं? अर्थात् जिसके बल से घट भाव कहलाता वह धर्म जब स्वयमेव भाव नहीं है तब घट को भाव किस तरह हो सकता है, अर्थात् घटादिक भाव रूप नहीं कहावेगा। नहीं कहो कि भगवान् भाव रूप नहीं है, तब तो भगवान् में अभावत्व हो जायगा। अर्थात् पदार्थ तो दो ही प्रकार का होता है एक भाव रूप और दूसरा अभाव रूप। तब उसमें यदि भगवान् भाव रूप न हो तो परिशेषात् अभाव रूप हो जायेंगे। यदि इष्टापत्ति कहो तो अभाव निःस्वरूप होता है तो भगवान् भी निःस्वरूप हुए, तब उनकी उपासना कैसे होगी। भगवत् उपासना के अभाव में उपा मूलक मोक्ष के लिये शास्त्र और शास्त्रकार का प्रयत्न निष्फल हो जायेगा। भगवान् के अभावरूप होने में यह दोष तो होता ही है, तथापि ग्रन्थकार दूसरा दोष भो बताते हैं

दमभावत्वं नाम भावनिषेधत्वं कश्चिद्धि निषेधो भावस्य यथा घटो नेति आद्योऽभावः भावप्रतिक्षेपणात् द्वितीयस्तु भावः अभावप्रतिक्षेपणात्। तदुक्तं "अभावस्य तु योऽभावो भाव एवावशिष्यत" इति चेत्। निषेध इति कोर्थः अभावो वा विरोधी वा। अत्राद्ये एवं हि भावस्य निषेध इत्यस्य भावस्याभाव इति स्यात् तत्राप्यभावो भावनिषेध इति स्यात् अत्रापि निषेधदस्याभाव इति विवृतौ पुनर्भावप्रवेशे अभाव-

---

अस्त्वेवमित्यादि. कुछ देर के लिये मान लिया जाय कि भगवान् अभाव रूप है तब मैं पूछता हूं कि यह अभावत्व क्या है ? यदि भाव निषेध को अभाव कहा जाय तो निषेध तो भाव का होता है,जैसे घटो न। क्योंकि भाव का प्रतिक्षेप होने से प्रथम अभाव है और अभाव का प्रतिक्षेप होने से द्वितीय भाव रूप है। ऐसा कहा है कि अभाव का जो अभाव है सो भावरूप से ही अवशिष्ट होता है। ऐसा कहो तो मैं पूछता हूं कि निषेध शब्द का क्या अर्थ है ? निषेध का अर्थ अभाव है अथवा विरोधी है ? प्रथम पक्ष में इसका अर्थ भाव का निषध होगा,भाव का अभाव। इसमें भी निषेध पदार्थ होगा अभाव, तब ऐसा कहने से पुनः भाव का प्रवेश होगा। इस प्रकार से अभाव का निर्वचन करने में भाव की आनंत्य आपत्ति होगी,इससे यह मार्ग ठीक नहीं है अन्तिम जो विरोध पक्ष है उसमें गोत्व भी अश्वत्व का अभाव कहला जायगा,

निरुक्तौ भावानन्त्यमापतेदिति नायं पन्थाः। अन्त्ये गोत्वमप्येवमश्वत्वस्याभाव इति स्यात् तत्राप्येकेनापरस्य विरोधात्। अनयोर्भावयोर्विरोधेपि भावत्वेनोपस्थितस्य भावस्य विरोधिता नास्ति अभाव इत्यस्य तु सास्ति स्वभाव इति भावनिषेधनादिति चेत्। तर्हि भावविरोधी भावत्वेनोपस्थितस्य निषेध इति निर्गलितम् अत्राद्यकल्पोर्थग्रास इति। अत्राहुः। त्रिविधा हि पदार्थास्तत्र द्रव्यगुणकर्मणां सत्ता च तद्धीश्च सामान्यविशेष-

---

गोत्व अश्वत्य का विरोध होने से । नहीं कहोकि गोत्व अश्वत्व का विरोध होने पर भी भावत्व रूप से उपस्थित जो भावात्मक उसको विरोधित्व नहीं है, अर्थात् स्वरूपतः गोत्व अश्वत्व के परस्पर विरोधित्व होने पर भी भावत्व रूप से विरोध नहीं है दोनों भाव रूप हैं। अभाव की तो भाव के साथ विरोधिता है, क्योंकि अभाव, भाव का निषेध होने से। ऐसा कहने पर तो भाव विरोधी अर्थात् भावत्वेन उपस्थित का निषेध ही फलितार्थ हो जाता है, इसमें आदि कल्प अर्थ ग्रस्त है।

समाधान—पदार्थ तीन प्रकार का होता है द्रव्य, गुण कर्म इन तीनों में समवाय से सत्ता रहती है और सत्ता का ज्ञान भी होता है सामान्य विशेष और समवाय में सत्ता का ज्ञान ही रहता है। (सत्समान्यम् इत्यादि प्रतीत होने से) और अभाव जो प्रागभाव ध्वंस अत्यन्ताभाव अन्योन्याभाव ये चार हैं, ये अभाव होने से सत्तासम्बन्ध ज्ञान विरोधित्व

समवायानां तद्वीरेव अभावावन्तु चतुर्णामभावत्वेन सत्तासम्ब
न्धभानविरोधिना प्रकारेणोपस्थितानां तद्वीरपि नास्ति विशेष-
दर्शनेभ्रमानुदयात् एवञ्च सतासम्बन्धभानविरोधिप्रकारवत्ता
अभावानाम् ॥

तच्छून्यता तु भावानामिति । यद्वा सत्तावत्त्वप्रततिविपय-
त्वं भावत्वम् एवं भावाश्चाभावाश्चोभवेपि लक्षिताः । यद्वानु-
पलब्धिकरणकप्रतीतिविपयत्वमभावत्वम् अतीन्द्रियस्याप्यभावस्य
ज्ञातानुपलब्धिकरणकप्रतीतिविपयत्वात् । एवमनुपलब्धिकरणक
प्रत्यक्षविपयत्वं भावत्वं घटाभावाभावत्वेनापि घटस्य या

प्रकार से उपस्थित हैं इन सब में सत्ता का ज्ञान भी नहीं
है विशेष दर्शन होने से । सत्ता का भ्रम ज्ञान भी नहीं
होता है, ऐसा हुआ तब अभाव में सत्ता सम्बन्ध का जो
ज्ञान तद्विरोधी प्रकारवत्व है । और भाव में तद्रहितत्व है ।
यद्वा सत्तावत्व प्रतीति विषयत्व ही भावत्व है । सद्द्रव्यं सन्
गुणः सत्कर्म इत्याकारक सत्त्व प्रकारक द्रव्यादि विशेष्यक
बुद्धि वेद्यत्व ही भाव का लक्षण है, और एतद्रहितत्व ही
अभाव का लक्षण है, इस प्रकार से भावाभाव उभय लक्षित
होते हैं । अर्थात् समवाय समानाधिकरण्य अन्यतर सबन्ध
से जो सत्तावान् हो उसको भाव कहते हैं (द्रव्य गुण कर्म
में समवाय सम्बन्ध से सत्ता रहती है और सामान्य विशेष
समवाय इन तीन में सामानधिकरण्य सम्बन्ध से सत्ता

धीः सापि घटत्वेनैव घटाभावाभावत्वेनापि घटत्वस्यैवोक्तेः। वायुर्नीरूप इत्यत्र ज्ञातानुपलब्धिकरणिकायामनुमितौ यद्यपि

रहती है। जैसे द्रव्यं सत् यह प्रतीत होती है उसी तरह सामान्यं सत् विशेषः स सन्मवायः सन् यह भी प्रतीति होती है इससे सत्तावत्व भाव लक्षण होता है। विशेषता यह है कि द्रव्यादि तीन में समवाय सम्बन्ध से सत्ता रहती है और सामान्यादिक तीन में समानाधिकरण्य सम्बन्ध से सत्ता रहती है। जैसे घट में रूप है और रस भी है तो दोनों का अधिकरण एक होने से सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से घटीय रूप में तदीय रसादिक भी प्रतीयमान होता है, इसी तरह सामान्य और समवाय द्रव्य रूप के एक अधिकरण में होने से समानाधिकरण कहाते हैं और सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से सामान्याश्रित समवायादिक होते हैं) यहां अनुपलब्धि करणक जो प्रीतोति ज्ञान, तादृश ज्ञान का जो विषय हो उसी का नाम अभाव है। जो अभाव अतीन्द्रिय है सो भी ज्ञाता जो अनुपलब्धि तत्करण प्रतीति का विषय होता है। इसी प्रकार से अनुपलब्धि करणक प्रत्यक्ष का जो अविषय, सो भाव का लक्षण है। घटाभावाभाव रूप से जो घट का ज्ञान है सो भी घटत्व प्रकारेण घट बुद्धि के समान घटाभावाभाव वाक्य से भी

वायुरपि चकास्ति तथाप्यनुमितिः सर्वैव पक्षेनुवादः साध्यमात्रे तु विधिरिति न वायोरप्यनुपलब्धत्वेनाभावत्वापत्तिः भावत्वमु-पदेशसहकृतेन्द्रियग्राह्यत्वं रत्नेतरत्ववत् अभावत्वन्तु स्वरूपत एव योग्यं घटाभाव इत्यादिरूपेण चक्षुःपातेन प्रतीतेः ॥

ननु सर्वमिदं लक्षणजातं विशिष्टमिष्टं भवतः तत्र किं विशिष्टं नाम । न तावद्विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेभ्यो भिन्नं तत्रापसिद्धान्तप्रसङ्गात् नापि तत्त्रितयात्मकं प्रत्येकं विशि-

---

घट ज्ञान ही है, अभावाभाव प्रतियोगी रूप होता है। वायु रूप रहित है इस स्थल में ज्ञातानुपलब्धिकरणक अनुमिति में यद्यपि वायु का भी भान होता है तथापि सभी अनुमिति में पक्ष का अनुवाद मात्र ही होता है। साध्यांश मात्र में विधायकत्व है अर्थात् प्रमाणान्तर प्राप्त है,इसलिये पक्षांश में अनुमिति अनुवादिका होती है और साध्यांशमें विधायिका होती है। इसलिये अनुपलब्धि गम्यत्व होने पर भी वायु में अभावत्वापत्ति नहीं होती है। उपदेश सहकृत इन्द्रियवे द्यत्व भाव का लक्षण है, रत्नेतर के समान। अभावस्वरूप त एव योग्य होता है। चक्षुरादि इंद्रिय का संबन्ध मात्र होने पर यह घटाभाव है, ऐसी प्रतीति होतो है

यह सभी लक्षण विशिष्ट है, ऐसा आपका मत है, उसमें मैं पूछता हूं कि विशिष्टि वस्तु क्या है ? उसमें विशेषण विशेष्य और इन दोनों का जो सम्बन्ध इससे भिन्न

ष्टव्यवहारापत्तेः नापि समुदितं तत्त्रयं विशिष्टं तर्हि तेषु त्रिषु चतुर्थः समुदायः परं प्रवेशितो न तु विशिष्टोऽतिरेचितः तथा च प्रत्येकं प्रसङ्गस्तदवस्थ एव त्वया विशिष्टस्यानन्यत्वाभ्युपगमात् । चतुर्णामपि समुदायोपेक्षित इति चेत्तर्ह्यतिप्रसङ्गः पूर्ववदेव अनवस्था चाधिकेति । अत्राहुः । अनेन विशिष्टखण्ड-

---

विशिष्ट है, यह तो नहीं हो सकता है । यदि ऐसा मानो तो अपसिद्धांत दोष हो जायगा । क्योंकि विश्शेषरा दण्ड विशेष्य पुरुष संबन्ध संयोग इसके अतिरिक्त चौथा कोई पदार्थ नहीं है । नहीं कहो कि विशेषणाविशेष्य सम्बन्ध एतत् त्रितयात्मक विशिष्ट है, यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा होने से तो ही प्रत्येक विशेषणादिक में विशिष्ट व्यवहार हो जायगा । न वा समुदित विशेषणादि त्रय विशिप्ट है । तब तो आपने इस तीन के समुदाय भे एक चौथे को भी प्रवेश दिया । न कि विशिष्ट को अतिरिक्त बनाया । ऐसा होने पर तो प्रत्येक विशेषणादिक में पूर्ववत् अतिप्रसंग है । और आप तो विशिष्ट को विशेषणादिक से अभिन्न मानते हैं । यदि चारों के समुदाय को विशिष्ट कहो तो अति प्रसंग (प्रत्येक में अति व्याप्ति रूप) पूर्ववत् है और अनवस्था एक दोष अधिक बढ जायगा ।

समाधान—अत्राहुरित्यादि, इस विशिष्ट के खण्डन से स्वकर्ता के ज्ञान का ··(यह पक्ति अस्पष्ट है)

नेन स्वकर्तुर्ज्ञानाविशिष्टत्वमुदटङ्कीति स्तनन्धयैरपि निरटङ्कि ।
ननु विशिष्टं विशेषणविशेष्यसम्बन्ध इति सत्यं तच्च न विशिष्टव्यवहारहेतुकं व्यवहारस्य व्यवहर्तव्याजन्यत्वात् किन्तु तज्ज्ञानं तथा तदपि त्रितयग्राहितया समूहालम्बनाविशिष्टमिति समूहालम्बनादपि विशिष्टव्यवहार आपद्येतेति मद्देशनार्थ इति । चेत् । नूनं भ्रान्तोसि न त्रितयग्राहितामात्रेण समूहालम्बनमपि विशिष्टव्यवहारकमन्वये विशिष्टज्ञानं हि तथा तत्किं समूहालम्बनं विशिष्टस्य ज्ञानं न

शंका–विशिष्ट तो विशेषण विशेषणविशेष्य सम्बन्ध रूप ही है, परन्तु वह विशिष्ट व्यवहार में हेतु नहीं, क्योंकि व्यवहार में व्यवहर्तव्य पदार्थ को कारणता नहीं है, किन्तु व्यवहर्तव्य विषयक ज्ञान को कारणता है । तब तो विशिष्ट ज्ञान विशेषणविशेष्य सम्बन्ध एतत् त्रितयग्राही और समूहालम्बन ज्ञान भी यथोक्त त्रितयग्राही होता । तब जब दोनों त्रितयग्राहित्वेन समान है तब तो समूहालम्बन से भी विशिष्ट व्यवहार की आपत्ति होगी, मेरे प्रश्न का अभिप्राय यही है ।

उत्तर—आप इस विषय में निश्चित रूप से भ्रान्त हैं । त्रितयग्राहिता मात्र से समूहालम्वन विशिष्ट व्यवहार का जनक नहीं है, अन्वय परस्पर संवन्ध रहने से विशिष्ट व्यवहार जनकत्व होता है, तब क्या समूहालम्बन विशिष्ट का ज्ञान नहीं होता है ? होता तो है, किन्तु वह विशिष्ट, ज्ञान नहीं है । क्यों कि सामग्री भेद होने से । अर्थात् विशिष्ट ज्ञान तथा समूहालम्वन की सामग्री भिन्न भिन्न है, ऐसा

भवति भवति न तु विशिष्टं ज्ञानं तत्कस्य हेतोःसामग्री-भेदादिति ब्रूमः। समूहालम्बने हि दण्डपुरुषतत्तत्सम्बन्धैः सममिन्द्रियसन्निकर्षस्तथा दण्डत्वपुरुषत्वतत्सम्बन्धानां ज्ञान-संसर्गाग्रहश्चेति सामग्री विशिष्टज्ञाने तु दण्डात्मकविशेषण-ज्ञानं पुरुषदण्डसन्निकर्षाभ्यां सहेन्द्रियसन्निकर्षः सामग्री तथा चार्थभेदेन सामग्रीवैलक्षण्यात् विशिष्टज्ञानं विलक्षणमुदेति तदेव विशिष्टव्यवहारकरणं यथा भूतले घटाभावो घटाभाव-

---

मैं कहता हूं तथाहि समूहालम्बन में विशेष्य दण्डी विशेषण दंड और दोनो का सम्बन्ध संयोग इन तीनों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध रहता है तथा दण्डत्व पुरुषत्व तत्संबन्ध का ज्ञान और असंसर्गाग्रह भी, यह सामाग्री है। और विशिष्ट ज्ञान में तो दण्डात्मक विशेषण का ज्ञान तथा पुरुष और दंड संनिकर्ष के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष रूप सामग्री है। ऐसा हुआ तब अर्थ के भेद होने के कारण अर्थात् विषय भेद से सामग्री भिन्न है, और भिन्न सामग्री से उत्पन्न होने के कारण विलक्षण विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, जो कि विशिष्ट व्यवहार में कारण होता है, न तु समूहालम्बन विशिष्ट व्यवहार में कारण होता है। जैसे कि भूतल में घटाभाव है अथवा भूतल घटाभाववाला है। इस प्रकार से विशिष्ट ज्ञान तथा विशिष्ट व्यवाहार की व्यवस्था जब सिद्ध हो जाती है तब हर्षने जो विशिष्ट का खण्डन किया है सो केवल

वद्भूतलमिति ईदृशश्च विशिष्टतद्वीव्यवहारव्यवस्थितौ यद्वि-शिष्टखण्डनं सोयमबोधस्य विवर्तः परिणामो वेति ॥३०

इयता प्रबन्धेन कथाङ्गत्वाभिमतानि निग्रहस्थानानि नैया-यिकानुमतानि तथा सर्वव्यवहाराङ्गीभूतानि सर्वानुमतानि सर्व-नामानि तथा सर्वाणि विशिष्टानि च स्वाभिमानेन दूषयित्वा

श्रीहर्ष का जो अज्ञान उस अज्ञान का विशिष्ट खण्डन विवर्त है अथवा परिणाम रूप कार्य है ? अर्थात् उन्होंने विना जाने बूझे खण्डन किया है, वस्तुतः खण्डन नहीं होता है। वेदान्ती का मत है कि कार्य दो प्रकार का होता है, एक तो विवर्त रूप, जैसे जगत्प्रपंच ब्रह्म का विभिन्न सत्ताक कार्य है, अज्ञान का परिणाम अर्थात् समानसत्ताक कार्य है जगत् ।

एतत्पूर्व वर्ती प्रकरण में नैयायिक से अनुमत कथा का अंग रूपेण अभिमत जो निग्रहस्थान उसका, एवं सर्व व्य-वहार में अंग रूपेण अभिमत जो निग्रहस्थान उसका, एवं सर्व व्यवहार में अंगभूत सर्वानुमत सर्वनाम शब्द का तथा सभी विशिष्टों का श्रीहर्ष ने स्वकीय अभिमान मात्र से खण्डन किया और अब वैशेषिक मत का खण्डन करने के लिये वैशेषिक मत का अवतरण करते हैं। गुणवद्द्रव्यमिति, गुणवान् द्रव्य है, इस प्रकार से वैशेषिक तन्त्र में गुणत्व को द्रव्य का लक्षण बताया है । उसमें खण्डनकार का कथन है-

सम्प्रति वैशेषिकमतं खण्डयितुमवतारयति गुणवद्द्रव्यमिति गुणवत्त्वं द्रव्यलक्षणमुक्तम् । तच्चायुक्तम् । गुणादीनां पण्णामपि संख्यारूपगुणप्रतीत्या बाधकाभावाच्च प्रमाभूतया गुणवत्त्वसिद्धावतिव्यापकत्वादिति । तदसत् । सामान्यादीनां सत्प्रत्ययवद्गुणानां रूपादीनां संख्यादिप्रत्ययस्यौपचारिकत्वात् ।

कि गुणवान् जो हो सो द्रव्य है, यह आपका द्रव्यलक्षण अयुक्त है। क्योंकि गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय अभाव इन छ:पदार्थों में द्रव्य की तरह संख्या रूप गुण का अबाधित अतएव प्रमा स्वरूप ज्ञान होता है तो इन छवों में द्रव्य लक्षण की अतिव्याप्ति हो जातो है। प्राश्निक का कहना हैं कि गुणत्व रूप जो लक्षण सो जैसे एको घट इत्याकारक बाध रहित प्रमा रूप ज्ञान होने से घटादि द्रव्य में संख्यादि गुणवत्ता की प्रतीति होनें से गुणवद्द्रव्यं इस लक्षण का समन्वय होता है उसी प्रकार "एकं रूपं पंच कर्म सामान्यमेकं विशेषोऽनेक" इत्यादि अबाधित प्रमा प्रतीत होने से गुणादिकमें भी द्रव्यलक्षण का समन्वय होने से अतिव्याप्ति होती है।

उत्तर—तदसत्—इस प्रकार से लक्षण खंडन अयुक्त है, क्योंकि सामान्य में जैसे सत्सामान्यम् यह प्रतीति औपचारिक है उसी प्रकार से गुण जो रूप रसादिक है उनमें जो गुणवत्व प्रत्यय है सो भी औपचारिक है वास्तविक नहीं है।

उभावपि प्रत्ययौ प्रमे एव बाधकाभावादिति चेत् । गुणस्यापि गुणवत्त्वे सामान्यस्यसामान्यवत्त्वे अनवस्थाया एव बाधकत्वात् उत्तरधारायाञ्चाप्रामाणिकत्वेनानवस्थाया दोषत्वात् । रूपादीनां गुणवत्त्वे प्रमाणं नास्तीति चेत्तर्हि संख्यादावप्येवमस्तु । अस्तु का नो हानिरिति चेद्गुणवत्त्वे द्रव्यलक्षणे गुणादावतिव्याप्ति-हानिरेव त्वद्धानिस्त्वद्दिशा तदुक्तम् । मम तु द्रव्यगुणादि

प्रश्न—जैसे द्रव्य में गुणवत्व ज्ञान अबाधित होने से प्रमा है उसी प्रकार से गुण में जो संख्यादिक गुणवत्व ज्ञान है सो भी अबाधित होने से प्रमा रूप क्यों नहीं है ?

उत्तर—गुण को गुणवान् मानें और सामान्म को सामान्यवान् मानें इसमें अनवस्था ही बाधक है। उत्तर-धारा में अप्रमाणिक होने से अनवस्था दोष है। रूपादिक को गुणवान् होने में कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहो तो संख्यादिक में भी ऐसा ही समझो। ऐसा रहै, अर्थात् गुण में गुणवत्ता रहे तो क्या हानि है ? ऐसा कहो तो गुणवत्व जो द्रव्य लक्षण है, उसकी अति व्याप्ति गुण में हो जाती है यही हानि है। हमारे मत में तो द्रव्य गुणादिक कुछ भी अनुमत नहीं हैं, ऐसा कहो तव भी उसमें अवस्था आ ही घटादिक में गुणवत्व नहीं है, ऐसा जानो (वेदान्ती के मत में उत्पत्ति स्थिति विनाश ये तीन अवस्था जन्य पदार्थ की होती है, तो प्रथमावस्था ग्राही घट में गुणवत्ता नहीं है)

किञ्चिदपि नानुमतमिति चेत् । तर्हि तन्मतेऽवस्थादिग्राहि घटादौ गुणवत्त्वं नास्तीति गृहाण । एवञ्च सत्तासंख्योः प्रत्यये समेऽपि सत्ता सिध्यत्यबाधात्संख्या तु नास्ति बाधादिति । वस्तुतस्तु नवापि द्रव्याणि स्वसमवेतं कार्यमारभन्ते न त्वन्यानि तथा चामीषां समवायिकारणतावच्छेदकमेकमनुगतमनतिप्रसक्तमेष्टव्यं तदेव च द्रव्यत्वमतस्तदेव नवानां लक्षणं जातित्वादखण्डत्वेन लाघवात् न तु गुणवत्त्वमुपाधित्वेन सखण्डतया गौरवात् किन्तु गुणवत्त्वं तस्य व्यञ्जकमात्रमेव गोत्वस्यसास्नावत्त्व-

---

ऐसा हुआ तब सत्ता तथा संख्या का ज्ञान समान होने पर भी बाध न होने के कारण से सत्ता की सिद्धि होती है और बाधित होने से संख्या की सिद्धि नहीं होती है । वस्तुतस्तु पृथिव्यादिक नव द्रव्य स्वसमवेत कार्य को उत्पन्न करते हैं, और गुणादिक स्वसमवेत कार्य के उत्पादक नहीं हैं, तब इन पृथिव्यादिक द्रव्यों में जो समवायिकारणता है तदवच्छेदक एक अनुगत अनति प्रसक्त कोई भी धर्म अवश्य मानना पड़ेगा । ततोदृशधर्म जो होगा वही द्रव्यत्व है और वहां नवों द्रव्यों का लक्षण है। वह जाति रूप होने से अखण्ड है तथा लाघव होता है, न कि गुणवत्व लक्षण है, क्योंकि गुणवत्व तो उपाधि होने से सखण्ड है तो गौरव होगा, किन्तु गुणवत्व द्रव्यत्व का केवल व्यंजक है जैसे कि

वत् । ननु गुणवत्त्वं भवतु द्रव्यत्वव्यञ्जकं तथापि गुणत्वासिद्धौ तदप्यसिद्धमिति तदवश्यं वाच्यमिति चेत् । गुणत्वं जातिरेव गुणत्वमसिद्धं गोत्वादिवदप्रतीतेरिति चेदत्राहुः । गुणकर्मणी तावद्द्रव्याश्रिते तत्र कर्मापि गुण एव वैलक्षण्याभावादिति भूषणः । तदयुक्तम् । कर्मणां हि परस्परविरुद्धसंयोगविभाग-लक्षणकार्यद्वयकारित्वं न गुणानान्तथेति पञ्चानामपि कर्मणा-

---

गोत्वका व्यंजक सास्नावत्त्व है ।

प्रश्न—गुणवत्व को द्रव्यत्व का प्रयोजक मानो तथापि गुणत्व की सिद्धि न होने से गुणवत्व में द्रव्यत्व व्यंजकत्व सिद्ध नहीं होता है ।

उत्तर—गुणत्व जाति रूप वस्तु है ।

प्रश्न–जिस प्रकार से गोत्वादि की प्रतीति होती है उस प्रकार से गुणत्व की प्रतीति नहीं होने से गुणत्व सिद्ध नहीं होता है ।

उत्तर—अत्राहुः गुण और कर्म ये दोनों द्रव्याश्रित हैं । इन में जो कर्म है सो गुण ही है क्योंकि दोनों में कोई वैल-क्षण्य नहीं होने से । ऐसा भूषणकार का मत है, सो ठीक नहीं है क्योंकि कर्म को परस्पर विरुद्ध संयोग विभाग लक्षण कर्म जनकत्व है और गुण में एतादृश कार्यद्वय जन-कता नहीं है । पांचों कर्मों में कर्मत्व रहता है और चौबीस गुण में भी अविरुद्ध कार्य कारित्वेन एक गुणत्व है । यही

मेकं कर्मत्वं तदभिव्यङ्ग्यं गुणानां चतुर्विंशतेरप्यविरुद्धकार्यकारितया चतुर्विंशतेरपि गुणत्वमेकं तदेवाखण्डत्वेन लाघवाल्लक्षणं तद्व्यञ्जकन्तु सामान्यवान् चलनानात्मकः समवायिकारणताहीनो गुण इत्यादीति । द्रव्यकर्मणोस्तु विरुद्धकार्यकारित्वेप्यनपेक्षतत्कारिता कर्मणामिति तद्व्यवस्थापकं कर्मत्वमिति द्रष्ठव्यम् ॥

सामान्यवानित्यत्र किं सामान्यम् । जातिरिति यदि केयं जातिः नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतेति विद्धि अनेकसमवेतोप्यवयव्यादिर्न नित्यः नित्यश्च परमाणुस्नेहादिर्न त्वनेकसम

गुणत्व अखंड तथा लाघव होने से गुणों का लक्षण है । इस गुणत्व का अभिव्यंजक सामान्यवान् चलन रूपरहित समवायिकारणता हीन गुण है । द्रव्य तथा कर्म में यद्यपि विरुद्ध कार्य कारित्व रूप समानता है भी तथापि संयोग विभागानपेक्ष कार्य कारित्व कर्म को हे । इसका व्यवस्थापक कर्मत्व है । सामान्यवान् हो, ऐसा विशेषण गुणलक्षण में कहा है, तो गुणलक्षणघटकीभूत यह सामान्य क्या है ? यदि कहो कि जाति को, घटत्व पटत्वादिको, सामान्य कहते हैं, तो यह जाति ही क्या वस्तु है ?

उत्तर--जो नित्य हो तथा अनेक व्यक्ति में समवाय संबंध से वृत्ति हो, उसको जाति कहा जाता है, ऐसा समझो । इस लक्षण में नित्यत्वे सति यह विशेषण न दे तो घटादि रूप जो अवयवी तथा संयोगादिक द्विष्ठ गुण, उसमें अति-

व्याप्ति होगी। क्योंकि अवयवी जो घट तथा संयोग सो भी अनेक अवयव में तथा अनेक द्रव्य में समवाय संबन्ध से वृत्ति है, अतः अवयवी में तथा संयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिये नित्य यह विशेषण दिया है। जो ध्वंस का तथा प्रागभाव का प्रतियोगी न हो उसको नित्य कहते हैं। अर्थात् उत्पाद विनाश रहित को नित्य कहते हैं। अवयवी अवयव जन्य है तथा दण्डादि पातसे नष्ट होता है। तथा संयोग मात्र क्रिया जन्य है इसलिये नित्य है किन्तु अनित्य है। "ध्वंसादि प्रतियोगीत्वे सति प्रागभावाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्" जो प्रागभाव का प्रतियोगी न हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति न हो तथा जो ध्वस का प्रतियोगी न हो अर्थात् विनष्ट न हो, उसका नाम है नित्य। जैसे आत्मा आकाश परमाणु प्रभृति नित्य हैं, इनका उत्पाद विनाश नहीं होता है, यद्यपि देवदत्तो जातो मृतश्च इत्यादि प्रतीति में आत्मामें भी उत्पाद विनाश सिद्ध होता है तथापि उपाधि जो शरीर है, उसी में उत्पाद विनाश है न कि उपधेय आत्मा में है, अन्यथा 'स्वर्गकामो यजेत्' 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यदि श्रुति निरर्थक हो जायगी। अब इस नित्यत्व लक्षण में प्रागभावाप्रतियोगित्व विशेषण न दें, तब केवल ध्वंसाप्रतियोगित्व रहेगा तब ध्वस में अति व्याप्ति हो जायगी, ध्वंस का ध्वंस नहीं होता है वह अनन्त

है। उसका नाश नहीं होता है, और जब प्रागभावाप्रति-यौगित्व कहा तब ध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं होती है, ध्वंस का उत्पाद होता है। और यदि ध्वंसाप्रतियोगित्व न कहें तब प्रागभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि×,प्रागभाव का उत्पादन न होने से प्रागाभावाप्रतियोगित्व है। और ध्वंसा प्रतियोगित्व कहते हैं तब प्रागभाव में अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि यद्यपि प्रागभाव का उत्पाद तो नहीं होता है तथापि विनाश होता है, प्रागाभाव का विनाशक प्रतियोगी होता है, इसलिये प्रतियोगी से प्रमाभाव नप्ट होता है अतएव उत्पन्न घट का पुनः उत्पाद नहीं होता है अन्यथा कपालादि सकल कारण के रहने से भी उत्पत्ति के पीछे घट को पुनः उत्पत्ति हो जानी चाहिये थी। अतः प्रतियोगी प्रागभाव का नाशक है ऐसा माना जाता है, तव प्रगाभाव तो घटोत्पत्ति होने से विनष्ट होगया, तो प्रागाभाव रूप कारण के अभाव होने से घट पुनः उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार से प्रागाभाव का जो प्रतियोगी न होकर ध्वंस का भी प्रतियोगी न हो उसका नाम है नित्य। और प्रागभाव अथवा ध्वंस का जो प्रतियोगी हो वह है अनित्य। प्रकृत में अवयवी घटादिक उत्पाद विनाश शील होने से नित्य नहीं है। इस-लिये इनमें अतिव्याप्ति वारण करने के लिये सामान्य के लक्षण में नित्यत्वे सति यह विशेषण दिया गया है। जलीय

परमाणु गत जो स्नेह है सो नित्य है किन्तु अनेक समवेत नहीं है, इसलिये उस स्नेह में अतिव्याप्ति नहीं होती है। अर्थात् नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम् यह जो जाति का लक्षण है इनमें यदि अनेक पद न दें तब जलीयपरमाणु स्नेह में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह स्नेह नित्य है और समवाय सम्बन्ध से परमाणु में रहता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति वारक अनेक पद दिया जाता है। अब अनेक पद देने से परमाणु का जो स्नेह है सो अनेक में समवाय संवन्ध से नहीं रहता है किन्तु एक में ही रहता है, इसलिये उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती है। एवं समवेत शब्द का अर्थ होता है समवाय सम्वन्ध से वृत्ति। अब यहां नित्य हो अनेक में वृत्ति हो उस को जाती कहते हैं, एतावन्मात्र लक्षण कहैं तब अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि अभाव भी नित्य हैं, और अनेक अधिकरण में स्वरूप सम्बन्ध से वृत्ति भी है। अतः अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति वारण करने के लिये समवेत कहा। अभाव समवेत नहीं है, इसलिये अभाव में अतिव्याप्ति नहीं होती है। व्यक्ति का अभेद अर्थात् एकत्व तुल्यत्व सांकर्य रूप हानि अनवस्था असम्वन्ध अर्थात् प्रतियोगिता अनुयोगितान्यतर सम्बन्ध से समवायाभाव, ये सब जाति बाधक माने गये हैं। इनके अभावस्थल में नित्य अनेक समवेत को जाति कहैं।

चेतः । अथ महाप्रलये सर्वेषामनित्यानामभावात्तन्निष्ठा जातयो नित्यानेकसमवेतत्वं स्वलक्षणं त्यजन्तीति चेत् । किं नश्छिन्नं यावन्तं कालं लक्षणाधीनो व्यवहारस्तावन्तं कालं लक्ष्यात्यागादेव लक्षणं एवमनुगतधीकारणत्वम् । न च सामग्र्या-

---

प्रश्न—महाप्रलय में (जन्यभावका अनधिकरण जो काल उसको महाप्रलय कहते हैं, जिस समय जन्य जो द्रव्य गुण और कर्म इन सबका विनाश हो जाता है तादृश काल विशेष का ही नाम महाप्रलय है) सभी अनित्य घट पटादि पदार्थों का नाश हो जाता है तब उन सब व्यक्ति में रहने वाली जो जाति है सो नित्य अनेक समवेतत्व रूप जो स्वकीय लक्षण उसको छोड़ देती है अर्थात् जब कोई आधार ही नहीं है तब जाति लक्षण का समन्वय किस तरह होगा ।

उत्तर–इससे मेरा क्या विगड़ता है ? यावत्काल पर्यन्त लक्षणाधीन व्यवहार होता है तावत्काल पर्यन्त सामान्य लक्षण अपने लक्ष्य को तो त्यागनहीं करता है ? अर्थात् लक्षण का कार्य होता है व्यवहार और इतर व्यावृत्ति उसका निर्वाह जब लक्षण से हो रहा है तब क्षति ही क्या है ? महा प्रलय में व्यक्ति नहीं है तो व्यबहार भो नहीं है ।इसलिये उस समय में लक्षण का अस्तित्वनास्तित्व की चिंता निरर्थक है । नहीं कहो कि सामग्री में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है । ऐसा

तिव्याप्तिः तस्या अकारणत्वात् नापि तदन्तर्गतेषु सा तेषां तत्राप्रधानत्वात् तेनानुगतमतिप्रधानकारणत्वं जातिलक्षणं न च महाप्रलये लक्षणासिद्धिर्दोषाय तदेतरव्यवच्छित्तेरसाधनेन लक्षणासिद्धेर्निर्बीजत्वात् अत एव गन्धशब्दाश्रयत्वाद्यपि लक्षणं घटते। यत्तु खण्डितं नित्यानेकसमवेतत्वं लक्षणं नित्यमनित्यं वा। आद्ये अंशत आत्माश्रयः नित्यत्वेऽपि लक्षणान्तर्गते नित्यत्वस्योपगमात्। अन्त्ये जातिव्यक्तिसमवायादीनामेकतम-

---

कहना ठीक नहीं है क्योंकि सामग्री को कार्य के प्रति कारणता नहीं है, किन्तु सामग्री का एकदेश कारण होता है। न वा तदन्तर्गत अर्थात् सामग्री के अन्तगत में भी। क्योंकि सामग्री के अन्तर्गत पदार्थ के अप्रधान होने से। इसलिये अनुगत बुद्धि के उत्पादन करने में जो प्रधान कारण हो सो ही जाति का लक्षण है। महाप्रलय काल में लक्षण की असिद्धि दोषाधायक नहीं है क्योंकि उस समय में इतर व्यवच्छेद का साधन नहीं होने से लक्षणासिद्धि अकारणक है। अत एव पृथ्वी का लक्षण गन्धाश्रयत्व आकाश का लक्षण शब्दाश्रयत्व यह भी बनता है।

प्रश्न—जिस किसी ने खण्डन किया कि नित्य अनेक समवेतत्व जो जाति लक्षण है सो नित्य है कि अनित्य है ? प्रथम पक्ष में अंशतः आत्माश्रय दोष होता है, लक्षण के अन्तर्गत नित्यत्व को मानलेने से। अन्तिम पक्ष में जाति

स्यानित्यत्वमावश्यकं तदन्तरेण विशिष्टाभावासम्भवात् घटा-
दावनित्ये तदनित्यतया घटत्वादौ लक्षणस्यानित्यत्वं यद्यपि
सम्भवति तथाप्यात्मत्वादौ तदसम्भवः आत्मनोपि व्यक्तेर्नित्य-
त्वात् एवञ्चैकमेव नित्यानेकसमवेतत्वं घटत्वादावनित्यम् ।
आत्मत्वादौ तु नित्यमिति प्राप्तम् । एवं प्राप्तेऽभिधीयते ।

व्यक्ति समवाय इन सब में अन्यतम का अनित्यत्व मानना
आवश्यक है, उसके विना विशिष्टाभाव कैसे होगा । यद्यपि
अनित्य घटादिक में लक्षण के अनित्य होने से घटत्व में
भी लक्षण को अनित्यत्व होता है । तथापि आत्मत्व में तो
लक्षण का संभव नहीं होता है क्योंकि आत्म व्यक्ति तो
नित्य है । ऐसा हुआ तब एक ही नित्य अनेक समवेतत्व
रूप जाति लक्षण घटत्व में अनित्य होता है और आत्मत्व
में नित्य होता है ।

उत्तर—एतादृश प्रश्न होने पर उसका समाधान करते
हैं । नित्य अनेक समवेतत्व जो है सो जाति रूप नहीं है ।
किन्तु उपाधि रूप होने से सखण्ड है और सखण्ड होने से
अन्य पदार्थ घटित है, तव जहां अनित्य घटादि व्यक्ति से
घटित है वहाँ व्यक्ति के अनित्य होने से नित्यानेक समवेतत्व
रूप लक्षण अनित्य है, और जहां आत्मादि नित्यव्यक्ति से
घटित है वहाँ उन सब को नित्य होने से दैवात् लक्षण
को नित्यत्व होता है ।

नित्यानेकसमवेतत्वमुपाधित्वात्सखण्डं सखण्डत्वाच्चान्यघटितं तथा च यत्र घटादिव्यक्तिभिर्घटितं तत्र तदनित्यत्वेनानित्यं यत्रत्वात्मादिव्यक्तिभिर्घटितं तत्र तासामपि नित्यतयादैवानित्यमिति । नन्वेकमेव वस्तु नित्यमनित्यञ्च ध्वस्तञ्च सच्चेति महद्वैशसमिति चेत् । न अन्येनानेकेन घटितं घटत्वादेरनेकवृत्तित्वमन्यदिति नैकस्य विरुद्धधर्माध्यासः । तत्कथमिदमेकं लक्षणमनेकवृत्तित्वस्योभयत्राविशेषात् नित्यत्वस्य च नित्यत्वं प्रामाणिकं तदनित्यत्वस्याप्रामाणिकत्वादिति सम्प्रदायः । नव्यास्तु अभिधादीनां भङ्गुरत्वेप्यभिधेयत्वादिकं

प्रश्न—एक ही पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी, ध्वस्त भी होता है और सत् भी है। यह तो विरुद्ध हो रहा है।

उत्तर—अनेक अन्य से घटित होने के कारण से घटत्व का जो अनेक वृत्तित्व है सो अलग वस्तु है। इस लिये एक में विरुद्ध धर्माध्यास नही होता है।

प्रश्न—तब यह लक्षण एक कैसे हुआ ? क्योंकि अनेक वृत्तित्व तो दोनो जगह समान है।

उत्तर—नित्यत्व में नित्यत्व तो प्रामाणिक है और अनित्यत्व अप्रामाणिक है, ऐसा उत्तर प्राचीनों का है, नवीन तो कहते हैं कि अभिधा के भंगुर अर्थात् अनित्य होने पर भी अभिधेयत्व जैसे नित्य है उसी तरह व्यक्ति के अनित्य

यथा ध्रुवं तथा व्यक्तीनां भङ्गे प्यनेकसमवेतत्वं स्यादेवे-त्याहुः ॥३२

सामान्यलक्षणादीनां विशेषणैर्विशेषादयो यथासम्भवं निवार्या इत्यात्थ। तत्र के ते विशेषाः । नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषा इति चेन्न आत्मत्वादावतिव्याप्तेः। आत्मत्वादिकं सर्वस्मिन्नित्यद्रव्ये न वर्तते एते तु वर्तन्त एवेति चेन्न तर्हि एकैकविशेषस्य सकलनित्यवृत्तित्वमिति सर्वाव्याप्ति-

---

होने पर भी अनेक समवेतत्व नित्य ही है।

सामान्य के लक्षण के जो जो विशेषण है उन बिशे-षणों के द्वारा यथा सम्भव विशेषादि पदार्थ का निवारण करना, ऐसा आपने कहा है। उसमें मैं पूछता हूँ कि वह विशेष क्या वस्तु है ? अर्थात् विशेष का क्या लक्षण है ? किसको विशेष कहते हैं ? यदि आप कहो कि नित्यद्रन्य जो परमाणु प्रभृतिक तावन्मात्रमें रहै उसी का नाम है विशेष। तब ऐसा लक्षण करने पर तो आत्मत्व जाति में विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । क्योंकि आत्मत्व भो नित्यद्रव्य आत्मा में रहता है। यदि कहो कि आत्मत्व तो सकल नित्यद्रव्य में नहीं रहता केवल आत्मा में ही रहता है। और विशेष तो सकल नित्य द्रव्य में रहता है ऐसा कहें तब तो एक एक विशेष सकल नित्यद्रव्य में रहता है यह अर्थ हुआ, तब तो सर्वाव्याप्ति हो जायगी, ऐसा खण्ड

रिति खण्डनम् । तन्न । एकैकव्यक्तिरेकैकत्र नित्यद्रव्ये वर्तत इत्यनेन रूपेण ये नित्यद्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ते विशेषा इत्यस्य लक्षणार्थत्वात् यद्यप्येकैक एव वर्तत इत्यव्याप्तिरेव । तथाप्येतज्जातीयाः सर्व एवेति सर्वव्याप्तिः एतज्जातीयत्वं तु लक्षणैक्यादिति काणादादयः । अत्र गौतमीयाः । अत्र सर्वत्र वृत्त्याव्याप्तिनिरासेन लक्षणसिद्धिः लक्षणसिद्ध्या तल्लक्षणवत्त्वपुरस्कारेण सर्वत्र वृत्तिः व्यक्तीनां हि गङ्गावालुकायमानानामेकैक-

---

नग्रंथ का तात्पर्य है ।

समाधान—तन्न–यह ठीक नहीं हैं क्योंकि एक एक विशेष व्यक्ति एक एक नित्यद्रव्य में रहता हो उसका नाम विशेष है । यह लक्षण का अर्थ है । यद्यपि एक एक हो रहता है इसलिये अव्याप्ति होती है, तथापि एतज्जातीय सभी विशेष है, इससे सभी में लक्षण समन्वय होता है सभी में एतज्जातीयत्व लक्षण को एकता होती है ऐसा कणाद यक्षपति का कथन है । गौतम मतानुयायियों का कथन है कि यहां सर्वत्र वृत्ति (संबन्ध) से अव्याप्ति का निराकरण होने से लक्षण की सिद्धि होती है । और लक्षण की सिद्धि होने से उसी लक्षण को पुरस्कृत करके सर्वत्र लक्षण की वृत्तिता होती है । व्यक्ति के गंगावालुका के समान चलायमान एकैक व्यक्ति विश्रान्तक स्वरूप से सर्वत्र वृत्ति न होने के कारण अन्योन्याश्रय हो जायगा । विशेष

द्रव्यव्यक्तिमात्रविश्रान्तानां स्वतः सार्वत्रिकत्वासम्भवादित्यन्योन्याश्रयः निलक्षणधीस्तु वैलक्षण्याज्जात्यादिवदिति ॥

विशयक विलक्षण ज्ञान तो विलक्षणता के कारण से ही जात्यादि की तरह होगा। यद्यपि घटादि अवयवी में परस्पर भेद का साधक तत्त दययव भी होता है तथापि परमाणु प्रभृति नित्य द्रव्य का परस्पर भेद साधक विशेष है, यह नित्य है समवाय सम्बन्ध से स्वाश्रय में रहता है तथा स्वत एव इतर व्यावृत्त हैं, इस विशेषान्तर की आवश्यकता नहीं है, जैसे माधुर्य स्वभाव वाला गुड स्व सम्बन्ध से इतर को मधुर बनाता है स्वयं तु तत्स्वभावक होने से स्व में अर्थकान्तर की आवश्यकता नहीं रखता है तद्वत्प्रकृत में भी समझो।

यथा वा वेदान्ती के मत में सकल जगत का उपादान माना है, परन्तु माया का उपादान मायेतर कोई नहींहै क्योंकि माया के तत्स्वभावक होने से. यथा वा ब्रह्म सर्वाधिष्ठान है परन्तु ब्रह्म को अधिष्ठानान्तर की आवश्यकता नहीं होती है तत्स्वभावक होने से। इसी प्रकार से विशेष स्वेतर सकल का व्यावर्तक होता है, स्वयंतु स्वतो व्यावृत्त है, तत्स्वभावक होने से। इसलिये नित्य हो समवेत हो नित्यद्रव्य वृत्ति होकर स्वतो व्यावृत्त हो यही विशेष का लक्षण है। अतएव "स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभा जो भावान भावान्तरनेय

ननु लक्षणानि लक्ष्येषु कुतो व्यवहारकाणि ? सम्बन्धादिति चेत् । किमिदं सम्बन्धत्वं विशिष्टधीनियामकत्वम् असम्बन्धेभ्यो हि व्यावर्तमाना हि विशिष्टप्रमा विशेषणवत्येव विश्राम्यति न हि केवले पुंसि दण्डीति कश्चित् प्रमिणोति । नीरूपे वायौ

रूपाः" इत्यादि ग्रन्थ से जो जैनाचार्यों ने विशेष का निराकरण किया सो अरण्यरोदन के समान निरर्थक होता है ।

"व्यावृत्तस्य व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजन मिति' लक्षण का प्रयोजन है, लक्ष्य की लक्ष्येतर से व्यावृत्ति कराना अथवा लक्ष्य का व्यवहार करना । उसमें मैं पूछता हूँ कि यह जो लक्षण लक्ष्य का व्यवहार जनक होता है सो किस कारण से ? यदि कहो कि लक्षण को लक्ष्य के साथ सम्बन्ध है, इस हेतु से लक्षण लक्ष्य का व्यवहारक होता है । तब मैं पूछता हूँ कि यह सम्बन्ध वस्तु क्या है ?

उत्तर—विशिष्ट बुद्धि नियामकत्व ही सम्बन्धत्व है । अर्थात् रूपवान् घटः इत्याकारक रूपादि विशिष्ट ज्ञान का जो नियामक हो उसको सम्बन्ध कहते हैं । यह जो विशिष्ट प्रमा होती है सो असंबन्ध अर्थात् सम्बन्ध रहित से व्यावर्तमान होकर के विशेषणवान् में ही विश्रान्त होती है । क्योंकि केवल पुरुष में दण्डी पुरुषः इत्याकारक प्रमा नहीं होतीं है किन्तु दण्ड विशिष्ट पुरुष में दण्डी इत्याकारक प्रमा होती है । विशेषण दण्ड है विशेष्य पुरुष है संबन्ध

संयोग है तो जिस समय में पुरुष में दण्ड प्रतियोगिक संयोग रहता है उसी समय में दण्डी इत्याकारक विशिष्ट प्रमा होती है, इसका नियामक सयोग सम्बन्ध कहलाता है। इसी प्रकार से रूपवान् घट इत्यादि स्थल में विशिष्ट धी का नियामक समवाय संबन्ध होता है।

प्रश्न--नीरूप वायु में अर्थात् रूपाभावाधिकरण वायु में रूप का संबन्ध जो समवाय सो बैठा है, तब रूपवान् वायु यह विशिष्ट प्रतीति दण्डी पुरुष के समान होनी चाहिये। X

प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है कि नैयायिक का सिद्धान्त है कि समवाय एक ही है अनेक नहीं है, तव रूप का समवाय घट में है और विलक्षण स्पर्श का समवाय वायु में हैं दोनों समवाय तो एक हैं, तव समवाय सम्वन्ध से जैसे रूप घट में है उसी प्रकार वायु में भी रहे एवं स्पर्श का समवाय वायु में है वही समवाय घट में भी है तव रूपवान वायुः विलक्षण स्पर्शवान् घटः यह भी अवाधितज्ञान होना चाहिये। उत्तर समवाय तो एक है परन्तु विशेषण जो रूप सो तो वायु में नहीं है इसलिये वायु में रूप वैशिष्टय प्रतीति नही होती है। नहीं कहो कि सम्वन्धी की सत्ता संवन्ध सत्ता नियत होती है अर्थात् सम्वन्ध रहेगा तव सम्वन्धी को अवश्यमेव रहना होगा तव जव रूप का समवाय वायु में है तव रूप को भी अवश्य होना चाहिये। यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि केवल समवाय रूप का संवन्ध नहीं है रूपवान्घटः यहां रूप प्रतियोगिकत्वाविशिष्ट समवाय है एतादृश समवाय से रूप घट में ही रहता है। एवं विलक्षण स्पर्श प्रतियोगिकत्वविशिष्ट समवाय संवन्ध से स्पर्श वायु में ही हैं, अन्यत्र नहीं रहता है, रूपवान् वायु विलक्षणस्पर्शवान् घटः यह प्रतीति नहीं होती है। नहीं कहो कि "विशिष्टं शुद्धान्नाति रिच्यते जे" विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नहीं होता है, इस न्याय से शुद्ध समवाय रूप प्रतियोगित्वविशिष्ट

रूपसम्बन्धोस्त्येवेति चेत् । अस्तु रूपाभावसम्बन्धोप्यस्ति तथा च विरोध्यनुपहितो वि शेषणसम्बन्धो विशिष्टव्यवहारकः स तादृशो वायौ नास्तीत्यतो न तत्र

क्योंकि आपके मत में समवाय तो एक है तब जो समवाय रूप का है वही समवाय स्पर्श का भी होगा ।

उत्तर—आपका कहना ठीक है कि रूप का समवाय वायु में है परन्तु रूपाभाव का संबन्ध भी तो वायु में है, ऐसा हुआ तब केवल विशेषण का जो संबन्ध सो विशिष्ट व्यवहार का जनक नहीं है किन्तु विरोधी से अनुपहित अर्थात् विशेषण का जो विरोधी उसका जो सम्बन्ध उससे असहकृत जो विशेषण तदीय सम्बन्ध विशिष्ट व्यवहार का जनक होता है । अर्थात् दण्डाभाव प्रतियोगिक संबन्ध सम्पृक्त दण्ड प्रतियोगिक पुरुषानुयोगिक संबन्ध को विशिष्ट

समवाय दोनों एक ही हैं, तब पुनः वायु में रूपवत्ता की प्रतीति होनी चाहिये । उत्तर यद्यपि उक्त न्याय के बल से विशिष्ट शुद्ध दोनों एक है और एकत्वमूलक आपत्ति आती है तथापि शुद्धाधिकरणता तथा विशिष्टाधिकरणता भिन्न-भिन्न है ऐसी सभी की मान्यता है । जैसे शुद्ध सत्ता द्रव्यगुण कर्म तीनों में है और गुण कर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता द्रव्य में ही रहती है कथंचित् उक्त न्याय के बल से दोनों को एक माने भी तथापि विशिष्ट सत्तात्वावच्छिन्नाधिकरणता द्रव्य में ही रहती हैं गुणादिक में नहीं । इसी प्रकार से प्रकृत में स्पर्शप्रतियोगित्वविशिष्ट रूप प्रतियोगित्वविशिष्टत्वावच्छिन्नाधिकरणता को भिन्न भिन्न होने से रूपवान् वायुः विलक्षण स्पर्शवान् घटः यह प्रतीति समवाय की एकता होने पर भी नहीं होती हैं । यह प्रकृत प्रश्न का उत्तर रहते हुये भी ग्रन्थकार से अपना स्वतन्त्र उत्तर स्वयं कहते हैं, टीका को देखें । इति

रूपविशिष्टव्यवहारः । एवं दण्डिव्यवहारे दण्डसम्बन्धः संयोगलक्षणो हेतुः स च दण्डसंयोगात्यन्ताभवेनाव्याप्य-वृत्तिनोपहितोपि विरोध्यनुपहित एव तस्यात्यन्ताभावस्याव्याप्य

बुद्धि नियामकत्व होता है । एतादृश विशिष्ट व्यवहार का जनक संवन्ध वायु में नहीं है । अर्थात् रूपाभावानुपहित रूप संवन्ध रूप के विशिष्टि व्यवहार को करावेगा, सो तादृश रूप का संबन्ध घटादिक में ही है, वायु में नहीं है, वायु के नीरूप होने से । वायु में तो रूपाभाव सम्बन्ध सह-कृत रूप का सम्बन्ध है । रूप प्रतियोगिक पृथिव्यादि त्रित-यानुयोगिक समवाय को रूपवत्ता प्रतीति जनकत्व है, एता-दृश समवाय वायु में नहीं है इससे वायु में एतादृश सबन्ध नहीं है । अतः रूप विशिष्ट व्यवहार नहीं होता है । एवम् अर्थात् इसी तरह से दण्डी पुरुषः इत्याकारक दण्ड विशिष्ट का संयोग रूप दण्ड का जो सम्बन्ध है सो कारण पडता है । वह जो दण्ड संयोग है सा अव्याप्यवृत्ति दण्डसंयोगाभाव से उपहित अर्थात् सम्बन्ध होने पर भी विरोधी से अनुपहित ही कहलाता है । क्योंकि अव्याप्य वृत्तित्वावच्छिन्न संयोगात्यन्ताभाव को संयोग के साथ विरोध न होने से जैसे एक ही वृक्ष में प्रदेशभेदेन कपिसंयोग तदभाव देखने में आता है तो वहां कपिसंयोग तदभाव का कोई विरोध नहीं होता है । इसी प्रकार से दण्डसंयोग तदभाव की भी

वृत्तित्वावच्छिन्नस्य तदविरोधित्वात् सम्बन्धेन समं सम्बन्धिनः सम्बन्धः संयोगेन समं समवायः समवायेन समं कः स्वरूपमेव । अस्तु तर्हि स्वरूपत एव स्वरूपं सम्बन्ध इति चेत् ! भवेदेवं यदि जातिगुणक्रियाविशिष्टधियां सम्बन्धजन्यत्वानुमितिर्लाघवादेकं नावगाहेत । हन्तैवमभावरूपादिविशिष्टधि-

---

अव्याप्यं वृत्ति होने से कोई विरोध नहीं है । यद्यपि अन्यत्र सर्वत्र स्वभावतः प्रतियोगी तदभाव का विरोध देखने में आता है तथापि अव्याप्यवृत्तिकसंयोग तदभावस्थल में यह नियम नहीं है, एक ही वृक्ष में उभय का सामावेश देखने में आता है । संबन्ध के साथ संबन्धो का संबन्ध होता है तथा संयोग का समवाय संबन्ध होता है और समवाय के साथ क्या संबन्ध है ?

उत्तर-स्वरूप ही सम्बन्ध है दण्ड का संयोग सम्बन्ध होता है पुरुष के साथ और संयोग का संबन्ध दण्ड पुरुष के साथ समवाय सम्बन्ध होता है । समवाय का संबन्ध क्या है ? यह प्रश्न है । प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है कि यदि समवाय के लिये सम्बन्धान्तर मानें तब अनवस्था होगी । नही मानें तो जैसे समवाय सम्बन्ध सापेक्ष नहीं है इसी प्रकार संयोग भी निरपेक्ष रहो, समवाय की क्या आवश्यकता है ? उत्तरवादो कहते हैं कि समवाय का स्वरूप ही सम्बन्ध है इसलिये अनवस्था नहीं होती है ।

प्रश्न–यदि आप समवाय का सम्बन्धी के साथ जो सम्बन्ध उसको स्वरूपसम्बन्ध मानते हैं तो मैं पूछता हूँ कि संयोग का भी संयोगी के साथ स्वरूप सम्बन्ध ही मानिये। समवाय मानने की क्या आवश्यकता है ? तथा विशेषण जो रूपादिक गुण तथा क्रिया इनका जो द्रव्य के साथ संबन्ध सो भी स्वरूप ही मान लीजिये, समयवाय की क्या आवश्यकता है ? विशेषण विशेष्य का स्थल विशेष में संयोग मानते हैं और संयोग का सम्बन्ध समवाय को मानने पर भी अन्त में स्वरूप को तो मानना ही पड़ता है, तो तदपेक्षया प्रथमतः स्वरूप संबन्ध को ही मान लिया जाय "अन्ते रंडा विवाह स्यादादावेव कुतो नहि" इस लौकिक आभाणक को ध्यान में रखते हुए।

उत्तर–भवेदेवमित्यादि, सभी जगह स्वरूप संबन्ध हो, ऐसा तभी हो सकता है जब जाति गुणक्रिया विशिष्ट बुद्धि में संबन्धजन्यत्वानुमिति लाघवसहकृत होकर के एक अतिरिक्त संबन्ध समवाय का अवगाहन न करे। अर्थात् जातिमान् घटः रूपवान्घटः क्रियावान् घट इत्यादि गुणादि परक घटादि द्रव्य विशेष्यक जो विशिष्ट है सो अवश्यमेव विशेषण रूपादिक विशेष्य घटादि द्रव्य इन दोनों का जो सबन्ध इसको विषय करती हो, क्योंकि यह विशिष्ट बुद्धि है। जो विशिष्ट बुद्धि होती है सो विशेष्य विशेषण संबन्ध

विषयक होती है। जैसे दण्डी इस विशिष्ट बुद्धि से यहां जिस प्रकार से दण्ड एव पुरुष का संयोग गृहीत होता है, उसी प्रकार से प्रकृत में लाघवात् एक समवायसम्बन्ध सिद्ध होता है, अनुमान के बल से। तब स्वरूप सम्बन्ध से निर्वाह कैसे कर सकते हैं ?×

"गुण क्रियादि विशिष्ट 'बुद्धिः विशेषणविशेष्यसम्बन्ध.वषया विशिष्टबुद्धित्वात् दण्डीति विशिष्टबुद्धिवत्, इस अनुमान से समवाय की सिद्धि होती है, नहीं कहो कि विशेषणगुण विशेष्यघट का स्वरूप सम्बन्ध हो, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूप को सम्बन्ध मानें तब तो स्वरूप के प्रत्येक व्यक्तिविश्रान्त होने से महा गौरव होगा। नहीं कहो कि गुण द्रव्य का संयोग सम्बन्ध रहे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि संयोग तो गुण है इस लिये संयोगता द्रव्यद्रव्य में ही हो सकता हैं न तु द्रव्य गुण का संयोग हो सकता है। नहीं कहो कि द्रव्य गुण में तादात्म्य सम्बन्ध मान लिया जाय, तो सो भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि तब गुणवान् घटः यह प्रतीति नहीं होगी, तादात्म्य सम्बन्ध अधिकरणता नियामक नहीं मानी गई है, अपितु गुणो घटः ऐसी प्रतीति होगी। नहीं कहो कि द्रव्य गुण का संबन्ध कालिक सम्बन्ध है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि जन्य द्रव्य गुण में समान कालिक में कथंचित् आधाराधेय भाव हो भी सकता है परन्तु नित्य जो परमाणु प्रभृतिक द्रव्यं है उसमें गुणादिक का आधाराधेय भाव नहीं होगा, क्योंकि नित्यानुयोगिक कालिक सम्बन्ध नहीं माना गया है "नित्येषु कालिका योगात्। महाकाल व्यतिरिक्त नित्यानुयोगिक कालिकः सम्बन्धो न भवतीत्यर्थः।" विभिन्न स्वभावक द्रव्य गुण में स्वरूप सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि स्वकीय रूप का नाम है स्वरूप। यह स्वरूप द्रव्य गुण का एक कैसे हो सकता है ? और-

यामप्येकः सम्बन्धो विषयो निमित्तं वास्तु लाघवादिति तदेव वैशिष्ट्यं स्यादिति चेत् । इदं हि प्रत्यक्षनिर्णयेऽस्माभिः प्रपञ्चितमिति तत्रैवानुसन्धेयम् । एवञ्च नियामकत्वमेव

प्रश्न—यदि अभाव द्रव्य गुणादि के लिये गुणवान् घट इत्यादि प्रतीति के बल से अतिरिक्त एक समवाय सम्बन्ध को मानते हैं तो घटाभाववद्भूतलं इत्याकारक विशिष्ट प्रतीति के अनुरोध से अभाव का भी एक अतिरिक्त संबन्ध लाघवात् मान लीजिये उसी का नाम वैशिष्टय होगा।

उत्तर—इस बात का हम लोगों ने प्रत्यक्ष निर्णय में विस्तृत रूप से निर्वचन किया है अतः इस विषय को वहाँ ही देखलें। अर्थात् यह जो अभाव के लिये वैशिष्टय नामक सम्बन्ध मानते हैं सो नित्य है या अनित्य है ? यदि नित्य पक्ष को माने तो भूतल में जहां घटाभाव है परन्तु वहां घट को लाया गया तदन्तर घटवान् भूतल है ऐसो प्रतीति होती है, परन्तु आपके मत से तो घटाभाव वाला भूतल है ऐसा ही ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि घटाभाव भी नित्य है और उसका सम्बन्ध वैशिष्ट भी नित्य है। यदि कदाचित् अभाव को अनित्य मानलें तब तो घटानयन के पीछे घटाधिकरण

-अनेक मानने पर अति गौरव हो जायगा। अतः परिशेष से लाघव होने के कारण इतर सम्बन्ध का बाध होने से एक समवाय सिद्ध होता है समवाय का विशेष विवेचन समवायवाद में देखें। यहाँ केवल प्रकृतोपयोगी दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है।

सम्बन्धत्वमित्युत्प्रेक्षाभावोपि त्वया नियामकोऽङ्गीक्रियते तथापि सोपि सम्बन्धः स्यादिति यत्खण्डनम् तच्छलम् । विशिष्टधीः नियामकस्य मया सम्बन्धत्वमुपेयते न तु नियामकमात्र

में घटाभाव प्रतीति नहीं होती है उसी तरह से कहीं भी घटाभाव की प्रतीति नहीं होगी । इष्टापत्ति मानें तो प्रत्यक्ष बाध होगा । यदि वैशिष्टय सम्बन्ध को अनित्य ही मानें अर्थात् उत्पाद विनाश शील मानै तो अनेक वैशिष्टय की कल्पना करने से गौरव होगा, अतः अभाव का कोई अलग सम्बन्ध नहीं है किन्तु तत्तकालीन तत्तत्भूतल का तत्तत् अभाव केसाथ-सम्बन्ध होता है । ऐसा होने पर नियामकत्व ही सम्बन्धत्व है । एतादृश उत्प्रेक्षाभाव है इसको भी आप नियामक मानते हो तब तो यह भी एक संबन्ध होगा । खण्डनकार ने ऐसा जो खण्डन किया है सो छलमात्र× है, क्योंकि हम

×अमुक विशेष अर्थ को लेकर के युज्यमान वाक्य को अर्थान्तर की कल्पना करके जो दोष दिया जाता है उसको ही छल कहते हैं । जैसे किसी ने कहा कि यह पुरुष नेपाल से आया है, नव कम्बलवान होने से । यहां वक्ता के अभिप्राय से नव शब्द नवीनता अर्थवाला है किन्तु छलवादी नव शब्द के नव संख्या वाचक शब्द की कल्पना करके कहता है कि इसके पास नव (नौ) कम्बल कहां है, एक ही तो कम्बल मैं देख रहा हूँ, इस प्रकार से वक्ता को दूषित करना छल कहलाता हैं । प्रकृत में खण्डनका विशिष्टधीनियामकत्व रूप सम्बन्ध है, इसमें से धी पद को हटाकर के केवल नियामकत्व को अग्रसर करके दोष दिया गया है सो छल है । प्रकृतानुपयोगी है ।

स्येति ॥ ३४

ननु नियामकत्वं नियमकारणत्वं कारणत्वञ्च नियतप्राक्सत्त्वमत्र च प्रागिति व्यर्थं सत्त्वमात्रमेवास्तु कारणत्वमिति धिङ् नियामकत्वं न हि भविष्यदतीतं कर्तुं शक्नोति स्वरूपासिद्धेः प्राच्यन्तु भाविनं कुर्यात् व्यापारादियोगात् अत एव घटार्थी

तो विशिष्ट धी नियामक मात्र को सबन्ध मानते हैं, न कि नियामक मात्र को ही संबन्ध कहते हैं।

प्रश्न–नियमका जो कारण है उसी को कहते हैं नियामक अर्थात् नियम का उत्पादक और कारण उसका नाम है जों कार्य के अव्यवहित पूर्वकाल में सत् हो अर्थात् कार्य के पूर्व में विद्यमान हो। इस कारणता के लक्षण में नियत् प्राक् सत्वरूप लक्षण में प्राक् पद निरर्थक जैसा प्रतीत होता है, सत्व मात्र को कारण कहा जाय।

उत्तर–धिक्! यह आप क्या कह रहे है? नियामक भविष्यत् कालिक पदार्थ को अतीत करने में अथवा अतीत को भविष्यत् कालिक करने में समर्थ हो सकता है क्योंकि उस समय में स्वरूप ही असिद्ध है। किन्तु पूर्वकालिक नियामक भावी कार्य को कर सकता है अवान्तर व्यापार की सहायता से। अत एव घटार्थी पुरुष मृत्पिंड का ही उपादान नियमतः करता है, न तु जलाहरणादिक करता है। यथा वा पटार्थी पुरुष नियमतः तन्तु रोमादिक कारण

मृदमुपादत्ते न तु जलाहरणादिकमिति सार्वलौकिको व्यवहारः। ननु स्वभावस्य नियामकत्वे स्वयमेव स्वं नियमयतीति प्राप्तं तथा च स्वस्याप्रसक्तत्वे नियामकतानतिप्रसक्तत्वे च न नियम्यता। अयमेव सम्भाव्यत्वादिति सत्यम्। नियामकमन्तरेण यन्नियतत्वं तदेव स्वभावनियम्यत्वार्थः। यद्वा तेजःप्रभृतेरौष्ण्यादि स्वभावनियम्यं तेजस्त्वादिप्रयुक्तमित्यर्थः। ननु दण्डादिना कारणेन घटादिकार्यं नियम्यत इति ब्रूषे तस्य किं नियम्यते स्वरूपं वा कालविशेषयोगो वा उभयमप्यनियतं

कलाप का ही उपादान करता है दण्डचक्रादिक का नहीं, ऐसा ही सार्वलोकिक व्यवहार है।

प्रश्न—यदि आप स्वभाव को ही नियामक कहते हैं तब तो स्वयमेव स्व को नियमन करता है, यह प्राप्त होता है। तब तो स्व का अप्रसक्तत्व अर्थात् अप्राप्ति तथा नियामकता का अनति प्रसक्तत्व में नियम्यत्व नहीं होगा। इसी को संभाव्यत्व कहा जाता है।

उत्तर–ठीक है किन्तु नियामक के बिना जो नियतत्व उसी का नाम होता है स्वभावनियतत्व। जैसे तेज तथा जल में जो उष्णत्व तथा शैत्य स्वभावनियम्य है अर्थात् तेजस्त्वादि प्रयुक्त है ऐसा अर्थ होता है।

प्रश्न–दंडादि रूप कारण से घटादिक कार्य नियमित होता है, ऐसा आप कहते हैं। तो घट का स्वरूप नियमित

वा । आद्ये घटमिव पटमपि घटस्योत्तरकालसम्बन्धमिव पटस्याप्युत्तरकालसम्बन्धं नियमयेदविशेषात् अनियतत्वेनोभयोरपि नियतत्वात् तदाह—

यदि कुर्यादसत्कालानियतं नियतं परः ।

तत्स्यादतिप्रसक्तत्वमन्यथा च नियन्तृता ॥ इति ।

अस्यार्थः । परो दण्डादिः यदि असत्कालानियतं वा घटादिः नियतं घटादिस्वरूपेण नियतं कालविशेषयोगितया वा

होता है, अथवा घट काल विशेष योग का नियमन करता है? अथवा अनियत इन दोनों का नियमन करता है? आद्य पक्ष में तो घट के समान घट को भी तथा घट के उत्तर काल सम्बन्ध की तरह पट के उत्तर काल के सम्बन्ध का भी नियमन करे, दोनों के प्रति कारण के समान होने से । क्योंकि अनियतत्व रूप से दोनों के नियत होने से । ऐसा कहा भी है "यदि-कुर्यादित्यादि" यदि दण्डादिकारण असद् अविद्यमान हो करके काल से अनियत नियत अर्थात् कार्य को करें, उत्पादन करै, तब तो घट के समान पटको भी उत्पन्न करने से अति प्रसंग होगा । अन्यथा यदि सत् पूर्व में विद्यमान होकर के कालनियत घटादिक को करें तभी दण्डादिक कारण में नियंतृत्व होता है । इस कारिका का स्वयमेव अर्थ लिखते हैं । अस्यार्थ इत्यादि पर :

नियतं कुर्यात्तदातिप्रसक्तिः स्यात् न ह्युत्पत्तेः प्राक् घटस्यालब्धात्मकस्यात्मलाभे कोपि विशेषोस्ति अभ्युपेत्याह अन्यथा घटस्य तदीयकालविशेषयोगस्य वा नियतत्वे नियामकं न नियन्तृ तदन्तरेणैव घटस्य तत्कालविशेषयोगस्य वा नियतत्वादिति । तन्न । न ह्यसत्त्वकाले घटादेर्नियतत्वादिकं धर्मो भवितुमर्हति । धर्मिण एवासत्त्वात्तथा च प्रष्टा चोत्तर-

---

अर्थात् दण्ड प्रभृति कारणत्वाभिमत, यदि असत् अविद्यमान, अथवा कालानियत घटादिको नियत अर्थात् घटादि स्वरूप से नियत अथवा काल विशेष योगितया वा नियत को करै अर्थात् उत्पादन करे, तब अति प्रसक्ति अर्थात् अति प्रसंग होगा । क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व में अलब्धात्मक घट के आत्मलाभ में कोई भी विशेषता नहीं है । स्वीकार करके कहते हैं अन्यथा अर्थात् घट को अथवा तदीयकाल विशेष योग को नियामकता होने में नियतत्व अर्थात् नियामक नियन्ता नहीं है. क्योंकि उसके बिना भी घट वा तदीय काल विशेष योग के नियत होने से । तन्नेति । परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि असत्व अर्थात् अविद्यमानता काल में घटादिक जन्य वस्तु में नियतत्वादिक धर्म नहीं हो सकता है । अर्थात् धर्मी घटादिक जब उत्पत्ति के पूर्व में नहीं है तब उनका धर्म कहां बैठ गया, जब कि धर्मि ही असत् हैं । ऐसा हुआ तब असत् धर्मी को उद्देश

यिता च द्वावपि शून्यहृदयौ । ननु सुहृद्भावेन पृच्छामः घट-कारणानि कुतोऽनियामकाद् घटमेव जनयन्ति । तत्समवायिकारण कपालमिलनात् । कपालमेव कुतो घटमेवारभते न तु पटं स्वभा-

---

करके पूछने वाला तथा उत्तर देने वाला दोनों को ही शून्य हृदय वाले समझे जायेंगे।

प्रश्न—सुहृद्भाव से मैं पूछता हूँ कि घट के कारण जो दण्डादिक है सो किस नियामक के बल से घटका उत्पादन करते हैं

उत्तर—घट का समवायि करण जो कपाल उसके साथ बद्ध होने से घट का ही उत्पादन करता है, पटादिक का नहीं।

प्रश्न—तो मैं पुनः पूछता हूं कि कपाल घट को उत्पन्न करता है तो पटको क्यों नहीं उत्पन्न करता ?

उत्तर—इसमें स्वभाव ही विशेषता है, अर्थात् कपाल जो घट को ही उत्पन्न करता है पट को नही करता, इसमें कपालादिका स्वभाव विशेष ही नियामक है।

प्रश्न—यदि कारण कार्यं को प्राप्त किये बिना ही उसका उत्पादक हो तब तो अति प्रसंग होगा। अर्थात् अप्राप्तत्व के समान होने से कपाल घट का उत्पादक होता है तद्वत् पट का भी उत्पादक हो जायगा। और यदि कार्य प्राप्त करके कारण कार्यं का जनक हो तब तो प्राप्तत्व

वादिति ब्रूमः । कार्यसप्राप्तातिकारणानि जनयन् अतिप्रसङ्गात् तत्प्राप्तानि च न तज्जनयन्ति विशेषादितिब्रूम इति चेत् । इमे हि प्राप्त्यप्राप्तिसमे हि जातींति स्वव्याघातमपि न वेत्सीति दूरमपसर । अस्तु व्याघातः किं नश्छिन्नम् न वयं किञ्चिदपीच्छामः किञ्चिदपि साधयामः किञ्चिदपि स्थापयामः

रूप विशेषता के कारण से जनक नहीं हो प्राप्त होने से ही । ऐसा मैं कहता हूं ।

उत्तर–यह तो प्राप्त प्राप्ति समाजाति है तो क्या आप व्याघातक जाति को भी नहीं जानते हैं ? इसलिये कथा से दूर रहो ।

प्रश्न–भले व्याघात हो, हमारा क्याजाता है ? मैं किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता, हूं न मैं किसी वस्तु को सिद्ध करता हूं, न किसी वस्तु की स्थापना करता हूं, न मैं कुछ बोलता हूँ ।

उत्तर–तब तो आप न लौकिक हो न परीक्षक हो तब पागल के समान उपेक्षणी होजाओगे अर्थात् "न निरोधो-न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः" इत्यादि स्वशास्त्र को ध्यान में रखकर किसी की इच्छा नहीं रखते हो तथा "किमच्छन् कस्य कामाय" इत्यादि शास्त्र को ध्यान में रख कर किसी की इच्छा नहीं रखते हो तथा

किञ्चिदपि ब्रूम इति चेन्न । न हि लौकिको न परीक्षक इत्युन्मत्तवदुपेक्षणीयः स्यात् इति ॥

ननु नियामकं नियम्ये सन्नियम्यं नियमयेत् तत्र च कः सप्तम्यर्थः । आधारत्वमिति चेत् । किमाधारत्वम् देशे इहेति प्रत्ययविषयत्वम् गवादौ अत्रेति प्रत्ययविषयत्वम् अवसरे एतर्हीति प्रत्ययविषयत्वमिति चेत् । इहेत्यादयः शब्दपरा

"यतो वाचोनिवर्तन्ते" इत्यादि को देखकर कुछ बोलते भी नहीं हो तो आप पूरे पागल हो, ऐसा होने से शास्त्र परिशीलन जनित बुद्धि प्रकर्षवान् परीक्षक होता है, तद्बोध रहित लौकिक है तो प्रज्ञावान् पुरुष से तुम यह कह करके उन्मत्त के समान उपेक्षणीय हो जाओगे कि यह न लौकिक है न परीक्षक है अतः कथा में अधिकारी नहीं है ।

प्रश्न—नियामक कारण जो है सो नियम्य अर्थात् आधार में नियम्य कार्य को नियमित करता है । यहां नियम्य में जो सप्तमी विभक्ति है उसका क्या अर्थ है ? यदि सप्तमी का अर्थ आधार कहो तब मैं पूछता हूं वह आधारत्व वस्तु क्या है । यदि कहो कि देश में इह इत्याकारक प्रत्यय (ज्ञान) विषयत्व ही आधारत्व है तथा गवादिक काल में अत्र इत्याकरक प्रत्यय विषयत्व ही आधारत्व है और अवसरादिक में एतर्हि इत्याकारक प्रत्यय विषयत्व आधारत्व है । तो इह इत्यादिक जो शब्द है सो शब्द परक है अथवा अर्थ परक है ? अर्थात् इह अत्र एतर्हि ये सब पद हैं सो शब्द बोधने-

अर्थरपा वा। नाद्यः न हि देशानां नामाधारताबुद्धौ प्रात्यचिक्यादयः शब्दा अपि चकासति। नान्त्यः सर्वसाधारणस्य तस्यैव सप्तम्यर्थस्य निरूप्यमाणत्वादिति खण्डनम्। अत्रोच्यते। अयमाधारत्वस्य लक्षणे प्रश्नो वा स्वरूपे प्रश्नो वा आधारपदप्रवृत्तिनिमित्तप्रश्नो वा। नाद्यः तस्य प्रमेयत्ववत् केवलान्वयित्वात् सर्वं किं वस्तु स्वीयलक्षणस्याधार एव। ननु

च्छया उच्चरित है अथवा अर्थ बोधनेच्छया उच्चरित हैं ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि देश की जो आधारता बुद्धि होती है उसमें प्रात्यक्षिक शब्दों का प्रकाशन नहीं होता है। न वा द्वितीय पक्ष ठीक है. क्योंकि सर्व साधारण जो सप्तम्यर्थ है उसी का तो निर्वचन हो रहा है अर्थात् स्व में स्व का प्रवेश होने से आत्माश्रय दोष होता है। इस प्रकार से खण्डन ग्रन्थ है।

उत्तर–अत्रोच्यते, यह आधारता का लक्षण विषयक प्रश्न है अथवा आधारता का स्वरूप परक प्रश्न है ? अथवा आधारतर का प्रवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक) परक प्रश्न है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि आधारत्व प्रमेयत्व अभिधेयत्वादिकी तरह केवलान्वयी है, क्या सभी वस्तु अपने अपने लक्षण की आधार होती हैं ? अर्थात् कोई नियम नहीं है कि सभी पदार्थ स्वकीय लक्षण का आधार बने ही।

कारकत्वगर्भमाधारत्वं पृच्छामीति चेत् । अत्रोच्यते । चरम-ध्वंसेतरत्वमिति गृहाण । चरमध्वंसः परमकारकः शेषास्तु धर्मित्वे सति कारका इति । द्वितीये स धर्मी इत्येवोत्तरम् यावान् धर्मी तावान् धर्मस्याधार एव । अन्त्ये धर्मित्वमि-त्येवोत्तरम् धर्मित्वमेव प्रतीत्याधारवाचिपदं प्रयुज्यते । कुण्डे

प्रश्न–मैं सर्व साधारण आधारत्व का लक्षण नहीं पूछता हूं । किन्तु कारकत्व घटित आधारता का लक्षग पूछता हूं ।

उत्तर—अत्रोच्यते, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं-चरम ध्वंस से जो भिन्न हो उसको आधार कहते है, ऐसा आप समझो । चरमध्वंस उसको कहा जाता है जिसके पीछे महाप्रलय होता है । जन्य द्रव्य के अनधिकरण काल को खण्ड प्रलय कहते हैं, और जन्यभाव का जो अनधिकरण काल उसको महाप्रलय कहते हैं, उसमें चरण ध्वंस है सो किसी के प्रति कारक नहीं होता है और चरमध्वंसातिरिक्त पदार्थ धर्मी होकर के कारक होता है । स्वरूप प्रश्न परक है, यह जो द्वितोय पक्ष है उसका उत्तर है धर्मी अर्थात् आधार किसको कहते हैं ? तो जो धर्मी है उसो को आधार कहते हैं, जितना कोई धर्मी है वह सभी धर्म का आधार होता है (जैसे घट का आधार भूतल है ता वह भूतल धर्म स्व में विशेषण घट के प्रति आधार है । घटत्व तथा घटीय रूप रसादिक धर्म के प्रति धर्मी घट ही आधार है, इसी

बदरमित्यादि कुण्डादेर्द्धमिभूतस्य धर्मभूतं बदरादि। कुण्डस्य बदरं प्रति किमाधारत्वमिति चेत्। बदरपतनप्रतिबन्धकत्वम्।

प्रकार जितना भी कोई पदार्थ है सो स्व धर्म का धर्मी आधार बनता ही है, अत एव आधारत्व प्रमेयत्व के समान केवलान्वयी है। एक जातीयता सम्बन्ध से सर्वत्र विद्यमान को केवलान्वयी कहते हैं। अथवा अत्यन्ताभाव का जो अप्रतियोगी हो उसको आधार केवलान्वयी कहते हैं। तृतीय पक्ष में धर्मित्व ही आधार पद का प्रवृत्ति निमित्त है यह ही उत्तर है। धर्मित्व को हो लेकर के आधार वाची पद का प्रयोग किया जाता है। कुण्डे बदरम्, इत्यादिक स्थल में धर्मी भूत जो कुण्डादिक पदार्थ उसका धर्म (विशेषण) है बदरादिक।

प्रश्न—कुण्ड की वदर के प्रति क्या आधारता है

उत्तर—वदर का जो पतन तत्प्रतिबन्धकता है कुण्ड की। अर्थात् कुण्ड में रखा हुआ बदर गिरता नहीं है, इसलिये वदर का जो पतन, उस पतन का प्रतिबन्धक जो संयोग तादृश संयोगानुयोगित्व कुण्ड में है। संयोग का संबन्धी बदर भी है कुण्ड भी है। उसमें प्रतियोगिता सम्बन्ध से वह संयोग बदर में है और अनुयोगिता संबन्ध से कुण्ड में है। तो पतन प्रतिबन्धक संयोगवत्व ही कुण्ड में आधारत्व है। इसलिये इस संयोग को वृत्ति नियामक

नन्वेवं ब्रह्माण्डधर्ता प्रयत्नवान् परम पुमान् ब्रह्माण्डस्याधारः स्यात् । तदुक्तं भगवतैव ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवेति ।
केचित्त्वेवमनिच्छन्तो मूर्तपदमत्रविशेषणमाहुः ।

बदरादिकं हि कुण्डाद्यपेक्षते न तु कुण्डेन बदरं स्वास्तितायै तदपेक्ष्यते सहैव कुण्डेन पतति बदरे नाधाराधेयभावः । एवं

कहते है कि जिसलिये यह बदर के पतन का प्रतिबन्धक है। अंगुलीद्वय का संयोग पतन प्रतिबन्धन नहीं होने से वह वृति नियामक नहीं है, किन्तु केवल संबन्धिता का प्रयोजक कहलाता है, एतादृश पतनप्रतिबन्धकत्व ही बदर के प्रति कुण्ड को आधारत्व है।

प्रश्न—जब पूर्वोक्त प्रकार से आधारत्व का निर्वचन करते है तब तो ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले प्रयत्नवान् पुरुषोत्तम मर्यादापालक भगवान् श्रीराम ब्रह्माण्ड के आधार हो जायेंगे। ऐसा स्वयं श्री भगवान् ने गीता में कहा है "यह परिदृश्यमान स्थूल सूक्ष्म साधारण जड़ अजड जगत् अवयव रूप से सर्वनियन्ता सर्वाधार मुझ में ओतप्रोत है, जिस प्रकार से विलक्षण संयोग से सूत्र में मणि पुष्पादिक आधारित रहते हैं" कोई कोई आचार्य तो इस बात को न मानते हुए आधार लक्षण में मूतपद का निवेश कहते हैं अर्थात् मूर्त होकर पतन प्रतिबन्धक जो हो उसको आधार

रूपादिना तदुत्पत्तिमता पटादिकं स्वोत्पत्त्यर्थमपेक्ष्यते न तु पटादिना रूपादि तदर्थमपेक्ष्यते एवं गोत्वादिना गवादि ज्ञप्त्यर्थेऽपेक्ष्यते न तु गवादिना तदर्थं गोत्वादिकमपेक्ष्यते। तदाहुः।

कहते हैं, बदर अपनी अस्तितता (स्थिरता) के लिये कुण्ड की अपेक्षा करता है किन्तु कुण्ड अपनी अस्तित्ता के लिये वदर की अपेक्षा नहीं करता। क्योंकि कुण्ड के साथ बदर का पतन होने से आधाराधेयभाव नहीं होता। इसी तरह पट से उत्पन्न होने वाला पटीय रूपादिक स्वोत्पत्ति के लिये पट की अपेक्षा करता है परन्तु पट स्वोत्पत्यर्थं स्वगत रूप की अपेक्षा नहीं करता है (ऐसा क्यों? अर्थात् पट तो स्वोत्पत्यर्थं रूप की अपेक्षा नहीं करता है, रूप स्वोत्वर्थ पट की अपेक्षा क्यों करता है? इसका उत्तर यही है कि स्वगत रूप के प्रति पट समवायिकारण है और कारण कार्य के पूर्वभावी होता है इसलिये पटीय रूप स्वोत्पत्यर्थं पटापेक्ष होता है न कि पट स्वोत्पत्यर्थं रूपापेक्ष होता है। पटकी चाक्षुषता के लिये तो रूपकी अपेक्षा आवश्यक होती है क्योंकि द्रव्य चाक्षुष के प्रति अद्भूत रूप और आलोक संयोग को कारणत्व है) इसी तरह से गोत्व स्वज्ञान के लिये गवादिक व्यक्ति की अपेक्षा रखता है। न कि गो स्वज्ञप्त्यर्थ गोत्व की अपेक्षा रखता है।

उत्तर—तदाहुरित्यादि, उत्पत्ति ज्ञप्ति स्थिति के लिये

उत्पत्तये स्थितये ज्ञप्तये च यद्येनापेक्ष्यते तत्तस्याधिकरणमिति। एवञ्च प्रतिबध्यपतनानाश्रयत्वे सति पतनप्रतिबन्धकसंयोगवन्मूर्तत्वं कुण्डादेर्बदरादिकं प्रत्याधारत्वम्। ननु किमिदं पतनं नाम अधःसंयोगफलककर्मत्वमिति चेत्। कोयमधः पदार्थः पतनभागी देश इति तावदयुक्तमन्योन्याश्रयात्। अन्यच्चाधःपदार्थभूतमनुगतं दुर्वचमिति। सत्यम्। न ह्यधरुचम-

जो जिससे अपेक्षित होता है वह उसका अधिकरण होता है। ऐसा हुआ तब प्रतिबध्य जो पतन उसका अनाश्रय होकर के पतन प्रतिबन्धक जो संयोग अनुयोगिता सम्बन्ध से तादृश संयोगवान् मूर्त जो कुण्डादिक सो बदर के प्रति आधार होता है। यह आधारता का निष्कर्ष तथा निर्दुष्ट लक्षण हैं।

प्रश्न–यह पतन क्या वस्तु है? यदि अधःसंयोग फलक कर्म को पतन कहो तो ठीक नहीं है क्योंकि अधः पदार्थ क्या है? यदि पतन भागी जो देश उसको अधः पदार्थ कहो तो सो ठीक नहीं है, इसमें तो अन्योन्याश्रय हो जाता है, पतन की सिद्धि होने से अधः पदार्थ की सिद्धि होगी और अधः पदार्थ की सिद्धि होने से पतन की सिद्धि होगी। और भी देखिये अनुगत एक अधः पदार्थ दुर्वच है।

उत्तर—आपका कहना सत्य है, परन्तु अप्रतियोगिक

प्रतियोगिकं गोत्वादिवदनुगतं मृगयसे किन्तु प्रतिस्वम्भिन्नं तथाहि यद्यदपेक्षया गुरुत्वासमवायिकारणकक्रियाजन्यफलाश्रयस्तत्तदपेक्षया अध इति। एवं सूर्यापेक्षया भूः तदपेक्षया पातालं तदपेक्षया नरकस्तदपेक्षया गर्भोदकमित्यादि यथाक्रममधः एतत्प्रतिलोममूर्द्ध्वम् । उभयरूपाश्रयो मध्यममित्यादि । गवि गोत्वसमवाय इत्यादौ स्वरूपसम्बन्धेनैव विशिष्टधीर्ज्ञान-

---

अर्थात् अन्यानपेक्ष गोत्वादि जाति के समान अनुगत कोई अधस्त्व वस्तु नहीं है। किन्तु प्रति व्यक्ति भिन्न-भिन्न सापेक्ष अधस्त्व है तथाहि जो पदार्थ यदपेक्षया गुरुत्व है असमवायि कारण जिसमें क्रियाद्वारा जायमान फल का जो आश्रय हो तदपेक्षया अधः कहाता है। जैसे सूर्य की अपेक्षा से भू अर्थात् मृत्युलोक अधः है । (जो अर्थात् भू यदपेक्षया सूर्यापेक्षया गुरुत्व है असमवायिकारण जिसमें ऐसा जो क्रियाजन्य फल संयोगात्मकफल तदाश्रय होने से तदपेक्षया यह भूलोक अधः कहलाता है) इसी तरह भूलोकापेक्षया पाताल लोक अधः है पाताल की अपेक्षा से नरक अधः है तदपेक्षया गर्भोदक अधः है। इसी प्रकार से यथा क्रम अधोधो विभाग देखना चाहिये। इससे जो प्रतिकूल है उसको ऊर्ध्व कहते हैं। और उभय रूप का आश्रय ही मध्य है। गो में गोत्व का समवाय है यहां स्वरूप संबन्ध से ही विशिष्ट ज्ञान होता है जैसे ज्ञान घट में विषय विषयिभाव

घटयोरिव विषयविषयिभावः ॥

नन्तु कोयं विषयविषयिभावः । प्रकाशस्य सतस्तदीयता-मात्ररूपः स्वभावविशेषो विषयविषयिभाव इति तावदव्याप-कम् । इच्छाया विषयिण्या अप्रकाशत्वात् किञ्च स्वस्य वा भावः स्वश्चासौ भावश्चेति स्वभावः । आद्येऽपि सकल-

---

सम्बन्ध है ।

अनन्तर पूर्व प्रकरण में कहा है कि जैसे ज्ञान घट का विषय विषयिभाव सम्बन्ध होता है उसी प्रकार से गो में गोत्व है इत्यादि स्थल में स्वरूप सम्बन्ध से विशिष्ट धी होती है । इस बात को सुनकर के वेदान्ती पूर्व पक्ष करते हैं कि यह विषय-विषयिभाव क्या है ? यदि कहो कि प्रकाशात्मक पदार्थ का तदीयता मात्र रूप अर्थात् तत्सम्ब-न्धिता मात्र स्वरूप जो स्वभाव विशेष उसी को विषय विषयीभाव कहते हैं सो ठीक नहीं है, क्योंकि ये लक्षण अव्यापक है । अर्थात् सभी विषयों में नहीं जाता है । जैसे स विषयक होने से इच्छा विषयी है परन्तु प्रकाश रूप नहीं है, किन्तु अप्रकाश रूप है । और भी देखिये स्वभाव शब्द का क्या अर्थ है ? स्व का जो भाव उस को स्वभाव कहते हैं, अथवा स्व स्वरूप जो भाव है उसको ? यहां आद्य पक्ष में सकल साधारण स्वभाव कहते हैं अथवा घट ज्ञानादिक प्रत्येक व्यक्ति विश्रान्त कहते हैं ? इसमें आद्य

साधारणो वा घटज्ञानादिप्रत्येकविश्रान्तो वा । अत्राद्यो नास्य घटादिग्राहितज्ज्ञानमात्ररूपकासकलज्ञानसाधारण्यात् तद्धर्मतोपगमाच्च । द्वितीये तु ज्ञानकारकस्यैव प्रतिज्ञानव्यक्तिभेदादिति वचनभङ्ग्या साकार,वादाकार एव । किञ्चायं धर्मश्चौपाधिकः स्वाभाविको वा । आद्ये कुंकुमारुणा तरुणीवदुपाधेरप्यवभासः स्यात् । विषयीभूतो घटादिरेव च तत्रोपाधिरिति चेत् । नासम्बन्धात् । न हि सोपि ज्ञानेन सम्बध्यते विषयविषयिभावस्यासिद्धत्वात् नापि स्वाभाविकः न हि घटज्ञानेष्वेकः पटज्ञानेषु

पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि घटग्राही जो घट ज्ञान उसमें सकल साधारण स्वभाव कहा है और स्वभाव को धर्म रूप भी मानते हो । द्वितीय पक्ष में ज्ञान का जो कारक अर्थात् जनक सो ज्ञान व्यक्ति के भेद से भिन्न है, इस वचन भंगी से आकार वादो का पक्ष सूचित होने से स्वभाव आकार रूप ही होगा । और भी देखिये यह जो धर्म है सो औपाधिक है कि स्वाभाविक है । प्रथम औपाधिकत्व पक्ष में तरुणी कुंकुम से लाल है, यहाँ जैसे आरुण्य उपाधि का प्रतिभास होता है तद्वत् प्रकृत में भी उपाधिका भान होना चाहिये । नहीं कहो कि विषय रूप जो घटादिक पदार्थ वही ज्ञान में उपाधि है, सो ठीक नहीं है क्योंकि सम्बन्ध न होने से घट ज्ञान से सम्बद्ध नहीं होता है, विषय विषयी भाव की असिद्धि होने से । न वा धर्म को स्वाभाविक कह सकते हैं

पर इत्यभ्युपगमे समूहालम्बने सङ्कीर्येत। एकं ज्ञानं द्व्यालम्बनं नैव भवतीति चेत्। तर्हि विशिष्टज्ञानाभावे विशिष्टस्य व्यवहारो न स्यात्। न हि विशिष्टमेकं नापि द्वितीयः न हि ज्ञानमेव विषयविषयिभावः ज्ञानव्यक्तेः प्रतिस्वं भेदे ततोनुगतविषयविषयिभावस्य व्यवहारानापत्तेः। एतेन ज्ञानं स्वाकारालम्बनमित्याद्यपि सावद्यमिति। अत्र ब्रूमः। ज्ञानस्य निर्विषयतां साधयसि वा सविषयतां निरस्यसि वा अभिप्रैषि वा किञ्चि-

---

क्योंकि घटज्ञान में एक उपाधि है पटज्ञान में दूसरी है ऐसा मानें तब समूहालम्बन ज्ञान में सांकर्य हो जायगा। एक ज्ञान दो विषयवाला नहीं होता है ऐसा कहो तब तो विशिष्ट ज्ञान का अभाव होने से विशिष्ट व्यवहार नहीं होगा। विशिष्ट एक नहीं होता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, ज्ञान ही तो विषय विषयी भाव नहीं है, क्योंकि ज्ञान व्यक्ति के भेद होने से उस ज्ञान से अनुगत विषय विषयी भाव का व्यवहार नहीं होगा। इसलिये ज्ञान स्वाकार विषयक होता है। यह जो बौद्ध पक्ष है सो भी सदोष होने से ठीक नहीं है।

समाधान-अत्र ब्रूमः— इत्यादि, एतावत्प्रकरण से क्या आप ज्ञान का निर्विषयत्व सिद्ध करना चाहते हैं अथवा ज्ञान के सविषयता का निरास करना चाहते हैं ? अथवा आपका अभिप्राय कुछ और ही है ? अथवा कुछ भी नहीं

दपि वा न कुरुषे वा । नाद्यौ विपरीतापत्तेः । यथा यथा निर्विषयतायै यत्नस्तथा तथा सविषयता प्रत्यापद्यते । न हि त्वदुक्तं निर्विषयतां नालम्बते निर्विषयता च सिध्यतीति सम्भवति । वयं शुद्धवैतण्डिका अतो न ज्ञानस्य निर्विषयतां साधयामो न वा तामभिप्रैम इति चेत् । तथापि सविषयतां निरस्यसि तदपि नेति चेत् । तर्हि शून्यहृदयपशुवदुपेक्षणी-योसि । मदर्थं तु मा यस्य तव तु विषयविषयिभावस्य निरुक्तिः

करना चाहते ? तब इसमें प्रथम द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है विपरीत हो होते हैं । आप जैसे जैसे निर्विषयता के लिये प्रयत्न करते हैं, वैसे वैसे सविषयता आजाती है । त्वदुक्त वचन ज्ञान में निर्विषयता का आलम्बन नहीं करता है । अतः निर्विषयता का सिद्ध होना असंभव है ।

प्रश्न—मैं तो शुद्ध वैतण्डिक हूँ इसलिये ज्ञान में निर्विषयता का साधन भी नहीं करता हूँ नवा मुझ को निर्विषयता ही अभिप्रेत है ।

उत्तर–तो भी सविषयता का ज्ञान में निरास तो करते है ? यदि कहो कि ज्ञान में सविषयता का निरास भी नहीं करता हूँ । तव तो आप पशु के समान शून्यहृदय वाले हैं । अतः उपेक्षा के योग्य हैं ।

प्रश्न—मेरे लिये विषय विषयी भाव भले न बने, आपको तो विषय विषयी भाव है तथा आप उसका निर्वचन

कथं घटतामिति ब्रूहीति चेत् । उक्तं प्रकाशस्येत्यादि । तथाहि प्रकाशप्रकाश्ययोरतिरिक्तः सम्बन्धस्तावन्नानुभूयते तेनासम्बन्धो वा स्यादनतिरिक्तो वा सम्बन्धः तत्राद्यो व्याघातदूषित एवेति परिशेषादन्त्यः सिध्यति । ननु सम्बन्ध्येव कथं सम्बन्धोऽस्तु तथा सति वा समवायमपि त्यजेति चेत् । स ह्यनुभूयमानतया न त्यज्यते प्रवाहस्तु त्यज्यत एव सम्बन्धिनि तु सम्बन्धाति-

---

करते हो सो निर्वचन कैसे होता है ?

प्रकाशस्य सत् इत्यादि प्रकरण में मैंने तो निर्वचन कर दिया है । तथाहि प्रकाश एवं प्रकाश्य घट पटादि विषय इन दोनों में कोई तो अतिरिक्त सम्बन्ध अनुभूयमान होता हो है, इसलिये घट में विषय विषयो ज्ञान असम्बन्ध मानेंगे अथवा अनतिरिक्त कोई सम्बन्ध मानेंगे ? इसमें आद्य असम्बन्ध पक्ष तो व्याघात दोष से दूषित है, इसलिये परिशेषादन्तिम पक्ष सिद्ध होता है ।

प्रश्न—जो सम्बन्धी है सो सम्बन्ध कैसे हो सकता हैं, ? यदि सम्बन्धो ही सम्बन्ध हो तब तो समवाय को भी छोड़ दो, अर्थात् विषय यिषयी भाव वा स्वभाव तो सम्बन्धी के रूप में पर्यवसित होता है तब तो सम्बन्धी ही सम्बन्ध हुआ सो ऐसा कैसे होगा ?

उत्तर—वह समवाय अनुभूयमान है, इसलिये वह नहीं छोड़ा जाता है । किन्तु समवाय का जो अननुभूयमान प्रवाह सो तो छोड़ा ही जाता है, संबन्धीं में जो संबन्ध का अतिदेश

देशः स च कार्यातिदेशः पर्यवस्यति न तु स्वरूपस्यातिदेशः सम्भवति तथा सत्युपदेश एव स्यात् । तेन सम्बन्ध्येव सम्बन्धकार्यं विशिष्टव्यवहारादिरूपंकरोति ननु विशिष्टव्यवहारो वैशिष्ट्यव्यवहाराधीनः तच्च वैशिष्ट्याधीनं वैशिष्ट्यञ्च सम्बन्धः स च सम्बन्धिनोर्भिन्नः न हि स एव तद्वांस्तेनैव भवतीति चेत् । उपदेशे तथैव अयन्तु कार्यातिदेश इत्युक्तम् । यत्तु यज्ज्ञानजनिता ज्ञातता यस्मिन् धर्मिण्युदेति यज्ज्ञानं तद्विषयकमिति । तन्न । ज्ञाततया नैयायिकैरनभ्युपगमात् ।

अर्थात् कथन है सो कार्यातिदेश में पर्यवसित होता है । न तु स्वरूप का अतिदेश संभव हो सकता है । तब अतिदेश न कहकर उपदेश ही कहाता है । इसलिये संबन्धी ही संबन्ध का कार्य विशिष्टि व्यवहार रूप है उसको करता है ।

प्रश्न—विशिष्ट व्यवहार जो होता है वह वैशिष्टच व्यवहार के अधीन होता है और वैशिष्ट व्यवहार वैशिष्टच के अधीन होता है, और वैशिष्टच है संबन्ध । और वह संबन्धी से भिन्न है । (संबन्धो से भिन्न नहीं हो) तब तो वही पदार्थ स्व से तद्वान् होता है ।

उत्तर—उपदेश में तो ऐसा ही है, परन्तु यह तो कार्यातिदेश है ऐसा कह चुका हूँ ।

प्रश्न—यत्तु इत्यादि, जिस ज्ञान से समुत्पद्यमान ज्ञातता जिस धर्मी में उदित होती है, वही धर्मी उस ज्ञान का विषय होता है ।

भट्टैरुपेयत एव सेति चेत । उपेयताम् । यत्रेत्यत्र कः सप्तम्यर्थः न हि ज्ञातता धर्मिणि समवेता नापि संयुक्ता किन्तु स्वभाव-सम्बद्धा तथा च ज्ञानमेव स्वभावसम्बद्धमस्तु किमन्तर्गड्डुना ज्ञाततया अतीतानागतयोश्चार्थयोस्तदुपादानमशक्यम् । तत्रापि घटत्वादौ नित्ये धर्मे ज्ञाततोदय इति चेत् । तर्हि घटे धर्मिणि

उत्तर–तन्न. ऐसा जो मीमांसाक ने कहा है सो ठीक नहीं है क्योंकि नैयायिक लोग . ज्ञानजन्य ज्ञातता धर्म को नहीं मानते हैं । नहीं कहो कि भट्ट मतानुयायी तो ज्ञातता को मानते हैं । तो भले वो लोग उस ज्ञातता को मानें । और 'यस्मिन ज्ञातता उदेति' यहां यस्मिन् में सप्तमी का अर्थ क्या है ? ज्ञातता तो धर्मी में समवाय संबन्ध से नहीं रहती है । क्योंकि द्रव्यादिक पांच भाव ही समवेत होता हैं । न वा संयोग संबन्ध से ज्ञातता धर्मी में रह सकती है । क्योंकि संयोग तो द्रव्य में ही रहता है और ज्ञातता तो द्रव्य नहीं है। किन्तु स्वभाव से ही ज्ञातता धर्मी में संवद्धा होगी । तब तो स्वभाव से संबद्ध ज्ञान को ही मान लीजिये अन्तर्गड्डु (निरर्थक) । इस ज्ञातता को मानने की क्या आवश्यकता है ? और अतीत अनागत अर्थ में तो ज्ञातता का उपादान भी अशक्य है । अर्थात् अतीत अनागत पदार्थ के अविद्यमान होने से उसमें ज्ञातता रह भो नहीं सकती है । यदि कहो कि अतीतादि स्थल में नित्यधर्म जो

ज्ञातताव्यवहारो न स्यात् धर्म धर्मिणोर्भेदात् विरोधेन भेदाभेदपक्षस्य शङ्कितुमशक्यत्वात् । अतीतानागतयोर्ज्ञातता विनैव ज्ञातव्यवहारश्चेत् । वर्तमानेऽप्येवमस्तु अन्यथा वर्तमाने ज्ञाततया तयोस्तु ज्ञातता विनैव ज्ञानव्यवहारो भवन् भ्रान्तः स्यादिति । तत्प्रतिबन्धव्यवहारानुकूलशक्तिशालित्वं तद्विषयत्वमित्यपि न

घटत्वादिक है उस घटत्वादिक में ज्ञातता का उदय होगा ऐसा कहो तब तो घटत्व में तो ज्ञाता व्यवहार होगा किन्तु घटादि रूप धर्मी में ज्ञातता व्यवहार नहीं होगा, धर्म और धर्मी में भेद होता है । (यदि धर्म और धर्मी में एकता है तब तो घटत्व में ज्ञातता व्ययवहार होने से तदभिन्न धर्मी में भी ज्ञात: व्यवहार हो जाता किन्तु धर्म धर्मी तो दोनों भिन्न हैं) और परस्पर विरोध होने से भेदाभेद पक्ष की तो शंका भी नहीं हो सकती है । नहीं कहो कि अतीतानागत में ज्ञातता के विना ही ज्ञात व्यवहार होगा, तब तो वर्तमान में भी ज्ञातता के बिना ही ज्ञात व्यवहार होगा, तब तो वर्तमान में भी ज्ञातता के बिना ही ज्ञात व्यवहार मान लीजिये । अन्यथा वर्तमान में ज्ञातता से और अतीतानागत में ज्ञातता के बिना ही व्यवहार होने पर यह व्यवहार भ्रान्त हो जायगा । नहीं कहो कि तत्प्रतिबन्ध जो व्यवहार तादृश व्यवहार के अनुकूल (संपादक) जो शक्ति तादृश शक्तिशाली जो हो सो तद्विषय कहाता है, जैसे घट ज्ञान में घट व्यवहार के अनुकूल शक्तिमत्ता है तो घट उसके ज्ञान का विषय है सो ठीक नहीं है क्योंकि तत्प्रतिबन्ध शब्द का अर्थ है

तत्प्रतिबन्धो हि तद्विषय इति विषयविषयिभावखण्डनं नातिवर्तते । अथ ज्ञानं स्वाभिन्नमेव स्वाकारं विषयीकरोति बाह्यघटादिसिद्धिस्तु ज्ञानस्य घटाकारत्वान्यथानुपपत्त्या न हि बाह्यघटमन्तरेणैव ज्ञानस्य घटाकारता सर्वज्ञानानां घटाकारतापत्तेः तथा च ज्ञानाकारत्वमेव ज्ञानविषयत्वमिति सौगता। तन्न । प्रभावत्वानुपपन्नं ज्ञानं तदपि हि आकारमात्रग्राहि न तु बाह्यग्राहि न हि भेदे विषयविषयिभाव इति ब्रूषे तथा च न

तद्विषयी तो इसलिये विषय विषयी भाव का जो खण्डन है उसका यह अतिक्रमण नहीं करता है ।

प्रश्न—बौद्ध का जो कोई ज्ञान होता है सो स्व से अभिन्न हो स्वाकार को विषय करता है और बाह्य जो घटादिक पदार्थ उसकी सिद्ध तो ज्ञान को घटाद्याकारत्व अन्यथा अनुपपन्न है, इसलिये तदन्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है । वाह्य जो घटादिक है उसके विना ज्ञान में घटाकारत्व नहीं हो सकता है, यदि होगा तो सभी ज्ञान में घटाकारत्व हो जायगा । अतः ज्ञान का जो आकार है वही ज्ञान का विषय है, यह बौद्ध का मत है । सो ठीक नहीं है क्योंकि प्रकाशत्व के बिना ज्ञान अनुपपन्न है, इसलिये वह ज्ञान आकार मात्र का ग्राही सिद्ध होता है, न तु बाह्य ग्राह्यता की सिद्धि होती है । और भेद में विषय विषयी भाव की सिद्धि नहीं होती है । ऐसा कहतेहो तब बाह्यता की असिद्धि कैसे ? और यह भेद क्या है ? जिसकी प्रतीतिकता को लेकर के अशक्य समर्थन कहें ? यह कह कर

बाह्यासिद्धिः कोयं भेदः यं प्रातीतिकमप्यशक्यसमर्थनमनिर्वच-नीयमाविद्यकमात्थ ॥

ननु कथमस्तु भेदस्तथाहि ब्रह्म तावदेकमेव भेदप्रपञ्चस्तु न प्रमाणसिद्धः स न स्वप्रकाशः जड़त्वात् नापि परप्रकाशः प्रकाशजडयोः सदसतोः सम्बन्धाभावात् तस्माद्यु क्त्यापि प्रपञ्चे

अनिर्वचनीय और आविद्यक कहते हैं।

इससे अव्यवहित पूर्व प्रकरण के चरम भाग में भेद को आविद्यक अनिर्वचनीय अशक्य समर्थनत्व का प्रतिपादन किया है उसी भेद को अधिकृत करके इस प्रकरण का अवतरण करते हैं। ननु इत्यादि—यह भेद किस प्रकार हा सकता है ? तथा ब्रह्म तो एक है और प्रपंच जो आकाश प्रभृतिक है सो शुक्ति रजत के समान प्रमाणसिद्ध नहीं है, अर्थात् जैसे शुक्तिका में प्रतिभासमान रजत किसी भी प्रमाण से समर्थित नहीं होने के कारण अप्रामाणिक है, इसी प्रकार से प्रमाण द्वारा समर्थित न होने के कारण प्रपंच भी प्रमाण सिद्ध नहीं है प्रमाणसिद्धत्व व्यति-रेक का ही समर्थन करते हैं। स न स्वप्रकाश इत्यादि, स अर्थात् वह प्रपंच शुक्तिका रजतवत् प्रतीयमान स्वप्रकाश अर्थात् ज्ञान रूप नहीं है। क्योंकि जड रूप है इससे। न वा इस प्रपंच को पर प्रकाश कह सकते हैं क्योंकि सत् असत् पदार्थ का सम्बन्ध नहीं हो सकता है इसलिये युक्ति द्वारा

निरस्ते "एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः" इत्यादिभिरुपनिषद्भिरेव हि ब्रह्मणैक्यं प्रपञ्चस्य विषय-फलभेदो भाविकः स्यादिति। उच्यते। अस्ति विस्वरूपोन्यो-

---

भी प्रपंच का निराकरण हो जाने पर "एक ही अद्विता स्वजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य है" इस द्वैत तादात्म्य विशिष्ट ब्रह्म में नाना वस्तु सामान्य कुछ भी नहीं है, इन्द्र अर्थात् परमात्मा माया (सदसत् से विलक्षण भाव-रूप ज्ञाननिवर्त्य त्रिगुणात्मक माया के द्वारा अनेक रूप ज्ञान ज्ञेयादि भेद रूप से प्रतिभासित होता है) इत्यादि उपनिषद से ही ब्रह्म के साथ प्रपंच की एकता सिद्ध होती है और प्रपंच में भी परस्पर विषय फलभेद अर्थात् कर्मकारण भाव होता है। अर्थात् ब्रह्म के साथ प्रपंच का एकत्व होने पर भी प्रपंच में परस्पर कार्यकारण भाव होता है. घट होता है कार्य और मृत्पिण्ड होता है कारण, यह विषय फलभेद अर्थात् कार्यकारण भाव भाविक है अर्थात् स्वभाव सिद्ध है, सभी पदार्थ में ब्रह्म का अभेद समान रूप से रहने पर भी कपाल कारण होता है और घट कार्य कहलाता है। इस प्रकार से ब्रह्म के साथ अभेद प्रतिपादन करके जो भेद का निराकरण किया, उसका समाधान करते है। उच्यते इत्यादि यह अन्योन्याभाव विश्वरूप अर्थात् अनेक प्रकारक है। अन्योन्याभाव वैधर्म्य भेद

न्याभावो वैधर्म्यभेदालौकिकप्रत्ययो यद्घटोयं न पटो मृन्मयश्चेति कात्रापि कथन्ता स्वरूपभेदस्य लक्षणं ताद्रूप्येणाप्रतीताप्रतीतिरिति अन्योन्याभावस्य तु लक्षणमबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययो वैधर्म्यस्य तु एकधर्म्यसमावेशलक्षणो विरोध इति। अत्र प्रतीतिरित्येतावत् कृते इदं रजतमिति भ्रमेपि शुक्तिकायां या धीस्तया शुक्तिकायां रजतरूपव्यवहारः स्यादिति तद्वारणाय ताद्रूप्येणाप्रतीतेति। तथाहि यतो रजता-

---

इत्यादि सर्वलोक प्रसिद्ध है। यह घट है पट नहीं है मृण्मय है, एतादृश प्रत्यय सिद्ध जो भेद है, अन्योन्याभावादि उसका पर्यायवाची है। उस विषय में कथंता क्या है? अर्थात् वह है या नहीं? इत्यादि विचार निरर्थक है। उसमें स्वरूप भेद का लक्षण है तद्रूपेण अप्रतीत की प्रतीति। और अन्योन्याभाव का लक्षण है अबाधित समानाधिकरण निषेध ज्ञान एवं वैधर्म्य का लक्षण होता है, एक धर्मी में असमावेश लक्षण जो विरोध प्रत्यय। जैसे घटत्व पटत्व ज्ञान में घटत्व और पटत्व का एक अधिकरण में समावेश नहीं होता है। यहां स्वरूप भेद लक्षण में 'प्रतीतिः' एतावन्मात्र लक्षण कहें तब तो 'इदं रजतम्' इत्याकारक भ्रम में भी शुक्तिका में जो ज्ञान है उससे शुक्तिका में भी रजत व्यवहार हो जायगा, उस व्यवहार को वारण करने के लिये ताद्रूप्येण अप्रतीतेः यह विशेषण दिया गया है। यथाहि भेद की

देर्भेदात्रधिभूतात् शुक्तिकाव्यवहारः स्यात्तद्रूपतयैव शुक्तिकायाः प्रतीतिरभूदिति नेयं धीः शुक्तिकायां स्वरूपभेदतः। एवमपि द्विचन्द्रबुद्धेः स्वरूपचन्द्रस्य मायाचन्द्रताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिरस्तीति तत्रापि स्वरूपभेदः स्यादतो प्रतीतिरियं दोषात् तत्र तु स्वरूपचन्द्रस्य मायाचन्द्ररूपत्वेनाप्रतीतिर्दोषादेव तत्त्वाप्रतीतावतत्त्वप्रतीतौ चोभयत्रापि मन्मते दोषाणां हेतुत्वोपगमात्। ननु ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीयमानस्य धर्मिणः स्वरूपभेदे प्रतीते कथमभेदारोप इति चेत्। दोषमहात्म्यादिति गृहाण। न

अवधिभूत जिस रजत से शुक्तिका व्यवहार होगा तद्रूपतया रजत रूप से ही शुक्तिका ज्ञान हुआ है इसीलिये एतादृश भेद ज्ञान शुक्तिका में स्वरूप भेद से नहीं होता है। ऐसा होने से भी द्विचन्द्र ज्ञान स्थल में स्वरूपचन्द्र की मायाचन्द्र रूप से अप्रतीति होने पर ही प्रतीति होती इसलिये द्विचंद्र स्थल में भी स्वरूप भेद होगा। अतः द्विचन्द्र प्रतीति दोषाधीन होती है। वहां द्विचन्द्र स्थल में स्वरूप चन्द्रमा (आकाशस्थ सत्य चन्द्रमा) की मायाचन्द्र रूपेण जो प्रतीति नहीं होती है सो दोष के बल से, क्योंकि तत्व की अप्रतीति में तथा प्रतीति में मेरे मत में दोनों ही स्थल में दोष को ही कारणत्व माना गया है।

प्रश्न—तद्रूप से ज्ञान नहीं होता है तादृशस्थल में ज्ञायमान जो धर्मी शुक्त्यादिक उसका स्वरूप भेद जब प्रतीयमान

चाभेदो नारोप्यते किन्तु तादात्म्यमिति वाच्यम् । तर्हि संसर्गाभावोयं स्यात्तादात्म्यस्य धर्मिणि निषेधादिति । अपरौ तु भेदौस्थापयिष्यामः प्रपञ्चस्य चाबाध्यतां वक्ष्यामः । ननु भेदधीकालेऽवध्यन्वयोपि नौ कीदृशौ भेदवन्तावेवेति गृहाण । अनुयोगिनि स एव भेदोस्तु अवधौ तु अनुयोगिप्रतियोगिक इति शेषः ।

हो गया तब शुक्ति रजतादिक में अभेदारोप कैसे होगा ?

उत्तर—दोष के माहात्म्य के बल से होता है यही समझिये । नहीं कहो कि शुक्ति रजत स्थल में शुक्ति का में रजत का अभेदारोप होता है ऐसा मैं नहीं कहता हूँ किन्तु रजत का तादात्म्यारोप शुक्तिका में होता है यह मैं कहता हूँ । तो यह कहना भो ठोक नहीं है । क्योंकि यदि शुक्तिका में रजत तादात्म्य का आरोप मानें तब तो शुक्तिका रूप धर्मी में तादात्म्य का निषेध होगा । सो निषेध तो भूतल में घटाभाव के समान संसर्गाभाव कहावेगा अन्योन्याभाव नहीं । वैधर्म्यात्मक भेद और अन्योन्याभावात्मक भेद का स्थापन तो मैं करूंगा । एवं प्रपंच में अबाध्यत्व का प्रति पादन करूंगा । अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान श्रुति स्मृति आदिक प्रबल प्रमाण सिद्ध प्रपंच का निराकरण स्वकीय परिभाषा मात्र से नहीं हो सकता है । प्रत्युत श्रुत्यादि प्रमाण सिद्ध प्रपंच का निराकरण करने से श्रुति के उपासक आपको श्रुति का विरोध होता है ।

इति शेषः । ननु किम्भेदविशिष्टे किं भेदवृत्तिः न जानीमः ।

'नेहनानास्ति किंचन' प्रभृति श्रुति को जो प्रपंच निराकरण परक मानते हैं, सो भी प्रकरण के पूर्वापर के विचारने पर भगवद् उपासना में उन सब श्रुतियों का तात्पर्य निर्णीत होता है । जब जड अजड पदार्थ मात्र भगवदवयव हैं तब तादृश भगवदवयव का निराकरण करना कहाँ तक उचित है ? इसका विचार आप स्वयं करें ।

प्रश्न—जिस समय में भेद का ज्ञान होता है उस समय में जो अवधि (प्रतियोगी अनुयोगी) है उसका ज्ञान कैसे होता है ? अर्थात् अवधी का ज्ञान जो होता है सो उस समय में भेद सहित अवधी का ज्ञान होता है अथवा भेद रहित अवधी का ज्ञान होता है ।

उत्तर—भेदवन्तावेव तौ—अर्थात् भेद सहित ही अवधी अनुयोगी प्रतियोगी का ज्ञान होता है ऐसा समझिये । अनुयोगी में वही भेद रहता है, अर्थात् विधीयमान भेद ही स्वरूप संबन्ध से अनुयोगी में अधिकरण में रहता है । और अवधी अर्थात् प्रतियोगी में वही भेद अनुयोगिता निरूपित प्रतियोगिता सम्बन्ध से रहता है ऐसा जानिये ।

प्रश्न—किस भेद विशिष्ट में कौन भेद रहता है ? ऐसा मैं नहीं समझता हूं अर्थात् पक्षतावच्छेदक भेद कौन है और विधेयात्मक भेद कौन है ?

वस्तुवो यावत्सत्त्वमन्योन्याभाववैधर्म्ये सहैव स्तः अन्योन्याभावस्य जातिरूपवैधर्म्यस्य वाद्यक्षण एव तत्रान्वयात् अन्त्यक्षणपर्यन्तञ्च तत्र स्थितेः। स्वरूपभेदस्तु धर्मिणि वर्तत एवाभेदात्। कथं तर्हि पृथिवीत्वादिना वैधर्म्येणाभावात् स्वरूपभेदः पृथिव्यादेरनुमीयते धर्मिज्ञाने सिद्धसाध-

---

उत्तर—जब तक पदार्थ का अस्तित्व रहता है तब तक अन्योन्याभाव और वैधर्म्यात्मक भेद साथ ही रहता है। अन्योन्याभावात्मक भेद तथा घटत्वादि जात्यात्मक जो वैधर्म्य भेद, इन दोनों का पदार्थ में उत्पत्ति काल में ही अन्वय हो जाता है। पदार्थ की उत्पत्ति तथा जात्यात्मक वैधर्म्य का अन्वय समकाल में ही होता है और पदार्थ के अन्तिम क्षण पर्यन्त उस पदार्थ में भेद की स्थिति रहती है, और स्वरूप भेद तो धर्मी अर्थात् अधिकरण में रहता ही है। क्योंकि अधिकरण के साथ स्वरूप भेद का अभेद होने से। अर्थात् स्वरूप भेद अधिकरण का स्वरूप ही है. अतः उन दोनों में अभेद सम्भवित है।

प्रश्न–जब स्वरूप भेद को धर्मी से अभिन्न मानते हैं तब पृथिवीत्व वैधर्म्य से जो कि अभाव रूप में पर्यवसित है, उससे पृथिवी का जो स्वरूप भेद है उसका अनुमान कैसे होगा ? क्योंकि धर्मी जो पृथिवी है उसका यदि ज्ञान है तब तो स्वरूप भेदात्मक साध्य का ज्ञान होने से सिद्ध साधन दोष होता है जिस प्रकार से अनुमिति के प्रति बाध

नात् धर्म्यज्ञाने चाश्रयासिद्धेरिति चेत् । न । तोयत्वेन पिपासोपशमनशक्तेस्तादभिन्नाया अनुमितिवदत्राप्यनुमितिसम्भवात् । तत्रापि कथमनुमितिरुपाधिभेदस्यानुमेयत्वात् । तोयत्वेन जात्या पिपाशोपशमनकारणतावच्छेदकरूपत्वेन तदेव तोयमनुमीयते यथा तथा पृथिवित्वेन जात्या पृथिव्याः स्वभावा

निश्चय विरोधी होता है, अर्थात् जिस समय में वह्न्यभाववान् ह्रद इत्याकारक बाध निश्चय रहता है उस समय में वन्हिमान् ह्रदः इत्याकारक अनुमिति नहीं होती है, क्योंकि तद्वत्ताबुद्धि के प्रति तदभाववत्ता निश्चय विरोधी होती है, अतः अनुमिति के प्रति बाध निश्चय विरोधी है । उसी तरह से वह्निमान् पर्वत इत्याकारक निश्चय रहने से वन्हिमान् पर्वत इत्याकारक अनुमिति नहीं होती है, क्योंकि जिस वस्तु को अनुमिति द्वारा जानना चाहते हैं सो पदार्थ तो प्रमाणान्तर से उसमें ज्ञात ही है और अज्ञातार्थ का ज्ञापकही तो प्रमाण है, अतः सिद्ध वस्तु का साधन करने से सिद्ध-साधन दोष है । यह सिद्ध साधन दोष सर्व प्रमाण साधारण है । और यदि धर्मी का ज्ञान नहीं है तब तो आश्रयासिद्धि दोष होता है ।

उत्तर—जिस प्रकार से पिपाशोपशमन कारणतावच्छेदक जाति रूप तोयत्व (जलत्व) हेतु से उसी जल का अनुमान होता है उसी तरह से जात्यात्मक पृथिवीत्व हेतु से स्वभावा-

द्विलक्षणशरीरमनुमीयते। ननु पृथिवीत्वस्वरूपभेदयोः सामानाधिकरण्याभावात् कथं व्याप्तिः निरूपाधिसम्बन्धादित्यवेहि। तथाहि चतुर्द्धा न हि व्याप्तिः यो धूमवान् सोऽग्निमानिति यत्र धूमस्तत्राग्निरिति यो धूमवान् तत्राग्निरिति यत्र धूमः सोऽग्निमानिति इदञ्च व्याप्तिखण्डनोद्धारे प्रपञ्चितमतस्तत्रानुसन्धेयम्। ननु स्वरूपं निरवधिभेदः समाधिः स्वरूपमन्य-

---

द्विलक्षण पृथिवी शरीर का अनुमान होता है।

प्रश्न–स्वभावाद्विलक्षण पृथिवी शरीर का अनुमान आपने पृथिवीत्व हेतु से किया है सो असंगत है, क्योंकि पृथित्व तथा स्वरूप भेद का सामानाधिकरण्य अर्थात् एकाधिकरणवृत्तिता न होने से सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति नहीं है।

उत्तर–निरुपाधिक सम्बन्ध रूप ही व्याप्ति है ऐसा समझिये व्याप्ति चार प्रकार से होती है, तथाहि जो धूमवाला हो सो वन्हिवाला होता है जैसे महानस। जिस अधिकरण में धूम रहती है उसमें वन्हि रहती है, महानस की तरह जो धमवाला होता है उस अधिकरण में वन्हि होती है। जिस अधिकरण में धूम रहती है वह अधिकरण वन्हि वाला होता है। इस विषय पर व्याप्ति खण्डनोद्धार में विस्तृत रूप से विचार किया गया है अतः वहीं अनुसन्धानकरें।

प्रश्न–भेद को स्वरूपात्मक कैसे कहते हैं ? क्योंकि

निरूप्यं भेदान्यनिरूप्यं तत्कथं स्वरूपं भेदोस्त्विति चेत् । इत्थम् । यथा घटस्य घटत्वेन निरूप्यमाणस्य न सप्रतियोगिता न वान्यनिरूप्यता घटाभावाभावत्वे तु प्रतीयमानस्योभयस्यापि तथा स्वरूपत्वेन प्रतीयमानस्य माभूद्भेदत्वेन प्रतीयमानस्याव-धिमत्ता वान्यनिरूपिता च स्यादेव । ननु चाभावस्य स्वरूपं

घटादिक का जो स्वरूप है सो तो अवधिमान् अर्थात् सप्रति-यौगिक नहीं है, न वा घटादि का स्वरूप अन्य से निरूपित नहीं होता है, और भेद तो अवधिमान् है तथा अन्य से अर्थात् भेदान्य से निरूपित होता है। तब दोनों (स्व-रूप तथा भेद) के विलक्षण स्वभाव वाले होने से घटादि स्वरूप को भेद रूप किस प्रकार से मानते हैं ?

उत्तर–जिस प्रकार से घटत्व रूप से निरूप्यमाण जो घट है उससे प्रतियोगिकत्व अथवा अन्य निरूप्यत्व नहीं है किन्तु जब वही घट,घटाभावाभावत्वेन निरूप्यमाण होता है तब सप्रतियोगिकत्व तथा अन्य निरूप्यत्व होता है। उसी तरह से स्वरूपत्वेन प्रतीयमान जो स्वरूप उसको सप्रतियो-गिकत्व अथवा अन्य निरूप्यत्व नहीं होने पर भी उसी स्व-रूप को जब भदेत्वेन निरूप्यमाणत्व होता है तब सप्रति-योगिकत्व तथा अन्य निरूप्यत्व होने में कोई भी बाधक नहीं है।

प्रश्न–अभाव का स्वरूप तो निषेधात्मक होने से स-

निषेधत्वात् सप्रतियोगिकत्वं भेदत्वात् सावधिकं तथा च प्रतियोग्यनुयोगिभावोऽवध्यवधिमद्भावश्च द्वयमप्यभावस्य स्वरूपं तथा भावस्यैकस्य विरुद्धं द्वयं कथं स्वभावोस्तु एकस्य द्विस्वभावत्वात् सप्रतियोगिकोस्तु एकस्य द्विस्वभावत्वासम्भवादिति चेत् । न भेदस्यावध्यवधिमद्भावे प्रमाणाभावात् । घटोयं न पट इत्यादिधियावध्यवधिमद्भावस्यानुल्लेखात् प्रमाणान्तरस्य च तत्राभावात् । अन्योन्याभावस्तु भेदोऽभावत्वात् सप्रतियोगि-

---

प्रतियोगिक है तथा भेद रूप होने से सावधिक है। तब प्रतियोगी अनुयोगीभाव अवधि अवधिमद्भाव यह दोनों अभाव के स्वरूप बनते हैं । इस प्रकार से एक जो भावात्मक पदार्थ है उसके दो विरुद्ध स्वभाव कैसे होंगे ? क्योंकि ऐसा होने से एक को ही विरुद्ध द्विस्वभाववत्व प्रसंग हो जायगा । न वा भावत्मक पदार्थ सप्रतियोगिक होगा, क्योकि एक में द्विस्वभावत्व असंभवित है ।

उत्तर—भेद के अवधि अवधिमद्भाव होने में कोई प्रमाण नहीं है । 'घटोयं न पटः' इत्याकारक बुद्धि में अवधि अवधिमद्भावका उल्लेख नहीं होता है । और अवधि अवधिमद्भाव होने में कोई प्रमाणान्तर तो है नहीं । अन्योन्याभावात्मक जो भेद है सो अभाव रूप होने से सप्रतियोगिक हो, किन्तु प्रतियोगी अनुयोगी भाव संबन्ध नहीं होता है, क्योंकि भिन्न भिन्न अनेक व्यक्ति में रहनेवाला जो धर्म तत्समुदाय रूप होने से संबन्ध नहीं हो सकता है,

कोऽस्तु न प्रतियोग्यनुयोगिभाव एव तयोः सम्बन्धः अन्यप्रत्ये-कविश्रान्तधर्मसमाहाररूपतया सम्बन्धत्वायोगात् तथाहि प्रति-योगित्वमभावविरहात्मत्वं सत्प्रतियोगिमात्रधर्मश्चानुयोगित्वं तन्निषेधत्वं तदुपमर्दत्वम् स च निषेधमात्रधर्मः ॥

एतेन कार्यकारणभावक्रियाकर्मभावज्ञाप्यज्ञापकभावव्या-प्यव्यापकभावावध्यवधिमद्भावप्रभृतयोऽप्यधिका निरस्ता

तथाहि प्रतियोगिता अभाव विरह रूप है क्योंकि आचार्य ने कहा है कि "अभाव विरहात्मत्वं वस्तूतः प्रतियोगिनेति" तथा सत् जो प्रतियोगी तन्मात्र में रहने वाला धर्म प्रतियो-गिता है,और अनुयोगिता प्रतियोगीका निषेधात्मक(अनुयोगिता प्रतियोगी का उपमर्दन)रूप है,यही निषेध मात्र का धर्म है।

एतेनेत्यादि—विभिन्नाधिकरण वृत्ति धर्म समुदाय रूप होने के कारण से प्रतियोगी अनुयोगी भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है । इसी तरह कार्य कारण भाव 'दण्डेन घटः इत्यादि स्थल में क्रियाकर्म भाव, 'घटं पश्यति' इत्यादि स्थल में ज्ञाप्यज्ञापक भाव, 'धूमेन वह्नि' इत्यादि स्थल में व्याप्यव्यापक भाव 'वह्निमान् धूमादि' इत्यादि स्थल में, अवधि अवधिमद्भाव, 'भिन्नो घट' इत्यादि स्थल में पूर्वोक्त कार्यकारणभावादिक में भी सम्बन्धत्व का निरा-करण होता है, ऐसा जानना चाहिये । अर्थात् कार्यकारण भावादिक विभिन्नाधिकरण वृत्ति अनेक धर्म समुदायात्मक

वेदितव्याः । तदयं सन्क्षेपः । घटः पटो नेत्यादिप्रतीतेः स्वरूप-वैधर्म्यें तु न सप्रतियोगिके सावधिकास्तु नात्र केपि अभावोपि न सावधिकः अभावबुद्धाववधेरस्फुरणात् । अत एवाभाव-धीकारणीभूतायामपि बुद्धाववधेर्भानमित्यपास्तम् । घटः पटो नेति बुद्धेरव्यवहितप्राक्ज्ञप्यवधेरभानात् । तस्यैव त्वभावस्य भेदत्वेन ज्ञानेऽवधिज्ञानापेक्षा घटाभावाभावत्वेन घटज्ञाने घटा-भावज्ञानापेक्षावत् । अमुकादमुको भिन्न इत्यादिकं पृथक्त्वादि-

---

होने से संबन्ध नहीं है। (कार्यकारण भाव का अर्थ हाता है कार्यता कारणता, तो कार्यता स्वरूप संबन्ध से कार्यवृत्ति है और कारणता स्वरूप संबन्धसे कारणमात्र वृत्ति धर्म है तो द्विष्ठ न होने से संबन्ध नहीं है। परन्तु कार्यता निरूपित कारणता को संबन्ध रूप मानाजाय तो कोई क्षति नहीं होगी) इस विषय में इस प्रकार से संक्षेप है, घटः पटो न इत्यादि प्रतीति होती है, उस प्रतीति में स्वरूप तथा वैधर्म्य प्रतिभासित होता हैं किन्तु स्वरूप वैधर्म्य स-प्रतियोगिक होकर के प्रतिभासित नहीं होता है और इस प्रतीति में सावधिक तो कोई भी प्रतिभासित नहीं होता है और इस प्रतीति में प्रतिभासमान जो अभाव वहभी सावधिक रूप से प्रतिभासित नहीं होता है। क्योंकि अभाव बुद्धि में अवधि का स्फुरण नहीं होता है। इसलिये अभाव ज्ञान में कारणी भूत जो बुद्धि उसमें अवधि का भान होता है ऐसा

त्यप्याहुः । घटः पटो नेति प्रयोगे घटो धर्मी पटप्रतियोगिका-न्योन्याभावत्राननुभूयतेऽत्र चाभावे नञर्थैकदेशे प्रतियोगितया पटोन्वीयत इति । न च भेदेषु भेदाकारानुगतमतेर्भेदत्वं तत्र च विलक्षणधीसाक्षिकाभेद इति परस्पराश्रयाश्रयिभाव इति

जो कहते थे वह भो परास्त हो गये । क्योंकि घटः पटो न इस बुद्धि के पूर्वकाल में भो अवधि का भान नहीं होता है । परन्तु उसी अभाव के जो स्वरूपात्मक वा वैधर्म्यात्मक अभाव का भेदत्वं ज्ञान जब होता है अर्थात् भेदत्व अभावत्वादि धर्म पुरस्कृत स्वरूपभेद वैधर्म्यात्मक भेद का ज्ञान होता है तब तादृश भेद ज्ञान में अवधि (प्रतियोगी अनुयोगो) का तो ज्ञान तदपेक्षा आवश्यक ही होता है । जैसे घटाभावाभाव रूप से जब घट ज्ञान होता है उस घट ज्ञान में घटाभाव ज्ञान की आवश्यकता होती है । कोई कोई व्यक्ति तो अमुक से अमुक भिन्न है इत्यादि स्थल में यथोक्त प्रतीति के बल से प्रथक्त्व को भेदात्मक ही कहते हैं । घट पट नहीं है, इस प्रयोग में घट रूप जो धर्मी अधिकरण वह पट प्रतियोगिक अन्योन्याभाववान् है ऐसा अनुभव होता है । यहां नञ पदार्थ का एक देश अभाव मैं प्रतियोगिता संबन्ध से अन्वीयमान होता है ।

प्रश्न–अनेक भेद में 'अयं भेदोऽयं भेद' इत्याकारक जो अनुगम प्रतीति तादृशप्रतीति के बल से भेदत्व की सिद्धि

वाच्यम् । प्रमाणिकेनास्यादोषत्वात् । न च विजातीयस्य त्रयस्यैकं भेदत्वमयुक्तम् अभेदव्यवहारविरोधित्वस्योपाधेस्त्रिष्वपि सम्भवात् घटत्यादयश्च पदप्रवृत्तितया प्रतीयन्ते ततः स्वाश्रयं भिन्दन्तीति

होती है और उस भेद में विलक्षण जो ज्ञान तादृश ज्ञान साध्य अभेद है, तब तो भेद और अभेदमें परस्पर आश्रयाश्रयीभाव अर्थात् अन्योन्याश्रय दोष होता है। जब अभेद सिद्ध होगा तब भेद की सिद्धि होगी, और जब भेद सिद्ध होगा तब अभेद की सिद्धि होगी।

उत्तर–प्रामाणिक होने से प्रकृत में यह दोषाधायक नहीं है। नहीं कहो कि तीन जो विलक्षण हैं भेद, स्वरूप, अन्योन्याभाव, इन तीन में एक भेदत्व की वृत्तिता अयुक्त है। यह कहना ठीक है क्योंकि अभेद व्यवहार विरोधित्व रूप जो उपाधि है सो तीनों में स्वरूप भेद और अन्योन्याभाव में समान है अर्थात् तीनों में रहता है ऐसा सभवित है। घटत्वादिक जो धर्म है सो पद प्रवृत्ति निमित्ततया अर्थात् शक्तावच्छेदक रूप से प्रतीयमान होता हुआ अपने आश्रय घटादिक को घटेतर से भिन्न कराता है। इसलिये अन्योन्याश्रयादिक दोष नहीं होता है।

यहां के प्रकरण का अभिप्राय यह है कि एक ही पदार्थ प्रतियोगी विशेष की अपेक्षा अनेक व्यवहारास्पद होता है, जैसे शांकर वेदान्ती के मत में एक ही स्त्री पति

नान्योन्याश्रयादि।नन्वननुगतैर्भेदैरनुगतो व्यवहारः कथम् अन-नुगतैरालोकधूमादियाथार्थ्यगता वह्न्यनुमितिः सपि कथं वह्नि-व्याप्यत्वेन भासते न आलोकादीनामनुगतिमत्त्वादिति यदि तर्ह्य—

रूप प्रतियोगी की अपेक्षा से पत्नी कहलाती है, पिता की अपेक्षा से पुत्री, भ्राता की अपेक्षा से स्वसा, पुत्रापेक्षया माता, देवरापेक्षया भौजाई, इत्यादि। एवमेव स्वरूप भेद जब स्वरूपत्वेन ज्ञात होता है तब वह स्वरूपात्मक है, जब वही भेदत्वेन ज्ञात होता है उस समय में प्रतियोगी अनुयोगी के निरूपणाधीन निरूपणाक होने से स्फुटतर व्यवहार का विषय होता है। किसका अभाव किसमें अभाव है इस प्रकार से अभाव व्यवहारास्पद होता है।

प्रश्न—जब भेद स्वयं अननुगत है अर्थात् अनेक है तब उस अननुगत भेद से अनुगत व्यवहार कैसे होता है?

उत्तर—अननुगत आलोक धूमादि से जैसे यथार्थ वह्न्यनुमिति एक रूपा होती है उसी तरह से अननुगत भेद से अनुगत व्यवहार हो सकता है।

प्रश्न—आलोक धूमादि द्वारा जायमान अनुमिति स्थल में भी एकत्व व्यवहार कैसे होता है?

उत्तर—यदि कहोकि वह्निव्याप्यत्व रूप प्रतिभासमान धूमालोकादिक में एकत्व माना जाता है क्योंकि वह्निव्या-

भेदविरोधित्वेन भासिता भेदा अप्यनुगता एवेति । ननु भेदः कुत्र वर्तते यत्र प्रमीयते तत्र वर्तते कुत्र तर्हि प्रमितिव्यक्तिर्यत्र वृत्तिप्रमितिः अस्तु इयं रूढितोक्तिप्रत्युक्तिः सुहृद्भावेन पृच्छामः

प्यत्व रूप एक है, नतु आलोकादिक व्यक्ति का अनुगतिमत्व देखा जाता है। तब तो प्रकृत में भी अभेद विरोधित्व रूप से प्रतिमान भेद भी एक ही है । अर्थात् जैसे वह्नि व्याप्यत्व धर्म को पुरस्कृत करने पर धूमालोकादि अनेक व्यक्ति भी एकत्वेन संगृहीत हो जाते हैं, न तु धूमत्व आलोकत्व तथा व्यक्तिगत अनेकत्व मूलक दोष होता है उसी तरह अभेद विरोधित्व धर्म को पुरस्कृत करके सभी भेदों का संग्रह होता है तथा एकत्व व्यवहार होता है ।

प्रश्न—भेद किस में रहता है ?

उत्तर—जिसमें जिस अधिकरण में प्रतीयमान होता है उसी अधिकरण में रहता है ।

प्रश्न–तो भेद विषयक प्रमाज्ञान किस अधिकरण में रहता है ?

उत्तर–भेद संबन्ध का प्रमा ज्ञान जहां रहता है उसी जगह में भेद रहता है ।

प्रश्न—इस रूढी उक्ति प्रत्युक्ति को रहने दीजिये । मैं आपको मित्र भाव से पूछता हूं कि भेद भेदविशिष्ट अधिकरण में रहता है अथवा अभेद विशिष्ट अधिकरण

भेदो भिन्ने वर्ततेऽभिन्ने वा। नानत्योविरोधात् आद्येपि तेनैव भेदेन भिन्ने भेदान्तरेण वा। अत्राद्ये आत्माश्रयः एकस्य क्रमिकवृत्तिद्वयासम्भवाच्च न ह्येक एव एकस्मिनन्नेव धर्मिण्यादौ प्रविश्य पुनः प्रविशनीति सम्भवति। बहिः स्थस्यैव प्रवेशसम्भवात्। अन्त्येऽनवस्था एव भिन्नादभेदभिन्ना-

---

में रहता है ? अर्थात् विधीयमान भेदान्वय से पूर्वकाल में वह अधिकरण किसी भेद से युक्त है अथवा अभेद विशिष्ट रहता है ? जिसमें इस भेद का विधान करते हैं। प्रथम पक्ष में तो जो भेद विधीयमान होता है उसी भेद से उद्देश्य भिन्न हैं अथवा विधीयमान भेद व्यतिरिक्त भेद से उद्देश्य भिन्न होता है ? अर्थात् भेदान्तर से युक्त उद्देश्य में विधेयी भूत भेद का विधान होता है ? इसमें प्रथम पक्ष में आत्माश्रय दोष होता है क्योंकि विधेयात्मक भेद विशिष्ट में विधेयी भूत भेद की वृत्तिता होने से स्व में स्व की वृत्तिता हो जायगी। और एक पदार्थ को क्रमिक वृत्तिद्वय असम्भवित है। एक पदार्थ एक धर्मी में प्रथमतः प्रविष्ट होकर के पुनः उसमें प्रविष्ट हो ऐसा नहीं होता है। किन्तु जो बाहर में हो उसका प्रवेश होता है, जो प्रविष्ट है उसका प्रवेश कैसे होगा ? और अन्तिम पक्ष में तो अनवस्था होती है। (इसके आगे पंक्ति त्रुटित हैं परन्तु विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि अनवस्था का स्पष्टीकरण परक विकल्प

द्वा-अत्राद्यकल्पस्य एतद्भिन्नीभूतादयं भिन्नो भविष्यतीति भिदा एतस्मिन् भिन्नीभूतत्वेन ज्ञातादयं तद्भिन्नत्वेन ज्ञातव्यमिति वा अर्थः। अत्र नाद्य उभययोरपीति भेदयोरन्योन्याभावत्वेन तुल्यस्थित्या क्रमिकत्वायोगात्।नापरोन्योन्याश्रयात्। नान्त्यो बाधात्। न ह्यभिन्नात् भेदो भवतीति। किञ्च भेदः

घटित पंक्ति है) तथा हि उद्देश्यतावच्छेदकीभूत भेद, जिस भेदविशिष्ट उद्देश्य में रहता है वह द्वितीय भेद स्वात्मक भेद विशिष्ट में रहता है तब आत्माश्रय होगा,भेदान्तर सापेक्ष माने तो अन्योन्याश्रय होगा यदि अभेद विशिष्ट में रहैगा तो बाध दोष होता है। इसी अभिप्राय को लेकर के कहते हैं भिन्नात् अथवा भेदान्तर से अथवा अभिन्न से, इसमें आद्यकल्प का यह अर्थ हैं कि इस भेद से जो भिन्न है उससे यह भिन्न होगा । यह एक अर्थ है। भेद अमुक अधिकरण में भिन्नत्वेन ज्ञात जो है उससे तद्भिन्नत्वेन ज्ञातव्य है। यह दूसरे कल्प का अर्थ है। इसमें आद्य कल्प ठीक नहीं है क्योंकि दोनों ही भेद अन्योन्याभाव होने से समानस्थितिक हैं तो उसमें क्रमिकत्व नहीं होता है। द्वितीय पक्ष भी अन्योन्याश्रय होने से ठीक नहीं है, तृतीय पक्ष बाध होने से ठीक नही है। क्योंकि अभिन्न में भेद का समावेश नहीं हो सकता है। और भी देखिये, यह जो भेद है सो स्वकीय प्रतियोगी से स्वाश्रयतः स्वधर्मतः

स्वप्रतियोगिनः स्वाश्रयतः स्वधर्मतश्च भिद्यते न वा आद्ये बहुमुखीऽनवस्था अन्त्ये स तेष्वेव लीयेतेति क्व भेदवार्तापीति। यद्यपि भेदं प्रतिभासमानं नापन्होतुं शक्यमतस्तथाप्युक्तदूषणगणग्रस्ततया पंत्रनिर्भरमभ्युपेयः। अत्रोच्यते। भेदो भिन्ने वर्त्तताभिन्ने वा इति पृच्छतः सकलधर्मधर्मिभावखण्डनमभिप्रयतः किं गवि गोत्वमुतागवि गोत्वमिति धर्मकीर्तिपुरस्कृतेन कापथेन संवरमाणस्य तव शून्योभिसन्धिः तथाहि न हि रूपवति रूपं

भिन्न है कि अभिन्न है ? प्रथम पक्ष में बहुमुखी अनवस्था भेदमाला हो जाने से तथा अन्तिम पक्ष माने तो वह भेद उन्हीं सब में लीयमान हो जाता है तब भेद की चर्चा ही नहीं रहती है। यद्यपि प्रतिभासमान जो भेद उसका निराकरण अशक्य है तथापि पूर्वोक्त दूषणगणग्रस्त होने से अशक्य निर्वचनक होता है।

समाधान—अत्रोच्यते, भेद भिन्न में रहता है अथवा अभिन्न में रहता है इस प्रकार से पूछने वाले आपको, सकल धर्म धर्मीभाव के खण्डन करने का अभिप्राय रखने वाले आपको, क्या गो में गोत्व रहता है अथवा गोभिन्न में गोत्व रहता है इस प्रकार को धर्म कीर्ति से पुरस्कृत कुमार्ग से अपने को छुपाने वाले आपको माध्यमिकाभिमत शून्यता पक्ष ही अभिप्रेत है ऐसा जान पड़ता है। अथवा धर्म धर्मी भाव के खण्डन करने का जो आपका अभिप्राय है सो शून्य अर्थात्

वर्तते नापि रूपे रूपं वर्तत आत्माश्रयात् नापि नीरूपे रूपं वर्तते विरोधात् किन्तु रूपवानित्यत्र यो विशेषस्तत्र विशेषं वर्तत इति कात्रापि कथन्ता कोयं विशेष्यः पृथिव्यप्तेजोन्यतमः। स विशेष्यो रूपवृत्तेः प्राक्कीदृगिति चेत्। जन्यरूपस्थले रूपप्राग-भाववानित्युत्तरम् अजन्यरूपस्थले तु रूपवृत्तिप्राक्कालो नास्त्येव

निरर्थक है युक्ति रहित है। तथाहि जैसे रूपवान् घट, इस स्थल में रूपवान् अर्थात् रूप के अधिकरण में रूप नहीं रहता है न वा रूप में रूप रहता है। यदि रूप में रूप की वृत्तिता मानेंगे तो आत्माश्रय होगा। न वा नीरूप (रूप-रहित में) रूप रहता है, विरोध होने से। क्या कभी रूप रहित वायु आकाशादि में रूप की वृत्तिता होती है? क्यों तो विरोध होने से। किन्तु रूपवान् इस स्थल में जो विशेष्य है घटादिक पदार्थ उसमें रूपात्मक विशेष रहता है। इस स्थिति में आपकी युक्ति निरर्थक है। रूपवान् इस स्थल में यह विशे-ष्य कौन? पृथिवी जल तेज में से अन्य तम में?

प्रश्न—वह विशेष्य रूप की वृत्तिता से पूर्व कैसा था? अर्थात् नीरूप था अथवा सरूप था?

उत्तर—जन्य रूपस्थल में रूप प्रागभाववान् था, यह उत्तर है। अर्थात् जब पटादिक उत्पन्न होता है उस समय में निर्गुण होते हुए भी जन्य रूपादिक का प्रागभाव वाला रहता है। और अजन्य (नित्य) रूप स्थल में रूप वृत्ति

क्व प्रश्नः । एवञ्च भेदो धर्मिणि निविशते नापि भिन्ने नापि भेदे न च भेदवृत्तेः प्राक्स धर्मी कीदृशः नास्त्येवेति ब्रूमः । यदैव हि धर्मी लब्धात्मकस्तदैव तत्र जातिरूपवैधर्म्यनामा भेदः समवेतो जातः सम्बन्धश्चेति मदुपगमात् । अन्योन्या-

---

प्राक् काल ही नहीं है । इसलिये नित्य रूप स्थल में तो प्रश्न ही नहीं होता है । इसी तरह से भेद भी धर्मी में रहता है । न तु भेद विशिष्टमें रहता है न वा भेद में भेद रहता है ।

प्रश्न—भेद की वृत्तिता से प्राक् काल में वह धर्मी कैसा था ? अर्थात् धर्मी में जब भेद बैठता है उससे पूर्व में धर्मी भेदवान् था अथवा अभेदवान् था ?

उत्तर— भेदवृत्तिता के पूर्व में धर्मी था ही नहीं । जिस समय में धर्मी लब्धात्मक होता है अर्थात् कारण-कलाप द्वारा उत्पन्न होता है उसी समय उस धर्मी में जात्यात्मक वैधर्म्य नामक जो भेद है सो धर्मी में समवेत होता है । क्योंकि पदार्थ उत्पन्न होता है और जाति से संबद्ध होता है ऐसा मेरा सिद्धान्त है । +

+ "जातः सम्बन्धश्च" यह जो नियम है उसका अभिप्राय यह है कि घटादिक पदार्थ उत्पन्न होता है तब निर्गुण निष्क्रिय होकर के उत्पन्न होता है और क्षण पर्यन्त निर्गुण तथा निष्क्रिय रहता है, क्योंकि घटीय रूपादिक के प्रति घट समवायिकारण होता है परन्तु कारण वही होता है जो अव्य-

भावस्वरूपभेदावपि तदैव न हि स तदानीमारभ्य तदात्मासी-त्पश्चात्तदन्य इति सम्भवतीति । भिन्नभावप्रतियोगिकोन्यो-न्याभावलक्षण भेद इति सत्यम् । न तु भेदप्रतियोगिनि पिशा-चादौ स्मृते स्तम्भेऽनुभूयमाने योग्यानुपलब्ध्या स्तम्भः पिशा-चो न भवति इत्यन्योन्याभावप्रतियोगिनः स्वा-

---

अन्योन्याभाव तथा स्वरूप भेद भी वैधर्म्यात्मक भेद के सदृश ही है । अर्थात् जिस समय में पदार्थ उत्पन्न होता है उसी समय में अन्योन्याभावात्मक भेद तथा स्वरूप भेद से भी युक्त होता है । वह पदार्थ उस समय के आरम्भ से तदात्मक था तदनन्तर वही तदन्य हो जाता है, ऐसा हो नही सकता है । भेद से इतर भाव प्रतियोगिक जो अन्योन्याभाव तत्स्वरूप ही भेद है । यद्यपि यह है न तु भेद का प्रतियोगी जो पिशाचादिक अतीन्द्रिय पदार्थ उसका स्मरण होने से तथा चक्षुरादिक द्वारा स्तम्भादिक का अनुभव होने के पीछे योग्यानुपलब्धि द्वारा स्तम्भ पिशाच नहीं है एतादृश अन्यो-न्याभाव होता है इसलिए अन्योन्याभाव अन्योन्याभाव-

---

वहित पूर्वक्षणवृत्ति हो । समकालिक पदार्थ द्वयमें जन्य जनक भाव नहीं होता है, सव्येतर विषाण की तरह । अतो निर्गुण भावी रूपादिक के प्रति पूर्ववर्ती होकर के कारण कहलाता है । अत्र उत्पत्तिकाल तथा गुणोत्पति काल में वह घट कैसे कहावेगा ? अतः उत्पत्ति तथा घटरूप से परिचित होने के लिए घटत्व जाति से संबद्ध उसी समय में होता है अत; उत्पत्तिक्षण तथा गुणोत्पत्ति पूर्वकाल में घट कहलाने से घट—घट में रूप उत्पन्न हुआ ऐसा व्य-वहार होता है । इस विषय में अधिक अन्यत्र देखिये ।

श्रथा धर्मतः भिद्यत इत्यत्रानुज्ञया वर्तितव्यम् । न चानवस्था तत्र मया स्वरूपभेदस्यैवोपगमात् । ननु स्वरूपं भेदो न सम्भवति अभेदे धर्मधर्मिभावाभावात् । न हि स एव तद्वान् तेनैव भवतीति चेत् । सत्यम् । ताद्रूप्येणाप्रतीयमानत्वे सति प्रतीयमानत्वं यत् धर्मिणः तदेव तस्मिन् तस्माद्विलक्षणं व्यवहारमनं-

---

प्रतियोगी से स्वाधिकरण (अनुयोगी) तथा स्वधर्मतः भिन्न होता है । इस विषय में जब यथोक्त अनुभव होता है तब किसी की आज्ञा का अनुवर्तन करना ऐसा कोई नियम नहीं है × अन्योन्याभाव में जब भेद रहे तो अनवस्था दोष होता है ऐसा प्रश्न नहीं करना । क्योंकि अन्योन्याभाव जो भेद है सो स्वरूप भेद है । ऐसा मेरा सिद्धान्त है ।

प्रश्न— अन्योन्याभाव का स्वरूप भेद नहीं हो सकता है । क्योंकि अभेद में तो धर्म-धर्मी भाव नहीं होता है । क्या कभी भी घट घट से घटवान् होता है । भेद स्व से भेदवान् कैसे होगा ?

उत्तर— ताद्रूप्येण अन्यदीयरूप से अप्रतीयमान होकर के धर्मी की जो प्रतीयमानता होती है, यही एतादृशप्रतीय-मानत्व है । वही उसमें भेदादि से विलक्षण व्यवहार का

× यह पक्ति कुछ त्रुटित है अतः इसके अर्थ के लिए टीकाकार ने यथा साध्य श्रम किया है फिर भी विद्वान इस पर स्वयं विचार करने का श्रम करें ।

यतीति। न हि सम्भवति व्यवहीर्षुणा प्रतीयमानोपि धर्मी न व्यवह्रियते। नापि च सम्भवति अन्यतदात्मतया अप्रतीयमानोऽन्यतदात्मतयैव व्यवह्रियते तस्मात्ताद्रूप्येणाप्रतीतौ धर्मिणः प्रतीतिर्भवन्ती तद्विलक्षणतयैव धर्मिणि व्यवहारयतीति स एव धर्मी तादृश्या बुद्ध्यालिङ्ग्यमानः स्वस्मिन् नेतरविलक्षणव्यवहारं जनयन् भेदकार्यकारितया भेद इत्युच्यते। अत एव कर्मव्युत्पत्त्या स्वस्वरूपं करणव्युत्पत्त्या वैधर्म्यम् ईषद्व्युत्पत्त्यान्योन्याभावं भेदं वर्द्धमानोपाध्याया आहुः। अन्याय्यश्चानेकार्थत्वमिति जैमिनिसूत्रस्वरसेनात्र नानार्थत्वे निरस्ते लाघवा-

---

उत्पादन करता है। क्या ऐसा होता है कि व्यवहर्त्ता से धर्मी प्रतीयमान धर्मी हो और व्यवह्रियमाण न हो ? न वा ऐसा भी होता है कि अन्य तदात्मतया अप्रतीयमान धर्मी अन्यतदात्मतया व्यवह्रियमाण हो। इसलिये अन्यताद्रूप्य से अप्रतीयमान धर्मी की जो प्रतीति होती है सो अन्यविलक्षण रूप से धर्मी में व्यवहार को करती है। इसलिये वही धर्मी तादृश पूर्वोक्त प्रतीति से युक्त होता हुआ स्व में स्वेतर से विलक्षण व्यवहार का सम्पादन करने से भेद का जो कार्य है उसको करता हुआ धर्मी भेद कहलाता है। अतएव कर्मव्युत्पत्ति से स्वरूप को, करण व्युत्पत्ति से वैधर्म्य को, और ईषदर्थकता की व्युत्पत्ति से अन्योन्याभाव को भेद कहा है। वर्द्धमान उपाध्याय ने कहा है। अनेकार्थता अन्याय्य है इस जैमिनि सूत्र के स्वर से यहाँ प्रकृत विषय में नानार्थक-

दभावार्थत्वस्यैव युक्तत्वे तस्य व्युत्पत्तिमात्रप्रदर्शनपरत्वात् ।
परस्परस्पर्द्धया यत्र नानार्थाधिगतिस्तस्यैव नानार्थत्वात् भावार्था-
धीनियतत्वात् परद्वयप्रतीतेः वैधर्म्ये स्वरूपान्योन्याभावो द्रव्या-
दिषु त्रयमिति । किञ्च वेदान्तिनोपि मद्वत्त्रीनपि भेदाननुध्य-
माना धर्मकीर्तनेन किं गवि गोत्वमित्यादिना भ्रमितान्तःकरणा
भेदान् व्यवस्थापयितुमशक्नुवन् अनिर्वचनतानगरं प्रविश्य

ता का निरास होने से लाघवात् अभावार्थकत्व ही युक्त है ।
कर्मकरणादिक जो अर्थ है सो केवल व्युत्पत्ति मात्र का प्रद-
र्शन परक है, न तु शक्यतावच्छेदक प्रदर्शन परक है । जिस
स्थल में परस्पर विरोध रूप से नानार्थकत्व ज्ञान होता है ।
उसी स्थल में पदों को नानार्थक मानते हैं
जैसे हरिप्रभृतिक शब्दों में न कि घट वामादि पद में ।
ननार्थकता भावार्थज्ञानाधीन है न तु अभाव स्थल में
क्योंकि नानार्थक स्थल में भिन्न भिन्न अर्थद्वय प्रतीयमान
होता है । वैधर्म्य भेद में स्वरूप भेद तथा अन्योन्याभावा-
त्मक भेद रहता है और द्रव्य गुण कर्म जो तीनों प्रकार का
भेद रहता है । और भी देखिए जैसे मैं तीन भेद मानता हूं
उसी तरह से वेदान्ती भी तीनों भेदों को मानते हुए भी
'किं गवि गोत्वमुतागवि गोत्वम्' इत्यादि धर्म कीर्ति के कथन
से भ्रमित होकर के स्वयं भेद की व्यवस्था करने में अस-
मर्थ अनिर्वचनीयता नगर में प्रवेश करके सुख पूर्वक सोते

सुखं शेरते । नैयायिकास्तु तर्ककान्तारसञ्चारधुरीणा उक्तिप्रत्युक्तिप्रवीणास्त्र्यक्षकणभक्षपक्षिण उपनिषदविरुद्धपञ्चतर्कीकुण्डमतय एकत्वविरुद्धमपि शास्त्रितमर्थं करतलानलकरतलमुपन्यस्यन्तः कीर्तिप्रभृतिव्याहृतीस्तृणवदस्यन्तःस्वमतमुन्नतं कुर्वते अत एवान्यत्र टीकाकृताप्युक्तं न हि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते भिक्षवः प्रचरन्तीति स्थाल्यो वा नाधिश्रियन्त इति । तत्र चानिष्टनिर्योजनेन स्वेष्टं रक्षणीयमिति तेषां भाव उन्नीयत इत्यलमतिविस्तरेणेति ॥

हैं। नैयायिक तो तर्क रूप बन में विहार करने के सामर्थ्य से युक्त होकर के तथा प्रश्नोत्तर में प्रवीण गौतम कणाद पक्षपाती उपनिषदर्थाविरुद्ध तर्क से विशुद्ध मतिवाले एकत्व विरुद्ध शास्त्र सिद्ध पदार्थ को हस्तामलकवत् प्रतिपादन करते हुए धर्मकीर्त्यादि मत का खण्डन करके स्वकीयमत को विस्तृत करते हैं। अत एव टीकाकार ने कहा है कि क्या कृषि को विनष्ट करने वाला मृगादिक है ? एतावता कर्षक लोग कृषी नहींकरते हैं ? भिक्षुक है, क्या इसलिए पाचक लोग पाक नहीं करतेहैं ? परन्तु इस स्थिति में अनिष्ट के निराकरण द्वारा स्वकीय इष्ट का रक्षण करना चाहिए ऐसा प्राचीनों का भाव (अभिप्राय) ज्ञात होता है। अब इसके आगे इस विषय पर अधिक विचार उपयुक्त नहीं है।

नन्वेकधर्म्यसमावेश इति वैधर्म्यलक्षणमुक्तम् । तदयुक्तम् प्रमाणत्वप्रमेयत्वयोरेकधर्मिसमाविष्टयोरपि परस्परवैधर्म्यरूपत्वात् । प्रमाकरणत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाविषयत्वं च प्रमेयत्वमिति । अथैवमपि एतावुपाधी भिन्नावित्युक्तं भवतीति न तु

प्रश्न—एक धर्मी में अर्थात् एकाधिकरण में समावेश न हो, यही वैधर्म्य का लक्षण कहागया है। परन्तु यह वैधर्म्य का लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणत्व तथा प्रमेयत्व एक धर्मी में समाविष्ट भी हैं परन्तु वह दोनों वैधर्म्य हैं। आपके मत मैं वैधर्म्य नहीं होगा क्योंकि एक धर्मी में असमावेश नहीं है। प्रमा के प्रति करणत्व प्रमाणत्व है और प्रमा के प्रति विषयत्व प्रमेयत्व है। नहीं कहो कि ऐसा होने पर भी यह दोनो उपाधी प्रमाणत्व प्रमेयत्व भिन्न भिन्न है, सो भी ठीक नहीं है ऐसा होने परभी (भिन्न भिन्न होने पर भो) विरुद्ध नहीं है, एक धर्मी मैं समावेश होने से । अन्यथा घटत्व कंबुग्रीवावत्व भी परस्पर विरुद्ध उपाधि द्वय क्यों नहीं होगा। इसलिये कहीं कहीं तो अर्थ की एकता होने पर भी अक्षर मात्र का भेद है जैसे कारकत्व और कारणत्व में। यहां अर्थ तो दोनों का एक ही है कारकत्व कारणत्व में अक्षर मात्र भेद कृत भेद है। कहीं कहीं तो अविरोध होने पर भी भेद होता है, जैसे समसमावेशवान् गन्धवत्व पृथिवीत्व में जितने ही प्रदेश

विरुद्धौ एकधर्मिसमावेशादेव अन्यथा घटत्वकम्बुग्रीवावत्त्वेऽपि परस्परविरुद्धे किं न स्तां तस्मात् क्वचिदर्थैक्येऽप्यक्षरमात्रभेदो यथा कारकत्वं व्यापारवत्कारणत्वं चेति क्वचिद्विरोधेऽपि भेदः यथा गन्धवत्त्वपृथिवीत्वादीनां समसमावेशवतां क्वचित्तु समावेशे व्याप्यस्य स्वव्यापकधर्म्यधिष्ठितस्वानधिष्ठितधर्मिभेदकत्वेन ततो वैधर्म्यरूपत्वं यथा पृथिवीत्वस्य द्रव्यत्ववदवाद्यवृत्तित्वेन ततो भेदकतया तद्वैधर्म्यत्वं तथेह प्रमेयत्वाक्रान्तहेत्वाभासाद्यवृत्तितया प्रमाणत्वमस्तु हेत्वाभासादिभ्यो वैधर्म्यं

में गन्धवत्व है उतने ही प्रदेश में पृथिवीत्व भी रहता है। कहीं कहीं तो समावेश रहने पर भी व्याप्य जो धूम उसको धूम व्यापक वह्नि का धर्मी जो पर्वतादिक तद्वृति होकर के धूम से अनधिष्ठित अयोगोलकादि धर्मी का भेदक होने से वह्न्यादि से वैधर्म्य रूपत्व होता है। जैसे पृथिवीत्व को द्रव्यत्वावन् जो जलादिक तदवृति होने से जलादिक से भेदक होने से जलादि वैधर्म्य रूपत्व होता है उसी प्रकार से यहां प्रमेयत्व धर्म से आक्रान्त हेत्वाभासादिक में अवृत्ति होकर के प्रमाणत्व हो। प्रमेयत्व तो ऐसा हो नहीं सकता है क्योंकि प्रमेयत्व को केवलान्वयी होने से सर्वसम्बन्धित्व है। इसलिये प्रमेयत्व किसी का वैधर्म्य नहीं होता। प्रमाणत्व हेत्वाभासादिक अप्रमाण में अवृत्ति होने से वैधर्म्य रूप होता है घटत्व पटत्वादिक तो परस्पर वैधर्म्य

प्रमेयत्वं तु न स्यात् केवलान्वयित्वेन सर्वीयत्वादितिघटपटत्वादि तु परस्परवैधर्म्यमिति सुप्रसिद्धमेवेति । एवं बाधिताभेदसाक्षाद्धीरर्थकारणिकेत्यतोऽपि भेदसिद्धिः ॥

ननु किमिदं कारणत्वं न तावत्प्राक्सत्त्वम् चिरध्वस्तस्यापि कारणत्वापत्तेः । ननु स्वाङ्गस्याऽव्यवधायकव्यापारेण व्यापारी न व्यवधीयत इति चेत् । न व्यापारानिरुक्तेः तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकस्तद्व्यापार इति चेत् । कुम्भकारस्यापि स्वपितृव्यापारतापत्तेः तज्जन्यकुम्भस्तत्पितृजन्यो न भवतीति

रूप है एसा प्रसिद्ध है । एवं भेद विषयक जो प्रत्यक्ष ज्ञान सो भेद रूप अर्थ से जायमान है इसलिये भी भेद रूप अर्थ की सिद्धि होती है ।

भेद का प्रत्यक्ष भेदकारणक है ऐसा पूर्व में कहा है । इस प्रसंग में कारणत्व की चर्चा होने से कारणत्वविषयक प्रश्न होता है ननु किमिदं कारणत्वमित्यादि ।

प्रश्न—यह कारणत्व क्या वस्तु है ? यदि कहो हार-कार्य के पूर्वकाल में जिसकी सत्ता है सो कारण है, तब कि चिर विनष्ट जो कपालादिक उनको भी घट के प्रति कारणोत्व हो जायगा । नहीं कहो कि अव्यवहितपूर्ववर्त्ती को कारण कहते हैं तब तो व्यवहित पूर्ववर्ती जो याग है सो स्वर्ग रूप कार्य में कारण नहीं होगा । नहीं कहो कि अपूर्व रूप व्यापार को लेकर के याग को भी अव्यवहित पूर्व वृत्तित है ऐसा कहने से तो याग अपूर्व से ही व्यवहित हो जाता है । अवान्तर प्रश्न स्व का अंग अर्थात स्व से जायमान अतएव अव्यवधायक जो व्यापार उस व्यापार से व्यापारी अर्थात् व्यापारवान् यागादिक व्यवहित नहीं होता है ।

उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यापार का

चेत् । न स्वर्गे यागवत्तस्यापि तज्जन्यजनकत्वाविरोधात् व्यवहितयोः कार्यकारणभावे गृहीते तन्निर्वाहाय यत्र मध्यम आक्षिप्यते तत्र स व्यापारो यथा यागस्वर्गयोः, यत्र तु न तथा

निर्वचन नहीं हो सकता है। नहीं कहो कि तज्जन्य होकर के तज्जन्य का जो जनक हो उसको व्यापार कहते हैं। (जैसे कि घटादिक कार्य में दण्ड का व्यापार चक्रभ्रमी है वह चक्र-भ्रमि दण्डजन्य है तथा दण्डजन्य जो घट उसका जनक है। इसलिये तज्जन्य हो तथा तज्जन्य का जनक हो, यह जो व्यापार का लक्षण है उसका समन्वय होता है। उत्तर—ऐसा व्यापार का लक्षण कहो तब ता कुम्भकार भी स्वपिता का व्यापार हो जायगा। कुम्भ कार का पुत्र वृद्धकुम्भ कार से जन्य है तथा घट का जनक है अतः कुम्भकारपुत्र में व्यापारत्व हो जायगा। नहीं कहो कि कुम्भकार से जन्य जो घट है सो तत्पिता से जायमान तो नहीं होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वर्ग में याग की तरह कुम्भकार को भी तत्पितृजन्य घट में जन-कत्व होने में कोई विरोध नहीं है। जिस स्थल में व्यवहित दो पदार्थों में प्रमाणान्तर से कार्यकारणभावगृ-हीत है, उस कार्यकारण भाव का निर्वाह करने के लिए जहां मध्यमका आक्षेप होता है उस स्थल में वह व्यापार कहलाता है। जैसे याग और स्वर्ग में। (स्वर्गकामो यजेत इस वेद

तत्र प्रथमस्य मध्यमेऽन्यथासिद्धिर्यथा कुम्भकारपितुः कुम्भकारेणेति चेत् तर्हि अनन्यथासिद्धपूर्ववर्तित्वं तदित्यायाति तथा च भक्षितं विनष्टबीजमंकुरे कारणं न स्यात् तदङ्कुर-पूर्ववर्तित्वाभावात् । अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिजातीयत्वं तदिति चेत् । तर्हि रासभोप्यङ्कुरकारणं स्यात् द्रव्यत्वेन तस्यापि बीजसजातीयत्वात् । येन रूपेणाङ्कुरवत्ताऽन्विष्यते

से जब स्वर्ग के प्रति याग को कारणत्व गृहीत हो जाता है । तब याग क्षण प्रध्वंसी है वह स्वर्गाव्यवहित पूर्ववर्ती नहीं है तब कारणत्व कैसे होता है ? इस विचिकित्सा के निराकरण करने तथा कारणता की याग में स्थिरता करने के लिये मध्यवर्ती स्वर्ग में पूर्ववृत्तिता के लिए अपूर्व को मानते हैं व्यापार । उसी व्यापार को लेकर के याग स्वर्ग का कारण होता है । जिस स्थल में यह स्थिति नहीं है उस स्थल में प्रथम जो है सो मध्यम के कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध हो जाता है । जैसे कुम्भकार का पिता पुत्रजन्यघट के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है ।

समाधान--जब ऐसा कहते हैं तब तो अनन्यथासिद्ध पूर्ववर्ती हो सो कारण है, ऐसा कारण का लक्षण निष्पन्न होता है । तब भक्षित तथा विनष्ट जो बीज है सो अंकुर में कारण नहीं होगा । क्योंकि उस बीज को अंकुरवृत्तित्व का अभाव है । नहीं कहो कि अनन्यथासिद्ध नियतपूर्व-वृत्तिजातीयता ही कारण का लक्षण है तब तो रासभ भी अंकुर का कारण हो जायगा । क्योंकि द्रव्यत्व रूप से रासभ भी बीज का सजातीय है । नहीं कहो कि जिस रूप को लेकर के अंकुरवत्ता का

तेन रूपेण साजात्यं विवक्षितमिति चेत्। कारणतावच्छेदक-रूपेण साजात्यकारणत्वविवक्षायामात्माश्रयापत्तेः। तर्हि बीज-त्वमपि न तथा न ह्यङ्कुरवत्ता बीजत्वेनावच्छिद्यते भक्षितवि-नष्टे बीजे अङ्कुरासम्बन्धिनि गतत्वात्। अङ्कुरवत्ता येन रूपेणावच्छिद्यते तेन रूपेण साजात्यं विवक्षितमिति चेत्। न। कारणतावच्छेदकरूपेण साजात्यकारणत्वविवक्षायामात्माश्रया-पत्तेः॥

बीज में अन्वय होता है तेन रूपेण साजात्य प्रकृत में विवक्षित है। तब तो कारणतावच्छेद बीजत्वादि रूप से कारणत्व की विवक्षा करेंगे तो आत्माश्रय दोष हो जायगा। तब तो अंकुर के प्रति बीज को कारणत्व नहीं होगा क्योंकि बीज में अंकुरवत्ता का अन्वय बीजत्वरूप से नहीं है, जिसके लिए अंकुराजनक भक्षित विनष्ट बीज में भी बीजत्व की वृत्तिता होने से अंकुरजनक-तावच्छेदक अतिप्रसक्त है। नहीं कहो कि अंकुरवत्ता (अंकुर जनकता) जिस रूप से अवच्छिन्न होती है तद्रूप से साजात्य विवक्षित है। ऐसा कहो तब तो कारणताव-च्छेदक रूप से साजात्य की विवक्षा करके कारणता का निर्वाचन करते हैं। तब तो आत्माश्रय अनिवार्य हो जाता है। अनन्यथासिद्धि शब्द का अर्थ है अन्यथासिद्धि का अभाव। यह अन्यथासिद्धि दुर्वच है, ऐसा खण्डन ग्रन्थ है-सो

अनन्यथासिद्धिस्त्वन्यथासिद्धिविरहः सा च दुर्वचेति खण्डनम् । तन्न । अनन्यथासिद्धञ्च तान्नियतपूर्ववर्तित्वञ्चेति कार्योपहितं कारणशरीरं तज्जातीयं सदेव बीजत्वाद्यवच्छिन्नं व्यक्त्यन्तरञ्चेति । अन्यथासिद्धमपि दण्डत्वादिकं घटादिपूर्वसमये नियमतोऽस्त्येवेति तद्वारणायानन्यथासिद्धं चेति । अन्यथासिद्धिस्त्रेधा येन सहैव यस्यान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तस्य तेन सा यथा घटं प्रति दण्डेन दण्डरूपस्य यागापूर्वयोस्तन्नैवं तत्र हि यागस्य पूर्ववर्तित्वे ऽवगतेऽपूर्वस्य तथात्वमवगम्यते । न त्ववगम्यमाने एवं दण्डेन दण्डत्वमप्यन्यथासिद्धं तस्या-

---

ठीक नहीं है क्योंकि अन्यथा सिद्धत्व तथा कार्यनियतपूर्ववृत्तित्व ये दोनों ही कार्योपहित (कार्यघटित) कारणशरीर है, ो तज्जातोय होते हुए हो बीजत्वावच्छिन्न है तथा व्यक्तयन्तर है । दण्डत्वादिक धर्म घटादि कार्य के पूर्व काल में नियमनः रहते हैं तो उसमें कारणतालक्षण की अतिव्याप्ति होती है । इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए अनन्यथासिद्धत्व विशेषण कारणतालक्षण ने दिया गया है । अन्यथासिद्धि के तीन भेद होते हैं । प्रथम अन्यथासिद्धि है, जिसके साथ ही जिसका अन्वयव्यतिरेक गृहीत होता हैं. स्वातन्त्र्येण अन्वय व्यतिरेक न हो वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है । जैसे घटकार्य के प्रति दण्ड का नील पीतादि रूप । रूप रह करके घट होता है रूप न हरमें

व्यन्वयव्यतिरेकौ दण्डेनैव सह गृह्येते तथा च स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकयोः कारणताबीजस्याभावात् न दण्डरूपं दण्डत्वं वा

से घट नहीं होता है—इस प्रकार से घट के प्रति रूप का अन्वयव्यतिरेक नहीं घटता है किन्तु दण्डरूप रह करके घट होता है और दण्ड रूप के न रहने से घट नहीं होता है, इस प्रकार दण्डसहित रूपादिक में अन्वय व्यतिरेक होने से दण्डादिक का रूप घटकार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। तब तो याग अपूर्व में भी अपूर्व कारण बनें, याग अन्यथा सिद्ध बनें, इस आशंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं—यागापूर्वयोरित्यादि-याग तथा अपूर्व में तो ऐसा नहीं है। याग अपूर्व स्थल में तो याग में स्वर्गाव्यवहितपूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने के पीछे ही अपूर्व में स्वर्गकारणत्व अवगत होता है न तु अवगम के अनन्तर कारणत्व गृहीत है। एवं दण्डत्व का जो घट के साथ अन्वय व्यतिरेक गृहीत होता है सो स्वातंत्र्येण नहीं होता, किन्तु दंड के साथ साथ ही दण्डत्व का अन्वय व्यतिरेक होता है। अतः दण्ड के साथ दण्डत्व भी अन्यथा सिद्ध है। दण्डत्व का भी अन्वय व्यतिरेक दण्ड के साथ ही गृहीत होता है। ऐसा हुआ तब कारणता का बोज जो स्वतन्त्र अन्वय व्यतिरेक उसका अभाव होने से दण्ड का रूप अथवा दण्डत्व घट का कारण नहीं है किन्तु प्रथम अन्यथासिद्धि के अन्तर्गत है।

घटस्य कारणमुद्भूतरूपन्तु विषयेऽनुगततया प्रत्यक्षावच्छेदकमपि सत् स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकित्वात् घटादिप्रत्यक्षं प्रति कारणमेवेत्युभयरूपं तथा अन्यं प्रति पूर्ववर्तित्वे ज्ञात एव यत् प्रति यस्य पूर्ववर्तित्वं ज्ञायते यथा शब्दं प्रति पूर्वर्तित्वे ज्ञात एव घटादिकं प्रत्याकाशस्य तथात्वं ज्ञायत इति शब्देन घटादिकं

अद्भुत रूप तो विषय में अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषयमात्र में अनुगत सर्वत्र वृत्ति होने से यद्यपि प्रत्यक्ष का अवच्छेदक है। तथा स्वातंत्र्येण अन्वयव्यतिरेकशाली होने से घटादि प्रत्यक्ष के प्रति कारण होता हैं। (कारणता का ग्राहक स्वातंत्र्येग अन्वय व्यतिरेक सो प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत रूप को है क्योंकि उद्भूत रूप रहने से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और उद्भूत रूप नहीं रहने से चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। यद्यपि प्रमेयत्व के समान उद्भूत स्वकीय विषयमात्रानुगत होने से गौण होता है। इस लिए उसमें अन्यथासिद्धि की शंका होतो है तथापि कारणता ग्राहक स्वतंत्रान्वयव्यतिरेकशाली होने से प्रत्यक्ष के प्रति कारण ही बनता है।

अब तृतीय अन्यथासिद्ध के स्वरूप को बताते हैं, तथा अन्यं प्रतीत्यादि-अन्य के प्रति पूर्वबृत्तिता कारणता का ज्ञान होने के पीछे ही जिसको जिसके प्रति पूर्ववृत्तिता की कारणता का ज्ञान होवै वह उस कार्य के प्रति अन्यथा

प्रति व्योमान्यथासिद्धं धर्मिग्राहकमानेन शब्दकारणतयैव तत्सिद्धौ व्योम्नस्तदन्यकारणत्वकल्पनायां मानाभावात् । अत एव पुत्रं प्रति पूर्ववर्तित्वे ज्ञाते पितुस्तज्जन्यघटादिकं प्रति पूर्ववर्तिता ज्ञायत इति पुत्रस्य कार्ये पितान्यथासिद्ध कारणताग्राहकस्य स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकस्याभावात् । दण्डसंयोगभ्रामणयोस्तु नैवं तयोर्युगपदेव पूर्वभावित्वग्रहात् दण्डे भग्नेपि सतो भ्रामणस्य पूर्वभावित्वग्रहान्न दण्डरूपवदन्यथासिद्धिः ।

सिद्ध होता है, जैसे घट के प्रति आकाश अन्यथा सिद्ध है, तथाहि शब्द का जो समवायिकारण है उसका नाम है आकाश । ऐसा हुआ तब शब्द के प्रति आकाश में पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने के पीछे ही सर्वव्यापकतया घट के प्रति पूर्ववृत्तित्व आकाश में ज्ञात होता है। इसलिए आकाश शब्द द्वारा घट के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है । धर्मी जो आकाश तद्ग्राहक जो अनुमान प्रमाण उस प्रमाण के द्वारा शब्दकारणतारूपेण आकाश की सिद्धि होती है। तब आकाश को शब्दान्य के प्रति कारणत्व कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है । अत एव पुत्र के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने के पीछे ही पिता (वृद्ध कुम्भकार) को पुत्रजन्यघटादि कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होता है। इस लिए पुत्रजन्यघटादिकार्य में पिता अन्यथा सिद्ध होता है । क्योंकि पुत्रजन्यकार्य के प्रति पिता को कारणता-ग्राहक

न च यागस्यापि स्वर्गं प्रति पूर्ववर्तित्वे ज्ञात एवापूर्वं तत्त्वं ज्ञायत इत्यपूर्वं प्रति यागोप्यन्यथासिद्धोस्त्विति वाच्यम्। अत्रैवं रूपत्वेपि अपूर्वकारणताग्राहिकायाः प्रतीतस्वर्गसाधनतानुपपत्तेः सत्त्वात्। तथा च यद्व्यवहितयोः शब्दादिना कार्यकारणभावे गृहीते तन्निर्वाहाय मध्यमः कल्प्यते तत्र नान्यथा-

---

स्वतंत्र अन्वय व्यतिरेक का अभाव है। दण्डसंयोग तथा चक्रभ्रमि में अन्यथा सिद्धत्व नहीं है। क्योंकि दण्डसंयोग तथा चक्रभ्रमण में एक काल में ही पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होता है। दण्ड के बिनाश के पीछे भी चक्रभ्रमण में पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने से दण्डत्व दण्डरूप की तरह चक्रभ्रमण अन्यथा सिद्ध नहीं होता है।

प्रश्न—यागको भी स्वर्ग के प्रति पूववृत्तिता का ज्ञान होने के पश्चात् ही अपूर्व के प्रति पूर्ववृत्तित्व ज्ञान होता है। इसलिए अपूर्व के प्रति याग भो अन्यथा सिद्ध हो।

उत्तर-प्रकृत में एवं रूप होने पर भो अपूर्व में कारणताग्राहक प्रतीत जा स्वर्गसाधनता उसकी जो अनुपपत्ति सो विद्यमान है। ऐसा होने से व्यवहित जो याग तथा स्वर्ग इन दोनों में 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शब्द द्वारा कार्यकारण भाव के ज्ञान होने के पीछे स्वर्ग में यागकारणता का निर्वाह करने के लिए मध्यम अर्थात् उभयान्तरगत अपूर्व की कल्पना की जाती है। अतः प्रकृत में अन्यथा

सिद्धिगन्धोपि । न हि प्रथमस्य मध्यमं प्रत्यकारणत्वे तद्द्वारा चरमं प्रति कारणत्वं निर्वहतीति तथा चान्यत्र क्लृप्तनियतपूर्व-वर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतत्वं यथा गन्धवति गन्धानु-त्पादात् गन्धं प्रति गन्धप्रागभावस्य पूर्ववर्तित्वकल्पना तत एव पाकजस्थलेपि गन्धोदयसम्भवे रसादिप्रागभावानां त्रयाणामपि गन्धं प्रति कारणत्वं न कल्प्यते गौरवादित्यन्यथासिद्धत्वम् । एवञ्च सर्वत्र कारणताग्राहकाभावो ? मूलमन्यथासिद्धेरिति

सिद्धत्व की गध भी नहीं है। प्रथम को मध्यम के प्रति यदि कारणता न हो तो तद्द्वारा चरम के प्रति कारणता का निर्वाह नहीं हो सकता है। ऐसा हुआ तब अवश्य क्लृप्त नियत पूर्ववृत्ति से जब कार्य की सम्भावना है तब तत्सहभूत दण्डत्व दण्डरूप गगन कुलालपिता रासभ ये सभी अन्यथा सिद्ध हैं। जैसे गन्धवान् जिस अधिकरण में गन्ध विद्यमान है तो उस अधिकरण में गन्ध की उत्पत्ति देखने में नहीं आती है, इसलिए गन्ध के प्रति तदीय प्राग-भाव में पूर्ववृत्तित्व अर्थात् कारणत्व की कल्पना की जाती है। अत एव पाकज गंधादिक स्थल में गंध के प्रागभाव से ही गन्धोत्पत्ति के सम्भव होने से गौरवात् रसादिप्रागभाव को कारणता नहीं मानते हैं किन्तु रसरूपस्पर्शप्रागभाव गन्धोत्पत्ति में अन्यथा सिद्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि कारणता ग्राहक जो स्वतन्त्र अन्वय व्यतिरेक तदभाव

अन्यथा सिद्धि का मूल है,ऐसा जानना।(१)अन्यथा सिद्धि के विषय में आचार्यों का भिन्न भिन्न मत हैं। कोई तो अन्यथा सिद्धि तोन मानते है जैसे कि प्रकृत प्रकरण में प्रतिपादन हुआ हैं, विश्वनाथभट्टाचार्य ने व्योमशिवाचार्य के मत का अनुसरण करते हुए पांच अन्यथा सिद्धि मानो हैं। कोई कोई ने तो एक हो अन्यथा सिद्धि को माना है। अवश्य-क्लृप्तनियतपूर्ववृत्ति से जब कार्य की संभावना है तब तदतिरिक्त सब अन्यथा सिद्ध है—ऐसा लक्षण माना है। एतादृश अन्यथासिद्धि से रहित होकर के जो कार्य के नियतपूर्व वृत्ति हो उसका नाम है कारण। कारण का यह परिष्कृत लक्षण होता है।(२)यह कारण तीन प्रकारका होता है–समवायि कारण उसको कहते हैं जिसमें समवाय सम्बन्ध से संबद्ध हो करके कार्य उत्पन्न हो,जैसे घट के प्रति कपाल। समवायिकारण द्रव्य ही होगा तदन्य पदार्थ समवायिकारण नहीं हो सकता। समवायिकारण में रह करके जो कार्य का जनक होता है उसका नाम है असमवायिकारण जैसे घट के प्रति कपालद्वय का संयोग असमवायिकारण है। असमवायिकारण गुण कर्म व्यतिरिक्त पदार्थ नहीं होता है। यह दो प्रकार का है। कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति से तथा कारणैकार्थप्रत्यासत्तिसे। प्रथम काउदाहरण कपालसंयोगहै,द्वितीय का उदाहरण घटरूप के प्रति कपाल का रूप होता है।

द्रष्टव्यम् । एतावदन्यथासिद्धिरहितं सत् यत्पूर्ववर्ति भवति तत् कारणम् । तत्र प्रागभावावच्छिन्नस्तु समयः पूर्वपदार्थः तत्र प्रतियोग्यन्यूनानतिरिक्तकालीनावधिकयावत्परत्वाश्रयसमान-कालीनः कादाचित्कोऽभावः प्रागभावः जन्यगुणकर्मणोरपि प्रागभावः सम्भवति स च न प्रतियोग्यवधिकपरत्वाश्रयसमान-कालः तत्प्रतियोगिनाममूर्तत्वेन परत्वोपाधित्वासम्भवादतःप्रति-

---

इन दोनों कारणों से भिन्न जो कारण सो निमित्तकारण है । जैसे घट के प्रति दण्डादिक ।

उसमें प्रागभाव से युक्त जो काल उसका नाम होता है पूर्व पदार्थ (जैसे घटका पूर्व समय वह कहलावेगा जिस काल में घटका प्रागभाव रहता है, ऐसा समय वह होगा जिसमें दण्डादि का समवधान हो और घट उत्पन्न नहीं हुआ हो) प्रतियोगी जो घटादि उससे अन्यून तथा अनतिरिक्तकालीनावधिक परत्वाश्रय के समान कालिक जो कादाचित्क अभाव उसी का नाम प्रागभाव होता है । जन्य जो गुण कर्म उसका भी प्रागभाव सम्भवित है परन्तु वह प्रतियोग्यवधिकपरत्वाश्रय समान कालिक नहीं है, क्योंकि उस प्रागभाव का जो प्रतियोगी है सो अमूर्त है और अमूर्त अर्थात् शब्दादिक में परत्वो-पाधित्व असम्भवित है । परत्व है गुण, सो गुण कर्म में नहीं रहता है । अतः प्रतियोगी तथा तद्भिन्न जो तत्का-

योगि च तद्भिन्नञ्च तत्कालीनं द्वयमपीदृशं भवति। तत्र गुणकर्मणोः प्रतियोगिभिन्नमन्यत्र तु प्रतियोग्येव ग्राह्यम् एतादृशं प्रतियोगिन्यूनकालीनमपि तदधिकपरत्वाश्रयस्य च न समानकालीनो भवति घटादिप्रागभावस्तस्य घटाद्युत्पत्त्या प्रागेव नष्टत्वादतोऽन्यूनेति । एवञ्च प्रतियोग्युत्पत्तिक्षणोत्पत्तिक इत्यर्थो विवक्षित एतावत एवार्थस्य प्रागभावनिरूपणे उपयोगः शेषन्तु सम्पातायातमत एव समानकालीनपदार्थनिरूप्ययावत्परत्वाश्रयतुल्यकाल इति प्राञ्चोपि व्याचक्रुः । एवञ्च

लिक वस्तु सो दोनों ऐसा होता है। उसमें गुणकर्म स्थल में प्रतियोगिभिन्न तथा अन्यत्र द्रव्यादिक में प्रतियोगी का ही ग्रहण होता है. एतादृश प्रतियोगी के न्यूनकालिक भी तदधिक परत्वाश्रय का समान कालिक घटादि प्रागभाव नहीं होता है, क्योंकि घटादि के उत्पन्न होने पर घटप्रागभाव विनष्ट हो जाता है इसलिए अन्यूनत्व विशेषण दिया गया है। ऐसा हुआ तब प्रतियोगी के उत्पत्ति क्षण में उत्पत्ति है जिसकी यह अर्थ विवक्षित होता है। इतना ही अर्थ प्रागभाव के निरूपण में उपयोगी होता है। और इससे अधिक है सो संपातायात है। अत एव समानकालिक पदार्थ निरूप्य जो यावत्परत्वाश्रय उसके तुल्य कालवाला अभाव प्रभागभाव है। ऐसा लक्षण प्रागभाव का प्राचीन ने भी कहा है।

प्रतियोगिसमानकालोत्पत्तिकावधिकपरत्वाश्रयो यत्र प्रतियो-गिध्वंसानन्तरमप्यनुवर्तते तत्र तु ध्वंसस्यापि प्रतियोगि-समानकालावधिकपरत्वाश्रयसमानकालत्वमस्तीत्यतिव्याप्तिरतो यावदिति परत्वाश्रयविशेषणं ध्वंसस्तु नैवं पूर्वनष्टैः प्रतियोगि-परैरसमानकालीनत्वात् । अत्र यावदिति यदि परत्वविशेषणं तदासम्भवः न हि यावन्ति तदधिकानि परत्वानि कारणात्मक आश्रयः सम्भवति । अथाश्रयविशेषणं तदानन्वयः परत्वपदेन

ऐसा हुआ तब प्रतियोगी समान काल में उत्पत्ति है जिसको तदवधिकपरत्वाश्रय जहां प्रतियोगोध्वंस के पीछे तक भी रहता है। उस स्थल में ध्वंस को भी प्रतियोगीसमान–कालावधिकपरत्वाश्रयसमानकालत्व होने से ध्वंस में प्रागभाव–लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। इसलिए याव-त्परत्वाश्रय का विशेषण दिया गया है। ध्वंस तो यथोक्त लक्षण युक्त नहीं होता है क्योंकि पूर्वविनष्ट प्रतियोगी से असमानकालिक होने से। यहां यदि यावत् यह परत्व का विशेषण दिया जाय तब तो असम्भव होगा। क्योंकि जितना तदवधिकपरत्व है सो समकारणात्मक आश्रय नहीं होता है। यदि कदाचित् यावत् इसको आश्रय का विशेषण दें तब तो अनन्वय दोष होता है, क्योंकि परत्व पद से व्यवधान होता है, तथापि परत्व के अनन्तर यावत् पद देना चाहिए, ऐसा प्राचीनों का कथन है। कोई

व्यवधानादिति यद्यपि तथापि परत्वानन्तरं यावत्पदं पठनीयमिति सम्प्रदायः। यथोक्तावधिक्रियावांश्च परत्वाश्रयः परत्वस्य तदधिकत्वेन तदाश्रयस्यापि तदधिकत्वोपचारादिति केचित्। न चान्त्यशब्दस्य क्षणिकतया मूर्तस्य चाक्षणिकतया तदन्यूनानतिरिक्तकालीनस्याप्रसिद्ध्या तत्प्रागभावाव्याप्तिरिति वाच्यम्। तस्यापि कालनाश्यत्वेन क्षणिकत्वानभ्युपगमात्। वस्तुतस्तु द्वित्रिक्षणावस्थायिकमपि मूर्तं प्रतियोग्युत्पत्तिक्षणोत्पत्तिकं भवत्येव एतावदेव चेह विवक्षितमतो न तदव्याप्तिः किन्तु

तो कहते हैं कि यथोक्तावधिक जितना परत्व का आश्रय हो। यहां परत्व जब तदधिक है तब परत्व के आश्रय में अधिकत्व का उपचार होता है।

प्रश्न—अन्तिम जो शब्द सो तो क्षणिक है और मूर्त (द्रव्य) तो अक्षणिक अर्थात् स्थिर होता है, तादृश शब्दादिके अन्यूनानतिरिक्त कालिकत्व के अप्रसिद्ध होने से तत्स्थलीय प्रागभाव में अव्याप्ति होती है।

उत्तर—अन्तिम शब्द भी काल से नष्ट होता है। अतः अन्तिम शब्द को क्षणिक नहीं माना जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो दो तीन क्षण पर्यन्त स्थिर वाला भी मूर्त पदार्थ प्रतियोगी की उत्पत्तिक्षण में उत्पन्न होने वाला होता ही है। एतावन्मात्र प्रकृत में विवक्षित है। इस लिए शब्द आदि प्रागभाव में अव्याप्ति नहीं होती है। किन्तु जन्य

खण्डप्रलयकालीनपरमाणुपरिस्पन्दानां प्रागभावव्याप्तिविरह-दोषः।न हि तदभावविवक्षितपरत्वाद्यवधिमूतं मूर्तमस्तीति किन्तु गन्धानाधारसमयानाधारोऽभावः प्रागभावःगन्धत्वं स्वाधिकरणा-नधिकरणानधिकरणकालवृत्तिः कार्यमात्रवृत्तिधर्मत्वात् एतद्घ-टवदित्यस्य सत्त्वादिति स्वपदेन चारीकृतत्वात् किन्तु शब्द-ध्वंसः शब्दप्रागभावरहितवृत्तिः ध्वंसत्वात् घटध्वंसवदिति हि

द्रव्यानधिकरणरूप खण्डप्रलयकालिक परमाणु का जो परिस्पन्द रूप कर्म है तदीयप्रागभाव में अव्याप्ति होती है, क्योंकि तादृशप्रागभाव में विवक्षित जो परत्व उसका अवधि भूत कोई भी मूर्त द्रव्य नहीं है। तादृशप्रलयकाल में जन्य द्रव्य नहीं रहता है, किन्तु गन्ध का अनाधार जो समय उसका अनाधार जो अभाव उसका नाम हैं। गन्धत्व-धर्म स्वाधिकरणगन्धत्व का जो अधिकरणक गन्ध तदनधि-करण जन्य जलादिक तादृश जन्य जलादिक का अनधिकरण जो काल, उसमें वृत्ति है कार्यमात्रवृत्तिधर्म होने से एतद्घट की तरह, यह अनुमान यद्यपि प्रागभाव में प्रमाण है, तथापि उक्त अनुमान को स्वपदघटित होने से अननुग-तत्व होने से साधकता नहीं हो सकती है किन्तु शब्दध्वंस, शब्दप्रागभाव रहित काल में रहता है ध्वंस होने से घटध्वंस की तरह यह अनुमान प्रागभाव में प्रमाण है।

तत्र समानम् । ननु पूर्वसमयः प्रागभावविशिष्टो वा प्रागभावोपलक्षितो वा । नाद्यः तद्विशिष्टे तदवृत्त्या प्रागभावस्य पूर्ववर्तित्वाभावादकारणत्वापत्तेः । नापरः पूर्वसमये पूर्वसमयस्यावृत्त्या तस्याकारणत्वापत्तेः ध्वंसे प्रतियोगिनोऽकारणत्वापत्तेश्च । न हि ध्वंसस्य प्रागभावः सम्भवति । प्रतियोग्येव तस्य प्रागभाव इति चेत् । न । तस्य जन्यभावस्याजन्याभावतादात्म्याभावादित्यभिप्रेत्य सहकारि-

---

प्रश्न—कारणतालक्षणघटक जो पूर्वसमय सो प्रागभावविशिष्ट है अथवा प्रागभावोपलक्षित कालरूप है । इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि स्वविशिष्ट में स्व की वृत्तिता न होने से प्रागभाव को पूर्ववृत्तिता न होने से प्रागभाव कारण घटादिकार्य के प्रति नहीं होगा ।

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि काल में काल की वृत्तिता नहीं होती है । इसलिए पूर्व समय में पूर्व समय की वृत्तिता नहीं होगी, तब पूर्व समय में घटादि कारणत्व नहीं होगा । तब ध्वंस में प्रतियोगी को कारणत्व भी नहीं होगा, क्योंकि ध्वंस का प्रागभाव नहीं होता है । नहीं कहो कि प्रतियोगी जो घटादिक वही घटध्वंस का प्रतियोगी है,सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जन्य जो भाव पदार्थ सो उसको अजन्य अभाव के साथ तादात्म्य नहीं होता है । इस अभि-प्राय को लेकर के कहते हैं कि सहकारी का जो अभाव

विरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं तत्त्वमित्याहुः। शिलाशकलन्तु न तथा तस्याङ्कुरानुपधाने शिलात्वस्यैव प्रयोजकत्वादेवं च सहकारिविरहव्याप्यकार्यप्रागभाववत्त्वं तत्त्वमिति चेत् । न निमित्तासमवायिकारणाव्याप्तेः न हि तत्र कार्यप्रागभावोस्तीति ।

तत्प्रयुक्तकार्याभाववत्त्व ही कारणत्व है। ऐसा कहते हैं (घट का कारण है कपाल उसमें इसका समन्वय इस प्रकार से होता है कि कपाल के सहकारी दण्डादिक उस दण्डादिक का अभाव रहने से कपाल की अस्तितता में भी कार्य नहीं होता है–इसलिए सहकारीविरहप्रयुक्त कार्याभाववत्त्व कपाल में है तो कपाल घट का कारण होता है। इसी प्रकार से लक्षण समन्वय होता है) शिलाशकल जो है सो तो कारण नहीं है, क्योंकि शिलाशकल में जो अंकुर के प्रति अजनकत्व है उसमें शिलात्व को ही प्रयोजकत्व होता है। नहीं कहो कि सहकारीका जो अभाव, तद्व्याप्य जो कार्य प्रागभाव तद्वत्त्व ही कारणत्व है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि असमवायिकारण तथा निमित्तकारण में यह लक्षण नहीं जाता है। अतः उन दोनों कारणों में लक्षण को अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि कार्य का प्रागभाव समवायि कारण में ही रहता है असमवायिकारण तथा निमित्तकारणमें कार्य का प्रागभाव नहीं रहता है। ननु पूर्व समय-इत्यादि ग्रन्थ से जो पूर्व

उच्यते। कारणे बीजादौ कार्यतदभावौ तावद्विद्येते तत्र बीजस्याङ्कुरासम्बन्धः कैवल्येनावच्छिद्यते न च बीजत्वेन सहकारिसहितात्तत एवाङ्कुरोदयात् शिलायान्तु शिलात्वेनैव शिलायामङ्कुरासम्बन्धाव्यभिचारात्। एवञ्चान्यासमवधानावच्छिन्नकार्यासम्बन्धिकत्वं कारणत्वम्। न च भक्षितविनष्टबीजाव्याप्तिः

पक्ष किया था उसका समाधान उच्यते—अंकुरादिकारणीभूत जो बीजादिक उसमें कार्य तथा उसका अभाव यह दोनों कारण में रहते हैं। उसमें जिस समय में बीज से अंकुर नहीं होता है उस समय में बीज कैवल्य धर्म से अवच्छिन्न रहता है. न तु बीजत्वावच्छिन्न रहता है, क्योंकि सहकारी—सहित उसी बीज से कालान्तर में अंकुर होता है। इसलिए अंकुर का कारण बीज के होते हुए भी सहकारी विरह-दशा में जो अंकुरासम्बन्ध है सो कैवल्यप्रयुक्त है और सहकारीसमवधानकाल में जो कुअंरजनकता है सो तादृश बीजत्व प्रयुक्त है और शिलाशकल में जो अंकुरा—सम्बन्ध का अव्यभिचार है सो शिलात्व प्रयुक्त है। ऐसा हुआ तब अन्य (सहकारी) का जो असमवधान तदवच्छिन्न कार्य सम्बन्धित्व ही कारण का लक्षण है। (यह लक्षण कारणत्रय साधारण होता है) नहीं कहो कि भक्षित-विनष्ट बीज में तो इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, सो ठीक नहीं हैं, क्योंकि तादृश बीज की सत्तादशा में जो अंकुर

तस्यापि सत्त्वदशायामङ्कुरासम्बन्धस्यान्यासम्बन्धिनि चाव-च्छेदनात् । तदेव हि बीजं सत्त्वदशायां यदि सहकारिभिः सम्पत्स्यते अङ्कुरमजनिष्यदेवेति न चासमवाय्यादीनां कार्यसम्ब-न्धनियतानामव्याप्तिः आजानिकधर्मावच्छिन्नकार्यासम्बन्धस्य विरहः कारणत्वमस्य चासमवाय्यादावपि सत्त्वादिति कारणत्वं-तावन्नियतप्राक्सत्त्वविशेषस्तद्ग्रहश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां नियते-नान्वयेन वा । नन्वस्तु या कारणता सापि कथं ग्राह्या तथाहि

का असम्बन्ध है सो अन्य अर्थात् सहकारी के असमवधान से ही अवच्छिन्न है क्योंकि वही बीज स्वके सत्वकाल में यदि सहकारीमे समवहित होता तो अवश्यमेव अंकुरात्मक कार्य का जनक होना ही । नहीं कहो कि कार्यसम्बन्ध से नियत जो असयवायीकारण तथा निमित्त कारण में लक्षण की अव्याप्ति होती है, सो कहना ठीक नहीं है । क्योंकि आजा-निक अर्थात् स्वाभाविक धर्मावच्छिन्न कार्यासम्बन्ध का अभाव ही कारणता का लक्षण है । यह लक्षण असमवा-यिकरण तथा निमित्त कारण में भी है, क्योंकि कारणत्व है कार्य से नियत प्राक्कालिकसत्व विशेष । एतादृश कारणता का ग्रह अन्वयव्यतिरेक से होता है और आत्मादिक नित्य और व्यापक स्थल में नियत अन्वय मात्र है, क्योंकि तद-भावे तदभावः यह व्यतिरेक असम्भवित है ।

खाण्डनिकका प्रश्न—यह जो कारणता है उसका ग्रहण

कारणता· ह्यविशेषिता न गृह्यते किन्तु घटादिकार्यविशेषिता विशेषान्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्या एव ज्ञानसम्भवात् । सा च न पूर्वकाले ग्राह्यविशेषणीभूतकार्यविरहात् कार्यसत्त्वकाले च तत्प्रागभावघटितसामग्रीविरहान्न कार्यजननविशेषितं कारणत्वमस्तीति न कदापि घटकारणत्वमस्तीति न कदापि घटकारणत्वमध्यक्षं स्यात् । अथ संस्कारोपनीतकारणत्वमादाय कार्यकाले प्रत्यक्षेण कारणविशिष्टकार्यग्रह इति चेत् । कार्यविशेषितस्य कारणस्य

कैसे होगा ? तथाहि कार्य से अविशेषित कारणता का ग्रहण तो होता है नहीं, किन्तु घटादि कार्य विशेषित कारणता का ही ज्ञान होता है क्योंकि दण्डसत्वे घटसत्वम्, दण्डाभावे घटाभावः—इस प्रकार से जो विशेषान्वयव्यतिरेक उसी से कारणता का ज्ञान सम्भवित है । उस कारणता का ज्ञान .कार्यपूर्वकाल में नहीं हो सकता है, क्योंकि ग्राह्यविशेषणीभूत जो घटादिक कार्य सो उस समय में नहीं है, किन्तु उसका अभाव है और जिस समय में कार्य की सत्ता है तो उस समय में कार्य का जो प्रागभाव तद्घटित सामग्री का अभाव है । अत: कार्यजनन से विशेषित कारणत्व नहीं होता है । इसलिए घट कदापि कारणत्व नहीं है । अतः घटादिकारणत्व का प्रत्यक्ष कभी नहीं होगा ।नहीं कहो कि संस्कारोपनीतकारणता को लेकर के कार्यकाल में कारण विशिष्ट कार्य ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होगा।यह कहना भी

पूर्वक्षणे कार्यासत्त्वेनासत्तया ग्रहणाभावेन संस्काराभावात् । अनुमानेन तद्ग्रहे तत्राप्यनुमानान्तरेण तद्ग्रहेऽनवस्थापत्तेः । न चैवं कारणत्वाग्रहे तवापि प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्तामिति वाच्यम् ममानिर्वचनवादिनो दोषास्पर्शात् । कार्यस्य कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्त्या दण्डादेः कारणत्वग्रह इति चेन्न । कदाचित्कार्यत्वस्य कार्यधर्मत्वेन कारणत्वस्य च कारणधर्मत्वेन नियतवैयधि-

---

ठीक नहीं हैं, क्योंकि कार्यविशेषित जो कारण उसका कार्य पूर्व क्षण में कार्य का अभाव होने से कारण भी असत्कल्प होने से उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव से संस्कार नहीं हो सकता । यदि कहो कि तादृश कारण का अनुमान से ज्ञान होगा तब तो अनुमान का भी अनुमानान्तर से ग्रहण होने से अनवस्था हो जायेगो । नहीं कहो कि तब तो कारणता का ज्ञान न होने से आप (वेदान्तियों) को भी प्रवृत्ति-निवृति नहीं होगी।ऐसा कहना भी ठीक न होगा,क्योंकि मैं तो अनिर्वचनीयतावादो हूँ इसलिए मुझको तो कोई दोष नहीं होता । नहीं कहो कि कार्य में कादाचित्कत्व अन्यथानुपपन्न है तो तदन्यथानुपपत्ति से ही दण्डादिक में कारणत्व का ज्ञान होगा । ऐसा कहना भी ठींक नहीं है, क्योंकि कादाचित्कत्व कार्य का धर्म है और कारणत्व कारण का धर्म है अतः दोनों को वैयधिकरण्य है । सामानाधिकरण्य नहीं होने से आक्षेपक नहीं हो सकता है । नहीं कहो कि अर्थान्तरा-

करण्येनाक्षेपायोगात् । न चार्थान्तरापत्तेर्वैयधिकरण्येनापि गमकत्वम् । अत एव देवदत्ताभावो गृहवृत्तिर्देवदत्ते बहिःसत्त्वं कल्पयति । अत एव चानुमानादसौ भिद्यते अपक्षवृत्तित्वात् । न च गृहवृत्त्यभावप्रतियोगित्वमाक्षेपकं देवदत्तासन्निकर्षे तद्विशेष्यकप्रत्यक्षतृतीयलिङ्गपरामर्शासम्भवात्।तथाप्युपपाद्योपपादकयोरसम्बन्धेऽतिप्रसङ्गात् । सम्बन्धे च सम्बन्धस्यापि सम्बन्धान्तरे चानवस्थानान्नोपपाद्योपपादकभाव इति । किञ्च

पत्ति को तो वैयधिकरण्य से भी गमकत्व अर्थात् ज्ञापकत्व होता है । अत एव गृहवृत्तिदेवदत्तका अभाव देवदत्तमें बहिः सत्त्व की कल्पना करता है । अत एव अर्थापतिप्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न है, अपक्षवृत्ति होने से । नहीं कहोकि गृहवृत्ति अभावप्रतियोगित्व ही आक्षेपक है । यह ठीक नहीं है क्योंकि देवदत्त के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न होने से देवदत्तविशेष्यकप्रात्यक्षिक तृतीय लिंगक परामर्श यद्यपि असम्भवित है,तथापि उपपाद्य तथा उपपादक का असम्बन्ध होने से अतिप्रसंग हो जायगा । यदि दोनों का सम्बन्ध मानें तब तो सम्बन्ध के भी सम्बन्धान्तरके अनुसरण होने से अनवस्था हो जायगी । इस लिए उपपाद्यापपादकभाव नहीं हो सकेगा । अर्थापत्तिको गमकत्व नहीं हो सकेगा और भी देखिये कार्य के समान कारण को भी कादाचित्क होने से कारणता होगी तब तो अनवस्था होगी और यदि अकारणत्व

कार्यवत्कारणस्यापि कादाचित्कत्वेन कारणत्वेऽनवस्था अकारणत्वे च पूर्वावधिविधुरत्वे तन्मात्रावधेः कार्यस्यापि पूर्वावधिविधुरत्वं स्यादिति । अपि चास्तु यत्किञ्चित्कारणत्वं तदपि प्रत्यक्षं यदि तदा स्वविषयप्रत्यक्षे तस्य कारणत्वं वाच्यं तथा चात्माश्रयः कारणत्वे कारणत्ववृत्तिस्वीकारात् । न च विषयाविशेषितस्य सन्निकर्षमात्रस्य साक्षात्कारीकारणत्वमतिप्रसङ्गात् । इन्द्रियस्याप्यर्थवदेव कारणता.त्ते श्च । अपि च कारणत्वाकारणत्वसन्देहोच्छेदकं किञ्चिदवश्यं वाच्यम् ।

मानें तब तो पूर्व अवधि के अभाव होने से कारणमात्र अवधिक कार्य को भी पूर्वावधिरहितत्व हो जायगा । और भी देखिए—मान लिया जाय कि जो कुछ कारणत्व नामक वस्तु है परन्तु वह यदि प्रत्यक्ष है तब तो स्वविषयक प्रत्यक्ष में उसको कारणत्व मानना पड़ेगा । ऐसा हुआ तब कारणता में कारणता की वृत्तिता होने से आत्माश्रय हो जायगा । विषय से अविशेषित सन्निकर्ष मात्र को यदि प्रत्यक्ष ज्ञान में कारणता माने तो अतिप्रसंग हो जायगा । और जिस प्रकार से प्रत्यक्षज्ञान में अर्थ को कारणत्व होता है उसी तरह इन्द्रिय को भी कारणत्व हो जायगा । और भी देखिए यह कारण है और यह अकारण है इत्याकारक जो कारणत्व अकारणत्वका सन्देह हैं उसका उच्छेदक भी किसी को मानना पड़ेगा, अन्यथा तादृश संशय का

अन्यथा तदुच्छेदो न स्यात् । तथा च तदेव कारणत्वस्थाने- ऽभिषिच्यतां लाघवादावश्यकत्वाच्च । किञ्च कारणत्वं दण्डा- देर्यदि स्वभावधर्मस्तदा यावत्सत्त्वं करोतीति धीः स्यात् । आगन्तुकत्वे च कार्योपधानात्प्राक् तद्धीर्न स्यात् । किञ्च कारणत्वं घटादिनिरूपितप्राक्सत्त्वमिति कारणव्यक्तिभेदात् कार्यव्यक्तिभेदाद्भिन्नमित्यनुगतधीव्यवहारौ न स्याताम्। किञ्च समवाय्यसमवायिनिमित्तानि कारणानि वृक्षशिंशपयोः

उच्छेद अर्थात् निराकरण नहीं होगा । जब संशयोच्छेदक अन्य किसी को मानें तब तो लाघवात् आवश्यकत्वात् उसी को कारणतास्थान में मान लीजिए । कारणता कों मानने को क्या आवश्यकता है ? और भी देखिए यह जो कारणत्व है सो यदि दण्डादिक का स्वाभाविक धर्म हो तब तो जब तक दण्ड की अस्तिता रहेगी तब तक दण्ड घट को बनाता है ऐसी बुद्धि होनी चाहिए । यदि कहो कि कार- णता दण्ड का आगन्तुक धर्म है तब तो कार्योपधान अर्थात् कार्योत्पादकता से पूर्व काल में दण्डमें घट की कारणता का ज्ञान नहीं होगा । और भी देखिए—दण्ड में कारणता क्या है तो घटादिकार्यनिरूपितपूर्वकालिकसत्त्व । तब तो कार्य कारण व्यक्ति के भेद होने से भिन्न भिन्न कारणत्व हुआ । तब अनुगत बुद्धि तथा व्यवहार नहीं होगा । और भी देखिये—समवायी असमवायी तथा निमित्त कारण वृक्ष

सामग्रीद्वयं तदा कार्यद्वयं स्यात् । यद्येकैव तदा वृक्षाः सर्वे शिंशपात्मका एव स्युरिति खण्डनम् । अत्रोच्यते । घटकारणत्वं घटनियतप्राक्सत्त्वं तत्र च संस्कारोपस्थितो घटो विशेषणीभवति । एवं घटस्य दण्डकार्यत्वे संस्कारोपस्थितो दण्डः

शिशिपा में सामग्रीद्वय होने से कार्य द्वय होगा । यदि कदाचित् एक ही सामग्री मानें तत्र तो सभी वृक्ष शिशपा रूप हो हो जायगा । इस प्रकार खण्डन ग्रन्थ हुआ अर्थात् यहां तक कारणता-खण्डन परक पूर्व पक्ष हुआ ।

खण्डनकार ने जो को कारणत्व लक्षण का खण्डन किया है अब खण्डनोद्धार कर्ता उसका समाधान करते हैं । अत्रोच्यते-इस प्रकरण से घटकारणता क्या है तो घटसे नियमतः पूर्वकालि सत्त्व जहाँ घट उत्पन्न होता है उस स्थल में नियमतः पूर्व काल में दण्डादिक की सत्ता रहती है, इसलिए घट का कारण दण्ड होता है और रासभ की नियमतः घट पूर्व काल में सत्ता नहीं रहती है । इससे रासभ घट का कारण नहीं बनता हैं । प्रकृत स्थल में घट नियत प्राक् सत्त्व में संस्कार द्वारा उपस्थित जो घट सो कारणता में विशेषण होता है । एव घट जो दण्ड का कार्य होता है तब उस स्थल में संस्कार द्वारा उपस्थित जो दण्ड सो विशेषण होता है, इसलिए कार्यकारण की अनुपपत्ति नहीं होती है, न वा कारणतालक्षण

कारणत्वन्तु सामान्यं नियतप्राक्सत्त्वमात्रमेव।नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां कथं कारणत्वग्रहः। नतु लिङ्गीभूय तौ तद् ग्राहयतः। न चान्वयव्यतिरेकप्रत्यक्षेण तद्ग्रहो भिन्नविषयत्वात्। नापि तज्जन्मना संस्कारेण विषयभेदात् तद्यथा संस्कारो ह्यन्वयव्यतिरेकालम्बन इन्द्रियन्तु प्राक्सत्त्वसम्बद्धमतो नानयोः सहकारो विषयभेदात्। दण्डस्य घटकारणत्वग्रहे नैवं तत्र द्वयोरपि

मे कोई अनुपपत्ति है। कारणता तो सामान्य रूप है,नियतप्राक्सत्त्वमात्र रूप ही है।

प्रश्न—अन्वयव्यतिरेक द्वारा किस प्रकार से कारणता का ज्ञान होता है? नहीं कहो कि अन्वयव्यतिरेक हेतु होकर के अन्वय व्यतिरेक का ग्रहण करायेगा। तो यहां अन्वय व्यतिरेक प्रत्यक्ष से अन्वयव्यतिरेक में कारणता का ज्ञान नहीं होगा। भिन्न विषयक होने से। न वा तादृशप्रव्यक्षजन्य संस्कार कारणता का ज्ञान होगा। क्योंकि विषय का भेद है। अर्थात् दोनों का विषय अलग अलग है। तद्यथा, संस्कार जो है सो अन्वय व्यतिरेक विषयक है और इन्द्रिय तो प्राक्सत्त्व सम्बद्ध है। इस लिए दोनों का विषय भेद होने से परस्पर सहकार नहीं हो सकता है और दण्ड को घटकारणता ज्ञान में तो ऐसा नहीं है, क्योंकि वहां तो संस्कार तथा इन्द्रिय इन दोनों को विशिष्टविषयकत्व ही है।

संस्कारेन्द्रिययोर्विशिष्टालम्बनत्वादिति । मैवम् । अन्वयव्यतिरेकग्राहकं हि प्रत्यक्षं तद्धर्मिभूते कार्यकारणे अपि विषयीकरोति कारणताग्राहकमिन्द्रियमपि तत्सम्बद्धमेवेति भवत्येवानयोः सहकारिता समानविषयप्रत्ययत्वादिति । न च पूर्वभावित्वमपि दुर्वचं पूर्वकालसम्बन्धित्वस्यैव तत्त्वात् । न च पूर्वकाले सम्बन्धाभावात्तत्कालस्याकारणतापत्तिः । य एव दण्डे पूर्वकालसम्बन्धः स एव पूर्वकालेपि सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वात् ।

उत्तर—अन्वयव्यतिरेक का ग्राहक प्रत्यक्ष है तो अन्वयव्यतिरेक का धर्मीभूत जो कार्य कारण वह भी प्रत्यक्ष का विषय होता है। अतः कारणता ग्राहक इन्द्रिय भी कार्यकारणसम्बद्ध ही हैं। इसलिए इन्द्रिय और संस्कार की परस्पर सहकारिता है, समान विषयक होने से पूर्वभावित्व भी दुर्वच नहीं है क्योंकि पूर्वकाल—सम्बन्धित्व का नाम ही है पूर्वभावित्व । नहीं कहोकि पूर्वकाल में तो सम्बन्ध नहीं है तब उस काल में कारणत्व नहीं होता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि जो ही सम्बन्ध दण्ड में है वही सम्बन्ध काल में भी है, सम्बन्धको उभयनिष्ठ अर्थात् उभयवृत्ति होने से (सम्बन्ध एकमात्र में नहीं होता है उभयवृत्ति होता है तब जब पूर्व काल का सम्बन्ध दण्डवृत्ति है तब कालवृत्ति भी अवश्य होगा) इस कथन से प्रागभाव में भी करणात्व

एतेन प्रागभावस्यापि हेतुत्वं स्थापितं कार्यप्रागभावोपलक्षित-समयसम्बन्धस्य कार्यप्रागभावेपि सत्त्वात् । न चैवं ध्वंसं प्रति कारणता न स्यात् तस्य प्रागभावाभावादिति वाच्यम् । प्रति-योगितत्प्रागभावान्यतरावच्छिन्नसमयस्यैवेह पूर्वसमयपदार्थ-त्वात् । न चैवं पूर्वपदस्य नानार्थतापत्तिः अगत्या तस्यापी-ष्टत्वात् । ननु कार्योपस्थिततत्सामग्र्यस्ति न वा आद्य उत्प-न्नमपि तदुत्तरक्षणे पुनरुत्पद्येत । अन्त्ये उत्पत्तिक्षणेपि नोत्पद्येत तत्काले सामग्रीविरहात् । पूर्वक्षणस्थैव सामग्री

प्रागभाव में भी कारण व्यवस्थित होता है। कार्य का जो प्रागभाव तादृशप्रागभावोपलक्षित समयका सम्बन्ध प्रागभाव में भी है। नहीं कहो कि ऐसा हुआ तब ध्वंस के प्रति कारणता नहीं होगी। क्योंकि ध्वंसका तो प्रागभाव नहीं होता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रतियोगी तथा तत्प्रागभाव एतदन्यतरावच्छिन्नसमय, वही यहां पूर्वसमय पदार्थ है। नहीं कहो तब तो पूर्वपद नानार्थक हो जायेगा। सो प्रकृत में पूर्वपद की अनेकार्थता अगत्या इष्ट है।

प्रश्न—कार्य द्वारा उपस्थित जो सामग्री सो उत्पत्ति-क्षण में वह सामग्री है कि नहीं है? यदि है तब तो उत्पन्नभी घट पुनः अग्रिमक्षण में उत्पन्न होगा, क्योंकि सामग्री पूर्वकाल में है। यदि सामग्री नहीं है तब तो उत्पत्ति क्षण में भी उत्पन्न नहीं होगा क्योंकि सामग्री का अभाव होनेसे। नहीं कहोकि

अव्यवहितोत्तरक्षणस्थं कार्यमर्जयति स्वभावादिति चेत्। तर्हि व्यवहितक्षणस्थमप्यर्जयेद्विशेषादिति। मैवम्। प्राप्त्यप्राप्तिसमापत्तेः। तद्यथा त्वदुक्तमपि दूषणं दुष्टबुद्धिं प्राप्य जनयेदप्राप्य वेत्यस्य मयापि सुवचत्वात्। ननु कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वं कारणासत्त्वे कार्यासत्त्वमिति नान्वयव्यतिरेकौ किन्तु प्रक्कार्याबुद्धौ तत्कारणबुद्धौ कार्याबुद्धौ अबुद्धिद्वयं तत्प्रत्यक्षमित्यबुद्धित्रयमनुपलम्भ इति। तदुक्तं कीर्तिना–

पूर्व क्षण में वृत्ति जो सामग्री सो अव्यवहित उत्तर क्षण में कार्य जनिका है क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा ही है। तब तो व्यवहित भी सामग्री व्यवहित क्षणस्थ कार्य की उत्पादिका होगी, अविशेष होने से।

समाधान—ऐसा कहो तब तो प्राप्त्यप्राप्तिसमानामक निग्रह स्थान की आपत्ति होगी। जैसे भवदुक्त जो दोष है सो दुष्ट बुद्धि को प्राप्त करके उत्पादक होगा अथवा अप्राप्त हो करके ही कार्यका उत्पादक होता है–ऐसा मैं भी कह सकता हूँ।

प्रश्न—कारण के सत्त्व में कार्य का सत्त्व कारण के असद्भाव में कार्य का असत्त्व, इस प्रकार का अन्वय व्यतिरेक प्रकृत में नहीं है, किन्तु पूर्व में कार्य का अज्ञान और कारण ज्ञान, कार्य का अज्ञान अबुद्धिद्वय उसका प्रत्यक्ष अबुद्धित्रय अनुपलम्भ। धर्मकीर्ति ने कहा भी है–धूमार्थ

धूमार्थवह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः ।
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामेभिः पञ्चभिरन्वयः ॥ इति ।

तदसत् । इदन्तु कारणताग्राहकं न तु कारणत्वमित्यस्योक्तत्वात् । तत्रापि नियतव्यतिरेकेण कारणताग्रहो नियतान्वयव्यतिरेकाभ्यां न त्वदुक्तपञ्चकेनाकारणसाधारण्यादिति । ननु न्यायमते नियतप्राक्सत्त्वं तावत् कारणत्वं तेन तदैव करोतीति प्रयोगः स्यादिति चेत् । न । कार्योत्पत्त्यनुकूलव्यापारवत्त्वस्य करोतिना प्रतिपादनात् प्रकृते तादृशव्यापारा-

---

वह्नि ज्ञान धूमज्ञान धूम तथा वह्नि का अज्ञान प्रत्यक्ष अनुपलम्भ इन पांच से अन्वय अर्थात् व्याप्ति होती है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यह पाँच कारणता के ग्राहक हैं न कि कारण के लक्षण हैं। इस बात को मै कह आया हूँ। उसमें भी नियत व्यतिरेक से कारणताग्रह होता है अथवा नियतान्वयव्यतिरेक से कारणताग्रह होता है, न तु भवत्कथितपञ्चक से कारणताग्रह होता है, क्योंकि भवत्कथित प्रकार तो अकारण-साधारण है।

प्रश्न—न्याय के मत में नियत प्राक्सत्त्व रूप ही तो कारणत्व है। तब तो दण्ड उसी समय में कार्य को करता है—ऐसा प्रयोग होना चाहिए।

उत्तर—कार्य की जो उत्पत्ति, तदनुकूल जो व्यापार, तादृशव्यापारवत्त्व रूप अर्थ कृधातु से प्रतिपादित होता

भावात् । यत्तु दण्डघटयोर्विशेषयोः कारणत्वं दण्डघटत्वाभ्यां वा एतद्घटत्वैतद्दण्डत्वाभ्यां वा नाद्यः न हि विशेषयोः सम्बन्धः सामान्याभ्यामवच्छिद्यतेऽतिप्रसक्तत्वात् । नापरः न ह्यन्ययोरन्वयव्यतिरेकौ किन्तु दण्डघटयोरेवेति । मैवत् । सा हि सामान्यरूपेणापि विशेषाणामेव हि सम्बन्धो गृह्यते न तु तदस्पृष्टस्य सामान्यमात्रस्य तस्य शशविषाणायमानत्वात् । तदुक्तम्-

न निर्विशेषं सामान्यं भवेच्छशविषाणवदिति ।

है । प्रकृत में तो तादृश व्यापार नहीं हैं ।

प्रश्न—दण्ड विशेष घट विशेष में जो कार्यकारण भाव है सो घटत्व दंडत्व रूप से है अथवा एतद्घटत्व एतद-दंडत्व रूप से है ? इसमें प्रथम कल्प ठीक नहीं है, क्योंकि अतिप्रसंग होने के कारण से विशेष में जो सम्बन्ध होता हैं सो सामान्य धर्म से अवच्छिन्न नहीं होता हैं किन्तु विशेष धर्म से ही होता है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें तो किसी अन्य पदाथ का अन्वयव्यतिरेक नहीं है. किन्तु दण्ड घट का ही अन्वय व्यतिरेक है ।

उत्तर—दण्डादिक में जो कारणता है सो सामान्य रूप से विशेषों के सम्बन्ध को ही ग्रहण करती है, नतु विशेष से अस्पृष्ट सामान्यमात्र का । क्योंकि विशेषरहित सामान्य शशविषाण के समान है। ऐसा

कथं तर्हि विशेषसिद्धिः सामग्रीविशेषात् सामग्रीविशेषेण घटविशेषः सिध्यति । कारणानान्तु सामान्यार्जने शक्तिः सामग्रीविशेषात्तु विशेषः सिध्यति । यथा शब्दानां पदार्थसामान्ये शक्तावपि वाक्यविशेषादन्वयविशेषधीः व्याप्यस्य व्यापकसामान्यबुद्धौ सामर्थ्येऽपि पक्षधर्मतासहकारेण पक्षवृत्तिसाध्यसिद्ध्यादि । एवं सिद्धे कारणत्वे तद्विशेषश्चिन्त्यते

कहा है भी निर्विशेष जो सामान्य वह शशविषाण के तुल्य है अर्थात् सामान्य जो है वह विशेषके बिना रह नहीं सकता है । अत जब सामान्य है तब विशेष के साथ ही रहेगा अन्यथा नहीं ।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकार से सामान्य को सिद्धि होती है तब विशेष की सिद्धि किस प्रकार से होती है ?

उत्तर—सामग्री विशेष से विशेष की सिद्धि होती है । सामग्रीविशेष से घट विशेष सिद्ध होता है । सामान्य के उत्पादन करने में कारण की शक्ति होती है और सामग्री विशेषसे कार्य विशेष सिद्ध होता है । जैसे शब्द के सामान्यतः पदार्थबोधन में शक्ति विशिष्ट होने पर भी वाक्य विशेष से अन्वयविशेष ज्ञान होता है । अर्थात् शाब्दबोध विशेष उत्पन्न होता है । यथा वा व्यापक सामान्य के समझाने में व्याप्य को सामर्थ्य होते हुए भी पक्षधर्मता सहकार से पक्षवृत्ति साध्य विशेष की सिद्धि होती है ।

ते च त्रेधा समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् । यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणं यथा रूपादौ घटादि । यस्मिन् सति कार्यन्नास्तीति तत्समवायिसाम्यम् । यस्मिन् कारणे विद्यते तद्गुणकर्मान्यतररूपमसमवायिकारणंप र्युदासे नञ् यथा

इस प्रकार से कारणत्वसामान्य की सिद्धि होने के पीछे अब कारण विशेष का विचार किया जाता है । वह कारण विशेष तीन प्रकार का हैं । समवायिकारण असमवायिकारण तथा निमित्तकारण के भेद से । उनमें समवायिकारण का लक्षण यह होता है कि जिनमें समवाय सम्बन्ध से सम्वद्ध होकर के कार्य उत्पन्न होता है उसको समवायिकारण कहते है जैसे घट के प्रति कपाल, पट के प्रति तन्तु,घटीयगुणकर्म के प्रति घटादिक द्रव्य,द्रव्य ही समवायिकारण होगा । जिसकी अविद्यमानता में कार्य उत्पन्न ही न हो सो समवायिकारण के समान है जैसे घट के प्रति पृथिवी । जिसके समवायिकारण में जो गुण कर्मादिक बैठे, कार्यजनक हों सो असमवायिकारण होता है । जैसे कपालगतगुणकर्मान्यतर अर्थात् घटात्मक द्रव्य कार्य में कपालसंयोग असमवायिकारण है । तथा पटरूपादि के प्रति तन्तुरूप असमवायिकारण होता है । असमायिकारण यहां न समवायीति असमवायो इस प्रकार विग्रह करने के बाद पर्युदासार्थक नञ् है जैसे पटके प्रति तन्तुसंयोग और घट-

पटे तन्तुद्वयसंयोगः घटरूपे कपालरूपमित्यादि । यत्तु न कार्याधिकरणं न वा कार्यस्थितिनियामकं किन्तु कार्योत्पत्तिनियामकमात्रं तन्निमित्तकारणमिति । न च कालत्रयानिरुक्तिः । कालस्य स्वभावत ऐक्येपि उपाधिभेदेन तावद्भेदव्यवहारात् । तदुपाधयश्च घटादय एव तथा च तत्स्वरूपेणावच्छिन्नः कालः तस्य वर्तमानः कालः तत्प्रागभावेनावच्छिन्नः तस्य पूर्वकालः तद्ध्वंसेनावच्छिन्नस्तस्योत्तरकालः । तदुक्तमात्मतत्त्वविवेके । वर्तमानैकस्वभावत्वाद्भावानामिति । नन्वेवं

रूपके प्रति कपालरूप इत्यादि । जो न तो कार्य का अधिकरण हो न वा कार्यस्थिति में नियामक हो किन्तु कार्योत्पत्तिनियामकमात्र हो वह निमित्तकारण है जैसे घट कार्य में दण्डादिक । नहीं कहो कि काल एक है तब कालत्रय का विभाग तो दुर्वच है, सो ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि स्वभावतः काल की एकता है तथा उपाधि के भेद से काल में भेद व्यवहार होता है । काल की उपाधि है जन्यघटपटादिक पदार्थ । ऐसा हुआ तब घट स्वरूप से अवच्छिन्न अर्थात् युक्त जो काल सो घट का वर्तमान काल कहलाता है और घटप्रागभाव से अवच्छिन्न जो काल सो घट का पूर्व काल कहाता है एवं घटध्वंस से अवच्छिन्न घट का उत्तर काल होता है । आत्मतत्त्वविवेक में कहा है " भावमात्र वर्तमानैकस्वभावक होता है ।

ज्ञानावच्छिन्नः कालो ज्ञानस्य वर्तमानः कालस्तत्र च जानामीति लट् साधुः । तथा च घटज्ञाने स्वोत्पत्तितृतीयक्षणे ध्वस्ते चतुर्थक्षणे घटमहं जानामीति न स्यात् । स्यात् चतुःक्षण रूपस्य स्थूलकालोपाधेर्घटज्ञानवत् स्वरूपोपहितत्वात् । यः कालो यस्य प्रागभावेनावच्छिन्न सः तस्य सतः पूर्वकालः । यश्च यस्य प्रध्वंसेनावच्छिन्नः स तस्य भविष्यत्कालः । एवञ्च भूतभविष्यद्वर्तमानत्वानि धर्मनिरूपकभेदात्प्रतिस्वम्भि-

---

प्रश्न—ऐसा हुआ तब तो ज्ञानावच्छिन्न जो काल सो ज्ञान का वर्तमान काल है उस काल में "जानामि" इस प्रकार से लट् लकार उपपन्न होता है, ऐसा हुआ तब घट ज्ञान तो स्वोत्पत्तितृतीयक्षण में ध्वस्त हो जाने पर चतुर्थ क्षण में मैं जानता हूं । ऐसा प्रयोग नहीं होना चाहिए ।

उत्तर—व्यवहार होगा । क्योंकि चतु क्षणरूप जो स्थल कालोपाधि सो घटज्ञान के समान स्वरूप से उपहित है । जो काल जिसके प्रागभाव से युक्त होता है सो उसका पूर्वकाल है । जो जिसके ध्वंस से अवच्छिन्न होता है सो उसका भविष्यत् काल कहाता है । अतः भूतभविष्यत्वर्तमानत्व धर्म निरूपक भेद से परस्पर भिन्न है । अर्थात् काल तो स्वरूपतः एक है किन्तु वर्तमानत्वादि धर्म भेद होने से भिन्न भिन्न है । नहीं कहो कि प्रागभाव प्रध्वंस का निर्वचन ही होता है, सो ठीक नहीं है क्योंकि गन्ध का

ज्ञानि । न च प्रागभावप्रध्वंसयोरनिरुक्तिः गन्धानाधारसमयानाधाराभावस्य प्रागभावत्वात् । नित्यान्यत्वे सति प्रागभावातिरिक्ताभावस्य ध्वंसत्वात् । को हि प्रागभावस्य नाश इति । तदुक्तं तत्रोत्तरं प्रतियोग्येव नास्तिताव्यवहारस्य प्रतियोगिनैवोपपत्तेरतिरिक्ते प्रमाणाभावात् ॥

संशयनिरुक्तिखण्डनमप्यसत् । विरोधे भासमाने विरोधिनानाप्रकारकैकधर्मिज्ञानत्वस्य तन्निरुक्तित्वात् । एकस्मिन्

अनाधार जो समय उसके अनाधार का जो अभाव उसका नाम है प्रागभाव । नित्य भिन्न हो प्रागभाव से भिन्न जो अभाव उसका नाम है प्रध्वंस । प्रागभाव का नाश क्या है ? यह प्रश्न करके उसी स्थल में उसका उत्तर भी कहा है कि प्रागभाव का नाश प्रतियोगी है । प्रागभाव का नास्तिता व्यवहार जो है सो प्रतियोगी से हो उपपन्न हो जाता है तो प्रतियोग्यतिरिक्त प्रागभाव में कोई प्रमाण नहीं है ।

न्यायसूत्रोक्त प्रमाणप्रमेयखण्डन का उद्धार करके संशयखण्डन का उद्धार करने के लिऐ कहते हैं– संशयेत्यादि–खण्डनकारने जो संशय लक्षण का खण्डन किया है सो ठीक नहीं है क्योंकि विरोध के प्रतिभासमान होते हुये विरोधी नाना प्रकारक एक धार्मिक जो ज्ञान होता है

धर्मिणि तज्ज्ञानालिङ्ग्यमानविरोधाभ्यां प्रकाराभ्यां यदेकं ज्ञानं संशय इति तदर्थः। संशयग्राहन्तु ज्ञानं विरोधिनानाप्रकारकत्वप्रकारकं न तु विरोधिनानाप्रकारकं येन तदपि संशयः स्यादिति। ननु कोयं विरोधः सहानवस्थानमिति चेत्। न। संयोगतदत्यन्ताभावयोरेकत्रैव तरौ सहैव सत्त्वात्। अवच्छेदभेदाश्रयाणां तत्रापि सहभाव इति चेत्। मूढोसि। तथाहि परमाणौ हि परमाण्वन्तरस्य संयोगञ्च तदभावञ्च

उसका नाम है संशय। यही संशयलक्षण का निर्वचन होता है। एक धर्मी में धार्मिज्ञान से युक्त जो विरोधात्मकप्रकार-द्वय से युक्त जो एक ज्ञान सो संशय हैं। यह पूर्वोक्तलक्षण का अर्थ है। संशय ग्राहक ज्ञान तो वह है जो विरोधी नानाप्रकारकत्वप्रकारक हो, न तु विरोधि नानाप्रकारक जिसलिए विरोधी नानाप्रकारक ज्ञान भी संशय कहलाता।

प्रश्न—यह विरोध वस्तु क्या है ? यदि सहानवस्थान को विरोध कहै तब तो संयोग तथा तदत्यन्ताभाव में विरोध नहीं होगा, क्योंकि सयोग तथा तदत्यन्ताभाव ये दोनों का ऐक वृक्ष में सह अवस्थान विद्यमान है। नहीं कहोकि शाखा मूलरूप अबच्छेदक भेद होने से संयोग तद-भाव को एक वृक्ष में समावेश है, सो कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस विषय में अनभिज्ञ हो तथाहि परमाणु में परमाण्वन्तर का संयोग तथा संयोगाभाव को आप मानते हैं। परन्तु वहां कोई अवच्छेदक नहीं हो सकता है

मन्यसे। न च तत्रावच्छेदः सम्भवति तरोः शाखावत् परमाणोः प्रतीकाभावात् । तत्राप्युदयाचलादालोकमण्डलः परमाणौ प्राच्यां दिशि लग्नः प्राञ्चं परमाणुसंयोगमवच्छिनत्ति अस्ताचलादायातस्त्वालोकस्तस्मिन्नेव परमाणौ प्रतीच्यां लग्नः प्रत्यञ्चन्तत्संयोगाभावमवच्छिनत्तीति चेत् । भ्रान्तोसि। न हि परमाणोः परमाण्वन्तरसंयोगेनानवच्छिन्नः कोपि भागोस्ति तस्य निर्भागत्वात् अन्यथा सभागो भवेत् । न च सापि नास्ति तस्यास्त्वयाभ्युपगमात् । अत एव यूपवच्च

वृक्ष में जंसे शाखा तथा मूल अवच्छेदक है तद्वत्-परमाणु में अवच्छेदक का अभाव है। यदि कहो कि परमाणु में भी उदयाचल से आया हुआ आलोक मण्डल परमाणु में पूर्व दिशा में सलग्न होता हुआ पूर्वदिगवस्थित परमाणु संयोग का अवच्छेदक होता है तथा अस्ताचल से आया हुआ आलोक मण्डल उसी परमाणु में पश्चिम दिशा में संलग्न होकर पश्चिमदिगवस्थित संयोगभाव का अवच्छेदक होता है। तो यहां भी तो अवच्छेदक भेद हो सकता है यदि ऐसा कहो तो तुम भ्रांत हो,क्योंकि एक परमाणुका दूसरे परमाणुके संयोग से अनवच्छिन्न कोई भी भाग नहीं है। क्योंकि परमाणु निरवयव है अर्थात् भाग रहित है। अन्यथा परमाणु भी सावयवयत्व हो जायगा। नहीं कहो कि दिशा हो नहीं है सो ठीक नहीं

पंक्तिवच्चेत्यात्थेति । तस्मात्तदत्यन्ताभावयोर्देशगर्भं प्रतियोगि-नैव समं प्रागभावध्वंसयोः कालगर्भं घटतदन्योन्याभावयोस्तु विरोध एव नास्ति एकस्मिन्नेव कपाले एवदैव स्थितेस्ता-दात्म्येन तु सममन्योन्याभावस्य विरोधो नियतवैदेश्यात् ॥

अथेदानीं तर्कखण्डनकृदाह तर्को हि प्रसक्तमित्ययुक्तं सम्भावनायामव्याप्तेः इष्टापादने विपर्ययापर्यवसिते चातिव्या-

---

है, दिशा को तो आपने भी स्वीकार कर लिया है। अत एव यूपवत् पंक्तिवत् दिशा है ऐसा कहा है। इसलिए संयोग-तद्भाव को देशगर्भित हो विरोध है प्रतियोगी के साथ। प्रागभाव प्रध्वंस को कालगर्भित विरोध है और घट तद-न्योन्याभाव को तो विरोध है हो नहीं। क्योंकि एक ही कपाल में घट तथा घटान्योन्याभाव का अवस्थान रहता है। तादात्म्य के साथ अन्योन्याभाव का तो विरोध है क्योंकि ये दोनों नियमत पृथक्-पृथक् देश में रहने वाले हैं। जहां तादात्म्य रहता है उसमें उसका अन्योन्याभाव नहीं है।

संशय का विचार करके तर्क की स्थिरता करने के लिये तर्क विषयक पूर्वपक्ष बतलाने के लिए कहते हैं। अथेदानीमित्यादि अथ संशय विचार के बाद तर्क का खण्डन करने वाले कहते हैं, तर्क क्या है ? तो प्रसक्ति है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि यह तर्क लक्षण सम्भावना में नहीं जाता। इष्टापत्ति करें तब विपर्यय में अपर्यवसित में अतिव्याप्ति होती है। इष्टापादन विपर्ययापर्य-

सेः तयोरतिप्रसङ्गत्वात् । वस्तुतस्तु यत्र पराभ्युपेतव्याप्तिरसेन परानिष्टाय तर्क्यते तत्र विपर्ययापर्यवसितोपि परानिष्टाय प्रभवत्येव । तथाहि ज्ञानात्मा भवेदित्यत्रालीके विरोधो देश्यते । यस्तु तर्कः स्वपक्षसिद्धये प्रवर्तते तस्य परविपर्यये अनुमाने स्वयं दण्डभूतत्वेनाङ्गीभवते विपर्ययपर्यवसानापेक्षा । अत एव व्याप्यारोपेण व्यापकप्रसञ्जनं तर्क इत्यपि निरस्तम् इष्टापादने मिथो विरुद्धेतिव्याप्तेश्च । किञ्च कार्यत्वाददृष्ट-जन्यमङ्कुरादि स्यात् हन्त तत एव कर्तृजन्यमपि स्यादिति

वसित को अतिप्रसंग रूप होने से । वस्तुतस्तु देखें तो जहां पर स्वीकृत व्याप्ति के निरसन द्वारा पर के अनिष्ट के लिये तर्क किया जाता है,उस स्थल में विपर्यय में अपर्यवसित भी तर्क करके अनिष्टापादन करने में समर्थ होता ही है । जैसे ज्ञान आत्मा होगा इस अलीक में विरोध देशित होताहै जो तर्क स्वपक्ष सिद्ध्यर्थ प्रवृत्त होता है उस तर्क को परकीय-विपर्ययानुमान में स्वयमेव दण्डरूप होने से विपर्यय के पर्यवसान में अपेक्षा होती है । अत एव व्याप्य के आरोप से व्यापक का जो प्रसंजन का नाम है तर्क सो भी परा-स्त हो जाता है । इष्टापादन में परस्पर विरूद्ध में अति-व्याप्ति भी होती है और भी देखिये-कार्य होने के कारण से अंकुरादिकार्य अदृष्टजन्य होगा । ऐसा हुआ तब कार्यत्व हेतु से ही कर्तृजन्य भी होगा । इस प्रकार से सिद्ध व्याप्य

सिद्धे नैव व्याप्येन यः प्रसङ्गस्तस्य व्याप्तिः तत्रादृष्टजन्यत्व-स्योभयानुमतत्वेन व्याप्यानारोपादिति खण्डनम्। तन्न न हि सम्भावना तर्क इति तार्किकः प्राह उत्कटकोटिकः संशयो ह्यसौ। तथाहि दूरादशोकानोकहमवेत्याशोक एवायं प्रायः शतांशेन तु बहुलः स्यादिति। सोयं संशय एव उच्चावच-

---

से जो प्रसंजन उसमें लक्षण जाता है, क्योंकि प्रकृत में अंकुरादिक में अदृष्टजन्यत्व को उभयानुमत होने से व्याप्य का अर्थात् कार्यत्व का अंकुरादिक में आरोप नहीं होने से ऐसा खण्डनकार का मत है।

उत्तर—तन्न इस प्रकार से संभावनादिक में अव्याप्ति दोष देकर जो तर्क लक्षण किया है सो ठीक नहीं है। तार्किक लोग संभावना को तर्क नहीं मानते हैं,अर्थात् यदि संभावना तर्क हो और उसमें तर्क का लक्षण न जावे तब अव्याप्ति की शंका होती है। परन्तु संभावना तर्क नहीं है। इसलिए संभावना में अव्याप्ति कथन असंगत है। संभा-वना यदि तर्क नहीं है तो क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—उत्कटकोटिक संशय संभावना है। तथा हि दूर से अशोक वृक्ष को जान करके कहता है कि प्रायः यह अशोक है। यथा वा शुक्रमण्डल से शतांश अधिक चन्द्र बिम्ब होना चाहिये। सो यह ऊंच नोच भाव से संशय है। कोटिद्वयालम्बित होने से। तर्क तो सभो संशयों से भिन्न

भावेनापि कोटिद्वयालम्बनात् । तर्कस्तु सर्वस्मादेव संशयाद्भिन्न इति ब्रूमः । संशयात् प्रच्युतो निर्णयं चाप्राप्त इत्याचार्यवचनात् । इष्टापादने विपर्ययापर्यवसिते चाव्याप्तिरित्यप्यसत् । इष्टापादने प्रसङ्गमात्रस्य सत्त्वेनाहार्यारोपरूपव्यापकप्रसंजनमस्ति । तथाहि क्षितिर्यदि कर्तृजन्या स्यात् प्रयोजनिजन्या स्यादिति तात्रदिष्टापादनं भगवतोपि प्रयोजनित्वात् । तथैवाभ्युपगमान्नैयायिकैः ।

जगच्च सृजतस्तस्य किन्नामेष्टं न सिध्यति ।
तदेवासृजतस्तस्य किं नामेष्टं न हीयते ॥इति॥

है ऐसा हम कहते हैं । अत एव आचार्य ने भी कहा है । संशयसे भिन्न निश्चय को अप्राप्त जो हो उसका नाम सम्भावना है । इष्टापादन में तथा विपर्ययापर्यवसित में अव्याप्ति कहना ठीक नहीं है । क्योंकि इष्टापादन में प्रसंग के रहने से आहार्यारोप लक्षण व्यापक का प्रसंजन है ।तथाहि पृथिवी यदि कर्ता से जन्या होगी तो प्रयोजनवान् पुरुष से अवश्यमेव जन्या होगी । यही तो इष्टापादन है । यहां परमेश्वर में भी प्रयोजनिवत्ता है. इसी प्रकार से नैयायिकों ने स्वीकार किया है । संसार को बनाते हुए परमेश्वर को क्या इष्ट सिद्ध नहीं होता है । अर्थात् जगत् का जो कर्ता है उसका भी प्रयोजन है । और उसी जगत् को न बनाते हुए उसको क्या इष्ट हानि नहीं होती है। अर्थात् इष्ट हानि होती ही है ।

तथा च नात्र प्रयोजनिजन्यत्वस्य व्यापकस्याहार्यारोपरूपं प्रसंजनमस्तीति। एवं विपर्ययापर्यवसितेऽपि नातिव्याप्तिः। तथाहि यदीश्वरः कर्ता स्यान्नाशरीरी स्यात्। अयं हि तर्को विपर्ययापर्यवसितः। ईश्वरस्य सिद्धौ कर्तृत्वाभावानुमाने बाधात्। तदसिद्धौ चाश्रयासिद्धेरनुमानानवताराद्विपर्ययाप-

---

ऐसा हुआ तब प्रकृत में प्रयोजनिजन्यत्वरूप जो व्यापक उसका आहार्यारोप प्रसंजन नहीं है। इसी तरह विपर्ययापर्यवसित में भी अतिव्याप्ति नहीं है,तथाहि यदि ईश्वर जगत् का कर्ता है तो अशरीरी नहीं होगा, यह जो तर्क है सो विपर्ययापर्यवसित है।यहां यदि परमेश्वर सिद्धहो तब तो कर्तृत्वाभाव का जो अनुमान होगा उसमें बाध दोष जायगा। यदि परमेश्वर सिद्ध नहीं है तब तो आश्रयासिद्धि दोष होने से अनुमान न होने से विपर्ययापर्यवसान है। इसमें अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि न्यायमत में शरीरित्व को कर्तृत्व व्यापकत्व न होने से व्यापक प्रसजन नहीं है। जिस किसी ने कहा है कि परस्वीकृत पदार्थ के खण्डन करने के लिये परस्वीकृत व्याप्ति के बल से जिस स्थल में तर्क किया जाता है उस स्थल में विपर्यय में अपर्यवसित भी तर्क सतर्क ही है, जैसे घट यदि स्फुरित हो तो ज्ञान रूपी हो होगा। इस प्रकार से ज्ञानवादीकृत आपादनमें सौगत से विरोध किया जाता है। अलीक पदार्थ स्फुरित होता है

र्यवसानमिति । अत्र च नातिव्याप्तिः शरीरित्वस्य मन्मते कर्तृत्वाव्यापकत्वेन व्यापकप्रसञ्जनाभावात् । यत्तु पराभ्युपेतखण्डनाय परमात्राभ्युपेतव्याप्तिबलेन यत्र तर्क्यते तत्र विपर्ययापर्यवसितोपि तर्कः सत्तर्क एव । यथा घटादि स्फुरेत् ज्ञानं भवेदिति ज्ञानवादिकृत आपादने सौगतेन विरोधो देश्यदे अलीकं स्फुरति न च ज्ञानं तदिति तेषु एवं हि न विरोधापादनं तर्कः किन्तु तर्के मूलशैथिल्यं सौगतेनोच्यत इति त्वदुक्तमत्यन्तायुक्तम् । न हि तर्कमात्रे विरोधापादनं किन्तु तर्कदूषणमिह व्याप्यत्वासिद्धिरिति । यत्तु मिथो विरुद्धेऽतिव्याप्तिस्तत्रापि हि व्याप्यारोपेण व्यापकप्रसञ्जनमस्तीति यथा शब्दो यद्यनित्यो न स्यात् कृतको न स्यादित्येकः, यदि नित्यो न स्यात् श्रावणो न स्यादित्यपरः । तत्र कृत-

---

परन्तु वह ज्ञानरूप नहीं है उसमें इस प्रकार से जो विरोधापादन है सो तर्क नही है किन्तु तर्क में मूल शिथिलता सौगत से कहा जाता है, इससे भवदुक्त कथन अत्यन्त अयुक्त है । क्योंकि तर्क मात्र से विरोधापादन नहीं होता है किन्तु तर्क का व्याप्यत्वासिद्धि रूप दोष है । किसी ने कहा है कि परस्पर विरुद्ध तर्क में अतिव्याप्ति होती है क्योंकि परस्परविरुद्धस्थलमें भी व्याप्यारोप से व्यापक का प्रसंजन रहता है, जैसे यदि शब्द अनित्य नहीं होगा तो कृतक (जन्य) नही होगा । यह एक तर्क है । यदि शब्द नित्य

कश्चायं तस्मादनित्यः श्रावणश्चायमिति परस्परप्रतिबन्धेनानु-मित्यनुत्पत्तेः करणयोः फलानर्जकत्वात् । उपकरणभूतावपि तर्काविमौ मिथो विरोधादाभासौ अत्रातिव्याप्तिरिति । तन्न । न हि मिथो विरोधे उभयपक्षसत्त्वे व्याप्तिरस्ति । अन्यथा वस्तुनो वैरूप्यं स्यात् । यच्च यदि कार्यत्वाददृष्टजन्यमङ्कुरादि स्यात्तदा तत एव कर्तृजन्यं स्यादिति तर्के सिद्धेनैव व्याप्येन

नही होगा तो श्रावण नहीं होगा, यह द्वितीय तर्क है। यहां कृतकत्व है इसलिए अनित्य है श्रावण है इसलिये नित्य है। इस प्रकार से परस्पर प्रतिबन्ध होने से अनुमिति की उत्पत्ति न होने से अनुमितिका जो करण है सो फलोत्पादक नहीं होता है। उपकरण रूप भी तर्कद्वय परस्पर विरोध होने से तर्क नहीं है किन्तु तर्काभास है, इसलिये यहां अतिव्याप्ति होती है।

उत्तर—तन्न यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि परस्पर विरुद्ध उभय पक्ष को अस्तिता में व्याप्ति नहीं होती है। अन्यथा वस्तु में वैरूप्य हो जायगा। किसी ने कहा है कि यदि कार्य होने से अदृष्टजनित अङ्कुरादिक होगा तो कार्यत्व होने के कारण से ही कर्ता से जन्य भी होगा-इत्याकारक तर्क में सिद्ध व्याप्य से ही प्रसंजन होता है, न तु व्याप्यारोप से व्यापक का आरोप है। अतः प्रकृत में अव्याप्तिरूप दोष है।

प्रसङ्गो न तु व्याप्यारोपेणेत्येतदव्याप्तिर्दोष इति । तन्न । अयं हीष्टापादननामा तर्काभास इति । मन्मते तु शिथिलमूल इति अनुगुणस्त्वेतद्भिन्नः । तथाहि हिमं यदि दाहकतेजोवन्न स्यात्तृणादिविकारकारि न स्यात् । भवति च तृणादिविकारकारि तस्माद्दाहकतेजोवदिति सिद्धव्याप्तिकत्वान्नाभासः । तदुक्तं टीकाकृता नहि त्रैलोक्यपरिपाकहेतोः सावित्रस्य रश्मेस्तुहिनादपगमः क्षमत इति । यत्त्वारोपितव्याप्तिकेनारोपितव्यापकताकस्य यदनुमानं

तन्न सो ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो इष्टापादन नामक तर्काभास है, तर्क नहीं है। मेरे मत में तो यह तर्क शिथिलमूल है, इस से भिन्न तर्क कारण होता है। तथा हि हिम यदि दाहजनक तेजोवान् न होगा तो तृणादि विकारकारी नहीं होगा और यह हिम तो तृणादि में विकारकारी है–इसलिए दाहजनक तेजोवान् है। इस प्रकार से सिद्धव्याप्तिक होने से यह तर्काभास नहीं हैं–ऐसा कहा है टीकाकार ने। त्रिलोकी के परिपाक में तापन में समर्थ सूर्य का किरण अर्थात् तेजोविशेष उसका विनाश अर्थात् पराभव, सो तुहिन बर्फ से नहीं होता है। अर्थात् तुहिन से सूर्यकिरण का अपगम नहीं होता है। जिस किसी ने कहा है कि आरोपितव्याप्तिक व्याप्य से जो आरोपित व्यापकताकसाध्यक जो अनुमान उसमें अतिव्याप्ति रूप

तत्रातिव्याप्तिरत्र दोषः तत्रापि हि व्याप्यारोपेणव्यापकप्रसञ्जनमिति। अत्रोच्यते। व्याप्याभाव–प्रतियोगिकाधारता-प्रतियोगिव्याप्यज्ञानात् व्यापकाभाववत्ताप्रतियोगिकाधारता-प्रतियोगिव्यापकज्ञानं तर्कः। अत्र व्याप्यज्ञानाद्व्यापकज्ञान-मित्यनुमितावतिव्याप्तमतः पूर्वविशेषणं तस्यार्थः व्याप्याभाव-प्रतियोगिका या आधारता पक्षीकृतस्य ह्रदादेस्तत्प्रतियोगि

दोष यहां होता है, क्योंकि यहां भी व्याप्य के आरोप से व्यापक का प्रसंजन है। इसलिए अतिव्याप्ति होती है।

इसके बाद तर्क के खंडन के उद्धार के लिए प्रक्रम करते है। अत्रोच्यते—

समाधान—व्याप्याभावप्रतियोगिक जो आधारता तत्प्रतियोगी व्याप्यज्ञान से व्यापकाभाववत्ताप्रतियोगिक जो आधारता तत्प्रतियोगिप्यापकज्ञान का नाम होता है तर्क। इसमें यदि व्याप्याभावज्ञान से व्यापकज्ञानमात्र तर्क का लक्षण करें तब तो व्याप्यज्ञान से व्यापकज्ञान तो यह तो लक्षण अनुमिति में भी जाता है। अनुमिति में व्याप्य धूमज्ञान से व्यापक वह्निका ज्ञान होता है तो अनुमिति में तर्कलक्षणकी जो अतिव्याप्ति उसका वारण करने के लिए व्याप्याभावप्रतिक इत्यादि पूर्व विशेषण दिया गया है। इस विशेषणका अर्थ यह है कि व्याप्याभाव प्रतियोगिक जो आधारता पक्षीकृत ह्रदादिनिष्ठा आधारता

यद्व्याप्तं निर्वह्नित्वादि तस्य ज्ञानात्तेनोल्लिखिताभावस्य व्याप्यस्य ज्ञानादित्यर्थः । एवमपि धूमवान्निर्धूमो वायमिति संशये धूलीपटले धूमारोपादुत्पन्नायामनुमितावतिव्याप्तिरत उत्तरविशेषणम् । अस्यार्थः । व्यापकाभाववत्ताप्रतियोगिका धूमवत्त्वादिप्रतियोगिका या आधारता तत्प्रतियोगि यद्व्यापक निर्धूमत्वादि तस्य ज्ञानं तेनावधारितव्यतिरेकस्य ज्ञानमित्यर्थतो न पूर्वोक्तानुमितावतिव्याप्तिरिति । यद्वा अव्यवस्थिता-

---

तत्प्रतियोगिक जो व्याप्त अर्थात् निर्वह्नित्व उसके ज्ञान से अर्थात् तदुल्लिखित अभाव रूप जो व्याप्य उसके ज्ञान से । पूर्व विशेषण देने पर भी यह धूमवान् है अथवा निर्धूम है ? इत्याकारक संशयोत्तर धूलीपटल में धूम के आरोप से जायमान जो अनुमिति उसमें तर्कलक्षण की अतिव्याप्ति होगी उसका निराकरण करने के लिए व्यापकाभाववत्तेत्यादिक उत्तर विशेषण दिया गया है । उस उत्तर विशेषण का यह अर्थ है व्यापक जो धूमाभाव तदभाववत्ता प्रतियोगिक अर्थात् धूमवत्व प्रतियोगिक जो आधारता तत्प्रतियोगि जो व्यापक निर्धूमत्व अर्थात् धूमाभाव उस धूमाभाव का जो ज्ञान उस ज्ञान से अवधारित अर्थात् निर्णीत व्यतिरेक का जो ज्ञान यह अर्थ होता है । इसलिए पूर्वोक्त जो अनुमिति तादृश संशयोत्तर धूली पटल में जो धूमारोप उससे जायमान

भ्युपगम्यमानकोट्य् पाधिकानिष्टसत्त्वप्रतिबन्धानि तर्कः। तदुपाधिकत्वञ्च तस्मिन्सति आवश्यकत्वम्। यथा शब्दो यद्यनित्यो न स्यात् कार्यो न स्यादित्यादौ समभिव्याहृतकोटेरभ्युपग त्वम्। अभ्युपगतञ्च द्वयमनिष्टस्यापीत्यत उक्तमनिष्टेति। अनिष्टत्वञ्च स्वकीयकार्यताविरोधिधर्मवत्त्वं प्रमाणविरोधात् स्वाभ्युपगमविरोधाच्च व्याप्यारोपकोटेर्हीनबलवत्त्वार्थम्। अन्यथा व्याप्यारोपव्यापकविरहबुद्ध्योः सत्प्रतिपक्षः परं स्यान्न तु व्याप्यारोपस्य पराजय इति। स चायं तर्कः पञ्चविधः।

अनुमिति में अतिव्याप्ति नहीं होती है। यद्वा अव्यवस्थित अभ्युपगम्यमानोपाधिक जो अनिष्टसत्व प्रतिबन्ध जो है उसी का नाम तर्क होता है। तत्सत्ता में जो आवश्यक हो उसीका नाम तदुपाधि। जैसे शब्द यदि अनित्य नहीं होगा तो कार्यजन्य नहीं होगा, इत्यादि स्थल में समभिव्याहृत कोटि का अभ्युपगतत्व, अनिष्ट के भी तो दोनों अभ्युपगत है, इसलिए कहा है—अनिष्टस्येति, अनिष्टत्व है स्वकीय कार्यता का विरोधी धर्मवत्त्वही है। प्रमाण विरोध तथा स्वाभ्युपगम विरोध होने से। यह क्यों? तो व्याप्यारोपकोटि में हीनबलत्व प्रदर्शन के लिए। अन्यथा व्याप्यारोप तथा व्यापकाभाव ज्ञान में परस्पर सत्प्रतिपक्ष दोष हो होगा न तु व्यापारोपका पराजय होगा। सो यह तर्क पांच प्रकार का होता हैं। प्रथम आत्माश्रय, जहां स्वमें स्वकी अपेक्षा हो उस

आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थातदन्यबाधितार्थप्रसङ्गभेदात्। तत्र स्वस्य स्वापेक्षामारोप्यानिष्टप्रसङ्ग आत्माश्रयः। स चाय-मुत्पत्तिस्थितिज्ञप्तिरूपद्वारभेदात्त्रेधा। तथाहि घटो यदि घट-

---

स्थल में आत्माश्रय दोष होता है। द्वितीय अन्योन्याश्रय, परस्पर सापेक्षतामें यह दोष होता है।तृतीय हैं चक्रक तृतीय वा तुर्थकचक्षामें प्रथमकी अपेक्षा होने से अनिष्टापादन होने में चक्रक दोष होता है। चतुर्थ है अनवस्था,अप्रामाणिक अनन्त प्रवाह यदि दोषाधायक हो उस स्थल में यह अनवस्था दोष होता है। पंचम तर्क है तदन्यबाधितार्थ प्रसंग। इन सबका लक्षण क्रमशः स्वयमेव ग्रन्थकार आगे बतावगे। इस प्रकारसे तर्क पाँच प्रकार का होता है।अब प्रत्येक का लक्षण बताने के लिए प्रथमोपात्त आत्माश्रय का लक्षण बताते हुए कहते हैं-तत्र स्वस्य स्वापेक्षमित्यादि, स्वमें स्वकी अपेक्षा का आरोप करके जो अनिष्टापादन उसको आत्माश्रय कहते है। यह आत्माश्रय उत्पत्ति ज्ञप्ति स्थिति रूप द्वार के भेद से तीन प्रकार का होता है। अर्थात् उत्पत्ति में आत्माश्रय और ज्ञप्ति में आत्माश्रय और स्थिति में आत्माश्रय। अब उत्पत्ति में आत्माश्रय बताते हैं, तथाहि घट यदि घट से जन्य हो तो घट से भिन्न होगा, (जब घट दण्ड कपालादि से जन्य होता है तब दण्डसे भिन्न होता है क्योंकि कार्य कारण में भेद होता है और भिन्न होना आवश्यक है तभी

जन्यः स्यात् घटभिन्नः स्यात् । न चैतद्विपर्ययानुमाने घटत्व-स्य हेतोरसाधारणता विपर्ययापर्यवसितत्वमस्येति वाच्यम् । विशेपदर्शने ह्यसाधारणस्यादोपता संशयस्य सत्प्रतिपक्षस्य वा

तो पूर्ववृत्तित्व रूप कारणत्व और स्वोत्तर वृत्तित्व रूप कार्यत्व होगा । अब यदि घट से घट जन्य होगा तब स्व ही पूर्ववृत्ति कैसे होगा ? और स्व ही स्वोत्तर वृत्ति भी होगा । इसलिए स्वजन्य स्व के होने से आत्माश्रय दोष रूप कहलाता है,(कार्यक्षति कारक होने ने) ।

प्रश्न—घटस्थल में जो आत्माश्रय दोष होगा वहां आत्माश्रय दोष से जो विपर्ययानुमान होगा घटो न घट-जन्यः घटत्वात् । इसमें तो असाधारण हेत्वाभास हो जाता है, सपक्षविपक्षव्यावृत्त पक्षघटमात्र वृत्ति घटत्व के होने से । यथोक्तानुमान विपर्यय पर्यवसित तो नहीं होता है ।

उत्तर— विशेष दर्शन रहने से असाधारण दोष दोष नहीं होता है, क्योंकि दुष्टता प्रयोजक कारण है संशय अथवा सत्प्रतिपक्ष उसका अनुत्थापक होने से तादृशस्थलीय असाधारण दोष नहीं कहलावेगा । तब विपर्ययानुमान जो होता है, घट घटजन्य नहीं है घटत्व होने से, इत्याकारक उसके होने में क्षति नहीं। अतः आत्माश्रय दोष है । स्थिति में यदि यह घट एतद्घट वृत्ति हो तो एतद्घट वृत्तितया प्रमाण का विषय होगा । परन्तु एतद्घट एतद्घटवृत्ति-

दुष्टीबीजस्यानुत्थापनादिति । स्थितौ यद्ययं घट एतद्घटवृत्तिः स्यात्तदा तथा प्रतीयेत अत एव प्रमेयत्वं स्ववृत्तित्वेन प्रमाणगोचर इति तत्रात्माश्रयो न दोषः।न हि प्रमेयत्वं न प्रमेयम्।ज्ञप्तौ तु घटज्ञप्तिर्यदि घटज्ञप्तिजन्या स्यादेतज्ज्ञप्तिभिन्ना स्यात्। न

तया प्रमाण का विषय नहीं हैं इसलिए तादृश नहीं है। प्राचीनों का भी कथन है कि सुशिक्षित भी नटबटुक अपने स्कन्ध पर आरूढ़ नहीं होता है इति। अत एव प्रमेयत्व प्रमेयत्ववृत्तितया प्रमाण का विषय होने से इस स्थल में आत्माश्रय दोष नहीं होता है, जहां स्व की स्ववृत्तिता में प्रमाण नहीं है उसी स्थल में आत्माश्रय होता है, प्रमाण प्राप्त में नहीं। क्योंकि प्रमेयत्व नहीं ऐसा नहीं। क्योंकि प्रमेयत्व भी प्रमेय ही है। प्रमेयत्व के केवलान्वयी होने से व्यतिरेकिस्थल में ही स्व में स्ववृत्तिता नहीं है केवलान्वयिस्थल में स्व में स्व की वृत्तिता प्रमाणविषयत्वादबाधित है। ज्ञप्ति में आत्माश्रय दोष इस प्रकार से होता है-घटज्ञान यदि घटज्ञानजन्य होगा तो घटज्ञान से भिन्न होगा। नहीं कहो कि इष्टापत्ति है अर्थात् घटज्ञान से घटज्ञान भिन्न है यह इष्टापादन हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि यदि स्वज्ञप्ति को स्वज्ञप्तिजन्यत्व मानेंगे तब तो अनवस्था होगी। ज्ञप्तिधारा प्रसंग होने से।

चेष्टापत्तिः स्वज्ञप्तेः स्वज्ञप्तिजन्यत्वनियमे त्वनवस्थानात् । स्वापेक्षापेक्षित्वनिबन्धनः स्वस्यानिष्टप्रसङ्गोऽन्योन्याश्रयः । अयमुत्पत्त्यादौ पूर्ववदूह्यः । न चान्योन्याश्रयस्यात्माश्रयनियतत्वेनावश्यकत्वाल्लाघवाच्चात्माश्रय एव दोष इति वाच्यम् । साक्षात्स्वापेक्षाया अभावात् परम्परया च तत्सम्भवे आत्माश्रयनिर्वाहार्थं प्रथमोपस्थितस्य स्वतो दूषकत्वकल्पनात् । स्वापेक्षापेक्षित्वनिबन्धनेऽनिष्टप्रसङ्गश्चक्रकमिदमुत्पत्त्यादौ पूर्व-

---

स्वापेक्षापेक्षित्वनिबन्धन(मूलक)जो अनिष्टप्रसंग, उसका नाम है अन्योन्याश्रय। इसके भी तीन भेद हैं । अन्योन्याश्रय उत्पत्ति में ज्ञप्ति में और स्थिति में होता है। ऐसा पूर्ववत् आत्माश्रय के समान जानना चाहिए ।

प्रश्न—अन्योन्याश्रय दोष तो आत्माश्रय नियत है अर्थात् अन्योन्याश्रय दोष जहां होगा वहां आत्माश्रय अवश्य होगा। तब तो आवश्यकतया तथा लाघव से अन्योन्याश्रयस्थल में आत्माश्रय को ही दोष कहना चाहिए ।

उत्तर—साक्षात्स्वापेक्षा के अभाव होने से उक्तस्थल में आत्माश्रय नहीं होता है । परम्परया स्वापेक्षा की सम्भावना होने पर भी आत्माश्रय के निर्वाहार्थ प्रथमोपस्थित अन्योन्याश्रय को स्वत एव दूषकत्व की कल्पना की जाती है। स्वको जो अपेक्षा तदपेक्षा तदपेक्षित्वमूलक जो अनिष्ट-

वत् । अत्र त्रिकत्वमविवक्षितं चतुःकक्षादेरपि चक्रकत्वात् तथैव हि तान्त्रिकव्यवहारात् । स चायं कक्षाभेदः, आपत्तिप्रयोजकीभूतरूपवदापाद्यापादनमनवस्था । यथा ज्ञानं यदि समानकालीनसमानाधिकरणसाक्षात्कारविषयताव्याप्यजातिमत्स्यात् तदानुपदवेद्यं स्यात् सुखवदेवञ्च तदप्यनुव्यवसीयेतेत्यर्थादनवस्था स्यात् । एषाञ्चाभासत्वे प्रमाणिकत्वं बीजं यथा बीजाङ्कुरादावित्यादि । उत्सर्गोविनिगमकल्पना लाघवप्रति-

---

प्रसंग उसको चक्रक कहते हैं। यह चक्रक भी उत्पत्ति, स्थिति, ज्ञप्ति भेद से तीन प्रकार का है सो आत्माश्रय के समान जानना । यहां त्रिकत्व अविवक्षित हैं, चतुर्थकक्षा में भी चक्रक होता है, ऐसा ही तांत्रिक का व्यवहार है सो यह कक्षा भेद है । आपत्ति के प्रयोजकीभूत जो रूप तद्वत् आपाद्य का जो आपादन उसी का नाम ही अनवस्था है । जैसे ज्ञान यदि स्वसमानकालिक स्वसमानाधिकरण जो साक्षात्कार तदोयविषयताव्याप्यजातिमान् हो तो अनुपद में अवश्यवेद्य होगा, सुखादि के समान । इस प्रकार जैसे प्रथमज्ञान द्वितीयज्ञान से वेद्य हुआ उसी प्रकार से द्वितीय तृतीयज्ञानान्तर से, एव तृतीयज्ञान चतुर्थ ज्ञान से वेद्य होने से ज्ञानानवस्था होगी। आत्माश्रयादि दोष के आभास होने में प्रामाणिकत्व बीज (कारण) है, जैसे बीजांकुरादिक में इत्यादि । उत्सर्गकल्पना अविनिगम-

वन्द्यनौचित्यानि तु न तर्काः प्रसञ्ज्ञानात्मकत्वात् । तथाहि-उत्सर्गस्तु बाधकैकापोद्यो नियमः । यथा-

तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
यथान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ इति ।

सोयं भूयः साहचर्यरूपो ज्ञानात्मक एव न भवति कुतस्तर्कः स्यात् । अविनिगमस्तु युगपदुपस्थितयोः प्रमाणा-

---

कल्पना लाघवकल्पना प्रतिबन्दा अनौचित्य प्रभृतिक तर्क नहीं है, क्योंकि ये सब प्रसंगापादक नहीं है । तथाहि उत्सर्ग क्या है ? बाधकमात्र से अपोद्य निराकरणीय नियम विशेष ही उत्सर्ग है । जैसे कहा है कि बाधात्मक अर्थात् ज्ञान होने के कारण से बुद्धेः शुक्तिरजतज्ञान में भी प्रमाणता अर्थात् प्रमात्व प्राप्त होता है । जो ज्ञान है सो प्रमारूप ही है, जैसे घटादि ज्ञान । उसी तरह से शुक्तिरजत ज्ञान में भी ज्ञानत्व है तो प्रमात्व भी है ही । परन्तु अर्थ का जो अन्यथात्व अर्थात् बाध उससे उन्नीयमान जो दोष उस दोषज्ञानसे प्राप्त भी प्रमात्व अपोदित होता है । अर्थात् यदि दोषजन्य नहीं होता है तो शुक्तिरजत ज्ञान बाधित नहीं होता । यह बाधित होता है अतः दोषमूलक है और दोषजन्य होने से प्रमाण नहीं है । सो यह नियमात्मक उत्सर्ग भूयः साहचर्य रूप ज्ञानात्मक जब नहीं होता है तब यह तर्क कैसे कहावेगा ? इसलिये उत्सर्ग नियमविशेष रूप है

भावादन्यतरावधारणाभावः । अत्र च प्रमाणाभावो दोषो न त्वविनिगमः । लाघवगौरवे तु स्वल्पपरिच्छेदकत्वं प्रमाणानां स्वभावौ ज्ञानात्मकावपि न भवतः प्रमाणसहकारितामात्रेण द्वयोस्तर्कव्यपदेशोऽपि । प्रतिबन्दिस्त्वर्थान्तरम् । विरोधपरत्वे तु तदन्तर्भूतैव । अनौचित्यन्त्वौचित्यस्य प्रामाणिकत्वस्य विरहः

न तु ज्ञानात्मक तर्क रूप हैं। युगपत् उपस्थित दो पदार्थों में से बलवत्प्रमाण का अभाव होने से अन्यतरका अवधारण अर्थात् निर्णय के अभाव का नाम ही है अविनिगम। अर्थात् उपस्थित पक्षद्वय में किसी भी पक्ष के बलवत्प्रमाण का अभाव होने से अन्यतर का निश्चय न हो इसी का नाम है अविनिगम। यहां प्रमाणाभाव ही दोष है। जिस लिये निर्णायक प्रमाण न रहने से एक पक्ष का निर्णय नहीं हो सका इसलिये प्रमाणाभाव ही दोष है न कि अविनिगमक कोई स्वतंत्र दोष है। लाघव गौरव तो स्वल्प परिच्छेदकत्व रूप है। तब यह लाघव गौरव सो प्रमाण का स्वभाव जो ज्ञानात्मकत्व सो नहीं है यह लाघव गौरव केवल प्रमाण का सहकारी है, तावन्मात्र से इन दोनों में तर्क का व्यवहार होता है, वस्तुतः लाघव गौरव तर्क नहीं है, व्यापक का अभाव होने से। अर्थान्तर को प्रतिबन्दी कहते हैं। यह प्रतिबन्दी यदि विरोधपरक हो, तब तो अर्थान्तर दोष में ही प्रतिबन्दी का समावेश हो जाता है। यह

प्रमाणाभावान्तर्गतः । न चार्थान्तरमर्थान्तरेण परिहरतः को दोषो वाच्यो यद्यनौचित्यं न दोषः स्यात् तच्च प्रमाणाभावानन्तर्भावात् पृथगिति वाच्यम् । प्रथमार्थान्तरेणैव कथापर्यवसाने द्वितीयार्थान्तरस्यानवसरग्रस्तत्वात् । स चायं तर्को व्याप्तिग्राहको विषयपरिशोधकश्च । तथाहि व्यभिचारशङ्का

स्वातन्त्र्येण तर्क रूप नहीं है,किन्तु अर्थान्तर मुखापेक्षित है। औचित्य है प्रामाणिकत्व तदभाव का नाम है अनौचित्य अर्थात् प्रामाणिकत्व का अभाव, तब तो प्रामाणाभाव में अनौचित्य का समावेश हा जाता है। यह अनौचित्य कोई प्रमाण अथवा प्रमाणसहकारी नहों है, किन्तु प्रमाणाभाव के अन्तर्गत है।

प्रश्न-एक अर्थान्तर दोष को अर्थान्तर से परिहार करते हुए को कौनसा दोष कहा जा सकता है ? यदि अनौचित्य दोष नहीं हो तो वह अनौचित्य प्रमाणाभाव के अन्तर्भूत न होने से एक प्रथक् दोष होना चाहिये ?

उत्तर–प्रथम अर्थान्तर दोष से ही कथा की परिसमाप्ति हो जायगी, तब द्वितीय अर्थान्तर दोष अनवसरग्रस्त हो जाता है, अर्थात् द्वितीय अर्थान्तर दोष अनावश्यक है। अतः अनौचित्य तर्क नहीं है, किन्तु मात्र प्रमाणाभवान्तर्गत है। यह तर्क दो प्रकारका है,एक-व्याप्तिग्राहक और दूसरा विषयशोधक। तथाहि व्यभिचारशंका का निरा-

निराससहितं सहचारदर्शनन्तावद्व्याप्तिप्रत्यक्षकारणं तच्छङ्का च विरुद्धकोटावनिष्टमुपनयता तर्केण निवर्त्यते। केवलान्वयिन्यपि साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि साध्यं न वेति शङ्कास्त्येव सा च यद्यपि व्यापकतागोचरा तथापि समानसंवित्संवेद्यतया गोचरापि। न च शब्दादिना व्याप्तिग्रहे व्याघातेन शङ्कानुत्पादेन तर्कस्योभयत्राप्यकारणतादोषाय विरोधिशङ्कानिरासमात्रेऽस्य कारणत्वोपगमात्। एवञ्च

करणसहकृत जो सहचारदर्शन सो व्याप्ति प्रत्यक्षमें कारण होता है। व्यभिचार शंका विरुद्ध कोटि में अर्थात् साध्याभाव कोटि में अनिष्ट की उपस्थिति करता हुआ तर्क द्वारा निवृत्त होता है। केवलान्वयो वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यादि स्थल में भी हेत्वधिकरणावृत्ति अत्यन्ताभावप्रतियोगी साध्य है कि नहीं? इत्याकारक सामान्यतः व्यभिचारशंका होती है। यह व्यभिचार शंका यद्यपि व्यापकताविषयक है तथापि समानसंवित्संवेद्य होने से साध्यविषयक भी है। जिस स्थल में शब्दादिद्वारा व्याप्तिग्रह होता है उस स्थल में व्याघात होने से शंका का उत्थान न होने से उभयत्रापि तर्क में अकारणत्व प्राप्त होता है। तथापि विरोधी शंका अर्थात् व्याप्तिग्रह में विरोधी जो शंका उसके निरासमात्र में तर्क को कारणत्व माना गया है।

तर्क में कारणत्व स्थिर हुआ तब पुरुष प्रयत्न के

पुरुषप्रयत्नाधीनानुमितावस्य विषयपरिशोधकतापि । तथाहि संशयज्ञानाकोट्युपस्थितौ संशयानुकारिण्युपस्थितनानाकोटिका जिज्ञासापि ततो जायते सा चांशतः साध्याभावविषयतया साध्यसिद्धिपरिपन्थिनी तत्र तर्केण कोट्यन्तरेऽनिष्टमुपनयता सापनीयते यथा मधुविषसम्पृक्तान्नबुभुक्षाभक्षणसाध्यानिष्टप्रतिसन्धानेनेत्येवं परिशोधिते विषये तर्केण केवलसाध्यकोटिकजिज्ञा-

---

अधीन जो अनुमिति उसमें इस तर्क का विषय परिशोधकत्व भी सिद्ध होता है। तथाहि वह्निमान् धूमादित्यादि स्थल में संशय से अनेक वह्नि वह्न्यभाव कोटि की उपस्थिति होने से तदनन्तर संशय का अनुकरण करने वाली उपस्थित साध्यादि कोटिक जिज्ञासा होती है। वह जिज्ञासा अंशतः साध्याभावविषयक होने से साध्यकी सिद्धि में विरोधी होती है। तादृश स्थल में तर्क द्वारा कोट्यन्तर में अर्थात् साध्याभावकोटि में अनिष्टत्व को उपस्थित करके उस जिज्ञासा को हटाई जा सकती है। जैसे मधुविष-संयुक्त अन्न की बुभुक्षा तदुत्तर भक्षण साध्य जो अनिष्ट अर्थात् मरण उसके प्रतिसधान से। इस प्रकार से तर्क द्वारा विषयके परिशोधन के पश्चात् केवल साध्यविषयकजिज्ञासा के उत्पन्न होने से, उत्पन्न होता हुआ तृतीयलिंगपरामर्श वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः यह परामर्श अनुमितिके उत्पादन करने में समर्थ होता है। तर्काभास पांच प्रकार का होता

सान्तर उत्पादिते समुत्पद्यमानस्तृतीयलिङ्गपरमर्शोऽनुमितये प्रभवतीति । तर्काभासस्तु इष्टापादनमनुगुणः प्रशिथिलमूलो विपर्ययापर्यवसितो मिथो विरुद्धश्चेति पञ्चधा । अत्राद्ये विपर्यये स्वरूपासिद्धिः द्वितीये सिद्धसाधनं तृतीये व्याप्यत्वासिद्धिः चतुर्थे बाधः पञ्चमे सत्प्रतिपक्षितत्वं प्रपञ्चितमिदं प्राक् । ननु तर्कस्य सकलप्रमाणसहकारितेति न्यायमतम् । तच्चायुक्तं विपर्ययापर्यवसाने ह्यस्य च तर्काभासतैव तत्पर्यवसाने तु तदितिकर्तव्यतात्वमेव तर्कस्येति नोभयथाप्यस्य प्रत्य-

---

है—प्रथम इष्टापादन, द्वितीय अनुगुण, तृतीय प्रशिथिलमूल चतुर्थ विपर्ययापर्यविसित,और पंचम परस्पर विरुद्ध । उसमें प्रथम पक्ष में विपर्ययानुमानमें स्वरूपासिद्धि दोष होता है, द्वितीय में सिद्धसाधन,तृतीय में व्याप्यत्वासिद्धि,चतुर्थ में बाध और पंचम में सत्प्रतिपक्षितत्व । इस विषय का सविस्तृत वर्णन पहले हो चुका है ।

प्रश्न—तर्क सकलप्रमाण का सहकारी है "प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः" प्रमाणों का अनुग्राहक तर्क है, ऐसा न्याय का सिद्धान्त है । परन्तु यह युक्त नहीं है क्योंकि यदि यह तर्क विपर्ययमें पर्यवसित नहीं है तब तो यह तर्क नहीं तर्काभास है। अथ यदि कहो कि विपर्यय में पर्यवसित होता है तब तो स्वकीय कार्यकारित्व ही है । इस लिए उभयथापि इसको प्रत्यक्षादि प्रमाण का अंगत्व नहीं होता है ।

त्वाद्यङ्गतेति। मैवम्। विपर्यये यद्यपि प्रत्यक्षादिस्थले नायं पर्यवस्यति तथापि विपर्ययापर्यवसानयोग्य एतावतैवादौ सत्तर्क इत्येतादृश इत्येवायं प्रत्यक्षादिसहकारी भवति। तथाहि यद्यत्र घटः स्यात्तदा भूतलवद्दर्शनगोचरः स्यादिति। यत्तु यथा जात्युत्तरं स्वव्याघातकं तथा सत्प्रतिपक्षोपीति। अयन्तु यद्विशेषो यज्जातावुत्तरमेव मन्दं सत्प्रतिपक्षे तु भाषापि। तत्र द्वयोरपि स्वव्याघातकत्वादिति गुरुणोक्तं तद्गुरुणोक्तमतः प्रागेव निरस्तमिति। एतावानर्थः सौत्र एव तथाहि पारमर्ष-

---

उत्तर—प्रत्यक्षादिस्थल में यह तर्क यद्यपि विपर्यय में पर्यवसित नहीं होना है तथापि विपर्ययपर्यवसानयोग्य है। एतावतैव आदि में सत्तर्क है यह करके यह तर्क प्रत्यक्षादिप्रमाण का सहकारी है, ऐसा माना जाता है। तथाहि यदि यहाँ अमुक भूतल में घट होता हो तो भूतल की तरह ही दर्शन योग्य होता है दर्शन योग्य नहीं होता है इसलिए यहां घट नहीं है। किसी ने कहा है कि जैसे जात्युत्तर स्वव्याघातक है उसी तरह सत्प्रतिपक्ष भी है। इतनी विशेषता है कि जातिस्थल में उत्तर अल्पबलक रहता है सत्प्रतिपक्ष में तो भाषा भी अल्पबलक ही रहती है। क्योंकि एतादृश स्थल में जात्युत्तर तथा सत्प्रतिपक्ष दोनों स्वव्याघातक हैं। ऐसा जो गुरु पक्षानुपाती ने कहा सो गुरुभूत ही है। अतः इसका निराकरण पहले ही कर दिया गया है।

सूत्रम् अविज्ञाततत्त्वेर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। अत्र तर्क इति लक्ष्यनिर्देशः शेषं लक्षणाय। अत्र ऊह इति कृते ज्ञानमात्रेऽतिव्याप्तिरत उक्तं अविज्ञाततत्त्व इति। न विज्ञातं विशेषतो ज्ञातं तत्त्वं वास्तवं रूपं यस्य तस्मिन्नर्थविशेष-विशेषात् सामान्यज्ञानं धर्मिज्ञानञ्च तर्कहेतुसंशयहेतुर्लभ्यते। एवमपि तृतीयादिविग्रहेण बहुव्रीहौ मूढज्ञानमात्रेतिव्याप्तिरत

तर्क के विषय में जो कहा गया है सो यह सूत्र प्रतिपादित है परम ऋषि अक्षपाद का सूत्र ऐसा है—'अविज्ञाततत्त्वेर्थे इत्यादि। इस सूत्र में तर्कः यह लक्ष्य का निर्देश हैं और शेष अर्थात् ऊहान्त जो है सो लक्षणपरक है। अब इस लक्षण में ऊह एतावन्मात्र यदि लक्षण कहा जाय तब तो ज्ञान मात्र में तर्कलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः अविज्ञाततत्त्वेर्थे, इत्यादि विशेषण दिया गया है। नहीं विज्ञात है अर्थात् विशेषतोऽज्ञात है तत्त्व अर्थात् वास्तविक रूप जिसका ऐसा जो अर्थविशेष, उस अर्थ विशेष में एतावता तर्क तथा संशय का कारण जो सामान्यज्ञान तथा धर्मीज्ञान सो उपलब्ध होता है। ऐसा कहने पर भी तत्त्वेन विज्ञानं यस्य ऐसा तृतीयाघटित बहुव्रीहि समास करने पर मूढज्ञान (असत्ज्ञान) मात्र में अतिव्याप्ति होगी। अतः अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यहां अर्थ इत्याकारक विशेषण दिया गया है, यह विशेषण देने से असद्विषयक ज्ञान में अति-व्याप्ति नहीं होती है। ऐसा होने से तृतीयान्त विग्रह के

उक्तमर्थं इति । तथा च तृतीयाविग्रहानन्तरं बहुव्रीहिसम्भवः विषयसप्तमी चानेन स्फोरिता । निश्चितेप्यर्थे पुनर्निश्चयार्थं य ऊहः स व्युदस्तः । एवमपि संशयेतिव्याप्तिस्तद्वारणाय कारणोपपत्तित इति । कारणं व्याप्यं तस्योपपत्तिराहार्यारोपः ततः एवमपीष्टापादनेतिव्याप्तिरत उक्तं तत्त्वज्ञानार्थमिति । तत्तु न तत्त्वज्ञानार्थं भवति तद्विपर्ययस्याप्रमितत्वात् । अनेन निर्णयफलकता दर्शिता । एवञ्च सम्बन्धो विषयः कारणमा-

---

बाद बहुव्रीहि समास तथा विषयसप्तमी का सम्भव होता है, इससे निश्चित अर्थ में भी पुनः निश्चय करने के लिए जो ऊह है उसका व्युदास होता है ।

ऐसा कहने पर भी संशय में तर्क लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, अतः कारणोपपत्तितः यह विशेषण दिया गया है । कारण अर्थात् व्याप्य, उसको जो उपपत्ति अर्थात् आहार्यारोप, ऐसा कहने से संशय में अतिव्याप्ति नहीं होती है । ऐसा कहने पर भी इष्टापादन स्थल में अतिव्याप्ति होती है। अतः तत्त्वज्ञानार्थम् यह विशेषण दिया गया है । इष्टापादन तत्त्वज्ञानार्थ नहीं होता है, क्योंकि उस स्थल में विपर्ययप्रमित नहीं है, इस से तर्क को निर्णयफलक बतलाया गया हैं । ऐसा हुआ तब संबंध का अर्थ है विषय, कारण शब्द का अर्थ है

हार्यारोपः आहार्यतात्वस्यैच्छिकतामात्रेण न तु प्रतियोग्यारोप्यादिवद्बाधितविषयत्वेनेति स्वरूपमनिष्टप्रसञ्जनं फलं निर्णयः। तर्कशरीरे यद्यपि पूर्वभागः करणव्युत्पत्त्या उत्तरभागस्तु भावव्युत्पत्त्या तर्कपदार्थस्तथापि उत्तरभाग एव तर्कः साक्षादनुमित्यनुकूलत्वादिति स एवात्र लक्ष्यः। नन्वात्माश्रयादेर्मूलप्रमाणोपपत्तिश्चेत्तदा प्रामाणिकत्वाददोषत्वं न

आहार्यारोप, आहार्यत्व इच्छामात्र से है प्रतियोग्यापोपवत्, बाधित विषयत्वेन आहार्यत्त्व नहीं है। अनिष्ट प्रसंजन ही तर्क का स्वरूप है और तर्क का फल है निश्चय। यद्यपि तर्क के शरीर में पूर्वभाग (अविज्ञाततत्त्वेर्थे) करण व्युत्पत्ति से और उत्तरभाग "तत्त्वज्ञानार्थम् ऊहः" यह अंश भावव्युत्पत्ति से तर्क पदार्थ है तथापि उत्तरभाग 'तत्त्वज्ञानार्थम्' यह अंश ही तर्क है क्योंकि यही अंश साक्षात् अनुमिति में अनुकूल (कारण) है। इसलिए वही अंश यहां लक्ष्य है।

प्रश्न—आत्माश्रयादिक में यदि कोई मूल प्रमाण हो तब तो प्रामाणिक होने से, आत्माश्रयादिक दोष नहीं कहलायेगा, प्रामाणिक होने से यदि कदाचित् मूल में प्रमाण नहीं होवे तब तो उस आत्माश्रयादिक का मूल शिथिल होने से अर्थात् अप्रामाणिक होने से दोष नहीं कहावेगा, इसलिए यह सब सत्तर्क है. यह खण्डन है।

चेत्तदा मूलशैथिल्याददोषत्वं तथा चैते सत्तर्का एवेति खण्डनम् । तदप्यसत् । प्रमेयत्वं यदि प्रमेयवृत्तिः स्यात्तदा प्रमेयत्वाभिन्नं स्यादभिधेयत्ववदत्र तावन्न मूले प्रमाणोपपत्तेः प्रमेयवृत्तित्वप्रमेयभिन्नत्वयोर्व्याप्त्यभावात् प्रमेयत्व एव तद्भङ्गात् । हन्त तर्हि मूलशैथिल्यं तदपि न पक्षतादशायामुद्भावनायोगात् । इदमेव वैलक्षण्यं गमयितुं प्रसङ्गात्मनोऽप्यमी चत्वारोऽपि गोवृषन्यायेन पृथगुक्ता इति । अस्त्वेवं तथापि नायं सत्तर्कः विपर्ययापर्यवसितत्वात् । तथाहि प्रमेयत्वञ्च

उत्तर—यह ठीक नहीं है,प्रमेयत्व यदि प्रमेय [त्व] में वृत्ति होगा तब तो प्रमेयत्व से भिन्न होगा,अभिधेयत्वके समान । देखिए यहां मूल में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रमेयवृत्तित्व प्रमेयभिन्नत्व में व्याप्ति नहीं है, क्योंकि प्रमेयत्वमें व्याप्ति के अभाव होने से । अथ कहो कि यदि मूलमें प्रमाण नहीं हैं तब तो मूल की शिथिलता है सो भी नहीं, क्योंकि पक्षता दशा में उसका उद्भावन अशक्य होने से । इसी विलक्षणता को समझाने के लिए प्रसंगात्मक भी जो चारों आत्माश्रयादिक को गोवृषन्यायेन पार्थक्येन कथन किया गया है ।

प्रश्न—ऐसा मान लिया जाय तथापि यह सत् तर्क नहीं क्योंकि विपर्यय में पर्यवसित न होने से । तथाहि प्रमेयत्व प्रमेय भिन्न नहीं है, परन्तु ऐसा विधान नहीं हो

न प्रमेयभिन्नं प्रमेयत्वं प्रमेयमिति यावत्। ईदृशञ्च विधानं न भवति। न ह्युद्देश्यविधेययोरैक्यं सम्भवतीति। मैवम्। प्रमेयत्वं प्रमेयत्वप्रतियोगिकान्योन्याभावाश्रयो न भवतीत्यस्य विधेय त्वात्।तथा च प्रमेयत्वं न प्रमेयवृत्ति प्रमेयत्वान्यत्वात्।ननु चाभावप्रतियोगी न विशेषणम् अभावविधौ प्रतियोगिनोप्यनुप्रवेशापत्तेः। नोपलक्षणम् अभावमात्रविधिस्तर्हि स्यात्तथा चातिप्रसंग इति चेन्न। एवं हि निषेधमात्रखण्डने व्याघातः

सकता है क्योंकि उद्देश्य तथा विधेय में एकत्व नहीं होता है।

उत्तर—प्रमेयत्व प्रमेयत्वप्रतियोगिक अन्योन्याभाव का आश्रय नहीं हो सकता है। यह अर्थ है इसलिए यही विधेय है। तब ऐसा अर्थ होता है कि प्रमेयत्व प्रमेयवृत्ति नहीं है प्रयमेत्व भिन्न भिन्न होने से।

प्रश्न—जब अभाव का विधान करते हैं उस समय में प्रतियोगो को यदि विशेषण मानें तब तो प्रतियोगो–विशिष्ट अभाव का विध.न होने से विधेय कोटि में प्रति–योगो का भी प्रवेश हो जायगा। यदि प्रतियोगो को अभाव का उपलक्षण मानें तब विधेयकोटि में प्रतियोगो का प्रवेश न होने से केवल अभाव का विधान होने से अतिप्रसंग हो जायगा।

उत्तर—यदि ऐसा हुआ तब तो निषेध अर्थात् अभाव

स्यादिति। व्याघातप्रतिबन्द्योस्तु यत्तर्कत्वमुक्तं तदयुक्तम्। द्वयोरप्रसंगत्वात् प्रसंगस्यैव च तत्कार्यत्वादिति। अन्योन्याश्रयापादनन्वित्थम् इतो भिन्नतया ज्ञात्वा तस्मादयं भिन्नतया ज्ञातव्यः। ततो भिन्नतया ज्ञाताच्चास्मात्सोपि भिन्नतया ज्ञातव्य इत्युभयीयं भेदज्ञानाधीनमित्युभयमपि ज्ञानं न स्यादन्योन्यापेक्षित्वादित्यसंवादयोरन्योन्याश्रयः न त्वन्योन्याश्रय आपाद्यते आपाद्याप्रसिद्धेः। एवं चक्रके-

---

मात्र के खण्डन होने से व्याघात दोष होगा। व्याघत तथा प्रतिबन्दी में जो तर्कत्व कथन किया था सो युक्त नहो है क्योंकि व्याघात तथा प्रतिबन्दी ये दोनों ही प्रसग रूप नहीं हैं। और प्रसंग हो तर्क का कार्य है। अन्योन्याश्रय का आपादन तो इस प्रकारसे होता है, इससे अर्थात् घट से भिन्न रूप से पट को जानकर उससे अर्थात् पट से यह घट भिन्न रूप से ज्ञातव्य है। और पट से भिन्न रूप से ज्ञात घट से पट भो भिन्न रूप से ज्ञातव्य है। इस प्रकार से ये दोनों भी भेद ज्ञानाधीन हैं इसलिए दोनों ही ज्ञात नहीं होगा अन्योन्यापेक्षित होने से। इस प्रकार आसंबाद में अन्योन्याश्रय है। न तु अन्योन्याश्रय का आपादन होता है। क्योंकि आपाद के अप्रसिद्ध होने से। इसी प्रकार से चक्रक में

प्यूह्यम् तत्र परम्परा परमधिकेति विशेषः। अन्योन्याश्रयापाद-
नमेव नेति सत्यं किन्तु प्रकृते नैवं न हि पक्षभिन्नतया ज्ञातात्
पक्षो भिन्नतया ज्ञेय उक्तदोषात्। नापि पक्षाभिन्नतया ज्ञातात्
विरोधात् । किन्तु प्रतियोग्यनुयोगिनोः स्वरूपेण ज्ञाने एक-
स्मादपरस्तदन्योन्याभावरूपवत्तया प्रतीयते । सा तु भेदधीः
सत्ये प्रमाणे त्वन्यथेति प्रमेयत्वाद्यावात्माश्रयस्तु न दोषःप्रामा-
णिकत्वात् । एवं कार्यकारणयोरन्योन्याश्रयोपि न उपलक्षणा-

भो जानना चाहिए । परन्तु चक्रक में यह परम्परा अधिक
है, अन्योन्याश्रय की अपेक्षा से यही विलक्षणता है चक्रक
और अन्योन्याश्रय में । आपाद्य के अप्रसिद्ध होने से अन्यो-
न्याश्रय का आपदन ही नहीं होता है—यह कहना ठीक
है किन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है । क्योंकि पक्ष से भिन्न
रूप से जो ज्ञात है उससे भिन्न रूपेण पक्ष को जानना
यह नहीं कह सकते हैं, आपाद्यके अप्रसिद्धि रूप उक्त होने
से । नवा अभिन्न रूप से जो ज्ञात है उससे भिन्नतया ज्ञेय
है ऐसा भी नहीं कह सकते है, विरोध होने से । किन्तु
भेद का जो प्रतियोगी तथा अनुयोगी है उन दोनों का
स्वरूपतः ज्ञान होने से एक से दूसरा तदन्योन्याभाववत्ता
रूप से प्रतीत होता है, क्योंकि एतादृश भेद ज्ञान प्रमाण
के रहने पर ही होता हैं,अन्यथा नहीं । प्रमेयत्वादिक में तो
आत्माश्रयादिक दोष नहीं है, प्रामाणिक होने से । प्रमाणा-

श्रयणात् । एवं दुःखजन्मेत्यादौ चक्रकं बीजाङ्कुरादावनवस्था च न दोषः व्यक्तिभेदाश्रयणेन प्रामाणिकत्वात् । चक्रकन्तु व्यक्तित्रयादिस्थमेकभेदादनन्तरभेदम् । अनवस्था तु यदि द्रव्यं द्रव्यसमवेतत्वनियतं स्यात्तदा गुणकर्मान्यतरं स्यात् । अत्र द्रव्यस्य द्रव्यसमवेतत्वनियतत्वे अवयवव्यवस्था न स्यात् अवयवावयविप्रसंगो निरवधिरिति सुमेरुसर्षपयोरप्यविशेषापत्त्या

भाव में ही आत्माश्रयादिक दोष है । इसी प्रकार से कार्य–कारण में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है क्योंकि कारण के लक्षणमें कार्य तथा कार्य के लक्षण में कारण को उपलक्षण मानते हैं । इसी प्रकार से दुःखजन्मप्रवृत्ति इत्यादिक सूत्र में चक्रक तथा बीजांकुर स्थल में अनवस्था भी दोष नहीं है । क्योंकि व्यक्तिभेद को लेकर के अनवस्था के प्रामाणिक होने से, चक्रक दोष तो व्यक्तित्रयस्थल में होता हैं, वहां एक भेद से दूसरा भेद भिन्न रहता है । अनवस्था का स्वस्वरूप तो इस प्रकार होता है । यदि द्रव्य द्रव्यसमवेत नियत हो तब तो गुण अथवा कर्मरूप होगा । यहां द्रव्य को यदि द्रव्य समवेत नियत मान लें, अर्थात् जो द्रव्य होगा सो यदि अवश्यमेव द्रव्य में समवेत होगा तब तो अवयव की व्यवस्था नहीं होगी । अवयव और अवयवी का प्रसंग निरवधिक होने से मेरु सर्षप में भी समानता हो जायगी ।

निरस्तमेवेति । सा चेयमनवस्था कारणमुखी तु बीजांकुरादौ न दोषाय प्रामाणिकत्वादात्माश्रयादिरुपेयते । आपादनस्थले तु प्रमाणं नास्तीत्यात्माश्रयादयस्तत्र दोषाभावात् । तर्हि प्रमाणाभावस्तत्र तत्रोद्भाव्यतामुपजीव्यत्वात् किमात्माश्रयोद्भावनेनेति खण्डनम् । तन्न । आत्माश्रयादिव्यवस्थापनात्पूरत एव निरस्तत्वात् ननु गगनारविन्दात् कूर्मरोम भिन्नमभिन्नं वेत्यत्र

इस दोष से इस शंका का निरास हो चुका है। सो यह अनवस्था कारणमुखी बीजांकुरादिक स्थल में दोषाधायक नहीं है, प्रामाणिक होने से। किन्तु आत्माश्रयादिक को दोष मानते है। आपादन स्थल में तो प्रमाण नहीं है, इसलिए वहां आत्माश्रयादिक दोष है, इस तरह दोष का अभाव होने से।

प्रश्न—यदि आत्माश्रयादिक दोष प्रमाणाभावाधीन है तब तो तत्तत्स्थलमें प्रमाणाभाव का ही उद्भावन कीजिए। उसी से निर्वाह हो जायगा। आत्माश्रयादि दोष का उद्भावन निरर्थक है। ऐसा खण्डनकार का मत है, सो ठीक नहीं हैं। क्योंकि आत्माश्रयादिक के उदभावन से पहिले प्रमाणाभाव का निरास कर दिया गया है। अर्थात् आत्माश्रयादिक दोष से ही प्रमाणाभाव का उन्नयन हो सकता है।

उत्तर—गगनारविन्द कूर्मरोम से भिन्न है या अभिन्न

प्रश्ने न किञ्चिदप्युत्तरं घटते । न चानुत्तरमेवाप्रतिभापत्तेरिति तन्न । उत्तरार्हे उत्तराप्रतिपत्तेरप्रतिभात्वात् । नन्विदमुत्तरानर्हमित्यपि वाच्यमेवेति चेत् । न । अवस्तुनि विधिनिषेधयोरप्रवर्त्यत्वात् । ननु वन्ध्यासुतशशविषाणे कूर्मरोमैवेति वाक्यादपि सदुपरक्तमसद्भासते कथमन्यथा असद्ख्यातिवादिनां मतमपि ज्ञास्यसि । अज्ञात्वा च कथं ततो विमुखः स्या इति । तन्न । वन्ध्यासुत इत्यतो वन्ध्यासुतयोरन्वयः कथं प्रतीयताम् अस्याः सुतान्वये बाधात् । अजननी हि सा वन्ध्या-

---

है ? इस प्रश्न में तो कुछ भी उत्तर नहीं होता है । नहीं कहो कि अनुत्तर होने से अप्रतिभा नामक दोष होता है, सो ठीक नहीं है क्योंकि उत्तरयोग्य वस्तु में उत्तर के अज्ञान को अप्रतिभा कहते हैं । नहीं कहोकि यह उत्तर योग्य नहीं है यह भी तो वाच्य ही होगा ? सो ठीक नहीं है, क्योंकि अवस्तु में विधि निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

प्रश्न—नहीं कहोकि बन्ध्यासुत तथा शशविषाण कूर्म रोम ही हैं. इस वाक्य से भी सदुपरक्त असत् का भान होता ही है अन्यथा असद्वादोका जो मत है उसको कैसे जानोगे ? यदि नहीं जानोगे तब तो उस पक्ष से विमुख कैसे होंगे ।

उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह बन्ध्याका पुत्र है इस वाक्य से वन्ध्या तथा सुत में अन्वय ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि बन्ध्या का अन्वयसम्बन्ध सुत में बाधित है । जो माता (उत्पादयित्री) नहीं होती है वह

पदेनोपस्थिता तस्माद्वन्ध्यायां सुतान्वयो निषिध्यते सुते च वन्ध्यान्वयः न तु बन्ध्यासुतो निषिध्यते प्रतियोगिसिद्ध्यसिद्धिपराहतेः । यत्तु खाण्डनिकस्य प्रज्ञाशेषे

तत्तुल्योहस्तदीयञ्च योजनं विषयान्तरे ।
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया ॥

इति खण्डनकृतोपदिष्टमिति खण्डनोद्धारकृतापि समानमिति साधूपदिष्टमिति सर्वं चतुरस्रमिति॥

यदक्षपादस्य महामुनेर्मतं
विखण्डितं पण्डितमानिनामुना ।
नतेन गौडेन(१) तदञ्जसाधुना ।
मयोद्धृतं पश्यत वीतमत्सराः ॥

बन्ध्यापद से उपस्थित होती है, इसलिए बन्ध्या में सुतान्वय का निषेध होता है, 'बन्ध्यासुतो नास्ति' इस वाक्य से । अथवा पुत्र में बन्ध्यान्वय का निषेध होता है न तु बन्ध्यापुत्रका निषेध होता है, तादृश बाक्य से, प्रतियोगी के प्रसीद्धि अप्रसिद्धि रूप पराघात होने से । खाण्डानिक ने जो जो प्रज्ञाशेष में कहा है तत्तुल्यःह इत्यादि खण्डनकार ने उपदेश किया हैं सो उद्धारकर्ता के लिए भी समान ही है । इसलिए उद्धारकर्ताने जो कुछ लिखा है सो सब ठीकही है।

---

(१) अत्र प्रथमद्वितीयादर्शपुस्तकयोरक्षराणि विलुप्तानि तृतीयादर्शपुस्तके "उतनगौडेन" एतान्यक्षराणि वर्तन्ते । तद्दर्शनादुद्धृतं "नतेन गौडेने" ति ।

लच्यते वैनतेयोपि नीरक्षीरविवेचने ।
सुकृती राजहंसोयमेवमेवं प्रगल्भते ॥

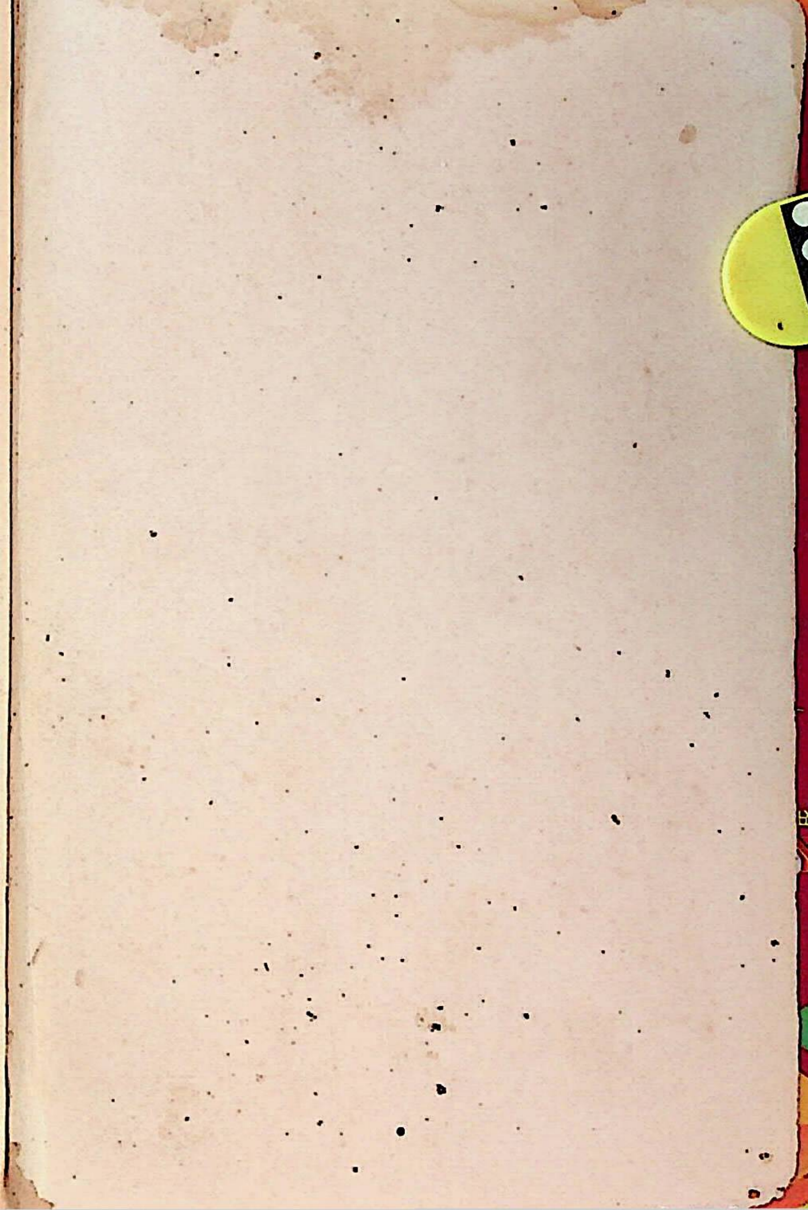
इस पण्डिताभिमानी ने जो महामुनि अक्षपाद मत का खण्डन किया है उसका समाधान मैंने किया, इस बात को विद्वान् लोग देखें । नीरक्षीर विवेचन में राजहंस पक्षी ही समर्थ हो तो विद्वान् राजहंस इस पर अवश्य विचार करें, तथा करेंगे ।

इति श्रीमहामहोपाध्यायसन्मिश्रवाचस्पतिविरचितः
खण्डोद्धारः समाप्तः ॥

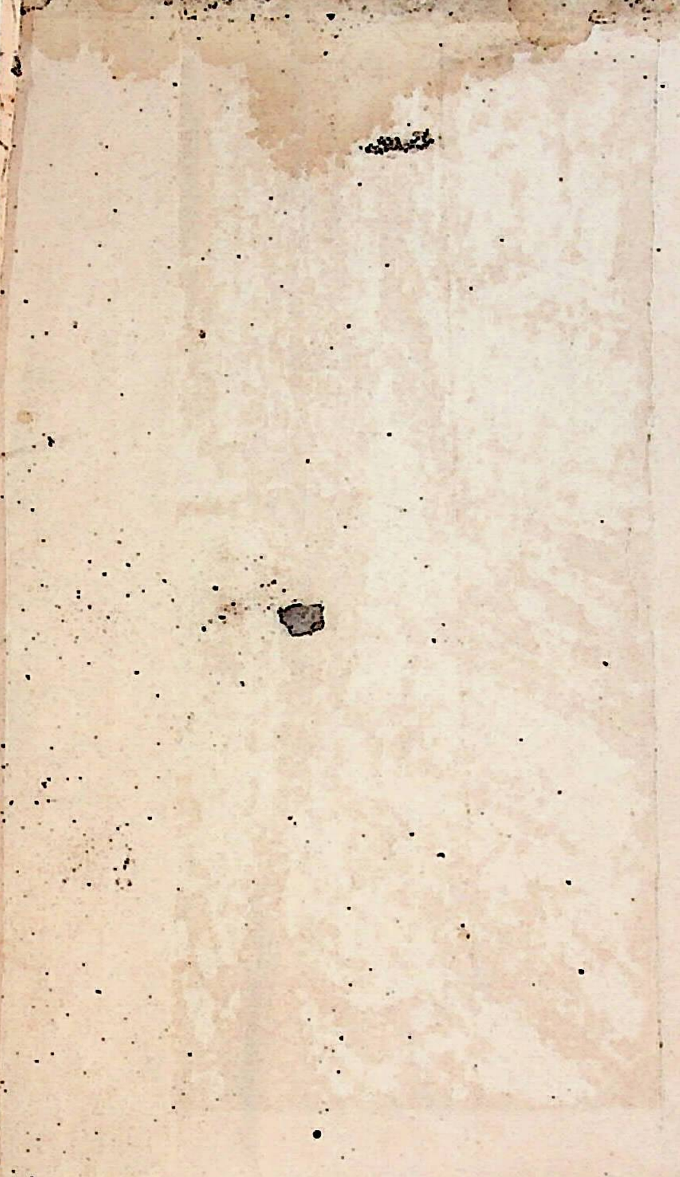
इति पश्चिमाम्नाय-श्रीरामानन्द-पीठ-श्रीशेषमठाधीश-
जगद्गुरु-श्रीरामानन्दाचार्य-योगिराज-
स्वामि-श्रीरामप्रपन्नाचार्य-दर्शनकेसरिकृत-
खण्डनोद्धार-दीपिकायां चतुर्थः परिच्छेदः सम्पूर्णः

यह ग्रन्थ समाप्त हुआ

ॐ शान्तिः ३







श्रीसम्प्रदायाचार्यजगद्गुरुश्रीअनन्तानन्दाचार्यप्रणीतं

जगद्गुरुश्रीराघवानन्दाचार्याष्टकम्

श्रीवशिष्ठावतारं च साकेताभिजनं बुधम् ।
दुर्वादिध्वान्तमार्त्तण्डं राघवानन्दमाश्रये ॥ १ ॥

अवधेशात्मजं श्रीमत्सरयूवारजद्विजम् ।
अम्बिकासुतरत्नं च राघवानन्दमाश्रये ॥ २ ॥

हर्यानन्दार्यसच्छिष्यं पञ्चगङ्गामठेश्वरम् ।
[illegible]कर्त्तारं राघवानन्दमाश्रये ॥ ३ ॥

महाचार्यं महासिद्धं महाप्राज्ञं त्रिदण्डिनम् ।
महाधर्माब्धिचन्द्रं च राघवानन्दमाश्रये ॥ ४ ॥

रामयज्ञविधिज्ञश्च दिग्विजेतृजगद्गुरुम् ।
श्रौतश्रीसम्प्रदायेशं राघवानन्दमाश्रये ॥ ५ ॥

वादिवारणशार्दूलं विशिष्टाद्वैतवादिनम् ।
रहस्यभाष्यकर्त्तारं राघवानन्दमाश्रये ॥ ६ ॥

गत्वा च दक्षिणं मुख्यं राममन्त्रप्रचारकम् ।
दीक्षितं धर्मरक्षायां राघवानन्दमाश्रये ॥ ७ ॥

आनन्दभाष्यकृद्रामानन्दाचार्यस्यसद्गुरुम् ।
योगेश्वरं मुनीन्द्रं च राघवानन्दमाश्रये ॥ ८ ॥

श्रीरामानन्दशिष्यश्री अनन्तानन्दनिर्मितम् ।
अष्टकं भवतादेतत् सर्वकल्याणकारकम् ॥ ९ ॥

જલારામ બુક બાઈન્ડીંગ વર્કસ, શાહપુર, અમદાવાદ.